Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111063

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

To			
Earnings			
Dead			
Relief			
Deptt.			
Total			
No. of St Trip			
M. Oil			
D. Oil			
Petrol			
Average			
Upper			
Lower			
Luggage Kgs.			

Signature of Station Incharge

15-2-82 - 500 Books.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ngers	By Luggage		By Passengers		Earning		on Earning K. meterage		Remarks
P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	

Date of submission ....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत सरकार की ओर से भेंट

माध्यम

वर्ष १ : अंक ५
निमित्तमात्रं भव सितंबर १९६४

111063
R 111063

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

रसाभास ३ नगेन्द्र
फ़ायड का मनोदर्शन १८ रणजीत
सार्वजनीन एकता का मूलाधार ४१ परशुराम चतुर्वेदी
दृष्टि की ईहा और चश्मों के मसीहा ४८ केशवचंद्र वर्मा
बंबई की डायरी ५३ अवध नारायण मुद्गल

कविताएँ

कौन है साक्षी १५ प्रयाग शुक्ल
दो कविताएँ १५ शिवकुटी लाल वर्मा
दो कविताएँ १६ पद्मधर त्रिपाठी
तीन रंग कविताएँ १७ अजित पुष्कल

कहानी, संस्मरण आदि

फिसलन ३१ कमल जोशी
प्रभा ! मेरे मन के आईने में ५७ उमा मिश्रा

सहवर्ती साहित्य

कश्मीरी भाषा और साहित्य ६० शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'
कल मेरी आशा का दिन है (कविता) ६८ दीनानाथ 'नादिम'
दो आँखें (भावचित्र) ७१ अख़्तर मुही-उ-द्दीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

का छठा अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'सहवर्ती साहित्य' स्तंभ में गुजराती की चुनी हुई रचनाएँ।
- विवेचना तथा समीक्षाएँ।
- डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का ललित निबंध।
- अमरकांत की कहानी।
- केदारनाथ अग्रवाल और दुष्यंत कुमार की कविताएँ।

विवेचना

भाषा और समाज	७५	विद्यानिवास मिश्र
'विवेचना' में 'भाषा और समाज'	८२	विवेचक
संशय की एक रात बोलती चीड़ को	८५	कृष्णनंदन 'पीयूष'
किनारे से किनारे तक	८९	गंगाप्रसाद मिश्र
गाँव	९२	देवप्रकाश गुप्त

प्रतिपत्तिका

सृजन-प्रक्रिया और प्रेषणीयता की समस्या	९४	परमानंद श्रीवास्तव
त्रैभाषिक तिभाषिये	९८	शिवाधार पाण्डेय
सार्वदेशिक हिंदी और कश्मीरी भाषा	१००	रोचक पंडित
बाल-साहित्य के नये प्रतिमान	१०३	हरिकृष्ण देवसरे

आवरण चित्र : जे० सुल्तान अली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसाभास

नगेन्द्र

रसाभास भारतीय रसशास्त्र का अत्यंत रोचक प्रसंग है। रसभंग और रसविरोध की भाँति ही भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, किंतु प्रत्येक रस के विभावादि के विस्तृत विवेचन से यह अवश्य व्यंजित हो जाता है कि उनमें व्यतिक्रम के लिए अवकाश नहीं है : आलंबनादि के विषय में दोष आ जाने से रस के बाधित होने की आशंका रहती है। भरत के परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने तो रस को ही अत्यंत गौण स्थान दिया था, अतः रसाभास का प्रश्न ही उनके सामने नहीं आया। केवल उद्भट के ऊर्जस्वि अलंकार में रसाभास का थोड़ा-सा संकेत मिल सकता है : जहाँ किसी रस या भाव की अनुचित प्रवृत्ति हो अर्थात उसका प्रकाशन सत्य या मर्यादा का अतिक्रमण कर जाय, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार की कल्पना की गयी है:—

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥

(का० सा० सं०, पृ० ५९)

उद्भट के पश्चात ध्वनिवादी आनंदवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण घोषित कर रसाभास के विषय में कदाचित सर्वप्रथम प्रामाणिक संकेत दिया:—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्मांगिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥२।३॥
अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रहस्योपनिषत् परा॥

(ध्वन्यालोक, ज्ञानमंडल, पृ० १९०)

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसरण ही रस का परम रहस्य है—अर्थात भरतादि के द्वारा निरूपित विभावादि का यथोचित निबंधन रस का साधक और उसके विपरीत व्यवहार—अनुचित विभावादि का नियोजन, रस का बाधक होता है। रसभंग और रसविरोध के इसी विवेचन के आधार पर आगे चल कर रसाभास की प्रकल्पना की गयी।

रसाभास का अर्थ और लक्षण

आभास का अर्थ है 'प्रतिबिंब आदि के समान अवास्तव स्वरूप—'**प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्**।'[1] जिस प्रकार सीपी में रजत का आभास हो जाता है '**शुक्तौ रूप्याभासवत्**'[2] इसी प्रकार रसाभास में भी रस की वास्तविक या शुद्ध प्रतीति के स्थान पर उसका आभास मात्र रहता है। रसाभास के कतिपय प्राप्त लक्षण इस प्रकार हैं :

अभिनवगुप्त—औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः[3] अर्थात औचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद रस है और व्यभिचारी भाव का आस्वाद '**भाव**' कहलाता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी का आस्वाद '**रसाभास**' और व्यभिचारी का '**भावाभास**' कहलाता है। सारांश यह है कि अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद ही '**रसाभास**' है।

मम्मट—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः[4]—उन रस तथा भाव का अनुचित प्रवर्तन ही '**रसाभास**' तथा '**भावाभास**' है।

जगन्नाथ—अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।[5]—जहाँ रस का आलंबन विभाव-अनुचित हो वहाँ उसे रसाभास कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है। रस की अनुचित प्रवृत्ति का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान विभाव पक्ष पर बल देते हैं, उनके अनुसार रत्यादि स्थायी भावों के अनुचित विषय में प्रवृत्त अथवा अनुचित आलंबन के प्रति उन्मुख होने पर 'रसाभास' होता है; यहाँ

---

[1] **शब्दकल्पद्रुम।**
[2] **हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१८।**
[3] **ध्वन्यालोक प्रथम उ० (डॉ० रामसागर त्रिपाठी); ० १४५।**
[4] **काव्यप्रकाश (ज्ञानमंडल); पृ० १४१।**
[5] **रसगंगाधर (चौ०) प्रथम आनन; पृ० ३२५।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनौचित्य का संबंध विभाव पक्ष के साथ है। विद्वानों का दूसरा वर्ग अनौचित्य का संबंध स्थायी भाव के साथ मानता है—अर्थात स्थायी भाव जहाँ अनुचित रीति से प्रवृत्त होता है वहाँ रसाभास होता है। वास्तव में दोनों मंतव्यों में कोई मौलिक भेद नहीं है। यह तो ठीक ही है कि रस के प्रपंच का आधार स्थायी भाव ही है, उसी की निर्विघ्न चर्वणा रस है। अतः अनौचित्य का संबंध अंततः उसी के साथ मानना पड़ेगा क्योंकि उसी की चर्वणा में अनौचित्य की बाधा उपस्थित हो जाने से रस रसाभास में परिणत हो जाता है। फिर भी, विभावादि का अनौचित्य भी प्रस्तुत प्रसंग में अत्यंत सार्थक है क्योंकि भाव की उचित-अनुचित प्रवृत्ति का निर्णय प्रायः उसके विषय के ही औचित्यानौचित्य से तो होता है। यह तर्क अपने आप में अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि गुरुपत्नी-विषयक रति आदि के विषय में ही अनुचितविभावत्व सिद्ध होता है, अनुभयनिष्ठ अथवा बहुनिष्ठ रति के संबंध में नहीं क्योंकि बहुनायक-रति में तो रति की ही प्रवृत्ति अनुचित है। वास्तव में इस तर्क का आधार यह है कि रति में निष्ठा आवश्यक है अतः नैतिक दृष्टि से वह एकनिष्ठ ही होनी चाहिए। बहुनायक-रति में दोष यही है कि एक के अतिरिक्त अन्य भी उसके आलंबन हैं : आलंबन का अनौचित्य यहाँ भी है। इस प्रकार विभाव के अनौचित्य और भाव के अनौचित्य में इतना स्पष्ट तथा प्रामाणिक भेद नहीं है कि उसके कारण लक्षण में ही संशोधन करने की आवश्यकता पड़े। अभिनवगुप्त इस रहस्य से सर्वथा अवगत थे; अतः आभास की स्थिति उन्होंने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी में मानते हुए भी, अंत में स्थायी भाव में, और परिणामतः रस में मानी है : **यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणा-भाससारः श्रृंगाररसाभासः**—क्योंकि विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न हो कर) जो केवल चर्वणाभास होता है वह श्रृंगाराभास कहलाता है।[६] अपने मंतव्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनव लिखते हैं, **"उस (श्रृंगाराभास की चर्वणा) में रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो कि स्थायिभाव नहीं अपितु व्यभिचारिभाव मात्र होती है। किंतु उस (श्रृंगाराभास का अनुभव करने वाले) को स्थायिभाव के समान-सी प्रतीति होती है। उसी (रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूप रति) के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं। इसीलिए (परस्त्री अथवा अननुरक्त स्त्री आदि विषयक) रति स्थाय्याभास (रूप में उपस्थित होती) है। (उदाहरणार्थ रावण सीता को चाहता है। यह रावण की सीता विषयक रति वास्तविक रति नहीं, अपितु रत्याभास मात्र है।) क्योंकि सीता रावण के प्रति द्वेषयुक्त अथवा उपेक्षायुक्त है (रागवती नहीं है)। इसीलिए वह (रावण के) हृदय का आलिंगन नहीं करती है। यदि उस (रावण के हृदय) का स्पर्श करे तो उसका (पातिव्रत्य धर्म का) अभिमान ही विलीन हो जाय। (रावण जो यह समझता है कि) यह मेरे प्रति अनुरक्त है यह निश्चय केवल काम-जन्य मोह मात्र रूप होने से (रसोत्पत्ति में) अनुपयुक्त और शुक्ति में रजताभास के समान (भ्रममात्र) है।"**[७]

---

[६] हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१८।

[७] हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त उद्धरण से दो उपयोगी तथ्य सामने आते हैं : (१) आभास का अर्थ है मिथ्या या अवास्तविक प्रतीति : उचित विषय में भाव की प्रतीति वास्तविक होती है और अनुचित विषय में अवास्तविक या आभास रूप। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में आभास का अनौचित्य के साथ प्रत्यक्ष संबंध हो जाता है--आभास = अवास्तविक प्रतीति = अनुचित विषय में प्रवृत्ति-जन्य प्रतीति। (२) स्थायी भाव की अनुचित प्रवृत्ति से, जो स्थायी की वास्तविक प्रतीति न हो कर उसका आभास मात्र होती है, रस की संपूर्ण सामग्री में ही अनौचित्य या आभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है : आलंबन वास्तविक न हो कर आलंबन-सा प्रतीत होता है, अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी वास्तविक नहीं होते, वास्तविक-से प्रतीत होते हैं।

अब एक शब्द रह जाता है अनौचित्य जिसकी व्याख्या शेष है। अन् उपसर्ग, 'अभाव' और 'विपरीत भाव' दोनों का वाचक है, अतः अनौचित्य का अर्थ होता है 'औचित्य का अभाव' या 'औचित्य का विपरीत रूप।' औचित्य की निरुक्ति क्षेमेंद्र ने इस प्रकार की है :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते, तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति--अर्थात जो जिसके अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं और उसके भाव को औचित्य।[८] इस दृष्टि से अनुरूपता औचित्य का आधार है--और उसका अभाव या विरोध अनौचित्य का। यह अनुरूपता अनेक प्रकार की हो सकती है और परिणामतः उसके अभाव या विरोध के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। पंडितराज ने अनौचित्य का अत्यंत स्पष्ट और प्रामाणिक विवेचन करते हुए लिखा है : **तच्च जातिदेशकाल-वर्णाश्रमवयोऽवस्थाप्रकृतिव्यवहारादे: प्रपंचजातस्य तस्य तस्य, यल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुणक्रियादि तद्भेदः**--अनुचित होने का तात्पर्य्य यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रय, वय, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध, उचित द्रव्य, मुख्य अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।[९] इस उद्धरण के अनुसार अनौचित्य का मूल आधार है लोक और शास्त्र का विरोध--'लोक' में (लोक-) स्वभाव और (लोक-)व्यवहार दोनों का अंतर्भाव है और शास्त्र का अर्थ है नीतिशास्त्र अथवा ऐसे नियमों की संहिता जो जीवन में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करती है। वास्तव में लोक और शास्त्र का आशय है प्रकृति और नीति जिनका अनुसरण काव्य के लिए पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में भी आरंभ से ही यथावत मान्य रहा है। प्रकृति या लोक का अर्थ है जैसा सामान्यतः जीवन या संसार में होता है और नीति या शास्त्र का अर्थ है जैसा होना चाहिए। लोक और शास्त्र की कल्पना प्रायः परस्पर सहायक तत्वों के रूप में ही की गयी है --क्या होता है, इसी के आधार पर नीतिकार

---

[८] **औचित्यविचारचर्चा--कारिका ७ और वृत्ति।**

[९] **रसगंगाधर (चौखंबा वि० भ०) प्रथम आनन; पृ० १९५।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निर्णय करते हैं कि क्या होना चाहिए; इसी प्रकार युगयुग से नीति-नियमों द्वारा परिचालित मानव-जीवन का व्यवहार भी स्वभावतः बहुत-कुछ नैतिक हो जाता है। अतः भारतीय वाङमय में लोक और शास्त्र का प्रयोग प्रायः एक साथ होता आया है : **"लोक-रीति, विधि वेद की करि कह्यो सुबानी"--(तुलसीदास; गीतावली १।६)**

परंतु कभी-कभी दोनों में तीव्र संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है : नीति-नियम रूढ़ एवं अप्रभावी हो जाते हैं, नीति-नियमों की शृंखलाओं से जकड़ी प्रकृति उनके विरुद्ध प्रबल विद्रोह कर उठती है और फिर जीवन की नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल नीति-परिवर्तन होता है। इस प्रकार प्रकृति और नीति के द्वंद्व से जीवन का विकास होता है--प्रकृति को नीति से संयम और नीति को प्रकृति से गति प्राप्त होती है। भारतीय रस-सिद्धांत दोनों के इस समन्वित रूप को स्वीकार कर चलता है और दोनों के विरोध को काव्यास्वाद में बाधक मानता है। रसाभास-कल्पना का आधार यही है और यह कल्पना रस-सिद्धांत को स्थायी नैतिक मूल्यों की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रस-प्रक्रिया में अनैतिकता, अस्वाभाविकता, अव्यावहारिकता आदि का समावेश हो जाने पर या अपूर्णता रह जाने पर बाधित अथवा अपूर्ण रसानुभूति रसाभास बन जाती है। अनौचित्य के इन विविध रूपों का संबंध प्रायः भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष दोनों से ही होता है, किंतु अंत में अर्थात आस्वाद की स्थिति में स्वभावतः भाव-पक्ष का अनौचित्य ही प्रमुख हो जाता है।

रसाभास और रस

प्रायः सभी आचार्यों ने रसाभास को रस के अंतर्गत ही माना है। आनंदवर्द्धन ने रस और भाव की तरह रसाभास और भावाभास को भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अथवा रस-ध्वनि के भेद माना है और परवर्ती आचार्यों ने उनका यथावत अनुसरण किया है:

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥

अर्थात रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं।[१०] परंतु कतिपय विचारकों ने इस पर आपत्ति की है। उनका तर्क यह है कि जब रस स्वरूपतः पूर्ण और निर्मल होता है तब रसाभास रसत्व का अधिकारी कैसे हो सकता है? और इसका प्रमाण वे न्याय-दर्शन से देते हैं--जहाँ हेत्वाभास हेतु नहीं होता। परंतु रसाभास के समर्थक इसका उत्तर अपने ढंग से उतने ही विश्वास के साथ देते

---

[१०] **साहित्यदर्पण, विमला टीका; पृ० १२४।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं : **नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपितु सदोषत्वादाभासव्यवहारः अश्वाभासादिव्यवहारवत्**——अर्थात रस में दोष आ जाने से आत्महानि (स्वरूप-नाश) नहीं होती, केवल दोष की सूचना देने के लिए उन्हें आभास कहते हैं, जैसे दोषयुक्त अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं, पर रहता है वह अश्व ही।[११] जैसा कि अभी स्पष्ट किया है आभास का अर्थ है अवास्तव प्रतीति—शुक्ति में रजत का आभास रजत की अवास्तव प्रतीति है, इसमें संदेह नहीं; किंतु अवास्तविकता का ज्ञान तब होता है जब प्रतीति नष्ट हो जाती है——शुक्ति में जब तक रजत की प्रतीति होती है तब तक अवास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार रसाभास में अनौचित्य का ज्ञान बाद में होता है, रस की प्रतीति पहले हो जाती है : जब तक प्रतीति रहती है तब तक अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता, और जब अनौचित्य का ज्ञान हो जाता है तभी प्रतीति बाधित होती है। अतः रसाभास रस के अंतर्गत ही आता है, इसमें विकल्प के लिए अवकाश नहीं है——और भारतीय रसशास्त्र का परंपरागत सिद्धांत ही मान्य है।

अभिनवगुप्त का मत

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने एक रोचक उद्भावना की है। उनका मत है कि प्रत्येक रस का आभास अंततः हास्य में परिणत हो जाता है क्योंकि आभास एक प्रकार से विकृत रूप ही होता है और विकृति हास्य का मूल आधार है। अनुचित विषय में स्थायी भाव की प्रवृत्ति अथवा स्थायी भाव की अनुचित प्रवृत्ति उसकी विकृति ही तो है, अतः उससे प्रमाता के चित्त में अनुकूल भाव की उद्बुद्धि न हो कर हास्य की ही उद्बुद्धि होती है। किंतु यह रसास्वादन प्रक्रिया के अंतर्गत दूसरा अवस्थान है—हास्य की अनुभूति अनौचित्य का ज्ञान होने पर ही होती है; उससे पूर्व शृंगारादि रसों की अस्थायी प्रतीति हो लेती है। इस प्रकार आरंभ में सहृदय शृंगाराभास आदि का अनुभव करता है और परिणति में हास्य रस का। उदाहरण के लिए सीता के प्रति रावण का यह उद्गार द्रष्टव्य है :

दूर से ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमंत्र के समान उस (सीता) के नाम को सुनते ही चित्त एक क्षण के लिए भी उसके बिना रह सकने में असमर्थ हो जाता है। (किंतु) व्याकुल और बेचैन, मेरे इन कामसंतप्त अंगों के द्वारा उसकी प्राप्ति (आलिंगन) का सुख कैसे प्राप्त हो, यह ठीक तरह से समझ में नहीं आता है।

——रावण के वाक्य में प्रारंभ में रत्याभास ही प्रतीत होता है, हास नहीं (प्रतीत होता है)। फिर भी (रावण का सीता के प्रति यह अनुराग-प्रदर्शन) सीता (रूप आलंबन) विभाव के (विपरीत), रावण की आयु के और प्रकृति के विरुद्ध (प्रकट होने वाले) चिंता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारिगण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव समुदाय अनुचित होने से तदाभासात्मक हो कर हास्य के विभाव रूप बन जाते हैं। जैसा कि आगे 'दूसरों के विकृत वेष अलंकारादि के होने पर (हास्य-रस होता है) यह कहेंगे।

---

[११] **रसगंगाधर (चौखंबा वि० भ०) प्रथम आनन; पृ० ३३७।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस (उदाहरण) से करुणाभास आदि सभी (रसाभासों) में हास्यत्व समझना चाहिए। क्योंकि अनुचित प्रवृत्ति के कारण ही (कोई व्यक्ति) हास्य का विभाव बनता है। और वह अनौचित्य सभी रसों के विभाव, अनुभाव आदि में हो सकता है।[१२]

रसाभास के भेद

प्रत्येक रस का आभास हो सकता है, अतः रसभेदों के अनुसार ही रसाभास के भी भेद होते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में भी शृंगार के महत्व के अनुरूप ही आचार्यों ने शृंगाराभास का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया है :

उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥

यदि नायिका की रीति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ़ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है।[१३]

यहाँ उपनायक-रति और मुनिगुरुपत्नी के प्रति रति नैतिक दृष्टि से अनुचित है, बहुनायक-रति कदाचित प्रकृति और रीति—लोक और शास्त्र—दोनों के विरुद्ध है क्योंकि रति स्वभावतः एकनिष्ठ ही होती है अनेकनिष्ठता से रति का स्वरूप दूषित हो जाता है। सामान्यतः तो काव्य में इन नीति-नियमों का पालन हुआ है, पर अनेक कवियों ने इनके प्रति विद्रोह भी किया है और कभी-कभी एक कवि नहीं संपूर्ण युग ही नीति के नियमों के विरुद्ध क्रांति कर उठा है। भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब परकीया-भाव भक्ति का प्राण-तत्व एवं पवित्रता का मानदंड बन गया। हिंदी के रीतिकाव्य में परकीया-भाव तथा बहुवल्लभत्व का प्राचुर्य रहा, यद्यपि किसी भी कवि ने सिद्धांत रूप में उसका समर्थन नहीं किया। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में धर्मशास्त्र के अनुसरण पर बहुनायक-रति और बहुनायिका-रति में भेद किया गया है जो नीति-सम्मत होते हुए भी न्याय-सम्मत नहीं है और इसीलिए उसे सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती। समय-समय पर इस प्रकार की नैतिकता का विरोध हुआ है और वर्तमान युग में तो यह विद्रोह और भी मुखर हो गया है।

सामाजिक क्रांति के आदर्शों से प्रेरित हो कर कहीं तो विद्रोह का स्वर अत्यंत उग्र हो जाता है : माइकेल मधुसूदन दत्त ने गुरुपत्नी तारा और चंद्रमा के प्रणय-संबंध को रसमय बनाने का प्रयास किया है : हिंदी में भगवतीचरण वर्मा की 'तारा' कविता का आधार यही प्रणय-संबंध है।[१४]

---

[१२] **हिंदी अभिनवभारती; पृ० ५१९।**
[१३] **रसगंगाधर (चौ० वि०) प्रथम आनन; पृ० ३४१।**
[१४] **'वीरांगना—तारा का पत्र सोम के प्रति'; 'मधुकण'—'तारा' गीतिनाट्य।**

२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न है कि क्या उन कविताओं में रस के स्थान पर रसाभास मानना पड़ेगा? शास्त्र के अनुसार तो इनमें रसाभास है ही, फिर भी दोनों कवियों ने अनौचित्य के निवारण का प्रयास किया है, इसमें भी संदेह नहीं। माइकेल विषम विवाह के अनौचित्य की स्थापना और समान-वय-रूप के नर-नारी की प्रकृत प्रणय-भावना के औचित्य की सिद्धि कर रस-बाधा का निवारण करते हैं। भगवती-चरण वर्मा श्रृंगार-प्रसंग को माध्यम बना कर नारी के मन की पीड़ा को मुखर करते हैं। अनुभय-निष्ठ या एकांगी रति का विषय और भी अधिक विवादास्पद है। उसे यदि एकदम रसाभास मान लिया जाय तो भारतेतर देशों के--विशेषकर फ़ारसी, उर्दू जैसी भाषाओं के--समृद्ध काव्य का पर्याप्त अंश रसाभास के अंतर्गत माना जायगा। अनुभयनिष्ठ रति के विपक्ष और पक्ष दोनों में तर्क दिये जा सकते हैं। विपक्ष में कुछ तर्क ये हो सकते हैं: (१) यदि आलंबन आश्रय की रति का प्रत्युत्तर नहीं देता तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह इस प्रकार के प्रणय-निवेदन को किसी न किसी आधार पर अनुचित मानता है--अतः रति में अनौचित्य का समावेश यहाँ भी हो जाता है। (२) उपेक्षा या विरति या वितृष्णा के कारण आलंबन के प्रत्युत्तर के बिना, रति भाव अपुष्ट और अपूर्ण रह जाता है, अतः रस-परिपाक नहीं हो पाता। (३) विरति और वितृष्णा श्रृंगार के विरोधी भाव हैं अतः आलंबन में उनकी स्थिति रस में बाधक हो सकती है। किंतु पक्ष में भी अनेक प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं। (१) विश्वकाव्य में अनुभयनिष्ठ रति के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरसता में संदेह करना अरसिकता का प्रमाण होगा--उनसे प्राप्त रस-प्रतीति बाधित या अपूर्ण भी नहीं होती जो उन्हें रसाभास मान लिया जाय। (२) अनुभय-निष्ठ रति में नीति की बाधा होना आवश्यक नहीं है। (३) प्रतिदान की भावना से मुक्त निस्वार्थ प्रेम को तो रसिकों ने प्रेम का या आत्मदान का सबसे उत्कृष्ट रूप माना है, अतः उसे नियमतः रसाभास मानना कैसे संगत हो सकता है? (४) भारतीय काव्य में भी पूर्वराग की अवस्था में रति के अनुभयनिष्ठ होने की काफ़ी संभावना रहती है। (५) अतः अनुभयनिष्ठ श्रृंगार को संभोग श्रृंगार न मानना तो ठीक है, किंतु उसे विप्रलंभ का भेद मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए--पक्ष-विपक्ष के इन तर्कों की तुलना करने पर यह सिद्ध करना कठिन हो जाता है कि अनुभयनिष्ठ रति का परिपाक सर्वत्र ही श्रृंगाराभास में होता है; जहाँ लोक और शास्त्र की बाधा नहीं है और भावना का औचित्य एवं उत्कर्ष व्यक्त है, वहाँ उसे रस न मानने का कोई कारण नहीं है।

श्रृंगाराभास के इन भेदों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में दो और भेदों का भी स्पष्ट उल्लेख है: अचेतन-विषयक रति और तिर्यग्रति--अर्थात पशु-पक्षियों की रति। अनौचित्य के दो रूप हैं--असत्यत्व और अयोग्यत्व। उपर्युक्त दोनों रति-भेद असत्यत्व के अंतर्गत आते हैं; रति अनेक सूक्ष्म भावनाओं से संस्कृत एक चित्तवृत्ति है जो निरिंद्रिय पदार्थों में तो संभव है ही नहीं, मनःशक्ति से रहित पशु-पक्षियों में भी उसकी कल्पना करना अधिक समीचीन नहीं है। और, फिर, उनके साथ सहृदय के तादात्म्य की संभावना भी कैसे हो सकती है? वृक्ष और लता या चंद्र और रजनी और उधर मृगदंपति या कपोत-कपोती के प्रणय-व्यापार के साथ हमारा हृदय-संवाद कैसे हो सकता है? अतः जहाँ साधारणीकरण की संभावना ही नहीं है, वहाँ रस-परिपाक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी अमान्य है : रस-सामग्री के आरोपण से रस का आभास तो हो जाता है किंतु वास्तविक प्रतीति कैसे मानी जा सकती है ? दुष्यंत के शरपात से भयभीत मृगशावक की अपेक्षा स्वयं मृगयाविहारी दुष्यंत या इस दृश्य का प्रशस्तिपरक वर्णन करने वाले मातलि के साथ तादात्म्य करना सहृदय के लिए सरल है। शास्त्र की बहिरंग चिंतन-पद्धति के अनुसार तो ये तर्क संगत ही हैं और इनके आधार पर परंपरानिष्ठ आलोचकों ने सहसा छायावाद के कवियों को रसाभास में सिद्धहस्त घोषित कर ही दिया है।[15] परंतु क्या यह उचित है ? क्या कालिदास आदि संस्कृत कवियों के प्रकृति-वर्णन, पश्चिम की भाषाओं के समृद्ध प्रकृति-काव्य, छायावाद के सचेतन प्रकृति-चित्रों में सहृदय को रस नहीं रसाभास मात्र की उपलब्धि होती है ? उपर्युक्त काव्य के समर्थक उनकी रसवत्ता के पक्ष में दो युक्तियाँ दे सकते हैं। एक युक्ति तो यह है कि समस्त सचराचर जगत में एक ही चैतन्य अनुव्याप्त है, अतः सच्चा सहृदय मानवेतर प्रकृति में भी चेतनता का अनुभव करता है और उसके साथ भी मानव-प्रकृति के समान ही तादात्म्य कर लेता है। यह तर्क कुछ अधिक सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक है, अतः इसे यथावत स्वीकार कर लेना सामान्य सहृदय के लिए संभव नहीं है; मुझे स्वयं इसमें प्रत्यय नहीं होता। दूसरी युक्ति यह है कि इस प्रकार के चित्रों में कवि की अपनी भावना का आरोप रहता है—प्राकृतिक पदार्थ तो प्रतीक मात्र हैं, मूल भावना तो कवि की है, अतः सहृदय कवि के साथ तादात्म्य कर रस के आस्वादन में समर्थ हो जाता है। वास्तव में, प्रतीक शैली काव्य की आदिम शैली है—भारत में भी वेदों से ले कर नवीनतम काव्य तक इसका बराबर प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की कविता में रस-व्यंजना सीधी अभिधा-लक्षणा से नहीं होती, वरन प्रतीकों से होती है, अतः यह रस-व्यंजना सामान्य रस-व्यंजना की अपेक्षा अप्रत्यक्ष और उसी मात्रा में गूढ़ एवं सूक्ष्मतर होती है। परंतु होती यहाँ भी रस की व्यंजना ही है—रसाभास की नहीं—अचेतन अथवा अमानव प्रकृति पर मानव-भावना के आरोपण से रसानुभूति बाधित या दूषित नहीं होती, प्रायः गूढ़ और अप्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार के काव्य में रसाभास नहीं वरन रस का ही संचार रहता है। इसका प्रमाण यह है कि शास्त्र के नियमों के रहते हुए भी भारतीय कवि प्रत्येक युग में चातक और चकोर के माध्यम से तीव्ररसमयी कविता करता आया है। यूरोप के काव्य में भी एक समय ऐसा आया था जब 'विवेकी' आलोचकों को प्रकृति के भावनात्मक चित्रों में चैतन्याभास या 'भावाभास' (पैथेटिक फ़ैलसी) नामक दोष की कल्पना करनी पड़ी थी। परंतु कल्पना के बढ़ते हुए पंखों को छाँटने में यह दुर्बल कर्तरी एकदम असमर्थ सिद्ध हुई और प्रकृति का रागात्मक व्यापार काव्य में निरंतर चलता रहा। अन्य रसाभासों का आधार भी प्रथमतः विभाव-विषयक और अंततः भाव-विषयक अनौचित्य ही है और वहाँ भी अनौचित्य का आधार लोक एवं शास्त्र अथवा प्रकृति और नीति का विरोध ही होता है। **—जैसे शृंगार रस का स्थायी भाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृंगार रसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायी भाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—करुण रस का स्थायी भाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में अथवा**

---

[15] **देखिए काव्यदर्पण (पं० रामदहिन मिश्र); पृ० २१२।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शांत रस का स्थायी भाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वंचित चांडाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायी भाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हों, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐंद्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायी भाव (हास) यदि गुरु आदि पूज्यों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायी भाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायी भाव (जुगुप्सा) यदि यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित तथा मांस आदि के विषय में वर्णित हो, तो, क्रमशः करुणरसाभास, शांतरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास और बीभत्सरसाभास होते हैं।[१६]

उपर्युक्त रसाभास-भेदों में से अधिकांश के स्वरूप तो स्पष्ट ही हैं, किंतु कुछ-एक के विषय में वर्तमान चिंतक के मन में शंका हो सकती है। उदाहरण के लिए कलहशील कुपुत्र के विषय में शोक के अनौचित्य को यथावत स्वीकार कर लेना नीति के विरुद्ध भले ही हो, लोक के विरुद्ध नहीं है: अतः यहाँ कुपुत्र से सर्वथा अशोच्य व्यक्ति का अर्थात ऐसे व्यक्ति का ही अर्थ-ग्रहण करना होगा जो अपने दुर्गुणों के कारण सहृदय-समाज के आक्रोश एवं घृणा का पात्र हो और जिसके अधःपात से लोकमन को राहत मिले। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति यदि उसके बंधु-बांधवों के माध्यम से कवि शोक की अभिव्यंजना करता है, तो, पहले तो स्वयं कवि का ही उनके साथ तादात्म्य नहीं हो पायगा और फिर सहृदय-समाज के लिए भी उसकी संभावना नहीं होगी। किंतु इस विषय में निर्णय देने से पूर्व अत्यंत सतर्क रहना चाहिए क्योंकि यहाँ भी मानव-संबंधों की प्रबलता के कारण, हत व्यक्ति के पुत्रत्व अथवा पतित्व के आधार पर, अनौचित्य के नैतिक बंधनों के परे, शुद्ध मानवीय भाव-भूमिका पर, साधारणीकरण हो सकता है। 'मेघनादवध' में मेघनाद की मृत्यु पर रावण और सुलोचना (प्रमीला) का विलाप क्या करुण रस न हो कर करुणाभास के अंतर्गत माना जायगा ? यहाँ हम विधर्मी कवि को प्रमाण मानने में आपत्ति कर सकते हैं, परंतु रामभक्त कवि के 'साकेत' में ही कुंभकर्ण-वध का दृश्य देखिए :

"आ भाई, वह वैर भूल कर, हम दोनों समदुःखी मित्र
आ जा, क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र !
हाय ! किंतु इसके पहले ही मूर्च्छित हुआ निशाचर-राज
प्रभु भी यह कह गिरे—'राम से रावण ही सहृदय है आज'?"

(साकेत २००५ वि०; पृष्ठ २९२)

—प्रस्तुत प्रसंग में क्या करुणाभास है ? यहाँ तो मर्यादापुरुषोत्तम राम का रावण के साथ तादात्म्य दिखाया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मविद्याध्यन के अधिकार से वंचित चांडाल आदि

[१६] **रसगंगाधर (चौ० वि०) प्रथम आनन; पृ० ३४४।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आश्रय से वर्णित निर्वेद में शांतरसाभास की कल्पना भी आज मान्य नहीं हो सकती—इसे स्वीकार कर लेने पर तो हिंदी के संपूर्ण निर्गुण काव्य में शांतरसाभास मानना पड़ जायगा। ऐसे प्रसंगों की अपेक्षा शांतरसाभास की कल्पना वहाँ अधिक संगत होगी जहाँ शृंगारिक उपकरणों के माध्यम से ज्ञान, वैराग्य आदि का प्रतिपादन रहता है : उदाहरण के लिए कवि पंत के तद्विषयक एकाध चित्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[१७]—और, ऐसी ही शंका यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित, तथा मांस आदि के वर्णन द्वारा (बीभत्स के स्थान पर बीभत्सरसाभास की सिद्धि के संबंध में) की जा सकती है। कुछ सांप्रदायिक भक्तों या साधकों को छोड़ कर कितने व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जिनके मन में 'कामायनी' के निम्नोक्त प्रसंग से जुगुप्सा का उदय नहीं होगा :

---

[१७] "अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह ज्वलित गिरिशृंग-सी महत्!
दृष्टि रश्मि थी ज्योति पथिक औ' स्वयं ज्योति पथ,
चिर जाज्वल्यमान स्थिर धावित सप्त अश्व-रथ!
किरणों के दूर्वाप्रभ नभ-सी मुक्ति थी अमित,
शुभ्र हंस घेरे थे उसको पंख खोल स्मित!
था आनंद उदधि अकूल उर में उद्वेलित,
ज्योति चूर्ण झरता अंगों से मुक्त अनावृत!
अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर
लेटी थी वह दामिनि सी रुचि गौर कलेवर!
गगन भंग से लहराये मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर!
समाधिस्थ था श्रेय, सत्य आरूढ़ निरंतर,
धरे अंक में भू को, सुर जल स्रोत शीर्ष पर;
ताप गले में, सुधा शांति मस्तक पर भास्वर,
लिपटा तन से भाव अभाव भूति औ' विषधर!
सदसद् देश काल से पर, त्रिक तपस मूल धर,
दैवों का पोषक था वह, दैत्यों का जित्वर;
काम क्रोध मद मत्सर थे उसके पद अनुचर,
वह स्वर्णिम किरणों से मंडित, पाप तमस हर!
इस प्रकार चिर स्वर्ग चेतना हुई प्रतिष्ठित,
जीवन शतदल पर, मन के देवों से भूषित!
जड़ धरणी के ताप शाप दुःख दैन्य अपरिमित,
काकों से पर खोल हुए लय तमस में अचित्!"

(स्वर्ण किरण, प्रथम सं०, पृ० ६२-६३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"दारुण दृश्य! रुधिर के छींटे!
अस्थि खंड की माला!
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी,
मिल कर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी।"

(कामायनी, 'कर्म' सर्ग, पृ० ११६--सं० प्रथम)

अतः सांप्रदायिक भावना के आधार पर इस प्रकार के वर्णनों में बीभत्स रस न मानना असहृदयता का परिचायक होगा क्योंकि सांप्रदायिक पूर्वाग्रह तो स्वयं ही सहृदयता का एक मुख्य दोष है। वास्तव में बीभत्स का भी 'आभास' काव्य में पाना कठिन है क्योंकि एक तो बीभत्स का ही वर्णन काव्य में कम मिलता है और दूसरे बीभत्स का स्पर्श तो स्वयं श्रृंगारादि रसों की उज्ज्वलता को मलिन कर देता है, उसको भी मलिन करने की सामर्थ्य सामान्यतः किसमें हो सकती है?

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रसाभास के स्वरूप का निर्णय करने में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। हमें रसाभास को या तो अप्रत्यक्ष रसानुभूति मानना होगा, बाधित या दूषित रसानुभूति नहीं; या फिर मानवीय भाव-भूमिका पर औचित्य के व्यापक रूप की कल्पना करते हुए रसाभास के क्षेत्र का परिसीमन करना होगा--अन्यथा रस-सिद्धांत की शक्ति और प्रभाव सीमित हो जायेंगे।

अध्यक्ष,
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन है साक्षी •• प्रयाग शुक्ल

कोच
जाता था
में आये, कि
या कितनी है
और दमित इच्
सपने ;
क्तियाँ हैं। इसलि ब ढोया नहीं जाता !
जा सकता है। , अपरिचित घर-द्वार !
की व्यवस्था के स
के सबसे अधिक पार,
(सेरेब्रल कॉरटेक र और उतार—
रहस्य और अर्थ य, कोई मित्र, कोई भार,
सपनों का काम
समझौता करवा
देना नहीं चाहत
लग रही है।
में अधिकतर
यहाँ सप
थोड़ी

नहीं, कोई नहीं—
मैं ही हूँ, वही साक्षी,
अकेला, अनमना, व्याकुल, प्रतीक्षारत,
सुखी औ' दुखी, आह ! उदास;
सब कुछ देखता, सहता, समर्पित
तुम्हें, मेरे प्यार !

•

७०, तारक प्रमाणिक रोड,
कलकत्ता—६।

दो कविताएँ •• शिवकुटी लाल वर्मा

...रही है !

'प्र...मामा चलते-फिरते लोगों के बीच
...एक सूर्य हूँ
जिसकी रोशनी
किसी नदी में घुल गयी है।
मैं देख रहा हूँ
कि रोशनी पीने को बाँधे गये चुल्लू
मुझ पर हँस रहे हैं
और मैं उन सब पर हँस रहा हूँ
कि मैं जो नदी के इतना समीप हूँ
वे मुझ तक क्यों नहीं पहुँच पाते ?
मुझे क्यों नहीं ग्रहण कर पाते ?
और वह नदी
शायद
हम सब पर हँस रही है !

विवशता

हवा के झोकों ने तो बहुत-कुछ कहा,
पर इन कानों से सुना नहीं गया !
अनंत परिप्रेक्ष्य उत्सुक थे
दृष्टि पर छाने को,
पर विराट वह आँखों से सहा नहीं गया !
मैंने मन को बहुतेरा समझाया—
अभी बहुत दर्द शेष है !
इसे पी !
कुछ दिन और जी !
अभिव्यक्ति में कभी किसी और दिन मर जाना !
पर उस निगोड़े से रहा नहीं गया !

•

१ चाहचंद, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ •• पद्मधर त्रिपाठी

छलावर्तों के बीच

रोशनी के सागर में
तैरती है एक नाव—
पाल खोले...!
अपनी शिराओं में तूफ़ान बाँध
नाव यह मैंने ही छोड़ी है
छलावर्तों के बीच।
ओ अछोर यात्रा के सहयात्री !
तुम्हारे होने का
अहसास-भर होता है—
फिर भी हमारी सटती हुई देह
अनगिनत रूपाकार गढ़ती है;
और शायद, इसीलिए
हीरे-मोतियों का एक चमचमाता बोझ
मैंने अपनी नाव पर रख दिया है।
जानता हूँ नहीं तुम्हें भायेगा
अँधेरे की तराशी हुई
काली विभीषिकाओं में
ज़िंदगी को बूझने का यह उजलता हुआ संकेत,
एक आत्मजयी जलता हुआ दर्द—
नहीं भायेगा...
पर तुम्हें विश्वास देता हूँ, ओ सहयात्री !
बढ़ सकें यदि डग तुम्हारे,
कहीं किसी कोने में
सीझती हो सुगबुगी
तो बैठ लो तुम भी :
श्वेतकेशी लहरों को पीछे छोड़
नाव यह महासागर तैर जायेगी !
नहीं होगा अंत इस यात्रा का ?

इस नये सूरज को

इस नये सूरज को
सतरंगी मीनारों को
लाल-लाल लोहे के नगरों
और—
भय में नहाये हुए
गाँवों की साँसों को
तपने दो !
तिलिस्मी पानीदार आँखें
सूख जायेंगी,
थम जायेगा
घटता हुआ बहाव
और अविवेकी क्षणों का
मोम-सा अस्तित्व
तनिक पिघल जायेगा—
तो क्या ?
झुलसेंगे चित्तीदार डैने
अनिश्चय की आँधियों के,
चिट्‌ख़ टूट जायेंगी—
मनमानी चढ़ी हुई
असंगतियों की झिल्लियाँ !
इस नये सूरज को
थोड़ा और तपने दो—
नयी आब आयेगी !

• भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुंड रोड,
वाराणसी-5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन रंग कविताएँ

अजित पुष्कल

सुबह

बिछे हैं गुलाब। लाजवाब
नीलम के फ़र्श पर
इंगुरी काँच के कलस के अंदर
जलती हैं वृत्ताकार बत्तियाँ
छलकती है रोशनी
छींटों से भरा है तालाब

शाम

धुआँ उठा
धुँधला गया
लालटेन का शीशा
उड़ गया पूरब से पश्चिम तक
कौओं का झुंड
चेहरे से सटा ली
ज़िद्दी बच्चे ने
गीली कालिख की पट्टी।

५, दरियाबाद,
इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

.फ्रायड का मनो

--सं० प्रथम)

मनोविज्ञान को वास्तव में एक विज्ञान बने अभी अधिक दिन नहीं हुए त्स रस न मानना वह दर्शन की ही एक शाखा थी। अंग्रेज़ी शब्द 'साइकोलॉजी' इस बात का प्रमाण्यता का एक मुख्य का काम 'साइक' या आत्मा का अनुसंधान करना माना जाता था। आत्मा से एक तो बीभत्स का और चेतना से व्यवहार तक आने में इस शास्त्र को काफ़ी समय लगा। पावलोव सों की उज्ज्वलता एक ठोस वैज्ञानिक आधार दिया। लेकिन फ़्रायड उन 'मनोवैज्ञानिकों' में से हो सकती है ? दर्शन, पुराण और कल्पना के बियाबानों में भटकाने की भरसक कोशिश की। रने में सावधानी पर उसके प्रभाव को देखते हुए यह भी स्वीकार करना होगा कि वह इसमें काफ़ होगा, बाधित या भी रहा। रूप की कल्पना

.फ़्रायड के सिद्धांतों का मूल है : **दमित इच्छाएँ**। मानव मन को उसने दो शक्ति और है : **चेतन और अचेतन**। हमारे मन का एक छोटा भाग चेतन है और स्वयं हमसे हमारे मन का एक बड़ा हिस्सा, जो हमारे जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है, अ **अध्यक्ष,** चेतना का स्वामी विवेक है, और अचेतन का—मूल प्रवृत्तियाँ। यदि हमारे मन में को**भाग,** इच्छा पैदा होती है जो समाज की मान्य नैतिकता के विरुद्ध है और जिसे संतुष्ट करने की स्वतं**त्र्य,** हमें समाज की व्यवस्था नहीं देती, तो वह इच्छा हमारे सामाजिक संस्कारों से दमित हो कर र जायगी। यानी, हमारे चेतन मन से वह इच्छा हमारे अचेतन मन में चली जायगी। हम उसे भूल जायँगे पर वह राख में दबी आग की तरह ज़िंदा रहेगी और मौक़ा पा कर या तो सीधे फिर चेतना में प्रवेश करेगी या सपनों, कला सृष्टियों, ग़लतियों, मज़ाकों और अंत में स्नायविक रोगों के रूप में प्रकट होगी। फ़्रायड के अनुसार ये दमित इच्छाएँ प्रायः यौन इच्छाएँ होती हैं। फ़्रायड ने अपना यह दमित इच्छाओं का सिद्धांत कुछ मानसिक रोगियों की जाँच-पड़ताल और उनके इलाज की कोशिश में विकसित किया और इसे सामान्य बना कर न केवल सभी लोगों के मानसिक जीवन पर लागू किया बल्कि इसी के आधार पर वह सारा रेत का महल खड़ा किया, जिसे वह परा-मनोविज्ञान या मनोदर्शन (meta-psychology) कहता है।

अपने मानसिक रोगियों के अचेतन में दबी हुई इच्छाओं को चेतन में ला कर समझने और उनका इलाज करने की कोशिश में उसने दो तरीक़े ईजाद किये। पहला, 'फ़्री असोसिएशन मेथड' (मुक्त साहचर्य प्रणाली), और दूसरा, सपनों की व्याख्या। बाद में उसने कई और तरीक़े, जैसे ग़लतियों, मज़ाकों और स्नायविक क्रिया-कलापों की व्याख्याएँ भी, इनमें जोड़ दिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त साहचर्य विधि में फ़ायड अपने रोगी को एक धुँधली रोशनी वाले कमरे में एक कोच या आराम कुर्सी पर आराम से लिटा देता था और ख़ुद उसके पीछे की तरफ़ एक कुर्सी पर बैठ जाता था। रोगी से यह कह दिया जाता था कि वह आँखें बंद कर ले और जो-कुछ भी उसके दिमाग़ में आये, बिना हिचकिचाहट के कहता जाय—चाहे वह बात उसे कितनी ही तुच्छ और नगण्य या कितनी ही अश्लील और बीभत्स क्यों न लगे। रोगी की उन बातों से उन अचेतन स्मृतियों और दमित इच्छाओं की खोज की जाती थी, जिन्हें उसके रोग का मूल कारण समझा जाता था।

सपने भी, फ़ायड की नज़र में, दमित अचेतन इच्छाओं की प्रतीकात्मक या छद्म अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए उनकी व्यक्त छवियों और घटनाओं की व्याख्या कर के उनके गुप्त अर्थ तक पहुँचा जा सकता है। अपनी पुस्तक 'द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ ड्रीम्स' में फ़ायड अपने से पूर्व प्रचलित सपनों की व्यवस्था के सभी सिद्धांतों का विवेचन करता है और उनमें आंशिक सत्य पाता है, पर सपनों के सबसे अधिक वैज्ञानिक सिद्धांत, कि सपने नींद की विरामजनक स्थिति में मस्तिष्क-सतह (सेरेब्रल कॉरटेक्स) की आंशिक सक्रियता के परिणाम हैं और इसलिए उनमें किसी तरह के छिपे रहस्य और अर्थ ढूंढना बेकार है, को वह पूरी तरह अस्वीकार कर देता है। फ़ायड के अनुसार सपनों का काम नींद की आराम करने की और नींद में बाधा पहुँचाने वाली दो विरोधी वृत्तियों में समझौता करवाना है। अर्थात कोई सपना उस इच्छा की काल्पनिक पूर्ति करता है, जो हमें सोने देना नहीं चाहती। यह बात काफ़ी हद तक ठीक भी है। मान लीजिए हमें रात में सोते हुए प्यास लग रही है। यहाँ प्यास हमें जगाना चाहती है और नींद सुलाये रखना चाहती है। ऐसी स्थिति में अधिकतर ऐसा सपना आयगा कि हम कहीं पानी पी रहे हैं या पानी के पास से गुज़र रहे हैं। यहाँ सपना हमारी प्यास को काल्पनिक रूप से तृप्त कर के, हमारी नींद में बाधा डालने से उसे थोड़ी देर के लिये रोक लेता है। लेकिन अगर यह बात सही है तो सपनों में उस तथाकथित 'प्रतीकात्मकता' का कोई महत्व नहीं रह जाता, जिसे फ़ायड ने इतना खींचाताना है कि एक नया शास्त्र ही बना दिया है। क्योंकि ऐसी हालत में सपनों को इच्छाओं की सीधी तृप्ति करनी चाहिए। यदि किसी से संभोग करने की इच्छा सीढ़ियों पर चढ़ने का सपना देती है (जैसा कि फ़ायड ने कई बार कहा है) तो इससे नींद में बाधा डालने वाली प्रवृत्ति—यहाँ संभोग की इच्छा—को तृप्ति कैसे मिली, जब स्वप्नद्रष्टा बिचारा स्वयं यह नहीं जानता कि सीढ़ियों पर चढ़ना संभोग का प्रतीक है? फिर, यह प्रतीकात्मकता सार्थक हो सकती थी, यदि हम इच्छाओं की सीधी तृप्ति के सपने न देखते होते। लेकिन वैसे सपने हम आये दिन देखते हैं। साहित्य में प्रतीकात्मकता तब सार्थक होती है जब या तो उस पर सामाजिक-राजनीतिक नियंत्रण तगड़ा हो और या साहित्यकार को किसी ऐसे अलौकिक अनुभव को व्यक्त करना हो जिसे सीधे ढंग से कहा ही नहीं जा सकता। यही बात सपनों पर लागू होती है। या तो हमें यह मानना होगा कि सोते समय हमारे मन पर सामाजिक संस्कारों का सेंसर (नियंत्रण) हमारे दैनिक जीवन की अपेक्षा ज़्यादा तगड़ा होता है और इसलिए हमारी दमित इच्छाओं को अपनी तृप्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है (लेकिन स्वयं फ़ायड के अनुसार रात को सोते समय हमारे मन पर सामाजिक सेंसर भी सो सा जाता है, कम क्रियाशील हो जाता है); और या हमें यह स्वीकार करना होगा कि सपनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जिस बात को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिलती है, वह ऐसी अलौकिक है कि सीधे ढंग में वह अभिव्यक्त हो ही नहीं सकती। फ़ायड इसे भी नहीं मानता। उल्टे, उसका तो ख्याल है कि वे सब बातें स्पष्ट लौकिक उद्देश्य—यौन क्रिया—से संबंधित होती हैं, जिनकी न केवल सीधी अभिव्यक्ति संभव है बल्कि जो अधिक सफल भी है। एक तीसरी स्थिति भी संभव है। जैसे कुछ प्रयोगवादी साहित्यकार बिना किसी आवश्यकता से प्रेरित हुए ही प्रतीकों का प्रयोग प्रतीकों के लिए ही करते हैं, वैसे ही यह माना जाय कि सपने भी ऐसे ही सुर्रियलिस्ट कलाकार हैं जो प्रतीकों का प्रयोग प्रतीकों के लिए ही करते हैं। लेकिन यदि यह माना जाय तो उनके प्रतीकों का कोई अर्थ निकालने की कोशिश करना बिल्कुल बेकार होगा।

फ़ायड का तरीक़ा बड़ा मनोरंजक है। अगर स्वप्नद्रष्टा उसकी किसी व्याख्या से सहमत हो जाता है तब तो वह सही है ही, पर अगर वह उस ऊटपटांग व्याख्या पर चौंकता है या उसका विरोध करता है तो फ़ायड के अनुसार यह उस व्याख्या के सही होने का और भी बड़ा प्रमाण है, क्योंकि उस व्यक्ति का चेतन या 'सुपर इगो' उस व्याख्या में बाधा दे रहा है। चित भी मेरा, पट भी मेरा, इसी को कहते हैं।

अब फ़ायड के अनुसार सपनों में आने वाले कुछ प्रतीकों का उल्लेख करना मनोरंजक होगा। मकान मनुष्य का प्रतीक है। जब दीवारें बिल्कुल सपाट होती हैं तो मकान का अर्थ है—पुरुष। जब उसमें छज्जे और जालियाँ हों, जिन्हें सामने से पकड़ा जा सके, तब अर्थ होता है—स्त्री। सपनों में माता-पिता राजा-रानी, और भाई-बहन कीड़े-मकोड़े बन कर आते हैं। पानी से निकलना या उसमें गिरना जन्म का प्रतीक है। कपड़े और वर्दियाँ नंगेपन का प्रतीक हैं (!) पुरुष की जननेंद्रिय अनेक प्रतीकों में प्रकट होती है, जैसे तीन की संख्या; लंबी और सीधी खड़ी होने वाली वस्तुएँ—लाठी, छतरी, खंभा, पेड़; ऐसी वस्तुएं जो शरीर के अंदर घुसने या उसे घायल करने की क्षमता रखती हैं—जैसे चाकू, तलवार, बंदूक, रिवाल्वर आदि; ऐसी वस्तुएँ जिनसे पानी निकलता हो—जैसे नल की टोंटी, झरना आदि; गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध उठने वाली चीजें—जैसे बेलून, विमान; रेंगने वाले प्राणी—जैसे साँप, मछली और अंत में मनुष्य के हाथ-पैर और उसका पूरा शरीर। स्त्री जननेंद्रिय का प्रतीक ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनमें उसकी तरह ही चारों ओर से घेरने का गुण होता है जैसे, गुफ़ा, मर्तबान, बोतल, पेटी, तिजोरी, जेब, आल्मारी, कमरा आदि। छोटे प्राणियों में सीप और घोंघें, शरीर के अंगों में मुँह, तथा अपनी जटिल स्थिति के कारण प्राकृतिक दृश्य। इसी तरह खेलना, सरकना तथा कोई टहनी तोड़ना आत्मरति के और नाचना, सवारी करना, चढ़ना, किसी प्रकार की चोट खाना और किसी तरह की तालबद्ध क्रिया करना संभोग के प्रतीक हैं।[1]

यही नहीं, इन सबके अलावा भी किसी भी वस्तु को मनचाहा प्रतीक बना कर सपनों की काम-मूलक व्याख्या करना फ़ायड की एक आदत-सी हो गयी थी। अगर किसी स्त्री को सपना आता है कि अपने मकान के हॉल में से गुज़रते हुये उसका सिर एक फ़ानूस से टकराया और ख़ून

---

[1]फ़ायड : 'द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ ड्रीम्स'; पृष्ठ ३३६-४०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहने लगा तो फ़ायड जोड़-तोड़ कर इसका यह अर्थ निकाल देगा कि क्योंकि उस प्रौढ़ स्त्री के सिर के केश दिन-दिन झड़ते जा रहे हैं इसलिए उसका सिर उनके नितंब का प्रतीक है। फ़ानूस तो ख़ैर अपने लटकने के गुण के कारण पुरुष जननेंद्रिय है ही। बस, टकराना संभोग का प्रतीक अपने-आप हो गया। फिर ख़ून बहना . . .बस, पूरी व्याख्या प्रमाणित! और अगर यह पूछा जाय यह टकराहट नितंब से क्यों हुई तो फ़ायड का उत्तर होगा—कि बचपन में लोग नितंबों को ही योनि स्थान समझते हैं।

सपनों के मूल में फ़ायड इच्छा-पूर्ति को देखता है। पर जब हम अपने किसी प्रिय व्यक्ति की मौत का सपना देखते हैं या अपने आपको पीड़ित अवस्था में पाते हैं तब फ़ायड का यह इच्छा-पूर्ति का सिद्धांत लँगड़ा जाता है। फ़ायड अपने सिद्धांत की इस कमज़ोरी को समझता है पर यह कह कर झुठलाना चाहता है कि चिंता इच्छा से ठीक उल्टी चीज़ है और विरोधी चीज़ मन में एक दूसरे के बहुत नज़दीक होती हैं, अचेतन मन में वे एक दूसरी से जुड़ी हुई रहती हैं; और कि अपने आपको पीड़ित पाना, अपने आपको सज़ा देने की इच्छा की पूर्ति है। यह इच्छा अगर व्यक्ति के मन की नहीं तो उसके ऊपर पड़ने वाले सामाजिक नियंत्रण (सेंसर) की तो है ही!

वास्तविकता यह है कि सपनों जैसी मानसिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या फ़ायड का यह मनोदर्शन नहीं, उच्चतर स्नायविक क्रियाओं का शरीरशास्त्र ही कर सकता है। पावलोव ने इस तरह के शरीरविज्ञान की नींव डाली है। शरीरविज्ञान के अनुसार स्वप्न सोते समय मस्तिष्क के विभिन्न भागों की अलग-अलग स्थितियों, जैसे सक्रिय और निष्क्रिय स्थितियों, तथा शरीर के अन्य भागों पर बाहर से पड़ने वाले प्रभावों और उद्दीपनों की उत्पत्ति हैं। किसी विशेष ज्ञानेंद्रिय की उद्दीप्ति उससे संयुक्त चित्रों और ध्वनियों को जन्म दे सकती है। फिर शरीर के अन्य अंगों—जैसे आमाशय, फेफड़े, हृदय आदि से आने वाले उद्दीपन भी उनको जन्म दे सकते हैं। स्वप्नों का किन्हीं पुरानी यादों से संयुक्त होने का कारण, जैसा फ़ायड समझता है, अचेतन मानस में पुरानी स्मृतियों का सुरक्षित रहना नहीं, मस्तिष्क-सतह (cortex) के सेलों में पिछले अनुभवों के प्रभाव-चिन्हों का अस्तित्व और उन सेलों की उद्दीप्ति है। एक दूसरी से दूर की अलग-अलग स्मृतियों के किसी स्वप्न में एक साथ संयोग का कारण सोते समय मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों के आंशिक और विशृंखल आवेश में ढूँढा गया है। अभी इस क्षेत्र में बहुत अनुसंधान बाक़ी है, लेकिन मानसिक घटनाओं का भौतिक आधार स्पष्ट है।[२]

सपनों की तरह ही, स्नायु-रोगों के लक्षण भी—रोगियों द्वारा किये जाने वाले असाधारण व्यवहार भी—उन विभिन्न मार्गों में से एक है, जिनमें फ़ायड के विचार से दमित विचार, इच्छाएँ या आवेग अपने साथ जुड़ी हुई 'मानसिक शक्ति' को मनसा या शरीरतः या दोनों तरह से 'डिस्चार्ज' करते हैं। इन रोगों के इलाज के बारे में फ़ायड का विचार है कि वह केवल उनकी अचेतन इच्छाओं को खोज कर चेतना के क्षेत्र में ला देने में निहित है। जब यह काम मनोविश्लेषण के ज़रिये कर दिया जाता है तब स्नायविक लक्षणों से ग़ायब हो जाने की आशा की जाती है,

---

[२]हैरी के० वेल्स: सिगमंड फ़ायड।

111063

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि सिद्धांत के अनुसार जब 'दमित इच्छा' को पूरी तरह 'चेतन मन' में ला दिया जाता है तब उसके साथ जुड़ी हुई 'मानसिक शक्ति' उससे अलग हो जाती है।

प्रतीकों की व्याख्या और मनोविश्लेषण के अपने अनुभवों से फ़्रायड इस परिणाम पर पहुँचा कि 'दमनों' की एक लंबी श्रृंखला होती है जिसका एक सिरा अंततः बचपन के किसी 'दमन' तक पहुँचता है, जिसे हम स्मृति-विनाश (एमनेशिया) के कारण भूल चुके होते हैं। इन बचपन के दमनों में, फ़्रायड के विचार से, आवश्यक रूप से शिशु-यौनवृत्ति का हाथ रहता है। लेकिन बहुत शीघ्र ही फ़्रायड इस तथ्य से चौंक उठा कि ये दमन वास्तव में रोगी के बचपन में घटे हुए नहीं हैं, बल्कि उसकी कल्पना मात्र या उस पर आरोपित फ़्रायड की कल्पनाएँ हैं। तब फ़्रायड ने इस तथ्य का इस तरह तार्कीकरण किया कि स्नायविक लक्षण किन्हीं वास्तविक घटनाओं से नहीं, बल्कि इच्छा को रूपायित करने वाली कल्पनाओं से संबंध रखते हैं। अर्थात रोगियों द्वारा मनोविश्लेषण से प्राप्त कहानियाँ वास्तविक घटनाएँ नहीं, उनकी अचेतन इच्छाओं और कल्पनाओं की कहानियाँ हैं।

व्याख्या के इन्हीं सामान्य सिद्धांतों को, आगे चल कर फ़्रायड ने अपनी पुस्तक 'साइकोपेथोलॉजी ऑफ़ एवरी डे लाइफ़' में दैनिक जीवन की सीधी-सादी भूलों और ग़लतियों, जैसे लिखने-पढ़ने और बोलने की ग़लतियों, पर भी लागू किया। ग़लतियाँ भी उसके अनुसार, सपनों की तरह ही, दो विरोधी प्रवृत्तियों के एक समझौते की अभिव्यक्ति हैं, जिसमें दोनों वृत्तियों को आंशिक तुष्टि मिल जाती है। कभी-कभी एक ही ग़लती में दोनों वृत्तियाँ अपने आप को एक साथ अभिव्यक्त कर देती हैं, पर अधिकतर अचेतन दमित वृत्ति उभर कर अपने आप को प्रकट करती है। ग़लतियों का एक मज़ेदार उदाहरण फ़्रायड ने इंग्लैंड के किसी सोशल डेमोक्रेटिक अख़बार से दिया है। अख़बार में एक उत्सव का समाचार इस तरह छपा था : **'उपस्थित लोगों में हिज़ हाइनेस दि क्लाउन प्रिंस भी थे।'** असली शब्द था **'क्राउन-प्रिंस'**, पर (R) की जगह ग़लती से (L) कंपोज़ हो गया था। दूसरे दिन अख़बार ने प्रेस की ग़लती के लिए क्षमा माँगते हुए यह संशोधित वाक्य छापा : **'दि प्रिंस क्रो भी उपस्थित थे।'** अर्थात इस बार पिछली ग़लती तो सुधर गयी पर कंपोज़िंग में एक अन्य अक्षर (N) छूट गया।[३]

यह बात ठीक है कि कई बार कुछ ग़लतियाँ हमारी इच्छा के अनुकूल भी हो जाती हैं लेकिन सिर्फ़ इसी आधार पर सब ग़लतियों को दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति कहना, उन पर ज़बरदस्ती अर्थ थोपना है। उदाहरण के लिए, अगर मैं 'फ़्रायड' लिखते-लिखते जल्दी में 'फ़्राड' लिख जाऊँ तो फ़्रायड की यह व्याख्या होगी कि चेतनतः या अचेतनतः मैं अवश्य ही उसे धोखेबाज़ समझता हूँ। इस बात को वह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि इस ग़लती का कारण कोई भौतिक या शारीरिक स्थिति, जैसे जल्दबाज़ी या बहुत देर से लिखते रहने के कारण आयी हुई थकावट आदि भी हो सकती है।

---

[३] **फ़्रायड : मनोविश्लेषण।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्रायडियन सिद्धांतों की 'चदरिया' का ताना-बाना 'लिबिडो', काम या यौन-जीवन-शक्ति के धागों से बुना हुआ है। मानवीय जीवन के आरंभ से ले कर उसके अंत तक के सब क्रिया-कलापों की प्रमुख ही नहीं, बल्कि कई बार तो एकमात्र प्रेरणा के रूप में भी, वह कामवृत्ति को ही पाता है। शिशु-कामुकता फ़ायड के यौन सिद्धांतों का एक महत्वपूर्ण अंग है। बच्चा स्वयं अपने काम का आलंबन है। तीसरे वर्ष से तो बच्चे में असंदिग्ध रूप से यौन-जीवन आरंभ हो जाता है। इस समय उसकी जननेंद्रिय में उत्तेजना के चिन्ह दिखायी देने लगते हैं। पुचकारना, चूमना आदि कई ऐसी क्रियाएँ बच्चों में पायी जाती हैं जो आगे चल कर यौन-सुखों का अंग बन जाती हैं। लिबिडो के विकास की दूसरी सीढ़ी गुप्तता काल (लेटेंट पीरियड) कही गयी है, जो पाँच से बारह वर्ष तक की उम्र में रहती है। इस समय में यौन-परिवर्धन में एक प्रकार की स्थिरता का ह्रास सा दिखायी देता है, लेकिन सेक्स की भूमिका इस काल में भी कम नहीं होती। यह गुप्तता काल सभी बच्चों में नहीं आता; ऊँचे सांस्कृतिक स्तर वाले बच्चों में ही आता है। इसके व्याघात के कारण ही शैशव के अधिकतर मानसिक अनुभव शैशवीय स्मृति-नाश से दबा दिये जाते हैं, और हम अपने बचपन से अपरिचित रह जाते हैं। मनोविश्लेषण जीवन से इसी भूले हुए युग को फिर स्मृति-पटल पर उभार कर लाने का काम करता है। तीसरी अवस्था वयस्कता काल (अँडोलेसेंट पीरियड) कहलाती है, जिसकी अवधि बारह से अठारह साल की उम्र तक है। ये तीनों अवस्थाएँ लिबिडो की दिशा की दृष्टि से भी महत्व रखती हैं। पहली अवस्था में बच्चा अपने प्रति आकर्षित होता है, दूसरी में समलिंगी व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होता है या दोनों लिंगों के व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा बरतता है और तीसरी अवस्था में वह विषमलिंगी व्यक्तियों के प्रति खिंचाव अनुभव करता है।[४] प्रकृति की एक बदक़िस्मत व्यवस्था के कारण बच्चे माँ-बाप के संपर्क में रहने के लिए मजबूर होते हैं। परिवार फ़ायड की दृष्टि में एक कुत्सित समूह है जो बचपन से ही संघर्ष का मूल केंद्र बन जाता है। शिशुत्व के समय जब लिबिडो की प्रक्रिया एक निश्चित बिंदु पर पहुँच गयी होती है, सेक्स का आलंबन माता होती है और सुख-प्राप्ति का अंग मुख। ज्योंही माता बालक के ऐंद्रिक सुख की, यौन की, आलंबन बनती है, त्योंही दमन की क्रिया प्रारंभ हो जाती है। मातृ प्रणय की वृत्ति को फ़ायड ने एक शास्त्रीय नाम—इडिपस ग्रंथि—दे कर गौरवान्वित करने की कोशिश की है।

इडिपस एक ग्रीक नाटक का वह नायक है, जिसके विषय में यह भविष्यवाणी की गयी थी कि वह अपने पिता को मार कर अपनी माता से विवाह करेगा। उसने इस नियति से बचने की भरसक कोशिश की किंतु वह बच न सका। अनजाने में ही उससे दोनों काम हो गये और जब उसे इस बात का ज्ञान हुआ, उसने अपनी आँखें फोड़ कर अपने आप को दंडित किया था। शैशव यौनवृत्ति में बच्चे की काम-भावना माँ की ओर प्रवृत्त होती है, और पिता से उसे ईर्ष्या होती है। वह अपनी सारी की सारी माता को अपने लिए चाहता है। पिता की अनुपस्थि-

---

[४] हाल में किये गये वैज्ञानिक प्रयोगों ने इस क्रम को भ्रामक साबित किया है; देखिए: किंसे आदि—सेक्सुअल बिहेवियर इन द ह्यूमन फ़ीमेल; पृष्ठ १०९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ति में वह संतोष प्रकट करता है। कई बार वह खुले आम माँ के बारे में यौन कौतूहल प्रकट करता है; रात में उसके साथ सोना चाहता है; माँ जब कपड़े बदलती है, वह उसी कमरे में रह कर उसे निरावरण देखना चाहता है और कई बार उससे शारीरिक काम चेष्टाएँ भी करता है। लगभग यही बात बच्ची और पिता के बीच के संबंधों पर भी लागू होती है। आगे चल कर जब परिवार में और बच्चे आ जाते हैं तब यह 'इडिपस ग्रंथि' परिवार-ग्रंथि में बदल जाती है। दूसरे बच्चे के पैदा होने के कारण पहले को मजबूरन माँ से अलग और दूर होना पड़ता है, इसलिए वह नवागत बच्चे के प्रति गहरी घृणा से भर जाता है। लेकिन जब उसके अन्य भाई-बहन कुछ बड़े हो जाते हैं तब उनके प्रति उसका दृष्टिकोण काफ़ी बदल जाता है। लड़का अपनी बेवफ़ा माँ की जगह अपनी बहन को प्रेम का आलंबन बना सकता है। जहाँ एक छोटी बहन को आकृष्ट करने वाले कई-कई भाई होते हैं वहाँ बचपन से ही उसमें प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या की भावना पैदा हो जाती है जो कभी-कभी बाद तक बनी रहती है। छोटी लड़की अपने बड़े भाई को पिता का स्थानापन्न बना लेती है क्योंकि पिता अब उसे बचपन जैसा प्यार नहीं करता, या अपने से छोटे भाई को उस शिशु की जगह पर प्यार करने लगती है, जिसे वह अपने पिता से पाना चाहती थी, पर पा न सकी।

ग़रज़ यह कि मनुष्य के हर क्रिया-कलाप पर फ़ायड ने सेक्स को इस तरह छा दिया है कि यह कहने को जी चाहता है कि मनुष्य के सब कामों के मूल में दमित यौन प्रवृत्तियाँ हों या न हों, फ़ायड के सिद्धांतों के मूल में वे अवश्य ही रही होंगी। जीवन के हर क्षेत्र में—व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के हर रागात्मक संबंध में—सेक्स को ज़बरदस्ती घसीटना एक प्रकार का मानसिक रोग ही कहा जा सकता है और, फ़ायड की ही शब्दावली का प्रयोग करें तो, इसका नामकरण भी किया जा सकता है—सेक्सोमेनिया। फ़ायड इस 'सेक्सोमेनिया' से इतना अधिक आक्रांत है कि बचपन की हर वृत्ति को उसने जोड़-तोड़ कर विपथित या गुमराह (परवरटेड) सेक्स बता दिया है। बच्चा अगर माँ से प्यार करता है तो सेक्स, विरक्त है तो सेक्स, बहन से स्नेह रखता है तो सेक्स, नहीं रखता है तो उसका कारण भी सेक्स। यहाँ तक कि बहन अपने छोटे भाई से जो दुलार रखती है वह भी इसीलिए रखती है। वह उसे उस बच्चे का स्थानापन्न बना लेती है जो वह अपने पिता से खुद पाना चाहती थी। जैसे संसार में कोई अयौन संबंध हो ही नहीं सकता। या तो वह स्पष्ट यौन-संबंध होगा या गुमराह यौन-संबंध। बस इससे आगे राह नहीं।

सच बात तो यह है कि एक ओर तो फ़ायड ने यौन को बहुत व्यापक और विस्तृत अर्थों में—आकर्षण या रागात्मकता के अर्थों में—लिया है और इसलिए सभी कोमल संबंधों को यौन-संबंध कह दिया है, पर दूसरी ओर उनकी कामुकता पर भी, प्रचलित धारणा के अनुसार यौन-तृप्ति के उद्देश्य पर भी ज़ोर दिया है। यहीं असंगति है। सब सुखद ऐंद्रिक क्रियाएँ फ़ायड की नज़र में यौन क्रियाएँ हैं। इनमें बच्चे का स्तन-पान या अँगूठा चूसना आदि ही नहीं, खाना खाना और मल-मूत्र विसर्जन तक गिना दिये गए हैं। यदि सब सुखद ऐंद्रिक क्रियाएँ यौन क्रियाएँ हैं तो किसी विशेष क्रिया को यौन कहने का कोई मतलब ही नहीं रह जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़्रायड ने स्वयं अपने सिद्धांतों को परा-मनोविज्ञान (मेटा-साइकोलाजी) कहा है और वह उनकी अवैज्ञानिकता तथा काल्पनिकता के प्रति अपने भक्तों की अपेक्षा काफ़ी सचेत भी है।[५] वास्तव में उसके सिद्धांत 'मनोविज्ञान' हैं भी नहीं, उन्हें 'मनोदर्शन' की ही संज्ञा दी जा सकती है।

सब से पहले वह मन के दो क्षेत्र कल्पित करता है—चेतना और अचेतन मन, और उनके बीच अंतःकरण (कांशेंस) को एक चौकीदार की तरह खड़ा कर देता है। फिर मस्तिष्क-विज्ञान (सेरेब्रल ॲनाटॅमी) से एक दृष्टांत ले कर अपनी इस कल्पना का समर्थन करता है। दृष्टांत का आधार इस तथ्य को कि चेतना की आधार-भूमि मस्तिष्क-सतह या कॉरटेक्स है, बना दिया जाता है और इस तथ्य पर फ़्रायड अपना सारा रेत का महल खड़ा कर देता है। जैसे कॉरटेक्स दिमाग़ को आवरित किये रहता है, उसी तरह चेतना अचेतना को घेरे रहती है। फिर कॉरटेक्स की तरह चेतना भी बाहरी संसार से एक मोटी हड्डियाली खोपड़ी के द्वारा रक्षित की जाती है। इस दृष्टांत को फ़्रायड और भी आगे बढ़ाता है : जैसे कॉरटेक्स और मस्तिष्क के अन्य भागों के बीच वैसी कोई दीवार नहीं रहती, जैसी उसके और बाहरी संसार के बीच रहती है, इसलिए चेतना और अचेतना के बीच भी कोई दीवार नहीं है और इसलिए चेतना बाहरी उद्दीपनों की अपेक्षा आंतरिक उद्दीपनों से अधिक प्रभावित होती है। बल्कि आंतरिक प्रभाव ही निर्णायक होते हैं। ज्ञानेंद्रियों को फ़्रायड, लाखों वर्षों के सारे विकास को झुठला कर, जीवद्रव्यीय जीवाणु (प्रोटोप्लाज़्मिक एनिमलक्यूल) के कूटपादों (स्यूडोपेडिया), मस्तक पर उभरने वाले उन उभारों के समकक्ष रखता है जिनमें प्रोटोप्लाज़्म बह कर आता है। फ़्रायड के विचार से ज्ञानेंद्रियाँ संसार को समझने और प्रत्यक्षीकृत करने के मार्ग नहीं, वे कवच हैं जो चेतना को बाहरी संसार के प्रभावों से और भी ढक देते हैं। इस सब से फ़्रायड इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मानवीय चेतना सांसारिक जीवन में प्राप्त संवेदनों-अनुभवों से नहीं, अपने ही अंदर के अवचेतन से आने वाले उद्दीपनों से निर्धारित होती है। और ये उद्दीपन हैं : मूल प्रवृत्तियाँ। जहाँ तक बाहरी दुनिया के साथ संबंध का सवाल है, फ़्रायड मनुष्य को, उसके लाखों वर्षों के विकास को झुठला कर, फिर जीवद्रव्यीय प्राणियों के स्तर पर ला रखता है।[६]

अचेतन को फ़्रायड मूल वृत्तियों, दमित आवेगों, संवेगों और विचारों तथा उन पर आधारित इच्छाओं का पुंज मानता है। मूल वृत्तियों को वह दो वर्गों में विभाजित करता है : 'इगो' (अहम), आक्रमण या मृत्यु-वृत्ति एक तरफ़ और 'इरोस', यौन या जीवन-वृत्ति दूसरी तरफ़। पहले वर्ग में वे सब अचेतन वृत्तियाँ आ जाती हैं जो मनुष्य को फिर उसकी आदिम अजीव अवस्था की ओर ले जाना चाहती हैं, और दूसरे में वे जो उसे नयी ज़िंदगी की ओर प्रवृत्त करती हैं। अचेतन इन दोनों प्रकार की वृत्तियों और उनके दमन से मिल कर बनता है। उसकी दूसरी विशेषताएँ हैं : शाश्वत स्थिरता—समय के विकास से सर्वथा अप्रभावित रहने की वृत्ति, कई एक परस्पर

---

[५] फ़्रायड : बियांड द प्लेजर प्रिंसिपिल; पृष्ठ ३७।
[६] हेरी के० वेल्स : सिगमंड फ़्रायड; पृष्ठ ४८।

४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोधी वृत्तियों की एक साथ स्थिति रखने की क्षमता, वास्तविकता की जगह मानसिकता के स्थानांतरण की प्रवृत्ति और तथाकथित सुखसिद्धांत (प्लेज़र प्रिंसिपिल)।

अपनी बाद की रचनाओं में फ़्रायड ने अंतःकरण को 'सेंसर' और 'सुपर इगो' बना दिया है तथा अचेतन को एक नये नाम 'इड' से विभूषित किया है। अपनी पुस्तक 'द इगो एंड द इड' में उसने चेतन, अचेतन, 'इगो', 'इड' और 'सुपर इगो' के नये संबंधों पर फिर प्रकाश डाला है। 'इड' मूलप्रावृत्तिक शक्ति का मूल स्रोत है। यह अचेतन है; लिबिडो या जीवन-शक्ति का संरक्षक है; सुख सिद्धांत का इसमें एकछत्र राज्य है। यह अनैतिक और अबौद्धिक है। दमित इच्छाएँ इसमें ग़ोता लगाती हैं और इसका अंग बन जाती हैं। 'इड' हमारी आदिम जैविक वृत्तियों को प्रकट करता है। 'इड' से ही जीवन शुरू होता है। बच्चा पूरा 'इड' है। 'इड' अपने अंतिम रूप में कामात्मक है। 'इगो' मानसिक जीवन का एक विवेकशील संगठन है, जो 'इड' से ही बाहरी संसार के प्रभावों में विकसित होता है। यह 'इड' से बिल्कुल अलग नहीं है; इसका निचला हिस्सा अब भी 'इड' के समुद्र में डूबा हुआ है। इसका कुछ भाग चेतन है और कुछ अचेतन। इसके तीन स्वामी हैं : बाहरी संसार, 'इड' की जीवन शक्ति (लिबिडो), और 'सुपर इगो'। 'इगो' दो महत्वपूर्ण काम करता है : एक तो वह बाहरी संसार को ऐसे मौक़ों की ताक में देखता रहता है, जिनमें 'इड' की लालसाएँ बिना किसी हानि के पूरी की जा सकें; और दूसरे, वह 'इड' को अपनी इच्छाओं को छोड़ने के लिए फुसलाता है, या उसे कोई और संतुष्टि दे कर शांत करता है। सामान्य मनुष्य के जीवन में 'इगो' और 'इड' आवश्यक रूप से एक दूसरे के विरोधी बन कर नहीं आते, पर स्नायविक रोगों के मूल में प्रायः इनका संघर्ष रहता है। 'सुपर इगो' 'इगो' का ही एक संशोधित और अधिक नैतिक तथा अधिक बौद्धिक संस्करण है। यह 'इगो' का शास्ता है। इसका भी एक बड़ा हिस्सा अचेतन है। यह व्यक्ति के मन में बसने वाला उसका पिता है। उसकी 'इडिपस ग्रंथि' को दबाने में उसकी सहायता करता है। इसका ख़ास काम है आलोचना के द्वारा 'इगो' को अपराधी अनुभव कराना।

फ़्रायड की नज़र में समाज का अस्तित्व व्यक्ति-जीवन के लिए हमेशा से एक बड़ी बाधा रही है। और जितना वह विकसित होता जाता है, जितना वह सभ्य होता जाता है, उतना ही वह अधिक बाधक होता जाता है। अधिक सभ्य समाज में मनुष्य की मूल-वृत्तियों का अधिक दमन होता है और अधिक दमन अधिक गंदे सपनों, अधिक अश्लील मज़ाकों, अधिक भयानक ग़लतियों और अधिक ख़तरनाक स्नायु-रोगों को जन्म देता है।

अपने मनोदर्शन में फ़्रायड वास्तविक मानसिक प्रक्रियाओं पर विचार करता है, पर इनका प्रतीकीकरण वह आदिम लोगों की देव-गाथाओं से भरी भाषा में करता है। मृत्यु-वृत्ति और जीवन-वृत्ति, सुख-सिद्धांत और वास्तविकता-सिद्धांत, 'इगो' और 'इड' के बीच में संघर्ष का फ़्रायडियन चित्र एक वास्तविक संघर्ष का चित्र है, पर पुराण-गाथाओं के रंगों और रेखाओं से बनाया हुआ। फ़्रायड का 'लिबिडो' प्रारंभिक रसायन के उस रहस्यपूर्ण पदार्थ 'केलोरिक' की याद दिलाता है, जिसकी सत्ता हर जलने वाली वस्तु में कल्पित की गयी थी और किसी वस्तु के जलने की क्रिया को उस वस्तु से इन 'केलोरिक' महोदय के निकलने की क्रिया माना गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ायड ने वैज्ञानिक तथ्यों की धार्मिक ढंग से व्याख्याएँ कीं। जैसे आदिम लोग बिजली गिरने का कारण 'इंद्र' के प्रकोप को मानते थे, वैसे ही फ़ायड के अनुसार सपने 'दमित इच्छा' नामक देवी के प्रकोप हैं। इस तरह यद्यपि फ़ायड ने कुछ महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया तथापि वह उन्हें किसी तर्कसंगत वैज्ञानिक पद्धति में संयोजित नहीं कर पाया।

मानसिक क्रियाएँ हमारे पूरे स्नायु-संस्थान से संबंधित होती हैं। जब हम सितार पर एक स्वर बजाते हैं तब जिन तारों को हम छूते हैं, जितने वे उस स्वर से संबंधित हैं उतने ही वे तार भी जो नहीं छुए गये हैं। क्योंकि वह विशेष स्वर स्वरों के एक निश्चित ढाँचे का एक अंग मात्र है। इसी प्रकार तथाकथित चेतन मानसिक क्रियाएँ भी हमारे पूरे शरीर-संस्थान के व्यवहारों का ही एक अंग हैं। और इसलिए उन्हें ठीक-ठीक समझने के लिए पूरे संस्थान को और परिवेश के साथ उसके बदलते हुए संबंधों को समझना होता है। फ़ायड ने 'चेतना' के एक छोटे क्षेत्र के भीतर से उन 'अचेतन' प्रभावों का अध्ययन किया है जो पूरे शरीर-संस्थान से आते हैं। और इसलिए उन्हें चेतना की नज़रों से ही देखा है। यही कारण है कि ये 'प्रभाव' पूरे ढाँचे का एक अंग नहीं, चेतना के एक शांत, आत्म-अनुशासित संसार में अचानक घुस आने वाले धूमकेतुओं के रूप में कल्पित किये गये हैं और इन्हें 'दमन', 'कुंठा', 'विपथन' जैसे नाम दिये गये हैं।[७]

आगे चल कर फ़ायड ने अपने इस मनोदर्शन को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर लागू करने की कोशिश कर के एक पूरे जीवन-दर्शन का रूप देना चाहा है। समाज, धर्म, नैतिकता, कला और संस्कृति आदि सब पर उसने अपने यही 'सेक्स' और 'दमन' के सिद्धांत आरोपित किये हैं।

अपनी पुस्तकों 'टोटेम एंड टेबू' तथा 'मोज़ेज़ एंड मोनोथीइज़्म' में उसने धर्म, नैतिकता और समाज के 'मनोदार्शनिक' मूल पर 'प्रकाश' डाला है। यहाँ आते-आते वह विज्ञान और वैज्ञानिक प्रणालियों से अपना रहा-सहा संबंध भी तोड़ देता है और पूरी तरह से कल्पना के संसार में विचरण करने लगता है। अपना हाइपोथेसिस वह इस मान्यता से शुरू करता है कि मनुष्य आरंभ में पितृ-सत्ता के घुमंतू समूहों में रहा करता था, जिनमें पिता समूह की सारी स्त्रियों को अपने अधिकार में रखता था और ज्योंही बेटे जवान होते, उन्हें समूह से अलग कर दिया करता था। एक दिन निर्वासित बेटों ने मिल कर उस पर आक्रमण किया और उसको मार कर खा गये। इस तरह पितृ-सत्ता समाप्त हुई। टोटेम भोज, जो शायद मनुष्य का सब से पुराना उत्सव है, इसी की यादगार है। पिता की हत्या के बाद बेटों ने आपसी समझौते पर समाज की व्यवस्था आधारित की और इस डर से कि उनका भी हाल उनके पिता की तरह ही न हो, समूह के भीतर हत्या और विवाह को वर्जित ठहरा दिया। इन्हीं दो नैतिक सिद्धांतों से बाद में अन्य सिद्धांत विकसित हुए। इस सिद्धांत के मूल में, जैसा कि स्पष्ट ही है, फ़ायड की वही 'इडिपस ग्रंथि' काम कर रही है। फ़ायड धर्म का आधार उस आदिम पितृ-हत्या से उत्पन्न सामूहिक आत्म-अपराध-चेतना को मानता है। उसके ख़्याल से उस मृत पिता को ही बाद में ईश्वर के रूप में पुनर्स्थापित

---

[७]कॉडवेल: स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर; पृष्ठ १६६-६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया। 'आदिम पाप' उसी पितृ-हत्या की याद है। इस तरह समाज की उत्पत्ति उस सामूहिक अपराध में सहयोग तथा धर्म की उत्पत्ति उस अपराध-भावना तथा उससे उत्पन्न पश्चात्ताप-भावना से हुई। स्पष्ट है कि फ़ायड व्यक्ति के विकास को ही नहीं, संपूर्ण मानवीय इतिहास को ही 'इडिपस ग्रंथि' से रंग कर देखता है।

मानव सभ्यता के विकास की मूल प्रेरणाओं के विषय में उसने कैसी कपोल-कल्पित ही नहीं हास्यास्पद भी कल्पनाएँ की हैं, इसका एक मज़ेदार उदाहरण आग पर विजय के बारे में उसका सिद्धांत है। अपनी पुस्तक 'सिविलीज़ेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट' में वह लिखता है : ऐसा लगता है कि आदिम मनुष्य जब आग के संपर्क में आता था तब उसे अपने मूत्र की धार से बुझाने में एक शैशविक सुख मिलता था। प्राप्त पौराणिक कथाएँ इस बात में कोई संदेह नहीं रहने देतीं कि आग की उठती हुई लपटों में आदिम मनुष्य एक लैंगिक भाव पाता था। इसलिए मूत्र से उसे बुझाना मनुष्य के साथ मनुष्य के समलिंगी संभोग का प्रतीक है। जो भी व्यक्ति अपने आपको इस सुख से वंचित रखता, आग को बचाये रख कर अपनी सेवा में लगा सकता था। अपनी वासना की आग को दबा कर वह प्रकृति की शक्ति रूपी उस आग को बचा सकता था। इस प्रकार यह महान सांस्कृतिक विजय एक मूल प्रवृत्ति––समलिंगी संभोग की!––के दमन का पुरस्कार थी।

अपने मनोदर्शन को कला के क्षेत्र में लागू करते हुए, फ़ायड कला-सृजन को भी स्वप्न, दिवा स्वप्न आदि मनोसृष्टियों की श्रेणी में रखता है। यह भी उन्हीं की तरह एक अचेतन प्रक्रिया है। इसमें भी उनकी तरह दमित इच्छा की काल्पनिक तृप्ति होती है। 'लोकप्रिय' उपन्यासों से उदाहरण दे कर वह बताता है कि इन सब में एक नायक रहता है, जो रुचि का केंद्र होता है। उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति जीतनें के लिये लेखक कुछ भी उठा नहीं रखता। यह नायक लेखक के 'अहम' के सिवा कुछ भी नहीं है। निरंतर संकट पड़ते हुए भी वह सदा उनसे बच कर निकलता जाता है। फिर प्रायः कहानी में आयी हुई सभी स्त्रियाँ नायक से प्रेम करती हुई दिखायी जाती हैं। यह दिवा स्वप्न का एक प्रमुख तत्व है। लेकिन दिवा स्वप्न और कला-सृजन में एक बड़ा अंतर यह है कि दिवा स्वप्न कुछ इतने वैयक्तिक होते हैं कि उन्हें स्वयं उनका द्रष्टा भी लज्जाजनक समझता है, और दूसरों से छिपाता है। यदि वह उन्हें प्रकाशित भी करे तो भी उन्हें सुननें वालों को उनमें न केवल आनंद नहीं आयगा, बल्कि विकर्षण भी होगा। कला की स्थिति ठीक इससे विपरीत है। कलाकार न केवल अपनी मनोसृष्टि को गौरव के साथ अभिव्यक्त करता है, वरन उसके पाठक भी उसमें आनंद पाते हैं। इस प्रकार, कला का मूल रहस्य उन तरीक़ों में है जिनसे कलाकार अपने सपनों को पाठकों के लिए आकर्षक बना देता है। फ़ायड इस तरह के दो तरीक़े कल्पित करता है। पहला तो यह कि कलाकार कुछ परिवर्तनों और आवरणों के साथ अपनी मनोसृष्टियों की 'अहम केंद्रीयता' को ढक लेता है। और दूसरा यह कि वह अपनी मनोसृष्टियों को आकर्षक मानने के लिए अपने पाठकों को विशुद्ध सौंदर्यगत आनंद की थोड़ी सी रिश्वत देता है।

जीवन के दूसरे क्षेत्रों की तरह कला में भी फ़ायड 'इडिपस ग्रंथि' को बहुत महत्व देता है। अपने सिद्धांत के समर्थन में वह तीन युगों की तीन प्रसिद्ध साहित्य-कृतियों का उदाहरण देता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोफ़ोक्लीज़ की 'इडिपस रेक्स', शेक्सपियर का 'हेमलेट' और दास्तोएवस्की का 'द ब्रदर्स करमाज़ोव'। तीनों कृतियों में 'पितृ-हत्या' को विषय बनाया गया है और तीनों में इसकी मूल प्रेरणा है : स्त्री के लिए काममूलक प्रतिद्वंद्विता। इस सिलसिले में हेमलेट का उसका विश्लेषण मनोरंजक है। हेमलेट का काम अपने उस चाचा से प्रतिशोध लेना है जिसने उसके पिता की हत्या कर उसकी माता से विवाह कर लिया था; पर हेमलेट अंत तक यह नहीं कर पाता। 'टु बी ऑर नॉट टु बी' की जटिल समस्या में ही उलझा रहता है। फ़ायड के अनुसार वह अपने चाचा से इसलिए प्रतिशोध नहीं ले पाता कि उसके चाचा ने जो कुछ किया है वही हेमलेट की भी अचेतन इच्छा है। चाचा ने उसके पिता को मार कर तथा उसकी माता से विवाह कर के स्वयं उसकी बाल्यकालीन दमित इच्छा की ही पूर्ति की है। इसलिए अचेतनतः हेमलेट अपने चाचा को अपने से ज़्यादा अपराधी नहीं समझता और इसीलिए चेतनतः निश्चय कर के भी उसे दंड नहीं दे पाता।

इस प्रकार, फ़ायड के विचार से कला का उद्गम भी उन्हीं दमित इच्छाओं से होता है, जो मानसिक रोगों की भी जननी है। और कला भी उसी तरह कलाकार के मन को 'इगो' और 'इड' में चलने वाले संघर्ष से आंशिक राहत देती है। कला जीवन की कठोरताओं से बचने के लिए निर्मित एक अस्थायी आश्रय के सिवा कुछ नहीं है।

स्पष्ट है कि फ़ायड के सामान्य चिंतन की मूल विकृतियाँ उसके कला-चिंतन में भी मौजूद हैं। कला-सृजन को सपनों के (और स्नायविक रोगों के तो और भी) सकमक्ष नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि कला भी एक प्रकार की मनोसृष्टि है, लेकिन वह स्वप्न की तरह की मुक्त साहचर्य वाली मनोसृष्टि नहीं है। कला की अनुभूतियाँ निर्देशित अनुभूतियाँ होती हैं—सामाजिक अहम से निर्देशित। फिर, स्वप्न एक अचेतन क्रिया है, जब कि कला एक चेतन सृजन है। स्वप्न अवचेतन से ऊपर की ओर उठते हैं इसलिए अंधे और अनुत्पादक हैं, लेकिन कला चेतन से नीचे की ओर चलती है इसलिए जाग्रत और सृजनात्मक है। स्वप्न संवेगों के गत्यात्मक क्षेत्र से बाहर ही रहने की कोशिश करते हैं ताकि कहीं स्वप्न-द्रष्टा जाग न जाय लेकिन कला साहस के साथ उनके क्षेत्र में विचरण करती है ताकि उनको प्रभावित कर सके, बदल सके। स्वप्न वैयक्तिक सृष्टि है, कला सामाजिक।[८]

सच बात तो यह है कि जिस तरह जीव-विज्ञान का सम्यक अध्ययन बिना भौतिक और रासायनिक विज्ञान के प्राथमिक अध्ययन के कठिन है, उसी तरह मनोविज्ञान का वास्तविक अध्ययन भी वैज्ञानिक समाज-शास्त्र के मूल नियमों को जाने बिना संभव नहीं है।[९] जीव का व्यवहार उसके शरीर और परिवेश के बीच की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं की समष्टि है। परिवेश कोई स्थिर पृष्ठभूमि या रंगमंच नहीं है जिस पर आ-आ कर जीव अपनी भूमिकाएँ अदा करते हों। वह स्वयं अन्य जीवों के पारस्परिक संबंधों और क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तथा भौतिक

---

[८]कॉडबेल : इल्यूजन एंड रियलिटी; पृष्ठ १६६-२००।
[९]कॉडबेल : स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर; पृष्ठ १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों की समष्टि है, जो प्रतिक्षण बदलती रहती है। जीव के प्रत्येक व्यवहार---जिसमें जीव और परिवेश के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया हुई---के बाद जीव परिवेश को प्रभावित कर चुका होता है और परिवेश जीव को। जीवों में भी मनुष्य एक ऐसा जीव है, जिसमें परिवेश को बदलने और परिवेश द्वारा बदले जाने की सब से अधिक क्षमताएँ हैं। इस दुहरे परिवर्तन का व्यक्ति के पक्ष से अध्ययन मनोविज्ञान और परिवेश के पक्ष से अध्ययन समाजशास्त्र और इतिहास है। समाज-विज्ञान की सम्यक पृष्ठभूमि के बिना मनोविज्ञान का अध्ययन संभव नहीं है।

फ़ायड अपने अध्ययन में परिवेश को रंगमंच के पीछे टँके हुए एक काले पर्दे से अधिक महत्व नहीं देता, जिस पर 'इगो', 'सुपर इगो', 'सेंसर' और 'इड' आदि महानुभाव आ-आ कर वर्जनाओं, उदात्तीकरणों, आत्मरतियों और स्थानांतरणों के चमत्कारपूर्ण खेल दिखाते हैं। फ़ायड ने केवल मन की वृत्तियों का सुविधा के लिए मानवीकरण ही नहीं किया है बल्कि गंभीरता से उन्हें पौराणिक नायक-नायिकाओं का रूप दिया है।

फ़ायड के चिंतन की सब से बड़ी असंगति यह है कि उसने मनुष्य के मन को उसके परिवेश से अलग एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता के रूप में कल्पित किया है, जिस पर बाहरी संसार का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। अन्य बूर्ज्वा विचारकों की तरह ही वह भी पूरे भोलेपन के साथ विश्वास करता है कि वैज्ञानिक कारणता से बँधे वस्तु-जगत में एक क्षेत्र ऐसा भी है जो बिल्कुल 'स्वतंत्र' है, अपने ही आंतरिक नियमों से संचालित होता है। यही कारण है कि उसने मन का अध्ययन उसके अंदर से ही करने की कोशिश की है, बाहर के किसी भी संदर्भ को छुए बिना उसका विश्लेषण करना चाहा है। इसीलिए वह मानव समाज, सभ्यता और संस्कृति को मनुष्य के विकास के नये क्षितिजों के रूप में नहीं देख सका, उसे तो ये सब मानव-मन पर डाली गयी ज़ंजीरों के रूप में ही दिखायी दिए। रूसो की तरह उसने भी समझा कि मनुष्य प्रकृतितः 'स्वतंत्र' था और समाज व्यवस्था ने उसे ग़ुलाम बना लिया है। पर वह यह नहीं समझ पाया कि सच्ची स्वतंत्रता समाज व्यवस्था के अभाव---अराजकता की स्थिति---में नहीं, उसकी स्वस्थ पूर्णता में है। सामाजिक व्यवस्था को व्यक्ति के विकास में बाधा समझने का यह भ्रम पैदा इसलिए हुआ कि फ़ायड 'अपने समय की सामाज़िक व्यवस्था' और 'सामाजिक व्यवस्था' में भेद नहीं कर पाया। उसने अपने आस-पास देखी हुई विषमतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था को ही सामाजिक व्यवस्था का एकमात्र संभव रूप मान लिया और इसलिए उसका विरोध करने में सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता को ही झुठला दिया।

वनस्थली विद्यापीठ,
राजस्थान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी

फिसलन

कमल जोशी

कान बहुत लंबे-चौड़े हैं, अन्यथा सूरत-शक्ल ठीक ही है।

लेकिन जब नवलकिशोर बारह साल का था तब उसके पिता ने उसके संबंध में जो कुछ कहा था वह आज भी —सत्तावन वर्ष की उम्र—में उसे याद है। व्यंग्य करते हुए उसके पिता ने कहा था—सिर में गोबर और सारे शरीर में चमगादड़ जैसे दो कान, ये हैं हमारे चिरंजीव नवलकिशोर। हिसाब के मास्टर मिलने आये थे। मिलने नहीं, बल्कि मलाई पड़ी हुई लस्सी की लालच में। मलाई चाटते हुए कुछ हँस कर हिसाब के मास्टर ने शिकायत की थी, "हिसाब में उसे सिर्फ़ दो नंबर मिले हैं। अभी से अगर मेहनत नहीं करेगा. . .तो। भार्गव साहब ! सच मानिए, आपके यहाँ की जैसी लस्सी कहीं नहीं पी।"

नवल को बुलाया गया। डाँट-डपट नहीं, मार-पीट नहीं, यहाँ तक कि ज़रा आँखें दिखाना भी नहीं। सिर्फ़ ये कुछ शब्द। दरवाज़े के बग़ल में खड़ा हुआ नवलकिशोर घृणा और अपमान से बहुत देर तक काँपता रहा था।

आज भी उसे याद है : "दो नंबर किस लिए मास्टर साहब ?"

गटर-गटर लस्सी के दो घूँट पीते हुए मास्टर हँसा था, शैतान की तरह। नवल की आँखों के आगे अँधेरा छा रहा था—"कोशिश की है, नवलकिशोर ने बहुत दिमाग़ लड़ाया है। बेचारे ने एक-एक हिसाब को पाँच-छह बार किया है। इसलिए शून्य नहीं दे सका, कुछ दया आ गयी।" फिर वही अट्टहास !

खिड़की के निकट एक आरामकुरसी पर नवलकिशोर बैठा था, एक रेशमी चादर ओढ़े हुए। सध्या का समय और आकाश में मेघ। कमरे में हल्का-सा अंधकार था। एकाकी और भारमुक्त। अनेक वर्षों के अध्यवसाय से अर्जित निर्विघ्नता। पुरुष का कमरा है। कमरे के साज-सामान में दिखावा या वंचना नहीं है।

नवलकिशोर ज़रा घूम कर बैठा। हाँ, उसे याद है। उस दिन से ही वह अपने पिता से घृणा करने लगा था। जलते हुए कोयले की तरह वह घृणा निरंतर उसके हृदय को जलाती रही। रात को जब सब लोग सो जाते थे, नवल चुपचाप अपनी खटिया से उठ कर दूसरे कमरे में आता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लालटेन जला कर अंकगणित की किताब और पेंसिल-कापी ले कर वह चौकी पर बैठ जाता था। हिसाब उसे समझने ही होंगे—चाहे जितनी रात हो। सुबह सिर में दर्द होता, आँखें जलतीं और हाथ की उँगलियाँ काँपतीं। चौखट को पार करते ही उसकी खटिया है। बिछौना बिछा हुआ है। नहीं, हिसाब में उसे दक्ष होना ही पड़ेगा। चाहे कुछ भी क्यों न हो। हे ईश्वर! तुम मुझे हिसाब समझा दो। नहीं तो, नहीं तो—नहीं तो मैं मर जाऊँगा। नदी में डूब मरूँगा। तुम भी मुझे नहीं बचा सकोगे ईश्वर!

एक-दो दिन नहीं, बल्कि अनेक रातों को ऐसे ही जाग-जाग कर हिसाब समझने की उसने चेष्टा की थी। और, वह सफल हुआ था। हिसाब समझ सका था।

क्लास में वह एकदम पीछे वाली बेंच पर बैठता था। अपना सिर नीचे झुकाये रखता ताकि मुरारी मास्टर की नजर उस पर न पड़े। फिर वार्षिक परीक्षा में उसने चमत्कार दिखाया। एक नहीं, बल्कि दो शून्य मुरारी मास्टर को देने पड़े और उन दोनों शून्य के पहले एक लिखना पड़ा। लेकिन गाढ़ी मलाई डाली हुई लस्सी की तरह चट से हज़म नहीं कर सका। हेडमास्टर से कहा, "ऐसा हो ही नहीं सकता। नवल ने नक़ल की है। उसके सामने की सीट पर राधेश बैठा था, उसकी ही नक़ल की है।"

"राधेश को कितने नंबर मिले हैं?" हेडमास्टर ने प्रश्न किया।

"राधेश?" सिर खुजलाते हुए मुरारी मास्टर ने जबाव दिया, "राधेश को नब्बे मिले हैं। एक हिसाब शायद नवल ने ख़ुद ही किया हो, हाँ, इसीलिए।"

"बेंत लाइये।"

मुरारी मास्टर ने आलमारी के ऊपर रखा हुआ लाल बेंत उतार कर एक बार शून्य में घुमाया, फिर मेज़ पर रख दिया।

नवलकिशोर को बुलाया गया।

"इधर आओ नवल।"

नवल मेज़ के पास आ कर खड़ा हो गया।

मुरारी मास्टर ने कहा, "पाँच से ज़्यादा नंबर तुम्हें कभी नहीं मिलते। बोलो, किसकी कापी से नक़ल की है?"

"किसी की भी कापी से नहीं। सारे हिसाब मैंने अपने आप किये हैं।"

सपाक से हेडमास्टर ने मेज़ पर बेंत मारा, "झूठा कहीं का! किसकी नक़ल की है?"

"अपने आप किये हैं।"

आस्तीन चढ़ा कर हेडमास्टर खड़े हो गये, "हाथ आगे करो।"

"क्यों?"

बेंत पड़ा। सड़ासड़। पीठ पर, पैरों पर।

"अभी भी बता दो नहीं तो खाल उधेड़ दूँगा।"

"क्या बता दूँ, जो कहना था कह चुका।" वैसे ही शांत भाव से नवलकिशोर ने उत्तर दिया, "विश्वास न हो तो फिर से परीक्षा ले कर देख सकते हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेडमास्टर ने पहले यह क्यों नहीं सोचा। मुरारी मास्टर ने ?

खट से मुरारी मास्टर ने प्रश्न-पत्र आगे बढ़ा दिया, और पेंसिल-कापी भी।

नवल को पैंतालीस मिनट लगे। दोनों ने ही कापी की जाँच की। दोनों शिक्षक भौंचक्के रह गये। "पहले किये हुए ये हिसाब यह कर सकता है।" मुरारी मास्टर ने कहा।

"अंकगणित से कोई भी सवाल दे कर आप देख सकते हैं।" नवल ने फिर पेंसिल उठा ली।

मुरारी मास्टर ने अंकगणित की किताब के पन्ने उलट कर कड़े से कड़े सवाल नवल को करने के लिए दिये। पाँच ऐसे कड़े सवाल जो मुरारी मास्टर खुद भी कर सकता है या नहीं, इसमें संदेह था—और किसी को नहीं, हेडमास्टर को और स्वयं मुरारी मास्टर को।

नवल को पच्चीस-तीस मिनट लगे। उसने हेडमास्टर के सामने कापी बढ़ा दी। दोनों ने ही उत्तर मिला कर देखे। ज़रा भी इधर-उधर नहीं। विस्मित दृष्टि से वे दोनों नवल को देखते ही रह गये।

और नवल ने क्या किया—बेंत उठा कर जोर से खिड़की के बाहर फेंक दिया। मुरारी मास्टर से कहा, "जाइए, चुल्लू भर पानी में डूब मरिए।"

अंधकार में कमरे की चीज़ों की आकृति खो गयी है। मकान के सामने ही फूल के दो पेड़ हैं। हवा के झोंके से पेड़ के पत्तों की खड़खड़ाहट होती है। आकाश की ओर बिना अच्छी तरह से देखे भी नवलकिशोर बता सकता है कि सब नक्षत्रों को मेघों ने ढक लिया है। आकाश से उसका ऐसा ही परिचय है। और फिर, इन पत्तों की मर्मर ध्वनि सुन कर ही वह यह बता सकता है कि मेघ दूर हुए या नहीं, आकाश में तारे चमक रहे हैं या नहीं।

हाँ, पिता को उसने क्षमा कर दिया था, उनकी मृत्यु शय्या के निकट खड़े हो कर। उस समय उसकी मैट्रिक परीक्षा थी। इसके बाद—उस दिन की भी उसे याद है—जिस दिन गंगा में अस्थियाँ विसर्जित की गयी थीं, उस समय उसके हृदय में एकमात्र कातर प्रार्थना आर्तनाद कर रही थी : पिता जी, तुम मुझे माफ़ करो।

●

एक आवारा और बदचलन विद्यार्थी स्कूल से निकाल दिया गया था। दसवीं कक्षा का छात्र। हेडमास्टर से प्रार्थना की गयी कि निकाले हुए छात्र को वापस ले लिया जाय। नहीं, हेडमास्टर ने बहुत जोर से सिर हिलाया—ऐसा नहीं हो सकता। छात्र-नेता ने निर्देश दिया—आओ, हम सब क्लास से निकल जाएँ। सब निकल गये। बैठा रहा सिर्फ़ नवलकिशोर, किताबें पकड़े। वह यह नहीं देख सका था कि बाहर से किसने पत्थर फेंका। सिर में वह पत्थर लगा। अपने रूमाल से उसने ख़ून पोछा। लेकिन इतने से उसका छुटकारा नहीं हुआ। पीछे से किसी ने, जैसे बोतल का ढक्कन खोलते हैं, वैसे ही उसके दोनों कान मरोड़ दिये। टिप्पणी की—दोनों तरफ़ दो चमगादड़ लटके हुए हैं। उसने मुँह नहीं घुमाया। लेकिन आवाज़ से पहचान गया था कि पशुपति है। वही पशुपति जो नंबरी गुंडा और आवारा है, तीन बार मैट्रिक में फ़ेल हो चुका है और जो सारे क्लास को ख़राब बातें सिखाता है।

५

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैट्रिक में फ़र्स्ट होने के बाद से फिर कभी किसी ने उसके चेहरे के संबंध में या कान के बारे में मज़ाक नहीं किया। मज़ाक करने का साहस नहीं किया है। इसके बाद उसने और भी परीक्षाएँ दी हैं। एक बार भी द्वितीय नहीं हुआ। लेकिन उसका क़द नहीं बढ़ा। अगर कुछ और लंबा हो जाता तो कान की ख़राबी ढक जाती। लोगों की नज़र नहीं पड़ती।

हाईकोर्ट में पहली पैरवी करने के बाद ही वह रातों-रात प्रसिद्ध हो गया। प्रेस रिपोर्टर को संक्षिप्त जीवनी बताते हुए उसे संकोच नहीं हुआ। लेकिन किसी भी प्रकार उसने अपनी फ़ोटो नहीं उतरवायी।

पुरूलिया में जज हो कर आने के बाद उसकी अदालत में एक मामले की सुनवाई हुई। कठघरे में खड़े मुलज़िम की ओर सिर्फ़ एक बार देख कर उसने मुँह फेर लिया। बलात्कार और हत्या। दो महीने सुनवाई के बाद जूरी ने मत दिया —अपराधी नहीं, उपयुक्त प्रमाण नहीं हैं। न्यायाधीश नवलकिशोर भार्गव जूरी की राय से सहमत नहीं हो सके। चौंसठ पृष्ठों के अपने फ़ैसले में उन्होंने उसे दोषी ठहराया। आजीवन जेल भी नहीं। जिन कई दफ़ाओं का उल्लेख कर जहाँ मामला भेजा, वहाँ फाँसी की रस्सी से पशुपति की गर्दन नहीं बचेगी।

हाईकोर्ट में पशुपति दोषी ठहराया गया। फाँसी।

यही नवल को संदेह था। कई दिनों तक मन ही मन बहुत सूक्ष्म विचार करने के बाद भी पशुपति के खिलाफ ऐसा कोई ज़बरदस्त प्रमाण नहीं मिला था जिससे उसे ख़ून के अपराध में दोषी ठहराया जाता। जूरी का मत ही ठीक था। इसलिए इतने दिनों से मन के एक कोने में एक जाग्रत विश्वास और निम्न श्रेणी की भावना की पराजय की कामना करता रहा था। क्यों—क्यों वह सुलभ प्रतिहिंसा की भावना से ऊपर नहीं उठ सका? तब फिर पशुपति और नवलकिशोर में मौलिक पार्थक्य कहाँ है?

लेकिन हाईकोर्ट के फ़ैसले में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पशुपति को फाँसी हुई।

उस दिन उसने ईश्वर से एक और प्रार्थना की थी। उसने क्या कभी ईश्वर पर विश्वास किया है? वह नहीं जानता। अक्षयवट के नीचे जिस दिन उसने अपने पिता की सद्‌गति की कामना की थी—उस दिन भी क्या उसने विश्वास किया था? वह नहीं जानता।

विश्वास के अभाव में ही उसके जीवन में उसका सम्मान, यश, यह मकान, मोटर और भविष्य की निर्विघ्नता संचित हुई है। पिता से, मुरारी मास्टर से और पशुपति से उसे जो कठोर लांछनाएँ मिली थीं, उन लांछनाओं और अपमानों को एक दिन शिक्षा, सम्मान और धन-संपत्ति ने ढक दिया। भविष्य में भी ढक देगा। अब कोई उसे लांछित या अपमानित करने का साहस नहीं करेगा। कोई भी नहीं।

●

शहर से दूर एकांत में उसका यह छोटा-सा मकान है। यह उसके पढ़ने-लिखने का कमरा है। एक मेज़, तीन कुर्सियाँ और कमरे में चारों ओर आलमारियों में भरी हुई किताबें। जो दो-चार उसके अंतरंग मित्र हैं, उन्हें वह ऊपर ही बुला लेता है। ऐसे-वैसे बाहर के आदमी ड्राइंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूम में बैठाये जाते हैं। नवलकिशोर को यह कहना अच्छा लगता है—कहता है, "पत्नी की अपेक्षा पुस्तकें बहुत अच्छी हैं।"

"आजकल क्या पढ़ रहे हो?"

"आजकल? इतिहास का दर्शन और दर्शन का इतिहास।"

"दर्शन? तुम्हारे जीवन में क्या कोई पछतावा नहीं है नवल? कोई दुख?"

"पछतावा, दुख? क्यों?"

"तुम्हें तो कभी नारी का साहचर्य नहीं मिला। प्रेमिका, सेविका, पालिका रमणी का स्वरूप कभी नहीं जान सके। युवती नारी के शरीर और मन में कितना सौंदर्य, कितना विस्मय—यह क्या कभी दर्शन के इतिहास में खोजने पर मिला है?"

नहीं, उसे नहीं मिला है। यह सच है। लेकिन दर्शन तो दर्शन के लिए है तथा इतिहास तो इतिहास के लिए है, युवती के सौंदर्य के लिए नहीं। फिर भी, उस दिन नवलकिशोर के अंतर में जैसे कहीं कुछ हिला-डुला था। अँधेरी गली में ईंट के जोड़ों में स्वतः निकले हुए पीले पेड़ों के पत्तों को जैसे हवा का झोंका हिला जाता है।

अवसर-प्राप्त न्यायाधीश नवलकिशोर ने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। स्त्रियों के अलावा जीवन में और भी अनेक मूल्यवान उपजीव्य हैं। अध्ययन में उसने चार वर्ष बिताये हैं। इस बीच ही शहर में विद्वानों की मंडली में उसके पांडित्य की ख्याति फैल गयी है। लंदन की एक दर्शन पत्रिका में कुछ माह पहले उसका जो प्रबंध प्रकाशित हुआ था, उसकी काफ़ी चर्चा हुई है। शहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति उसका मान-सम्मान करते हैं, उसके प्रति श्रद्धा दिखाते हैं। यह बात नवलकिशोर से छिपी नहीं है।

नीचे से बरतन-भांडे धोने की आवाज़ आ रही है। एक नौकर और एक रसोइया—यही उसकी गृहस्थी है। वे दोनों बहुत दिनों से उसके यहाँ हैं। और, शायद दोनों पक्षों में से जब तक किसी एक पक्ष की पुकार नहीं होती, तब तक रहेंगे।

चार बजे चाय-पान ख़त्म हो चुका है। सात बजे एक छोटी प्लेट में अनारस या सेब आयगा। अभी तक शरीर ठीक है। किसी बीमारी का शिकार नहीं हुआ है। पान नहीं खाता, तंबाकू नहीं छूता। नियमित रूप से कोई दवा नहीं, परहेज़ का खाना नहीं।

कमरे में ठंढी हवा आ रही है। बाहर रिमझिम बारिश हो रही है। कमरे में गहरा अंधकार है और आरामकुर्सी पर नवलकिशोर। सीढ़ी पर चप्पलों की आवाज़ सुनायी दी। दरवाज़े के पास साड़ी की खस-खस और हवा में मृदु सुरभि। बिजली जली—"अँधेरे में बैठे-बैठे तुम क्या सोच रहे हो, अंकिल?"

नवलकिशोर सीधा हो कर बैठ गया। बिजली की रोशनी से कहीं अधिक रोशनी कर रही है युवती। "पापा ने तुम्हारी ख़बर लाने के लिए कहा। तुम बहुत दिनों से हमारे यहाँ नहीं आये! क्यों नहीं आये अंकिल? ऐसे अकेले रहना तुम्हें अच्छा लगता है?" युवती आरामकुर्सी के हत्थे पर आ कर बैठ गयी। नवल के कंधे पर एक हाथ रखा।

"पापा का क्या हाल है? कैसे हैं? हाँ, बहुत दिनों से उनसे मुलाक़ात नहीं हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब किसी दिन ज़रूर आऊँगा, अपने पापा से कहना। अरे हाँ इला, इस पानी में तू क्यों आयी ?"

इला के पिता और नवलकिशोर एम० ए० और क़ानून की कक्षा में सहपाठी थे।

"ऐसे मौसम में ही तो घूमने का आनंद है। इच्छा होती है, कहीं दूर––बहुत दूर चली जाऊँ।"

"तब एम० ए० में फ़ेल हो जाओगी, पहले ही कहे देता हूँ।" नवलकिशोर हँसा।

"ऊँहूँ, फ़ेल नहीं होऊँगी। मैं एक ख़ास काम से आयी हूँ, हुक्म हो तो बताऊँ ?" नवल के कंधे पर इला कुछ और झुकी। उसके सिर से नहीं, सिर्फ़ बायें कान से इला का उरोज स्पर्श हुआ। वह ज़रा काँप गया। सुगंध––केशों की, साड़ी की, शरीर की।

"कहो।"

"तुम्हारे चाईबासा के मकान में आजकल कौन है ?"

"कौन है ? हवा है, बगीचा है, फूल हैं और हैं कुछ किताबें।"

"दार्शनिक न बन कर तुम कविता कर सकते थे, अंकिल। कल हमारे कालेज की छुट्टी है, हम लोग चाईबासा चलेंगे।"

"हम कौन ?"

"मैं इला, अर्पणा परांजपे और रीता साहनी––मेरी सहपाठिनियाँ। कल सारा दिन वहाँ रहेंगे, ख़ूब ऊधम मचायेंगे और शाम को लौट आयेंगे। तुम्हारा वहाँ नौकर है न? वही खाना बना देगा। हम लोग खाना-वाना बनाने के चक्कर में नहीं पड़ेंगे, समझे अंकिल ?"

"खाना बनाना आता भी है ?"

"सब आता है, सब आता है। लड़कियों को सब सीखना पड़ता है।"

"कितने बजे तुम लोग जाओगी ? किस पर जाओगी ?"

"क्यों, तुम्हारे रथ को क्या हुआ ? चार जने तो उसमें बैठ ही सकते हैं, दो सामने और दो पीछे।"

"कुछ खाओगी ?"

"काफ़ी पी सकती हूँ––काफ़ी और आमलेट।"

"अच्छा, बरामदे में जा कर ज़रा वनमाली को बुलाओ।"

"तुम भी पीओगे न ?"

"पी लूँगा, नुकसान क्या है ! बारिश ज़ोर से हो रही है न ?"

"होने दो ! कल सुबह आकाश साफ़ रहना चाहिए !" इला बरामदे में जा कर काफ़ी के लिए कह आयी और एक कुर्सी खींच कर नवल के सामने बैठ गयी।

कुछ देर बाद आमलेट और काफ़ी आयी। बातें करते हुए काफ़ी ख़त्म हुई। बारिश कभी कम हो जाती थी और कभी तेज़। कुछ देर बाद इला उठी। बोली, "अंकिल, तुम तैयार रहना। ठीक सात बजे।"

"मोटर निकालूँ, तुम्हें पहुँचा दूँ ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"नहीं-नहीं। इसकी कोई ज़रूरत नहीं।"

इला के पीछे-पीछे नवलकिशोर नीचे तक आया। लोहे के फाटक पर खड़े-खड़े उसने देखा—निर्जन सड़क की रोशनी और छाया का खेल। फुटपाथ पर इला का अनुसरण करती हुई चल रही है उसकी छाया।

कमरे में आ कर अवसर-प्राप्त जज साहब दार्शनिक नवलकिशोर भार्गव कुर्सी पर धप् से बैठ गये।

●

चूड़ीदार पाजामा और कुरता, कंधे पर बरसाती और वाटर कैरियर, बग़ल में हेनरी बर्गसन रचित 'क्रिएटिव इवोल्यूशन' दबाये नवलकिशोर नीचे उतर आया। अभी हाथ-घड़ी में सात बजने में पाँच मिनट बाक़ी हैं। आकाश में काले बादल मँडरा रहे हैं। छोटी मोटर में पच्चीस लिटर पेट्रोल भरवा लिया है। टिफ़िन कैरियर में अंडे की सैंडविच और कलाकंद। बगीचे में बरसात में भीगे हुए दोपाटी और जवा के फूल सुबह की हवा में हिल रहे हैं।

तीनों एक साथ चली आ रही हैं। उनके क़दम एक साथ उठ रहे हैं। इला गुप्ता, अर्पणा परांजपे और रीता साहनी। नवल ने बगीचे की ओर देखा। फूलों के भार से झुकी दोपाटी की शाखा झूल रही है। दोपाटी के फूल में इतना सौंदर्य, उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया था। "अंकिल क्या तुम तैयार हो? मेरा तो ख़्याल था कि तुम्हें सोते से जगाना होगा।"

बरसाती को कंधे पर ज़रा और ऊपर खिसका कर नवल अपने एक कान को कुछ ढक सका।

"यह अर्पणा और रीता हैं।"

शीर्णकाया अर्पणा की आँखों पर मोटे फ्रेम का चश्मा। चश्मे के भीतर से काजल दिखायी देता है। पतली ठोड़ी नीचे की ओर कुछ झुकी हुई है। इसलिए चिड़िया के घोंसले जैसा जूड़ा उसके मुँह पर जँचता है। सफ़ेद धोती और पीली बूटीदार ब्लाउज़। इसके बाद रीता साहनी। बार-बार नज़र घुमा लेने की चेष्टा करने पर भी नवल सफल नहीं हुआ। सुगठित, स्वस्थ, सुंदर और आकर्षक युवती।

"अंकिल, अब हम लोग चले न?"

"हाँ, हाँ।"

अर्पणा और इला पीछे बैठीं। सामने नवल के पास रीता। यह व्यवस्था किसी ने इच्छा से नहीं की थी। सीट की पीठ पर बरसाती और डैश-बोर्ड में पानी की बोतल रख कर नवल ने मोटर स्टार्ट की। साथ-साथ उन तीनों ने बातें करना शुरू किया। सड़क पर नज़र गड़ाये नवल मोटर चला रहा है। माइलोमीटर की सुई तीस के अंक को छू रही है। न कम न ज़्यादा। घंटे भर तक उन तीनों की जलतरंग जैसी आवाज़ें गूंजती रहीं। रीता ने नवल के शरीर से अपना शरीर छुआते हुए कहा, "अंकिल, ज़रा पानी पीऊँगी।"

बायें हाथ से पानी की बोतल निकाल कर नवल ने आगे बढ़ा दी। रीता ने बोतल में मुँह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा कर पानी पिया। यथास्थान रखने के समय तिरछी नज़रों से नवल ने देखा--रंग का दाग़, होंठों का रंग। और, एकाएक उसे भी जैसे प्यास लगी।

पीछे से इला बोली, "क्यों री, मुँह लगा कर पानी पिया। अब अंकिल को प्यास लगेगी तो वे क्या पियेंगे?" साथ-साथ सब हँस पड़ीं।

अर्थशास्त्र की छात्रा रीता साहनी ने अपनी मीठी आवाज़ में उत्तर दिया, "क्यों? यदि मैं अंकिल की कुछ लगती होती तो क्या वे जूठा पानी नहीं पीते?"

हँसी के आर्केस्ट्रा ने इंजन की आवाज़ को दबा दिया।

स्पीडोमीटर की सुई तीस से पैंतीस, पैंतीस से चालीस। नवल ने एक्सीलरेटर पर पैर दबा दिया। पचास, पचपन, साठ। सड़क के दोनों किनारों के पेड़ प्रचंड वेग से आगे आ रहे हैं। हरे दैत्य की तरह, हिंस्र आक्रोश से।

अर्पणा परांजपे ने दाँतों से अपने होंठ दबाये, इला गुप्ता ने अपने आँचल को हवा में उड़ने दिया। रीता साहनी ने अपना दाहिना हाथ नवल की सीट के पीछे रखते हुए कहा, "आ:!"

इधर आकाश के मेघ नीचे उतर रहे थे। बहुत दूर पर जैसे कहीं पानी बरस रहा है। दो मिनट बाद ही वर्षा शुरू हो गयी। नवल को लाचार हो कर स्पीड कम करनी पड़ी। पीछे के काँच चढ़ा दिये गये। सामने के दोनों काँच ख़राब हैं। कल रात को नवल को इस बात का कई बार ख़्याल आया था। लेकिन कोई उपाय नहीं था। पानी की बौछार उसकी ओर आ रही थी। वह भीग गया। तो भी उसने बरसाती को रीता की ओर बढ़ाते हुए कहा, "इससे अपने को ढक लो।"

रीता ने बरसाती से अपना शरीर ढकने की कोशिश की। नवल एकदम भीग गया। हवा के झोंके से वह रह-रह कर काँप उठता। पीछे कैरियर में रखी हुई अटैची में पाजामा, कुरता और चप्पल हैं। जब तक गीले कपड़े उतार नहीं देता तब तक आराम नहीं। ठंढ वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। बीमार हो जाता है।

चाईबासा पहुँचने में प्राय: और भी एक घंटा लगा। पानी कम हो गया है। शहर के बाहर मकान है। एक मंज़िले मकान के सामने थोड़ी-सी ज़मीन है। लगता है यहाँ फूलों का बगीचा बनाने की चेष्टा की गयी थी। रामावतार दौड़ कर आया। वे मोटर से उतरे। रीता ने बरसाती को मोटर में ही फेंक दिया। अब तक उसे ओढ़ कर जैसे उसने बहुत तकलीफ़ सही है।

मकान भीतर से साफ़-सुथरा है। कुछ प्रयोजनीय सामान है। रीता ने ख़ुश होते हुए कहा, "बहुत सुंदर जगह है! इतने दिनों से तुमने हमें क्यों नहीं बताया? अब जब आयेंगे तो दो-एक दिन रहेंगे। क्यों?" फिर धीरे से बोली, "जाते वक़्त रामावतार को दो रुपये बख़्शीश दे दूंगी, ताकि यदि मैं कभी जसवंत के साथ अकेली आऊँ तो. . . ."

रामावतार एटैची, टिफ़िन कैरियर और बरसाती ले आया।

"तुम सब क्या खाओगी?" नवल ने पूछा, "वह अभी से बनाना शुरू कर दे, नहीं तो देर होगी।"

"पुलाव और मांस बनवाया जाय" इला ने कहा, "ठीक है न?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीता ने पूछा, "बाहर जो मुर्ग़ियाँ हैं, किसकी हैं?"

"यहीं की।" रामावतार ने उत्तर दिया।

"तो फिर दो मुर्ग़ियाँ जबह करो।"

"ऐसा ही करो रामावतार, मुर्ग़ी और पुलाव।" नवल ने निर्देश दिया।

"मेरी साड़ी-ब्लाउज़ एकदम भीग गयी हैं।" रीता नवल के पास आयी, "कोई धोती है? मैं इनको सुखा लूँ। आपकी अटैची में धोती नहीं है?"

"धोती तो नहीं, पाजामा है।"

"ठीक है, वही दीजिए।"

अटैची को पूरी तरह खोलने का अवसर भी नवल को नहीं मिला, रीता ने फट से पाजामा और कुरता निकाल लिया। घिरे हुए बरामदे में लड़कियों ने एक-दो चक्कर लगाये और एक कमरे में घुस गयीं। नवलकिशोर कुछ क्षणों तक खड़ा रहा। फिर चप्पलों को पैरों में डाल कर धीरे-धीरे बग़ल वाले कमरे में चला गया। कमरे में प्रायः अंधकार था। चारों ओर की खिड़कियाँ बंद। खिड़की खोलते ही ठंढी हवा आयगी। इसलिए उसने दो झझरियाँ खोल दीं। आलमारी के बग़ल में एकमात्र कुर्सी पर वह बैठ गया। धीरे-धीरे कमरे की आकृति स्पष्ट हो रही है। ठंढ से बार-बार वह सिहर उठता है। निमोनिया के डर से वह काँपा, काँपा मृत्यु के भय से।

कमरे में कोई घुसा। होगा कोई। शायद रामावतार होगा। नवल ने सिर घुमाया। शायद लड़कियों में से कोई कमरा देखने आयी है। उनका अंतहीन कौतूहल है, सब कुछ देखना-सुनना चाहती हैं। कमरे के दूसरे कोने में रखे ड्रेसिंग टेबिल के सामने जा कर युवती खड़ी हो गयी। नवलकिशोर ने फिर देखा, रीता साहनी। कंधे पर उसका ही पाजामा और कुरता है। शीशे में साफ़ नज़र नहीं आ रहा था। हाथ बढ़ा कर रीता ने एक खिड़की खोल दी। ड्रेसिंग टेबिल पर एक किनारे कुरता और पाजामा रख कर उसने अपनी भीगी हुई साड़ी उतारी। हैंगर को लक्ष्य कर उसे फेंका। पीछे, आलमारी के बग़ल में कुर्सी पर अवसरप्राप्त जज दार्शनिक नवलकिशोर बैठा है; यह बताने की इच्छा होते हुए भी उसके मुख से एक शब्द नहीं निकला। सतर्क करने में उसने देरी कर दी है। उसने अपना मुँह घुमा लिया। दीवार पर आँखें गड़ाये रहा। लेकिन व्यर्थ। जीवन में हमेशा संयम-पालन ने नवल के चरित्र को कठोर और तेजस्वी बना दिया था। पर जीवन भर के इस कठोर संयम ने इस क्षण में मर्मांतक प्रतारणा की। उसने फिर देखा, तब तक रीता ने ब्लाउज़ उतार दिया था। ब्लाउज़ से उसने अपना मुँह और बाल पोंछे। जिस तरह बनियाइन उतारते हैं, उसी तरह उसने अपनी ब्रेसरी उतारी। सूखे गले में नवलकिशोर ने थूक निगला। कुमारी साहनी ने पेटीकोट को ज़मीन पर ही पड़ा रहने दिया। पाजामे को हाथ में लिये वह कुछ क्षण खड़ी रही। और, नवलकिशोर ने अंतिम प्रार्थना की : रीता उसे न देख पाय, जैसे आयी थी वैसे ही कमरे से चुपचाप चली जाय। जीवन में उसकी और कोई प्रार्थना नहीं है, यहाँ तक कि मृत्यु के क्षणों में कुछ दिनों और जीवित रहने की प्रार्थना भी नहीं।

पर वह प्रार्थना पर निर्भर नहीं कर सका। खड़ा हुआ। अभी भी समय है। पाजामा-कुरता पहनने में जितना समय लगता है, उतनी देर में वह कमरे से बाहर जा सकता है। एक पैर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे बढ़ा कर वह अलमारी के पास आया। रीता साहनी ने पाजामे में एक पैर डाला है। दार्शनिक नवलकिशोर ने उसी क्षण यह अनुभव किया कि सीने में छिपा हुआ शांत और निरीह हृदय कितनी भीषण यंत्रणा दे सकता है। और, दूसरा पैर पाजामे में डालने के लिए उठाते ही रीता साहनी ने एकाएक पीछे की ओर मुँह घुमाया। एक अस्पष्ट चीख़ को गले के बीच ही उसने दबा दिया। वह सीधी खड़ी हो गयी। फिर, पाजामा उतार कर उसने खिड़की से बाहर फेंक दिया, कुरता भी। लंबे-लंबे क़दम बढ़ाती हुई वह नवल के सामने आ कर खड़ी हो गयी। हाथ बढ़ा कर उसने ज़ोर से नवल के एक थप्पड़ मारा। चूड़ी की नोंक से नवल के गाल पर खरोंच लग गयी। दाँत किटकिटाते हुए रीता साहनी बोली, "गंदा चामचिड़िक, चमगादड़ जैसे कान!"

रीता ने जब लौट कर ज़मीन पर पड़ी हुई अपनी गीली साड़ी उठा ली तब भी नवलकिशोर का हृदय पागल घोड़े की तरह उछल-कूद कर रहा था, छलाँगें मार रहा था।

संपादक,
टिस्को समाचार,
जमशेदपुर (बिहार)।

राष्ट्रभारती

१ : इसमें लब्धप्रतिष्ठ विद्वान साहित्यकारों के ज्ञानपोषक और मनोरंजक अच्छे-अच्छे लेख, कविताएँ, कहानियाँ, एकांकी, रेखाचित्र, शब्दचित्र आदि रचनाएँ रहती हैं।

२ : इसमें संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, उर्दू, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं की तथा अंग्रेज़ी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं के सुंदर हिंदी अनुवाद भी रहते हैं।

वार्षिक मूल्य : ६) : छमाही : ३·५० रु०

नमूने की प्रति के लिए : ६२ पैसे मात्र।

रियायत : समिति के प्रमाणित प्रचारकों, हिंदी शिक्षकों, कोविद, रा० भा० रत्न, आचार्य, विशारद और साहित्यरत्न के विद्यार्थियों, केन्द्र-व्यवस्थापकों तथा सभी सार्वजनिक पुस्तकालयों, वाचनालयों और स्कूल-कालेजों के लिए केवल ५ रु० वार्षिक चंदा रखा गया है। अतः वे ५ रु० मात्र मनीआर्डर से भेजें।

पता : श्री व्यवस्थापक, 'राष्ट्रभारती',
हिंदीनगर, वर्धा (महाराष्ट्र राज्य)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वजनीन एकता का मूलाधार

परशुराम चतुर्वेदी

विश्व में आज प्रायः सर्वत्र पारस्परिक संघर्ष की मनोवृत्ति काम करती दीख पड़ती है। कोई एक राष्ट्र किसी दूसरे के आगे न केवल किसी साधारण होड़ मात्र की भावना से बढ़ना चाहता है, प्रत्युत वह उसे नीचा दिखाने अथवा नष्ट कर देने तक पर भी तुल जाता है। ऐसा करते समय बहुधा भयंकर युद्धों तक के अवसर आ उपस्थित होते हैं, अन्यथा कम से कम शीत युद्ध की स्थिति बनी रह जाती है। विकासवाद के सिद्धांतों में पूरी आस्था रखने वालों की धारणा है कि यह प्राणिमात्र के स्वभाव पर आधारित है जिसे हम मानव जाति के विगत इतिहास के अनुसार भी प्रमाणित कर सकते हैं। इसीलिए हमारे सामने इसके विरुद्ध कोई चारा नहीं है।

कहते हैं कि जिस समय से मनुष्य को अपनी विशिष्टता का भान हुआ तब से ही वह दूसरे जीवों का, किसी न किसी रूप में, अनुकरण करता आया है। यदि उसमें कोई अंतर भी आया है तो वह केवल उसके विविध साधनों से संपन्न होने में ही दीखता है। पशु आदि प्राणी जहाँ एक दूसरे से लड़ते समय अपने नख, दाँत अथवा पैर आदि अंगों को प्रयोग में लाते थे वहाँ पर इसने अपने लिए अनेक अस्त्र-शस्त्रों का भी निर्माण कर लिया है, तथा जहाँ पर वे कभी-कभी साधारण शारीरिक दाँव-पेच से ही काम ले लिया करते थे, वहाँ पर इसने कूटनीति तथा छल-कपट का भी व्यवहार करना सीख लिया है जिसका, प्रायः अप्रत्यक्ष रहने के कारण, कहीं अधिक भयंकर बन जाना तक सिद्ध होता है। मनुष्य ने अपनी अभ्यस्त विद्याओं तक को अधिकतर ऐसे ही कामों में लगाया है, जिस कारण उससे कोई दूसरी आशा करना व्यर्थ है। अतएव, प्रसिद्ध जर्मन विचारक नीत्शे के अनुसार, यदि विकासवाद के सिद्धांत शाश्वत हैं तथा यदि उसके आधार पर हम कभी किसी 'अतिमानव' के अस्तित्व में आने की कल्पना कर सकते हैं, तो यह अधिक संभावना है कि वह भी अपनी भौतिक शक्तियों का ही विकास करेगा। इस प्रकार उसमें वैसे नैतिक गुणों का प्रायः अभाव ही पाया जायगा जिनके बल पर उपर्युक्त संघर्ष-प्रधान जीवन में कोई सुधार लाया जा सके अथवा किसी आदर्श विश्व-शांति का स्वप्न साकार किया जा सके।

परंतु, जहाँ तक पता है ऐसी मान्यता को कभी सार्वभौम रूप देने की चेष्टा नहीं की गयी। स्वयं यूरोप के ही एक रूसी विचारक प्रिंस क्रोपाट्किन के अनुसार इस प्रकार की धारणा भ्रांतिपूर्ण ठहरायी जा सकती है। उसका कहना है कि मानव ने यदि किसी प्रकार का विकास पाया है तो वह केवल पशुओं की युद्धप्रियता अथवा पारस्परिक द्वंद्वात्मक जीवन के अनुकरण से ही ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया है, प्रत्युत इसके साथ ही उसने उनकी उन कतिपय कोमल वृत्तियों को भी अपनाया है जिनका महत्व कम नहीं है। उनमें अपने बच्चों और वर्ग वालों के प्रति स्नेह और आत्मीयता के जो भाव देखे जाते हैं तथा जो स्वाभाविक आत्मत्याग की वृत्ति क्षुद्र से क्षुद्र प्राणियों तक में कभी-न-कभी लक्षित होती है, उनकी मनुष्य ने भी कभी उपेक्षा नहीं की है। इसने एक ओर जहाँ घोर पाशविक वृत्तियों को प्रश्रय देने में कमी नहीं की है वहाँ दूसरी ओर अनेक ऐसे नैतिक गुणों को भी अपनाया है जिनके सहारे यह अपनी वर्तमान स्थिति को प्राप्त कर सका है तथा जिनके बल पर ही वह उनके रहते हुए भी आगे बढ़ सकता है। इतना ही नहीं, विकासवाद के सिद्धांतों के प्रति अनास्था प्रकट करने वाले अन्य अनेक लोगों ने भी इस प्रकार के ही विचारों का समर्थन किया है। यूरोप के ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस बात को बहुधा इस प्रकार भी कहा है कि सारे प्राणियों को उत्पन्न करने वाला केवल एकमात्र परमेश्वर (God) है जिस कारण प्रत्येक मनुष्य को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि हम एक ही पिता की संतान हैं। उनके अनुसार, अधिकतर इस प्रकार की धारणा के बन जाने के ही कारण मानव जाति अपनी उन्नति करने में समर्थ हो सकती है। ईसाइयों द्वारा प्रचलित की जाने वाली इस 'परमेश्वर पितृत्व' की भावना की ही भाँति विश्व बंधुत्व की भी एक मान्यता है जिसे विशेष कर इस्लाम के अनुयायियों ने अपने आदर्शों में स्थान दिया है। ऐसी विचारधाराओं में विश्वास करने वालों की आस्था इस बात में देखी जाती है कि यदि इनके अनुसार आचरण-व्यवहार किया जा सके तो यह निश्चय है कि इनके आधार पर उत्पन्न भ्रातृभाव हमें सहयोग की शिक्षा देगा तथा यह हमें सदा आशान्वित भी बनाये रख सकता है।

इस प्रकार की प्राणिगत अथवा मानवीय एकता को, इसके मूल आधार को ध्यान में रखते हुए, हम 'धार्मिक' अथवा 'सांप्रदायिक' एकता का नाम दे सकते हैं, क्योंकि इसका स्वरूप किसी न किसी धार्मिक स्वीकृति के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है। इसी कोटि के अंतर्गत हम ऐसी उन भावनाओं को भी स्थान दे सकते हैं जो परमेश्वर की जगह किसी पदार्थ विशेष को उसका मूल स्रोत ठहराती हैं। उदाहरण के लिए, इस्लाम के अनुयायियों का इस बात में पूरी आस्था रखना कि 'खलक़' या सृष्टि का मूल खुदा के किसी 'नूर' विशेष अथवा प्रकाश में निहित है, तथा संत कबीर साहब द्वारा भी कहा जाना कि एक जोति से सभी उत्पन्न हुए हैं अतएव ब्राह्मण तथा शूद्र दोनों में किसी प्रकार का अंतर नहीं है, न किसी एक को ऊँचा तथा दूसरे को नीचा पद प्रदान किया जा सकता है, वैसे ही अभिप्राय को सूचित करता है। किंतु इस प्रकार के भी एक विश्वास को महत्व देना सभी के लिए संभव नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय, हम ऐसी किसी संभावना विशेष को भी प्रश्रय नहीं दे सकते कि सारे मानव-समाज की एकता किसी एक विशिष्ट संस्कृति, भाषा या समाज के आधार पर प्रतिष्ठित की जा सकती है, अथवा इसे किसी विश्वव्यापक संगठन पर आश्रित बना कर इसे कोई राजनीतिक-जैसा नाम दे सकते हैं। विश्व के अत्यंत विशाल तथा वैविध्यपूर्ण दीख पड़ने के कारण हम ऐसे किसी भी बाह्य प्रयास की सफलता में विश्वास नहीं कर सकते। इस बात को हम आज तक के इतिहास में पाये जाने वाले ऐसे अनेक यत्नों की विफलता द्वारा भी सिद्ध कर सकते हैं। विश्व के अनेक मनीषियों ने अपने-अपने आदर्शों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार चिंतन करके उसके भावी रूप के सुखद स्वप्न देखे हैं। उन्होंने अपने कुछ ग्रंथों के अंतर्गत उनके विवरण तक उपस्थित किये हैं। परंतु ऐसे सतयुगी लोकों, राम राज्यों अथवा यूटोपिया के रूपों में कल्पित किये जाने वाले आदर्श देशों को हम कभी व्याहारिक स्तर तक उतरते नहीं पाते। इन पर आश्रित समझी जाने वाली एकता का प्रधान दोष उन कतिपय चित्रों में अंकित हो गया दीख पड़ता है जो उनके निर्माण-कर्ताओं के संस्कार विशेष के कारण स्वभावतः उभर जाया करते हैं। अतएव, हम कह सकते हैं कि किसी भी कोरी मान्यता, दशा, संगठन अथवा कल्पना के आधार पर हम सारे मानव समाज की एकता को आधारित करने में सफल नहीं हो सकते।

इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'भावना' भी उपर्युक्त मान्यता तथा कल्पना के ही समान एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। किंतु इन तीनों में, एकता को एक सुदृढ़ रूप प्रदान करने की दृष्टि से, महान अंतर भी दिखलाया जा सकता है। 'भावना' वह मानसिक प्रक्रिया है जिसका स्वरूप साधारणतः किसी वस्तु या भाव विशेष के हमारे मानस-पटल को प्रभावित करने पर, सर्वप्रथम उसके बिंब-सा प्रकट होता है; तथा जो हमारे पूर्व अनुभवों के परिवेश में स्वीकृत हो जाने पर वहाँ पर कोई न कोई स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसे प्रतिबिंब हमारे दैनिक जीवन में बराबर बनते रहते हैं तथा इन्हीं के अनुसार हमें भावनाएँ भी निर्मित करनी पड़ती हैं। यदि हम ऐसी किसी भावना का न्यूनाधिक मूल्यांकन कर के उसके विषय में अपनी कोई न कोई राय भी बना लिया करते हैं तो उसके रूप में कुछ परिवर्तन हो जाया करता है। उस दशा में, हमारे लिए वही किसी 'धारणा' का भी रूप ग्रहण कर लेती है। इस धारणा में भावना की अपेक्षा अधिक स्थिरता या दृढ़ता भी रहा करती है और अधिक दृढ़ मूल बन जाने पर यही हमारे किसी 'मत', 'मान्यता' या 'विश्वास' की कोटि में आ जाती है जो प्रायः किसी भी प्रकार के फेरफार को कभी सहन नहीं कर सकती। इसके विपरीत, कल्पना हमारी वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके लिए हमारे मानस-पटल को किसी बाह्य वस्तु के भाव विशेष का कोई बिंब नहीं ग्रहण करना पड़ता। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो साधारणतः आकाश-कुसुम की भाँति प्रस्फुटित तथा प्रफुल्लित हो जाया करती है। इसी कारण इसके लिए किसी धरातल के आधार का विद्यमान रहना कभी अनिवार्य नहीं हुआ करता। यह किसी तरल या वायवीय ढंग की वस्तु जैसी रहा करती है तथा अपने स्वभावानुकूल चित्र उपस्थित किया करती है। कल्पना कोरे मनोराज्य को प्रश्रय देती है जिस कारण वह मस्तिष्क की वस्तु है। वहाँ विश्वास या मान्यता का संबंध हमारे हृदय के साथ रहा करता है। परंतु भावना इन दोनों के ही क्षेत्र में समान भाव से काम कर सकती है जिस कारण यह अधिक उदार प्रवृत्ति की कहला सकती है।

अतएव, मानवीय एकता अथवा विश्वजनीन एकता का उपयुक्त माध्यम बनने के लिए हमें न तो उस कल्पना की आवश्यकता हो सकती है जो केवल अपनी उड़ान भरने तथा हृदयस्थल की उष्मता से वंचित रह जाने में ही पायी जाती है, न हम उस विश्वास को ही इसके लिए अपना सकते हैं जो किसी एक स्थल पर जम जाने के कारण गतिहीन सा लगा करता है। इसे स्वस्थ रखने या सजग बनाने में न तो हमारी बुद्धि काम आती है, न इसे कभी स्वतंत्रता की बयार ही आया करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसकी पकड़ में आये व्यक्ति अधिक से अधिक अंधानुसरण मात्र कर लेते हैं। एक में यदि चतुर्दिक भागते रहने का स्वभाव है, तो दूसरे को किसी एक दिशा विशेष को छोड़ कर दूसरी ओर देखना ही पसंद नहीं आता। इसके विपरीत, भावना सर्वप्रथम अपने सुनिश्चित मूल पर आश्रित रह कर उसकी व्यापकता के कारण किसी ओर भी बढ़ने के लिए उन्मुक्त रहा करती है। इसे न तो कल्पना की भाँति किसी ढुलमुल नीति को अपनाना पसंद है, न यह विश्वास की भाँति वैसे किसी बंधन में ही रहना चाहती है। उसका अपने मूल पर आश्रित रहना आत्म-निर्भरता के लिए आवश्यक है, तथा उसका सदा स्वच्छ हवा में साँस लेना उस ताज़गी और विकास-प्रियता के लिए आवश्यक है जिसके अभाव में वह हमारे स्वस्थ जीवन का निर्माण नहीं कर सकती। मानवीय एकता को जब तक हमने किसी धार्मिक विश्वास का रूप दे कर अपनाना चाहा तब तक हमें किसी प्रगति की ओर प्रेरणा नहीं मिली, प्रत्युत कभी-कभी हमें अपनी पतली नली के दूरबीन से देखने के कारण यथावत कोई दृश्य भी नहीं दीख पड़ता। इसके विपरीत, कल्पना-प्रसूत माध्यमों के सहारे विचार करने पर भी हम अपनी दृष्टि कभी कहीं जमा ही नहीं पाये। इसके सिवाय जहाँ तक बाह्य उपकरणों द्वारा अपने समाज को संगठित करने की बात है, इसमें अभी तक इसलिए सफलता नहीं मिल सकी कि इसमें स्वभावतः अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यह संभव है कि बहुत कुछ कर लेने पर भी हमारा कार्य अंत में कहीं अधूरा तथा एकांगी ही न ठहराया जाय।

हमें मानवीय एकता का माध्यम बनने वाली अधिक से अधिक व्यापक भावना के लिए अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण कर के उनके मूल आधार तक जाना पड़ सकता है। इस प्रकार हमें उस किसी ऐसे तत्व का पता लगाना पड़ सकता है जो इस दिशा में हमारे काम आ सके और जिसे स्वीकार कर लेने पर हम, वास्तव में, कोई ऐसी भावना निर्मित कर सकें जिससे हमारे सभी प्रश्न हल हो जायँ। तदनुसार, इस प्रकार विचार करने पर, हमें पता चलता है कि हमारे भीतर कम से कम ऐसे तीन मानसिक तत्व हैं जिन्हें हम सभी ऐसे दूसरों का मूल स्रोत या आधार समझा करते हैं। इन्हें हम साधारणतः 'चेतना', 'संवेदन' तथा 'संकल्प' के नाम देते हैं। इनका काम हमारे भीतर क्रमशः ज्ञान, भाव और आकांक्षा को जाग्रत कर उन्हें रूप देना रहता है। इनके अस्तित्व की कल्पना हमारे जीवन के परिवेश में ही की जा सकती है, और ये कभी हमसे पृथक नहीं समझे जा सकते। हमें इन्हीं के द्वारा कोई न कोई आंतरिक अनुभूति हुआ करती हे जिस कारण हम उसे 'व्यक्तिनिष्ठ' का भी नाम दिया करते हैं।

परंतु इस व्यक्तिनिष्ठ शब्द द्वारा यह सूचित होता है कि वह किसी व्यक्ति की अपनी निजी संवेदनाओं तक ही सीमित होगी। और उसके साथ इसी कारण कतिपय व्यक्तिगत विशेषताएँ भी लगी रहेंगी और वे दूसरों के लिए अज्ञात तक भी हो सकेंगी। किंतु इसके विपरीत, किसी 'वस्तुनिष्ठ' अनुभूति के लिए हम कभी ऐसा नहीं कह सकते। वह किसी व्यक्ति विशेष के भीतर की बात न रह कर अन्य व्यक्तियों के लिए भी लगभग एक ही ढंग से सुलभ हो कर उन्हें भी प्रभावित कर सकती है कि वह हमारे भीतर किन्ही मानसिक चेतनाओं के संचित रूप में पायी जाती है। उनके क्रम-विशेष अथवा विशिष्ट व्यवस्था के ही अनुसार हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने उस अनुभव के स्वरूप का परिचय भी दे सकते हैं। उनका आधार हममें से प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति अथवा वातावरण के अनुसार एक-दूसरे से भिन्न रहने के कारण, वैसे क्रम की व्यवस्था में भी बहुत कुछ भिन्नता आ गयी रहती है। हम कह सकते हैं कि इस प्रकार पायी जाने वाली विभिन्नता के ही कारण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके एक दूसरे से भिन्न होने का समाधान भी किया जा सकता है। अतएव, यदि हम वैसी विशेषता को दूर कर सकें तथा इस प्रकार हमारी मूल चेतना का केवल विशुद्ध रूप ही रह सके तो संभव है, उक्त प्रकार के भेद की संभावना भी दूर हो जाय। इसी कारण, अपनी मूल चेतना का निर्विषयीकरण तथा शुद्धीकरण बहुत महत्वपूर्ण है, जैसा योगाभ्यास द्वारा चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा बौद्ध सिद्धों के मनोमारण की क्रिया में भी देखा जा सकता है। फलतः सर्वथा विशुद्ध चित्त अर्थात हमारी मूल चेतना का वास्तविक रूप किसी व्यक्ति-विशेष के भीतर एक दूसरे से तत्वतः भिन्न नहीं हो सकता। जिसका एक परिणाम यह भी निकाला जा सकता है कि यदि वैसी चेतना के विषय में सामूहिक रूप से विचार करने लगें तो वह अंततोगत्वा हमें मूलतः एकमात्र और एक दूसरे से अभिन्न भी ज्ञात होगी। दूसरे शब्दों में, यदि हम चाहें तो उसी को केवल 'विश्व-चेतना' जैसा नाम भी दे सकते हैं। इस प्रकार वह सारी विभिन्नताओं में भी अभिन्न हो सकती है।

यही विश्व-चेतना वह एकमात्र वस्तु हो सकती है जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का मूलतः एक होना सिद्ध किया जा सकता है। इसके हम सभीं के भीतर पाये जाने के कारण, इसे हम अपनी 'अध्यांतरित' अनुभूति का विषय भी कह सकते हैं। स्पष्ट है कि इसके अस्तित्व का बोध हमें अपनी निजी अनुभूतियों के सहारे हो सकता है। इसे हम अपने तर्क के आधार पर भी सिद्ध कर के इसके विषय में अपनी कोई धारणा निश्चित कर सकते हैं। इसके सिवाय, इसके द्वारा उपर्युक्त प्रकार से मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति के भीतर किसी एकता का भान होने लगने पर हमें उस तत्व का पता भी चल जाता है जो हमारी 'आध्यात्मिक एकता की भावना' का मूलाधार है। इस विश्व-चेतना को ही उपनिषदादि भारतीय ग्रंथों में, तथा कहीं-कहीं अन्यत्र भी, 'आत्मा' की संज्ञा दी गयी मिलती है। इसी को प्रायः 'परमात्मा' तथा प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्गत पाये जाने वाले इसके अंश-विशेष को 'जीवात्मा' कहा गया मिलता है। इस कारण इसके आधार पर संपूर्ण मानव-समाज की मौलिक एकता या 'आध्यात्मिक एकता' कहा जाना भी सार्थक हो सकता है। इसके लिए हमें किसी प्रकार की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह सर्वथा अनुभवगम्य है। इसके लिए हमें किसी दृढ़ विश्वास के स्तर तक जाने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसे हम अपने प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा जान कर इसके विषय में पूरा तर्क भी कर सकते हैं। यदि हममें ऐसी एकता की भावना आ जाय तो यह निश्चय है कि इसके सर्वथा मौलिक तथा मूलगत होने के कारण हमें न केवल सब के साथ एकता का भान आप से आप होता रहेगा, प्रत्युत इसके साथ हमें यह भी प्रतीत होगा कि जो कुछ भिन्नताएँ हमें एक दूसरे के बीच दीख पड़ती हैं वे केवल बाहरी तथा अवास्तविक मात्र ठहरायी जा सकती हैं, तथा इसी कारण हम उनकी उपेक्षा भी कर सकते हैं। इसके सिवाय, यदि हम केवल परमेश्वर के पितृत्व के आधार पर किसी एकता का अनुभव करने का प्रयास करते हैं तो कदाचित यह भी तर्क किया जा सकता है कि संभव है हममें से कोई कभी अपने विश्वास में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमी आ जाने पर उस पिता के प्रति पूरे अनुशासन का पालन न कर सकता हो, अथवा इसी प्रकार हम मानवीय भ्रातृत्व के विषय में भी ऐसे विचार प्रकट कर सकते हैं। परंतु जो बात न केवल हमारे तर्क तथा अनुभूति प्रत्युत दोनों प्रकार के आधार पर सिद्ध की जा सकती है उसके लिए इस प्रकार सोचना कम संभव होगा।

हमें ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने इस बात पर पूर्णरूप से चिंतन किया था। इसी कारण, उन्होंने इस एकता वाले तथ्य की चर्चा करते समय अनेक महत्वपूर्ण कथन भी किये थे जिनमें से कुछ को यहाँ पर उद्धृत कर देना असंगत न होगा। 'ईशावास्योपनिषद' में कहा गया है—**"जो कोई सभी प्राणियों को अपने में देखता है तथा अपने को भी उसी प्रकार उन सभी में देखा करता है, वह किसी के प्रति कोई जुगुप्सा का भाव नहीं रख सकता। यदि सभी प्राणियों को किसी ने अपने आप में जान लिया उस दशा में उस एकता को दृष्टि में रखने वाले के लिए कैसा मोह और कैसा शोक ?"**[1] इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद में इसी बात को इस प्रकार भी कहा गया मिलता है—**"अरे, यह जान लो कि हम किसी लोक-समूह के प्रति यदि अपना प्रेम प्रकट करते हैं तो वह इसलिए नहीं कि हम उसे ही अपना प्रिय समझते हैं, प्रत्युत हम उसे, अपनी आत्मा होने के नाते, प्रियपात्र समझा करते हैं।"**[2] इसलिए **श्वेताश्वतर उपनिषद** में इसका कारण **"एक ही देव सब किन्हीं भूतों में अंतर्हित है"**[3] कह दिया गया जान पड़ता है। **'ऋग्वेद'** में भी एक स्थल पर सबको संबोधित करके यह कहा गया मिलता है कि **"तुम सभी के उद्देश्य और संकल्प एक हों, सबके हृदय एक समान हों, सबके विचार एक से हों, जिससे सबके कार्य भी कल्याणमय सिद्ध हो सकें।"**[4]

इधर के महान भारतीयों ने भी इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की है और उक्त आध्यात्मिक एकता की भावना को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। श्री अरविंद का कहना है कि **"आत्मा की एकता ही एकमात्र तथा वास्तविक एकता है और यही विश्व की सभी प्रकार की अनेकताओं के अनुस्यूत है।"**[5] श्री अरविंद ने अन्यत्र भावी 'अतिमानव' के विषय में नीत्शे की धारणा

---

[1] **"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥**

[2] **"न वा अरे लोकानां कामाय, लोकाः प्रिया भवन्ति।
आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति॥"
—बृहदारण्यकोपनिषद अ० ४, ब्रा० ५ मं० ६।**

[3] **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः।"—श्वेताश्वतरोपनिषद अ० ६ मं० ११।**

[4] **समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ मं०१० सू० १९१ मं० ४।**

[5] "Equality of the spirit is the sole real equality, oneness which is for ever immanent in all the multiplicities of the Universe."—Journal of the Indian Philosophy and Culture, Sept. 63, p. 202.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आलोचना करते हुए उसके भी सारतत्व को इस प्रकार दिया है, **"अतिमानवता भी वस्तुतः उस आध्यात्मिक तथा संतुलित निरपेक्ष के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है जो मानव के पूरे सारतत्व का हो।"**[६] इससे इस प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार श्री रवींद्रनाथ का भी कथन है—**"उस एक को ही विश्व के अंतर्गत और स्वयं अपने आप में भी अनुभूत करो, और जो ऐसा करता है वही उसे विश्व की विचित्रताओं में स्थापित कर पाता है। उसे ही अपने ज्ञान द्वारा आविष्कृत करो, अपने कर्मों द्वारा प्रतिष्ठित करो, प्रेम द्वारा उपलब्ध करो और अपने जीवन द्वारा उसका प्रसार करो। भारतवर्ष ने नाना बाधा-विपत्तियों तथा दुर्गतियों-सुगतियों के बीच रहते हुए भी बराबर यही किया है।"**[७] इस एक भावना के दृढ़ होते ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक भेदभाव अपने आप तिरोहित होते दिखायी देने लगेंगे। इस एक के अभाव में जितने भी जोड़तोड़ होंगे वे सभी 'ताशघर' के समान भरभरा कर ढहते रहेंगे। वास्तव में भावना के मूल में अंतर्दृष्टिजन्य चेतना का आधार भी अपेक्षित है जिसके अभाव में स्थायी एकता कदापि संभव न हो सकेगी।

वकील,
बलिया।

---

[६] "For what is supermanhood, but a certain divine and harmonious Absolute of all that is essential in man."—Quoted on p. 140 of Studies in Aurobindo's Philosophy : Dr. S. K. Maitra.

[७] **"एक के विश्वेर मध्ये ओ निजेर मध्ये अनुभव करिया सेई एक के विचित्रेर मध्ये स्थापन करा, ज्ञानेर द्वारा आविष्कृत करा, कर्मेर द्वारा प्रतिष्ठित करा, प्रेमेर द्वारा उपलब्धि करा एवं जीवनेर द्वारा प्रचार करा—नाना बाधा-विपत्ति, दुर्गति-सुगतिर मध्ये भारतवर्ष ईहाइ करिते छे।"—'भारत-आत्मार वाणी'—श्री जगदीशचंद्र घोष; भूमिका, पृ० २ पर उद्धृत।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि की ईहा और चश्मों के मसीहा

केशवचंद्र वर्मा

साहित्य में इधर जब से 'अंधानुकरण' और 'नये भावबोध' के बीच केवल एक घपले की ही स्थिति मात्र मानी जाने लगी है, तब से मेरा दिमाग़ अजीब चक्करों में भटकने लगा है। अक्सर मुझे लगता है कि मेरी दृष्टि पर एक धुंध परदा पड़ गया है। क्योंकि जब-जब मैं दीवारों को छोड़ कर बाहर आना चाहता तब किसी न किसी 'अंधी गली' में मुड़ जाता, 'अंधे युग' में फँस जाता और तब हर क्षण यह डर लगा रहता कि कहीं किसी ऐसे 'अंधे कुँए' में न कूद पड़ूँ कि मेरी सारी चिल्लाहट उस नैपथ्य की आवाज़ की तरह रह जाय जिसे आजकल लोग सिर्फ़ 'इफ़ेक्ट' (प्रभाव) की तरह इस्तेमाल करते हैं।

इसीलिए मैंने अक्सर यह चाहा कि इस नये भावबोध के गोरखधंधे में किसी तरह ऐसे कोण से घुसूं कि मेरी आँखों का धुंध—यह मोतियाबिंद—जो मुझे पूरी तरह से किसी चीज़ को जानने से रोक देता है, उसका जाला सफ़ाई से कट जाय। मेरी परेशानी देख कर मेरे दोस्तों ने चश्मा लेने की सलाह दी। जाने क्यों चश्मे के नाम से ही मुझे एक आरोपित दृष्टि का अहसास होने लगता है। इसीलिए उससे सहज चिढ़ होने लगती थी। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि विद्वत्ता, गंभीरता, महानता और टिकाऊपन—ये सब चश्मे के रास्ते से बड़ी सहजता से आ जाते हैं। नये भावबोध के एक आधुनिक अन्वेषक तथा 'राहों के खोजी' होने के नाते सीधे चश्मे से तो नहीं, लेकिन उस दरवाज़े से घुस आने वाली इस सहज शोभायात्रा के प्रति जाने क्यों मेरा बड़ा लगाव रहा है। इसीलिए अपनी चिढ़ और 'आरोपित दृष्टि' के कलंक की आशंका के बावजूद मैंने अपनी दृष्टि को सुधारने का बीड़ा उठा लिया और अपने लिए चश्मे की खोज में निकला।

बिना विशेष ज़हमत उठाये ही चश्मा हाथ आ जाय, इसके लिए मैं पटरियों से लगी हुई एक दूकान पर जा पहुँचा। पुरानी चाल की इस दूकान में—घड़ियाँ और चश्मा दोनों एक साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111063

मिल सकते थे। काल और दृष्टि का अच्छा हिसाब जुटाया था ब्रजबंसी मास्टर ने। यह चर्चा थी कि ब्रजबंसी मास्टर अपने काम के उस्ताद थे। एक बहुत पुरानी गोल फ़ेल्ट टोपी, आँखों पर कटे अद्धे शीशे का डोरे की कमानी से 'एडजस्ट' होने वाला पुराना चश्मा, खोयी हुई जवानी का आभास देने वाला बालों और मूँछों पर हल्का खिज़ाब, हल्का डोरिया सुरमा, बारहों महीने मलमल का कुरता और ऊबड़खाबड़ता को समरस करती उनके हाथ में एक छोटी हथौड़ी—यह सब ब्रजबंसी मास्टर की अपनी विशेषता थी। कहते हैं कि वह पत्थर का चश्मा लगा देते थे। टूटे हुए शीशों वाले ढक्कनदार बक्सों में धूल फाँकते वे पत्थर के टुकड़े भला कैसी दृष्टि देते होंगे—यह मेरे मन की एक सहज जिज्ञासा थी। सो मैंने ब्रजबंसी मास्टर से अपनी दृष्टि के धुंधेपन को काटने के लिए हाथ जोड़े।

ब्रजबंसी मास्टर मुस्कराये, "बाबू साहब! . . .अब आप आ ही गये हैं मेरी दूकान पर तो देखिए. . .क्या चीज़ लगा देता हूँ कि जहाँ भी आप जाइएगा बस नज़्ज़ारे देखिएगा, गुलगुली गलीचन की हरियाली आँखों में लहरायगी और. . ." वे गद्‌गद हो कर बोले, "भइया याको लगाय के तुमको राधिका ही राधिका दिखायगी।"

जिसके लिए मैं चश्मा चाहता था उसमें नज़्ज़ारों, हरियालियों और राधिकाओं का उतना महत्व न था तो भी उनसे बहुत परहेज़ भी नहीं था। मैंने सोचा—चलो इस चश्मे से बहुत कुछ देख लूँगा और यह नज़्ज़ारा मिलेगा तो वह समझो घाते में। उन्होंने अपनी गंदी धोती के छोर से धुंधे चश्मे के शीशे को और भी गंदा करते हुए मेरे कान झुकाये और उनमें चश्मे की कमानी फँसा दी। मैंने आँखे मुलमुला कर देखा—फिर उन्हें मल कर साफ़ किया और फिर देखा. . .फिर उस पत्थर के चश्मे के बीच से अपनी दृष्टि को सम्हाल कर फेंकते हुए फिर देखा—बहुत ही अजब नज़्ज़ारा था।

गुलगुली गलीचन की हरियाली के बीच मनहरण छंदों पर लदी 'कैधों' की एक पूरी बारात मेरे ऊपर चढ़ती चली आ रही थी। . . .तरह-त्रे-तरह के 'कैधों' एक दूसरे से सटे हुए, चित्र-विचित्र रूपों में. . .।

चढ़ती हुई बारात के इस आयाम से मैं घबड़ा गया। ब्रजबंसी मास्टर का चश्मा मुझे रास नही आयगा, यह मैं समझ गया।

उसी घबराहट में मैंने चश्मों की दूसरी दूकान की तलाश की। बड़ी सड़क से नीचे उतर कर नाले के पास जहाँ ठेले वाले मज़दूर खड़े रहते हैं, उसी गलियारे में इस डाक्टर ने अपनी दूकान खोली थी। उस गंदे, मैले और पसीने से भरे वातावरण में वह दूकान सिर्फ़ दृष्टि के लिए चश्मा ही नहीं देती थी बल्कि दाँतों का इलाज करके चबाने के लिए नकली सेट भी लगा देती थी। मैं इस दूकान के डाक्टर को बहुत दिनों से जानता था। शरीर से ख़ासे भारी-भरकम और हृष्ट-पुष्ट लगने वाले ये 'डाक्टर' साहब खाली वक़्त में ठेले वाले मज़दूरों को भड़काते थे, जो भूल से भी उस गली से निकला उसके हाथ अपनी दूकान पर रखे पुराने अखबार और पत्रिकाएँ बेंच खाते थे, खाली वक़्त में सरकार की निंदा कर के जी बहलाते थे और सड़क पर रिक्शेवाले को भाड़ा चुकाते समय हमेशा किचाइंध करते हुए दिखायी देते थे। सड़े हुए अखबार, खोखले दांत वाले मुंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चित्र, पेट और दिमाग़ के नक्शों से भरपूर उस दूकान का नाम उन्होंने रख छोड़ा था—'नज़र !'

इस सब पर नज़र फेरता हुआ मैं भीतर घुसा तो उन्होंने पहले मेरी ओर कुछ शक्की निगाहों से देखा और फिर सहसा अपने पुराने अख़बारों की चर्चा करते हुए बोले, "इसमें से कोई ले लीजिए. . .देखिए, देखिए. . .मैं कहता हूँ कि लोग बेकार नयी पत्रिकाओं और अख़बारों के चक्कर में अपने पैसे बरबाद करते हैं। इन्हें ले जाइए. . .पढ़िए. . .ये सारी चीज़ें आज की आँख से देखिए तो ख़बर की ख़बर और ज़रा सा दिमाग़ खोलिए तो इतिहास का मज़ा भी आ जायगा।. . इन ठेलेवालों को देखिए. . .मैंने यही सब सुना-सुना कर इनकी यूनीयन बनवा दी ! . . .अब ये इतिहास में यूँ चले जायेंगे जैसे. . ."

सहसा मुझसे यह जान कर कि मुझे अख़बार नहीं, चश्मा लेना है—उनकी बाछें खिल गयीं, "ओहो ! तो यह बात आपने पहले ही क्यों नहीं कही ? . . .यहाँ का तो ख़ास चश्मा है. . .जिसने एक बार इस 'नज़र' का चश्मा लगाया. . .वह ज़िदगी भर दौड़-दौड़ कर यहीं आता रहा. . . बात यह है साथी, कि मैं देशी माल तो रखता नहीं. . .इसे लगाइए तो आपको ख़ुद समझ में आयगा कि इंटरनेशनल जैसी भी एक चीज़ होती है ! . . .बात यह है साथी, कि इस 'नज़र' का चश्मा वह करिश्मा दिखाता है कि बस. . .लगाइए. . .उठाइए, उठाइए. . ."

मैंने अपनी आँखों की तरफ़ इशारा किया। उन्होंने मुँह बिचकाते हुए कहा, "कोच्छ नहीं ! . . .सब ठीक है. . . कोई सा ले लीजिए. . .सब एक ही जैसे हैं. . .हम कोई दस चश्मे और दस शीशे नहीं रखते. . .यह तो करामाती चश्मा है, जब चाहो, जिसको चाहो उसे लगा दो और उसमें से सदा यही एकरस दृष्टि. . .सब की आँखों के लिए एक ही नजर. . .क्या अमीर क्या ग़रीब. . .क्या जवान क्या बूढ़ा. . .क्या बच्चा क्या औरत. . .क्या मर्द. . . और क्या कोल्हू का बैल. . ."

मैंने एक चश्मा उठा कर लगाया। आँखों की धुंध पर एक गहरा शोख़ लाल रंग फैल गया। सब कुछ दय लालोलाल ! 'जित देखूँ तित लाल !', गाय भी लाल और भैंस भी लाल ! इतना सारा फैला हुआ लाल रंग और एक लिपीपुती दृष्टि ! मुझे उबकाई आने लगी। इतनी उलझन लगी कि मैंने उनका चश्मा उतार कर उनके हाथ में पकड़ा दिया। चश्मा हाथ में वापस लेते हुए वे रुखे स्वर में बोले, "लाइए, लाइए. . .आपसे क्या चलेगा ! . . .यह मेहनत की कमाई वाले ख़रीदते हैं।. . .इसे लगाने के लिए इतना बड़ा कलेजा होना चाहिए।. . .आप कहीं किसी ऊँची दूकान में जा कर देखिए. . . किसी सेठों वाली दूकान में. . ."

मैं दूकान से नीचे उतर पड़ा। वे बड़बड़ा रहे थे—'पिट्ठू' . . .'बिका हुआ' . . .'एजेंट कहीं का' . . . ! मैंने सब अनसुना कर दिया। अब मैं समझ गया कि किसी अच्छी दूकान में गये बिना चश्मा नहीं मिलेगा। अपनी नजर के साथ इस तरह खिलवाड़ करना मुझे ठीक नहीं लग रहा था। इसीलिए अबकी बार बिना अपने मनीबेग की परवाह किए हुए, मैं एक सजी-सजायी आधुनिक दूकान में घुस गया।

यह दूकान ज़रा बाज़ार से हट कर बिठायी गयी थी इसीलिए अपने निरालेपन से लोगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ध्यान आकर्षित कर लेती थी। उस तरफ़ उठने वाली हर नज़र एक बार उस दूकान के भीतर खींच ले जाती थी। मैं ऐसे बहुत से लोगों को जानता था जिनकी दृष्टि एकदम ठीक थी, लेकिन फिर भी इस दूकान से अपना रागात्मक बोध बनाये रखने के लिए चश्मे ले गए थे। ये सब लोग इस दूकान की विचित्रता से प्रभावित थे। इस विचित्रता में सबसे प्रमुख यह थी कि दूकान चश्मे का व्यापार करती थी लेकिन विज्ञापन करती थी—तुरत तैयार, सिले हुए कपड़ों का! उसकी सजावट भी अनोखी थी—बच्चों के हाथ के बनाये हुए चेहरे और उन पर फ़िट की हुई दृष्टियाँ, बैठने के लिए बाँस के स्टूल, बैठ कर खड़े होने के लिए खपच्चियाँ और बैसाखियाँ, चारों तरफ़ दौड़ते हुए सामानों का आभास। कुल मिला कर, एक भीड़-भाड़ और जटिलता का ऐसा वातावरण कि दूकान के भीतर बैठ कर भी 'ट्रैफ़िक' से भरी सड़क पर खड़े होने का बोध होता था। दूकान मैं पहले भी अंदाज़ चुका था मगर दूकान में दूकानियत—मुनीम और काउंटर—न होने पर भी जेब पर गहरी चोट आने का अंदेशा बराबर बना रहता था। इसीलिए मैं बाहर-बाहर से देख कर भी भीतर घुसने से कतराता रहा। लेकिन आख़िर आँख का मामला था, कब तक और कैसे बचाता? सो उस दूकान में घुसा।

मुझे दूकानदार-मंडल ने बड़ी तेज़ निगाहों से देखा और देख कर यूँ टाल गये जैसे देखा ही नहीं। मेरी निगाहें धुंधी थीं लेकिन जाने कैसे ये सारी चीज़ें मुझे कोई छठी इंद्रिय दिखा जाती है। मैं चुपचाप बाँस के स्टूल पर एक तरफ़ बैठ गया। थोड़ी देर में दूकानदार-मंडल के एक नवयुवक सदस्य ने मुझे एक उँगली से इशारा कर के बुलाते हुए पूछा, "क्यों, चश्मा ही चाहिए न?"

मैंने हुँकारी में सिर हिलाया तो बोले, "कौन सा चाहिए? दूसरे कैसे दिखें, इसके लिए या दूसरों को तुम कैसे दिखो, इसके लिए चश्मा चाहिए? अगर दूसरों के लिए चाहिए तो भीतर जाओ और अगर अपने लिए चाहिए तो उस तरफ़ जाओ . . . !"

मुझे अपने लिए ही चश्मा चाहिए था इसीलिए दूसरी तरफ़ चला गया। इस तरफ़ घूमते ही दूकानदार-मंडल के दूसरे बुज़ुर्ग दीखने वाले सदस्य ने मेरा भार सम्हाल लिया। बोले, "क्या चाहते हैं, क्यों चाहते हैं?"

मैंने अपनी दृष्टि की ओर इशारा किया। वे बड़ी नाटकीय मुद्रा में बोले, "अपनी नाक की नाप से कोई चश्मा उठा लो। . . .देखो. . .बस नाक की नाप! . . .अब आपकी आँख सिर्फ़ आपकी नाक की नाप से चलेगी! . . . मुँह न देखिए मेरा. . .वह सब पुरानी चाल की दूकानों में मिलेगा मिस्टर! जो आप चाहते हैं कि आँख का चश्मा लीजिए तो पहले आँख की पड़ताल कराइए! अब 'लेटेस्ट' यह है कि नाक ही की नाप से काम चल जाता है. . .समझे? . . .जैसे मोज़े का नाप मुट्ठी से!"

दूकानदार-मंडल से निकले इस ओजस्वी भाषण और तर्क से मैं चकाचौंध ज़रूर था इसीलिए मैंने अपनी नाक की नाप से चश्मा चढ़ाया। मोटे-मोटे लाइब्रेरी-फ़्रेम के भीतर लगी हुई प्लास्टिक और नायलॉन की झिल्लियाँ मेरी आँखों के आगे एक मनोरंजक और अद्भुत नज़्ज़ारा देने लगीं।

जो भी चश्मा उठाता उससे मैं केवल एक ही व्यक्ति को देख सकता था। वही दूकानदार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंडल के सदस्य अपने चौखूँटे, वृत्ताकार, अर्धवृत्ताकार, खड़े और त्रिकोणात्मक अनेक आयामों में दिखायी देने लगे। हर बार सिर्फ़ एक। कुछ देर तक वे चश्मे आनंद देते रहे। मैंने अपनी नाक कुछ सिकोड़ी तो उसने दूसरा चश्मा उठा कर मुझे दे दिया। कौतूहलवश यह भी लगाया।

उफ़ ! यह तो और भी सनसनीखेज़ और रोमांचकारी चश्मा था। अब तो मैं केवल तरह-तरह के खंडित व्यक्तित्व ही देख सकता था––एक लंबी नाक, एक छोटा कान, एक बड़ा भारी दाँत, एक बहुत लंबा टूटा हुआ बाल, रिक्शे का एक पहिया, साइकिल का एक ब्रेक, सड़क का एक गढ़ा––बाक़ी सब कुछ दृष्टि से परे––आउट आफ़ फ़ोकस।

मैंने दूकानदार-मंडल के तीसरे सदस्य के पास जा कर अपनी विपत्ति बताते हुए कहा कि मैं खिलवाड़ के लिए चश्मा नहीं ख़रीदना चाहता बल्कि मुझे सचमुच ही दृष्टि चाहिए। मेरी विपत्ति सुनते ही वह कुछ चिढ़ गये और एकदम भिन्ना कर बोले, "देखिए मिस्टर ! आप बेकार टाइम बरबाद कर रहे हैं, अपना भी और हमारी इस दूकान का भी। जो आप इस चश्मे से देख रहे हैं बस वही दृष्टि है। इससे अधिक देखने की आपको ज़रूरत ही नहीं है। जो 'रेलेवेंट' है, जिससे आपका मतलब है, वह सिर्फ़ इतना ही है जो आप देख रहे हैं। बाक़ी सब बकवास है ! . . . आप पूरी सड़क देखना चाहते हैं, उस पर चलते हुए दर्जनों रिक्शे देखना चाहते हैं, आदमियों की भीड़-भाड़ देखना चाहते हैं, उनका नखशिख वर्णन चाहते हैं, उनको देखना चाहते हैं जिनसे आपको सारी ज़िंदगी कोई मतलब नहीं है तो आप चौक चले जाइए। वहाँ यह सब ख़रीद लीजिए ! . . . मैं आपको ख़ूब पहचानता हूँ मिस्टर ! पिछले कई सालों से आप चश्मे की दूकानों में गड़बड़झाला और 'बंगलिंग' करते रहे हैं। . . .आप जैसे लोगों के लिए यह दूकान खोली ही नहीं गयी है. . . आप को तो . . ."

मैं मन मार कर बाहर निकल आया। दूकान के भीतर जितनी जटिलता थी, बाहर सड़क पर उससे कुछ कम ही थी। जाने कैसे बाहर आते ही मुझे अपनी नज़र कुछ ज़्यादा साफ़ लगने लगी क्योंकि एकदम ठीक सामने पड़ने वाली अंधी गली को मैं इस बार पहचान गया और उससे साफ़ बच गया। लेकिन हर किसी से टकराना और उससे प्राप्त संज्ञा को बचा कर अपने अंधेपन को युग पर थोप कर चैन की बंसी बजाना––इस दृष्टि की ईहा अब भी शेष है।

६५, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भों के बीच

बंबई की डायरी : पहला पृष्ठ

अवध नारायण मुद्‌गल

२५ मई, १९६८

"अरे भाई, आश्चर्य तो यह है कि मुझे पता है कि मैं अपने घर जा रहा हूँ। यह भी पता है कि मेरे बीवी और बच्चे हैं। इससे बड़ा आश्चर्य यह है कि मुझे अपने बच्चों की संख्या सही-सही याद है और, अगर आप मज़ाक न समझें तो, सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि मेरे बच्चे मुझे ही अपना पापा समझने, मानने और पहचानने में कभी भूल नहीं करते।" वह सज्जन मर्सिया और सोहर-गीतों के बीच गुज़र रहे थे। यदि उनकी आँखों में मिट्टी के दीपों सी मद्धिम, पीली चमक न होती तो मुझे उनका चेहरा देख कर 'दिवाली' की रात कभी याद नहीं आती; एक ऐसी वियावान रात में से मैं अपने आपको गुज़रता महसूस करता जिसमें रोशनी पर मज़ाक करने के लिए तारे भी नहीं होते।

"हाँ भई, मैं झूठ तो बोलता हूँ—सिर्फ़ देर की स्थिति में—आफ़िस में साहब से, और घर में बीवी से। लेकिन मुझे यक़ीन है कि आप इन दोनों में से कोई नहीं।" और वह ज़ोर से हँस पड़े। मैं भी अपनी झेंप और हँसी, दोनों को ही नहीं रोक सका। वह सज्जन फिर कहने लगे, "अब आप ही देखिए, जब मैं घर से चलता हूँ तब अँधेरा रहता है और बच्चे सो रहे होते हैं, और जब घर वापस पहुँचता हूँ तब भी अँधेरा रहता है और बच्चे सो रहे होते हैं। उस समय मैं सोचता हूँ जैसे बहुत कुछ घट जाने के बाद भी कहीं कुछ भी नहीं घटा है, और मुझे लगता है, या तो वक़्त 'सुपरसोनिक स्पीड' से भाग रहा है और हम ठहरे हुए हैं, या हम 'सुपरसोनिक स्पीड' से भाग रहे हैं और वक़्त अपनी क़ब्र में जहाँ का तहाँ लेटा है।"

"आप ठीक कहते हैं भाईजान! हममें और वक़्त में, दोनों में ही, कहीं न कहीं एक-एक क़ब्र ज़रूर है और उस क़ब्र के पूरे ठहराव के ऊपर से हज़ारों मील प्रति घंटा की रफ़्तार से आँधियाँ और तूफ़ान गुज़र रहे हैं; लेकिन हम उन्हें उसी रफ़्तारी रूप में महसूस नहीं कर पा रहे।" मैंने प्रश्नवाची उत्तर दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"महसूस क्या ख़ाक करें। महसूस भी वक़्त के हिसाब से किया जाता है और हमारे पास वक़्त ही कहाँ है ?—ख़ासतौर पर महसूस-वहसूस करने के लिए फ़ालतू वक़्त ! सप्ताह में सोमवार से शनिवार तक हम चलते हैं और वक़्त हमारे साथ नहीं चलता, इतवार को वक़्त चलता है और हम उसके साथ नहीं चल पाते; फिर भला बताइए, हम कुछ भी महसूस कैसे कर सकते हैं ? व्यक्तिगतरूप से मुझे यह भी महसूस नहीं होता कि मैं आदमी हूँ, या मेरी बीबी का स्वास्थ्य, सौंदर्य या रूप कैसा है, अथवा मेरे बच्चों की सूरतें कैसी हैं ?" वह आवेश में लगते थे। उनके चेहरे पर अँधेरा और अधिक गाढ़ा होता जा रहा था।

"पर आप यह तो महसूस करते ही होंगे कि आप काम कर रहे हैं और क्या काम कर रहे हैं ?" मैंने अँधेरे का गाढ़ापन कुछ कम करने की कोशिश की लेकिन वह बढ़ता ही गया।

"शायद नहीं ?" वह बोले, "शायद मुझे यह भी नहीं महसूस होता कि मैं कोई काम कर रहा हूँ। चार और चार=आठ, आठ और आठ=सोलह, सोलह और चार=बीस जैसा हमारा काम हो गया है, और रोज़ वही—चार और चार=आठ. . . रहता है। हम इसके आदी हो गये हैं इसलिए महसूस करने का सवाल तक महसूस नहीं होता। ज़िंदगी में कहीं, कुछ नयापन नज़र नहीं आता। लगता है, हम जिंदगी को आगे बढ़ा कर जी नहीं रहे सिर्फ़ दोहरा रहे हैं, या कहना चाहिए सिर्फ़ रटे जा रहे हैं—ठीक बच्चों के पहाड़ा याद करने की तरह—दो एकम दो . . . दो दूने चार. . . ।"

"ख़ैर, यह भी मान लें कि आपको यह सब महसूस नहीं होता। लेकिन एक बात तो ज़रूर ही महसूस होती है, और आप बता भी चुके हैं—'आप घर जा रहे हैं, आपको पता है कि आपके बीबी बच्चे हैं और बच्चे आपको अपना पापा समझने, मानने और पहचानने में भूल नहीं करते।' इससे साफ़ ज़ाहिर है कि आप अपने और अपनों के बीच एक ख़ास संबंध ज़रूर महसूस करते हैं? मैंने उनकी बातों में मज़ा लेते हुए सहसा पूछ दिया।

वह दो क्षण आँखें मूँदे बैठे रहे, फिर गहरी साँस छोड़ते हुए बोले, "मुद्गल ज़ी, यदि आप यही मानते हैं और संबंधों को इसी रूप में स्वीकार करते हैं तब तो शायद मुझे कहना ही पड़ेगा —'हाँ, मैं महसूस करता हूँ' लेकिन मैं ऐसा कह नहीं सकता; क्योंकि मैं ऐसा महसूस नहीं करता। यदि मैं वास्तव में ऐसा महसूस करता होता तो उसे संदिग्ध बनाने के लिए उसके साथ 'आश्चर्य' शब्द का प्रयोग नहीं करता। अब देखिए, मैं महीने में पूरा एक दिन भी अपने बच्चों को नहीं दे पाता। शायद एक दिन का आधा, चौथाई, आठवाँ या दसवाँ भाग ही बमुश्किल अपने बच्चों को (एक महीने में) दे पाता हूँ। शायद पूरा औसत आधे से दसवें के घेरे में ही घटता-बढ़ता रहता है।"

"क्या मतलब ?" मेरी आँखें ज़रूरत से ज़्यादा फैल गयीं, "महीने में आपको चार इतवार तो मिलते ही हैं ?"

वह जोर से हँसे. . .हँसते गये और जब रुके तो उसी गंभीर मूड में बोले, "आपने अभी बंबई के साँझ-सवेरे ही देखे हैं, दिन और रात नहीं देखे। आप लखनऊ जैसे ठंढे और ठहरे हुए शहर से नये-नये आये हैं। अभी पहले कुछ दिन रसिये-बसिये, मेरी तरह पूना में घर ले कर बंबई में काम कीजिए, उद्योगीकरण और औद्योगिक नगर के महत्व और परिणामों को कुछ परखिये, बीबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों का जुगाड़ भिड़ाइये, उसके बाद बात कीजिए कि आपको बंबई कैसा लगा, आप क्या महसूस करते हैं।"

"वाह भाईजान !" मैंने हँसते हुए कहा, "इसका मतलब तो यह हुआ कि जब तक हम कहीं न कहीं से बीवी-बच्चों का जुगाड़ न भिड़ा लें और वह सब न कर लें, जो आपने कहा है, तब तक हमें कुछ भी महसूस करना बिल्कुल छोड़ देना चाहिए और धीरे-धीरे, प्राकृतिक अनिवार्यता के फलस्वरूप, महसूस करने की शक्ति से ही हाथ धो बैठना चाहिए।"

"हाँ, अब कुछ ढर्रे पर आये आप"—ठहाका लगाते हुए वह बोले, "जिस तरह महसूस करना छोड़ देने से धीरे-धीरे वह शक्ति ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार बहुत सी बातों को एक साथ बार-बार और बहुत समय तक महसूस करते रहने से किसी एक के संबंध में महसूस करना समाप्त और असंभव सा हो जाता है; या कह सकते हैं कि अलग-अलग हर चीज़ के बारे में महसूस करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। आपकी और मेरी बातों का परिणाम एक ही निकलता है।"

"इसका अर्थ तो संबंधों के अस्तित्व को नकारना और दायित्वों से भागना हुआ।" अब शायद मेरे चेहरे पर अँधेरा जम कर गाढ़ा होने लगा था।

"संबंध. . .दायित्व, संबंध. . .दायित्व—एक ही स्वर-लय, एक ही रूप और एक ही अर्थ में यह सब न जाने कब से सुनते आ रहे हैं, और अब तो हम इस सब के इतने आदी हो गये हैं कि इस सुनने को भी महसूस नहीं कर पाते। अब इसे आप यों लीजिए कि मैं अँधेरे में घर से चलता हूँ और अँधेरे में ही घर पहुँच जाता हूँ; यानी कि अँधेरे में घर से घर तक की यात्रा करता हूँ। 'घर से घर तक की यात्रा'—इसी से आप सोच सकते हैं कि यह दायित्वों से भागना नहीं है; या कह सकता हूँ कि हममें भागने की शक्ति ही नहीं है। इस बात से यह भी जाहिर हो जाता है कि हमें कुछ भी महसूस नहीं होता। यदि महसूस होता तो घर को खूँटा बना कर गोलाई में उसके इर्द-गिर्द घूमने से हम चक्कर खा कर गिर पड़ते या नयी यात्राओं के संबंध में सोच-समझ और प्रयत्न कर सकते। पर हमें ऐसा कर पाने की फ़ुर्सत ही नहीं है।"

"ख़ैर संबंधों की बात तो आप गोल ही किये जा रहे हैं ?" मैंने मज़ाकिया लहज़े में कहा।

वह मुस्कराते हुए बोले, "भाई मेरे, कुछ नयापन महसूस करने के लिए संबंध, संस्कार और उनके नियामक विधान हमने बनाये हैं। जब हम उनके भी आदी हो जाते हैं तब उनके बारे में भी कुछ महसूस नहीं कर पाते।"

"वाह, वाह।" मैंने तालियाँ बजायीं, "किस ख़ूबसूरती से आपने गढ़ी-गढ़ायी बातें दोहरा दी हैं। इस सिद्धांत को छोड़िए और कुछ प्रेक्टिकल बताइये।"

"अच्छा देखिए" उन्होंने अंधकार की मोटी-मोटी कई तहें अपने चेहरे पर जमा कर कहा, "अभी-अभी आपने महीने में चार इतवारों की और मैंने दिन के आधे से दसवें अंश तक की बात कही थी। मेरा मतलब सिर्फ़ यही था कि छह दिन काम करने के बाद एक दिन मुझे आराम के लिए मिलता है, जिस दिन मैं अपने बच्चों को जीता-जागता देखता हूँ और बस इससे ज्यादा देखने का मौक़ा उस दिन भी नहीं मिल पाता। उसी दिन अगले छह दिनों के खाने, पहनने और जीने के दूसरे साधन जुटाने पड़ते हैं। कपड़े धोना, ढंग से सफ़ाई करना, लोगों से मिलना-जुलना और अगले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छह दिनों काम कर पाने के लिए आराम करना भी ज़रूरी होता है। बच्चों के भी अपने काम, खेल-कूद होते हैं। इस तरह यदि देखूँ तो बच्चों को शायद दसवाँ अंश भी नहीं दे पाता। और फिर मैं कह रहा हूँ कि मैं इन सबका और 'दे पाने...न दे पाने' का आदी जो हूँ इसलिए मुझे उस तरह कुछ भी महसूस नहीं होता जैसे ठंडे और ठहरे हुए शहरों के लोगों को होता है; और मेरी अपनी भाषा में या बंबई की अचेतन चेतना या अतिचेतना के शब्दों में—मुझे कुछ भी महसूस नहीं होता। और अगर कुछ होता भी है तो सिर्फ़ यही कि अपने और अपनों के संबंधों के बीच कहीं कुछ टूट-फूट गया है जिससे उनके खँडहर और खँडहरों के आसपास पड़े ईंट-पत्थरों के टुकड़े तो महसूस होते हैं लेकिन जुड़ी हुई पूरी इमारत महसूस नहीं होती।"

और मैं सोच रहा हूँ —यही है वह शहर जिसकी याद आते ही मुझे परियों के क़िस्से याद आ जाते थे। परिस्तान के महमहाते बगीचे और उनमें मस्ती और एक ख़ास अंदाज़ से घूमते हुए परीज़ादों को महसूस करता था और उनमें एक परीज़ाद मैं भी था; या शायद जादुई घोड़े पर चढ़ कर मोतियों से ढके समुद्र-तट पर उसे सरपट दौड़ाता हुआ परिस्तान का शहज़ादा। और अब... अब शायद उन सज्जन की तरह मैं भी कुछ महसूस नहीं कर पा रहा हूँ और महसूस करना भी नहीं चाहता, और यदि करता भी हूँ तो शायद वही खँडहर, खँडहर के आसपास पड़े ईंट-पत्थरों के टुकड़े। और लगता है उद्योगीकरण के मज़बूत क़दम इन टुकड़ों को और बारीक कर देंगे, ये खँडहर और भी टूट जायेंगे और इनकी जगह नयी इमारतें बनेंगी—नये संबंधों और संस्कारों के रूप में। हम उनमें रह सकेंगे—गहरी, मुक्त साँस ले सकेंगे लेकिन तब भी शायद हम कुछ महसूस नहीं कर सकेंगे, पर शायद हमें कुछ भी महसूस करने की ज़रूरत ही महसूस नहीं होगी...।

गाड़ी रुक गयी। पूना स्टेशन आ गया था। उन सज्जन ने अपने घर चलने की लिए मुझे औपचारिक निमंत्रण दिया और मैंने औपचारिक धन्यवाद दे कर क्षमा माँग ली।

'सारिका',
टाइम्स आफ़ इंडिया,
बंबई-१।

ग्राहकों से निवेदन

है कि अपने पते के परिवर्तन की सूचना हमें तभी दें जब कि वह कम से कम तीन मास के लिए हो, अन्यथा स्थानीय डाकघर से ही इस विषय में व्यवस्था कर लें।

—*व्यवस्थापक, 'माध्यम'*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभा ! मेरे मन के आईने में

उमा मिश्रा

बरसात की रात, घने काले बादलों का घिराव, छोटी-छोटी बूंदें। रह-रह कर बिजली की चमक में कौंध उठने वाली पीली, दुबली-सी सड़क और उसके दोनों ओर खपरैल और छप्पर वाले मकानों की क़तारें। झींगुरों और मेढकों की बीच-बीच में उठने वाली आवाज़ें।

मैं हूँ, तिमंज़िले की सूनी-सी यह अँधेरी कोठरी है। नींद नहीं आती। अक्सर ऐसे में नींद नहीं आती। घने अँधेरे में मन के विचार उलझ रहे हैं। सब ओर एक-सा अँधेरा जिसे बार-बार बिजली की कौंध चीर जाती है। मेरे मन के अँधेरे को भी इसी तरह प्रभा की याद चीर जाती है। कुछ आवाज़ें कान के पर्दे को थरथरा जाती हैं।

अब सभी सो गये हैं। थोड़ी देर पहले दूर किसी टोले से उठने वाली मल्हार की तान अब काली परतों में दब गयी है। ऐसे ही, समय की काली परतों में सब-कुछ दबता जायगा; रूप-नामहीन होता जायगा। पिछले खंड वाली टीन की छत पर पानी की बूंदें नीम की पत्तियों से सरक-सरक आती हैं—टिप्. . . टिप्. . . .

सोचती हूँ, रात की भी एक ध्वनि होती है। बड़ी प्यारी-सी ध्वनि, जो मन की गाँठों को खोलने लगती है। इनके खुलने पर सब-कुछ जाने कैसा-कैसा लगने लगता है। मन अनेक संदर्भों में भटकने लगता है। भूले-बिसरे चित्र आँखों में तिरने लगते हैं।

हवा के झोंके आते हैं। कहीं शायद रातरानी के तमाम हरे-सफ़ेद फूल खिले हैं। ऊदी-ऊदी-सी महक सारे कमरे में भर गयी है। इस सुगंध के साथ प्रभा की याद ताज़ा हो आती है। वह कहती थी—रातरानी मुझे बहुत पसंद है। उसकी देह से बिलकुल वैसी ही गंध आती थी।

मैं कहती, "देखो प्रभा, कहीं रातरानी महक रही है।"

वह कहती, "रात की रानी है तो महकेगी ही।" और खिलखिला कर हँस पड़ती। उसकी हँसी, गुलाबपाश से छिड़के गये गुलाबजल-सी होती थी। मैं अंतर तक भीग जाती थी, सिहर उठती थी। कैसी तो हँसी थी उसकी ! आज याद करती हूँ तो कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। धूमिल-सी एक तसवीर उभरती है। लेकिन कोई रेखा साफ़ नहीं हो पाती; कोई आकृति स्पष्ट नहीं बनती। उसके हँसने की मुद्रा, ध्वनि और उसका उतार-चढ़ाव, सब-कुछ मैं भूल चुकी हूँ। जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे रोम-रोम में कभी रच-बस गयी थी, उसे इस तरह भूल गयी ! विस्मृति कितनी कठोर होती है ? गाढ़ी से गाढ़ी रेखा भी जिससे धुँधली हो कर मिट जाती है। फिर भी कुछ है जो याद है। शायद हमेशा याद रहेगा।

उसकी हँसी में एक जादू था, एक संमोहन था। मैं संमोहित-सी चुपचाप बैठी रहती, तंद्रिल-सी। वह हँसते ही हँसते कहती, "क्यों, बुरा मान गयी न !" मैं नहीं में सिर हिला देती थी। मन में एक आशंका-मिश्रित भय छा जाता। पता नहीं इसकी इस मुक्त हँसी का क्या होगा ? मैं मन ही मन दूर भविष्य में झाँकने का प्रयास करने लगती। इतनी संमोहक हँसी का भविष्य क्या होगा ? आज वर्षों बाद सोचती हूँ, क्या अब भी वह वैसे ही हँसती होगी ? क्या अब भी उसका गुलाबी रंग वैसा ही ताज़ा होगा ?

एक दिन हम दोनों गर्ल्स स्कूल के मैदान में बैठी थीं। वह कुछ चंचल सी थी, मैं खोयी-खोयी।

"भई, मुझे यह मूड पसंद नहीं।" कुछ इस तरह कहा था उसने कि मैं मुस्करा पड़ी थी। दूसरे ही क्षण मेरी मुस्कान दब गयी थी। मन के संत्रास ने मेरी ख़ुशी का गला दबा दिया था। एक बेचैन तिलमिलाहट व्याप्त हो गयी थी। इच्छा हुई थी उसी से पूछ लूँ––प्रभा, तुम्हारी इस हँसी का क्या होगा ? वह अवस्था भी ऐसी ही थी जब हर चीज़ पर शंका होती थी। लड़कियों को तितली-सी फुदकती देखती तो यह शंका मुझे झकझोर डालती। कभी-कभी मुझे स्वयं अपने इन विचारों से चिढ़ होती। सोचती––पता नहीं प्रभा मेरे विषय में क्या सोचती होगी ?

एक बार मैंने उससे पूछा भी था, "प्रभा, तुम मेरे बारे में क्या सोचती हो ?"

उसने कहा था, "मुझे किसी के बारे में ज़्यादा सोचना अच्छा नहीं लगता। सोचने की कोई बात भी तो हो। तुम तो पता नहीं क्या हमेशा बेसिर-पैर की सोचा करती हो।"

मेरी इच्छा हुई थी कि उससे कह दूँ कि मैं तो तुम्हारे बारे में बहुत सोचती हूँ। सोचती हूँ––तुम्हारी यह ताज़गी, सुगंध और सौंदर्य का भविष्य क्या होगा ? और तुम्हारे ही बारे में नहीं प्रत्येक सुंदर वस्तु के प्रति मेरे मन में ये ही प्रश्न उठते हैं। किंतु उससे कुछ कह न सकी थी। मन काँप उठा था और निराशा की एक काली परत मन पर जम गयी थी।

बारिश कुछ बढ़ गयी है। टीन पर बूँदों की टिमटिमाहट तेज़ हो गयी है। कहीं दूर वंशी बज रही है। बहुत हल्की-सी ध्वनि कभी उभरती है, कभी वर्षा की रिमझिम में डूब जाती है। ऐसे में एक बार प्रभा ने कहा था, "उम्मी, बरसात की रात में फुहारों में भीगती थकी-सी वंशी की ध्वनि कभी सुनो ! सच, लगता है, कोई पुकार रहा है।" तब मैं हँसी थी। मेरे हँसने में अविश्वास की झलक उसे मिल गयी थी और उसने कहा था, "तुम भी इन तमाम मूर्ख लड़कियों-सी हँस रही हो ! कभी कुछ ऐसा अनुभव नहीं हुआ तुम्हें क्या ?"

आज उसकी वह पुरानी बात बिल्कुल सच लगती है। लगता है, वंशी की तान पर सुधियों की गंध उड़ी आती है, और मैं उसमें खोती जाती हूँ। कितने पहले उसने इस सत्य को जान लिया था !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बादल भी घिरे हैं अभी। गाढ़ा अँधेरा अभी भी वैसा ही है। कहीं कुछ भी नहीं दिखता। लेकिन ऐसे में मन का कोना-कोना साफ़ दिखता है, और उसमें से एक ध्वनि निकलती है—पानी की रिमझिम-सी, वंशी की तान-सी, मल्हार के गीत-सी।

क्या ऐसी रात में वह भी जग रही होगी ?—जाने कहाँ से यह प्रश्न मेरे दिमाग़ में कौंध गया है। मैं सोचती हूँ, यह तो मेरी कमज़ोरी है कि जिस परिस्थिति में, जिन अनभूतियों में मैं जी रही हूँ, चाहती हूँ, इन्हीं में मेरी प्रभा भी जिये।

अब तो पता नहीं कहाँ होगी वह, किन परिस्थितियों में ? कैसा सुख होगा उसे ? कितना दुख ? और पता नहीं उन सुख-दुख के क्षणों में कभी मैं भी उसे याद आती हूँगी या नहीं ? जाने अब भी उसे रातें अच्छी लगती होंगी या नहीं ? एक बार तो स्कूल के वार्षिकोत्सव से लौटते हुए उसने कहा था, "मुझे रात बहुत प्यारी लगती है। रात में, और अधिकतर बरसात की रात में जब ख़ूब गाढ़ा अँधेरा हो, इच्छा होती है चुपचाप बैठी रहूँ।"

लगता है, यदि वह बात सच थी तो वह ज़रूर आज कहीं बैठी होगी, चुपचाप। शायद मेरा भी ख़्याल उसे आया हो। अगर मेरा ख़्याल उसे आया होगा तो वह ज़रूर हँसी होगी, ख़ूब खिलखिला कर।

लगता है, वारिश रुक गयी है। बूंदें फिर नीम की पत्तियों से सरक-सरक कर टीन पर गिर रही हैं। गिर कर टूट रही हैं। टूट कर बिखर रही हैं। शायद मेरी स्मृतियाँ भी ऐसे ही एक दिन सबके दिमाग़ से सरक जायँगी; समय के साथ टूट जायँगी; टूट-टूट कर बिखर जायँगी। तब शायद, प्रभा भी मुझे भूल जायगी, कालेज की और तमाम लड़कियों की तरह वह भी अजनबी निगाहों से मुझे देखेगी। लेकिन मैं अपनी प्रभा को खोना नहीं चाहती। वर्षों बीत गये पर प्रभा की याद अभी भी ताज़ा है। उसका वह सौंदर्य मेरे मन के आईने में अभी भी उतना ही साफ़ है। उसकी रातरानी-सी महक अब भी वैसी ही है। उसकी हँसी, वह खिलखिलाहट जिसमें गुलाब-पाश के गुलाबजल की तरह मन को भिगो देने की शक्ति है, अब भी मेरे कानों में गूँजती है।

प्रभा, तुम अपनी सुंदरता, सुगंध और बेपरवाह हँसी के साथ मेरे मन में हमेशा-हमेशा ताज़ा बनी रहोगी। तुम चाहे मुझे भुला दो पर मैं.....मैं नींद की ख़ुमारी में भी तुम्हें नहीं भल सकती !

मिश्र-भवन,
बलरामपुर, गोंडा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहवर्ती साहित्य

•

कश्मीरी

कश्मीरी भाषा और साहित्य

शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'

भारत के संविधान में जिन चौदह भाषाओं को राष्ट्रीय मान्यता दी गयी है, उनमें कश्मीरी भी एक है। इस भाषा के अधिकांश बोलने वाले जम्मू तथा कश्मीर राज्य की कश्मीर घाटी, किश्तवाड़, रामबन आदि जगहों के निवासी हैं। इनकी संख्या तीस लाख के लगभग है।

कश्मीरी भाषा के उद्‌गम के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इसको हिंद-आर्य कुल की भाषाओं में संस्कृत-संभवा मानते हैं। इधर कुछ लोग यह कहने लग गये हैं कि कश्मीरी इब्रानी[1] से निकली हुई एक शाखा है। परंतु अधिकतर भाषावैज्ञानिक इसको दरद आर्य कुल की एक शाखा स्वीकार कर चुके हैं। इन मान्यताओं में विवाद की बड़ी गुंजाइश है जो इस लेख का विषय नहीं, परंतु इतना सर्वमान्य है कि कश्मीरी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व सदियों से चला आ रहा है। कश्मीर के जगद्विख्यात इतिहास ग्रंथ 'राजतरंगिणी'[2] में इसका उल्लेख जन-भाषा के रूप में आया है। इससे पूर्व के कश्मीरी विद्वानों—महाकवि बिल्हण आदि की संस्कृत रचनाओं में भी कश्मीरी भाषा का उल्लेख और यत्र-तत्र कश्मीरी शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये सब प्रमाण इस भाषा के अस्तित्व की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

परंतु इस भाषा की कोई साहित्यिक कृति हमें तेरहवीं शती ईसवी से पूर्व की नहीं मिल सकी है। तेरहवीं शती की भी जिस रचना को कश्मीरी का आदि रूप माना जा रहा है वह काश्मीर शैव सिद्धांत के विद्वान शतिकंठ राजांक की 'महानय-प्रकाश' है, जिसकी भाषा वर्तमान कश्मीरी से ही नहीं अपितु चौदहवीं शती की उस भाषा से भी पूरी तरह मेल नहीं खाती, जो वर्तमान कश्मीरी साहित्य का सर्वमान्य पूर्व रूप है। फिर भी यदि ध्यान से देखा जाय तो 'महानय-प्रकाश'

---

[1] यहूदियों की भाषा।

[2] कल्हण की बारहवीं शती की रचना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कश्मीरी के पूर्व रूप का स्पष्ट आभास मिलता है। इससे यह मत निराधार नहीं माना जा सकता कि कश्मीरी भाषा का आदि रूप 'महानय-प्रकाश' का अपभ्रंश है, जो निश्चय ही तत्सामयिक सभी प्राकृतों से भिन्न है।

चौदहवीं शती से कश्मीरी भाषा के साहित्य का वह रूप मिलता है, जिसको आधुनिक कश्मीरी का आदि रूप कहने-मानने पर कोई मतभेद नहीं। विश्व की अन्य भाषाओं की तरह कश्मीरी का यह आदि साहित्य भी पद्य में ही उपलब्ध है और हिंदी साहित्य की भाँति कश्मीरी का आदि काव्य दार्शनिक रहस्यवाद, धार्मिक मानवतावाद और समन्वय पर आधारित है। वास्तव में तेरहवीं शती कश्मीर के इतिहास का एक संक्रांति काल रहा है। इस युग में हिंदू शासकों का दौर समाप्त हो चुका था और उसका स्थान मुसलमान सुलतानों का शासन ले रहा था। इस्लाम के प्राचारक सूफ़ियों और सैयदों के रूप में धर्म-प्रचार करने लगे थे। कट्टरपंथी ब्राह्मण अपनी मान्यताओं की परिधि को सीमित बनाते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में सामंजस्य उत्पन्न करने और धर्मांधता को रोक कर ऐसा मार्ग प्रशस्त करने की आवश्यकता थी जो सर्वग्राह्य होने के अतिरिक्त कश्मीरी परंपरा और पद्धति को बनाये रखता--जो परंपरा धार्मिक सहिष्णुता, गुणग्राहकता और उदारता की थी।

यही हैं वे तत्व, जो कश्मीरी साहित्य के आदिकाल का मुख्य स्वर रहे हैं। इसका प्रतिपादन दार्शनिक कवयित्री लल्लेश्वरी और शेख़ नूरुद्दीन वली ने अपनी वाणी में किया है। इन दोनों संतों को कश्मीर के सभी हिंदू व मुसलमान धार्मिक भेद-भाव के बिना पूज्य मानते हैं और वे इन्हें क्रमशः ललद्यद (लल माता) और नुंद ऋषि कह कर श्रद्धा अर्पित करते हैं। ललवाणी 'वाख' (वाक्य) कहलाती है और नुंद ऋषि के वचन 'ऊख' (श्लोक)। इनकी लोकप्रियता का यह हाल है कि वर्तमान कश्मीरी में ये वचनामृत सूक्तियाँ और मुहावरे बन गये हैं। कदाचित जनता का श्रद्धाभाव ही इस वाणी को सुरक्षित रख सका है, अन्यथा यह साहित्य भी उसी तरह कालकवलित हो जाता जिस प्रकार इस युग की अन्य साहित्य-सामग्री नष्ट हो गयी, जिसकी सूचना इतिहास से मिलती है। ललवाणी और नुंद बाबा के ऊखों के अतिरिक्त जिन रचनाओं का उल्लेख 'ज़ैन राजतरंगिनी' व अन्य इतिहासों में आया है, उनके अनुसार सुलतान शहाब-उ-द्दीन, सुलतान ज़ैन-उल-आबदीन (लोकविख्यात बड़शाह) और सुलतान हसन के शासन-काल में फ़ारसी के साथ-साथ कश्मीरी भाषा तथा साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहा। स्वयं ये सुलतान भी कश्मीरी में काव्य-रचना करते रहे हैं। बड़शाह के तो दो दरबारी विद्वानों—सोम भट्ट और योध भट्ट ने 'ज़ैन-विलास' और 'जैन-चरित' नाम की कश्मीरी रचनाएँ बादशाह को भेंट कीं। परंतु ये सब रचनाएँ इतिहास की सूचनाएँ मात्र रह गयी हैं। जो कुछ बचा है, वह कश्मीरी साहित्य के आदिकाल की संपत्ति है।

काल-विभाजन की दृष्टि से कश्मीरी साहित्य को इन चार भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) **आदिकाल [१३वीं शती से १५वीं शती ईसवी तक]—इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) पूर्व मध्यकाल अथवा गीत-काव्य काल [१६वीं शती से १८वीं शती ईसवी तक]

(३) उत्तर मध्यकाल अथवा भक्ति व आख्यान-काव्य काल [१९वीं शती]

(४) आधुनिक काल अथवा देशभक्ति काव्य तथा प्रयोगवाद काल [२०वीं शती के आरंभ से अब तक]

जैसा ऊपर कहा गया है, आदिकाल के कश्मीरी साहित्य का प्रतिनिधित्व लल्लेश्वरी (ज०, १३३५ ई०) और नुंद ऋषि (ज०, १३७७ ई०) करते हैं। ललमाता एक शैव भक्त योगिनी थीं। कश्मीर घाटी में बेपरवाह घूमती-फिरती थीं। नुंद ऋषि उनके समकालीन रहे हैं। इन दोनों संतों की वाणी का मूलमंत्र हिंदू-मुस्लिम एकता रहा है। ललद्यद का एक वाख यों है:

शिव छुय थलि-थलि रोजान।
मव ज़ान ह्योंद त मुसलमान॥

अर्थात—**'शिव सर्वव्यापक है। हिंदू और मुसलमान में भेदभाव न जान।'** कश्मीर के सांस्कृतिक विकास में इससे स्वस्थ परंपरा का सूत्रपात हुआ।

पूर्व मध्यकाल के कश्मीरी काव्य में हब्बा ख़ातून और अरणीमाल के गीतों का स्वर मुखर हो उठा है। यह वह युग है जब कश्मीर मुग़ल साम्राज्य में शामिल किया गया। हब्बा ख़ातून चक वंश के अंतिम सुलतान यूसुफ़ शाह की एक रानी थी। कहा जाता है कि वह एक साधारण किसान कन्या थी। नाम उसका 'ज़ून' (चाँद) था। जवानी में उसके सौंदर्य, काव्य-प्रतिभा और संगीतप्रियता की चर्चा फैलते-फैलते जब यूसुफ़ शाह तक पहुँची तब वह उसको ब्याह लाया। काव्य-साधना के अलावा मलिका हब्बा ख़ातून ने कश्मीरी संगीत को भी बढ़ावा दिया। कश्मीरी में 'रास्त' मक़ाम (राग) उन्हीं की देन है।

ऐसा लगता है कि यूसुफ़ शाह चक के मुग़लों द्वारा बंदी बनाये जाने और कश्मीर से निर्वासित किये जाने पर उसकी रानी हब्बा ख़ातून के हृदय को जो ठेस लगी, वह वेदनाभरे गीतों में फूट पड़ी। और वही गीत आधुनिक कश्मीरी काव्य की आधारशिला बन गये। हब्बा ख़ातून की ही लय और स्वर को उसके बाद अरणीमाल ने और भी मुखर किया। इतना ही नहीं, बल्कि उस स्वर में और दर्द, सोज़ और भावना का पुट दे कर कश्मीरी काव्य को 'क्लासिकी' बना दिया।

'लोल'[3] काव्य की प्रतिपादक इन कवयित्रियों को कश्मीरी साहित्य में आधुनिकता के आरंभकों में इसलिए गिना जाता है, क्योंकि इनसे पूर्व ज़ो वाणी काव्य रूप में मिलती है, वह प्रधानतः उपदे-

---

[3] **'लोल' शब्द कश्मीरी में प्रीत, भक्ति, वात्सल्य, स्नेह, उत्सुकता और प्रणय का पर्याय है। अनुवाद में कोई एक पर्याय पूर्णतः इसका अर्थ वहन नहीं कर सकता।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शात्मक तथा दार्शनिक है, भावनात्मक कम है। हाड़-मांस के संसारी जन जिस विरह-मिलन, दुख-सुख, स्नेह-प्यार और भावनामय जगत से दो-चार होते हैं, हब्बा ख़ातून और अरणीमाल ने उन्हीं के गीत गाये हैं।

यहाँ पर यह कहना ज़रूरी है कि प्राचीन काल में कश्मीरी साहित्य संस्कृत से पराभूत रहा। इस्लाम के आगमन पर उसका स्थान फ़ारसी, और बाद में उर्दू ने लिया। स्पष्ट है कि इन भाषाओं को राज्याश्रय मिलता रहा और कश्मीरी दब कर ही रह गयी, मगर सुलतानों के शासन काल में जो कश्मीरी उभरी—जितनी भी उभरी, फ़ारसी और संस्कृत के अनुचित भार से मुक्त थी। इसका प्रमाण हब्बा ख़ातून और अरणीमाल की ठेठ कश्मीरी रचनाएँ हैं, जिन्हें लोकगीतों और शास्त्रीय गीतों में सहज ही प्रयोग किया जाता है। आज भी जब कश्मीरी के कानों में हब्बा ख़ातून के गीतों की आवाज़ पड़ती है तब उसका हृदय द्रवित और भावनाविभोर हुए बिना नहीं रहता।

"चे कम्यू सोनि स्यानि. . . ."(किस मेरी सौत ने तुम्हें भरमाया।)

और अरणीमाल के—**"अरिणि रंग गोय श्रावणि हिये. . . . ."(श्रावण की मुझ चँबेली का रंग अरणी-सा (पीला) पड़ गया।)**

किंतु मुग़ल-शासन के बाद फ़ारसी का प्रभुत्व अधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। यह भी हो सकता है कि कश्मीरी के साहित्यिकों को इस काल में कश्मीरी काव्य का क्षेत्र विशद बनाने की धुन समायी हो और उसके लिए उन्होंने विषयों के चयन के साथ ही साथ फ़ारसी तथा संस्कृत के अधिक शब्दों-मुहावरों को अपनाना उचित समझा हो। कुछ भी हो, इतना निर्विवाद है कि उत्तर मध्यकाल का कश्मीरी साहित्य जहाँ विषय-वस्तु की दृष्टि से बहुत संपन्न बन गया है, वहाँ फ़ारसी और हिंदुस्तानी शब्दों की प्रचुरता भी उसमें दिखती है। कइयों का मत है कि यह प्रवृत्ति कश्मीरी के लिए वांछनीय नहीं रही, किंतु कुछ लोग इस मत के समर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि कश्मीरी साहित्य में विविधता, विस्तार और विकास के लिए यह अनिवार्य था। जो भी हो, उत्तर मध्यकाल की एक शती में कश्मीरी काव्य-सरिता दो प्रमुख धाराओं में बही। एक थी भक्ति और 'नातिया कलाम' की धारा, दूसरी थी तसव्वुफ़ और प्रेमाख्यानों (मसनवियों) की काव्य-धारा। इन दोनों धाराओं के कवियों को विषयों के अनुरूप शब्द-रचना करना पड़ा। इसके लिए भक्त कवियों को शिव-विष्णु, राम-कृष्ण आदि की लीलाओं के लिए संस्कृत व हिंदी शब्दों का आश्रय लेना पड़ा, जबकि नातों (हमद और पैग़ंबर-प्रशस्ति) और मसनवियों के लिए विषयानुरूप फ़ारसी व अरबी शब्दावली का सहारा लिया गया। इस प्रवृत्ति की सही पृष्ठभूमि न समझते हुए कई विद्वानों ने इस युग के साहित्य को हिंदू तथा मुसलमान कश्मीरी में बाँटने की ग़लती की, जो निराधार है।

भक्ति तथा नातिया काव्य के इस युग के प्रतिनिधि कवि परमानंद भट्टन, कृष्ण राजदान वनपूह, मीर सना-उल्लाह क्रीरी, अब्दुल अहद 'नादिम' बांडीपुर हुए हैं। प्रेमाख्यान (मसनवी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखने वाले कवियों में महमूद गामी, अब्दुल अहद 'नाज़िम', प्रकाशराम कुरीगाम, लक्ष्मणजू बुलबुल नागाम, वली उल्लाह मत्तू, मक़बूल शाह और वहाब परे बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

उन्नीसवीं शती के इन कवियों की जो रचनाएँ अत्यंत लोकप्रिय हो गयी हैं और जो कश्मीरी काव्य साहित्य की अनमोल निधि बन गयी हैं, उनके नाम ये हैं :

महाकवि परमानंद रचित 'सुदामाचरित', 'दीनक्रंदन', 'राधास्वयंवर', 'शिवपरिणय'।
कृष्ण राज़दान रचित 'शिवलग्न' तथा 'भक्ति लीलाएँ'।
मीर सना-उल्लाह क्रीरी की नातें—पैग़ंबर इस्लाम की प्रशस्तियाँ।
अब्दुल अहद नादिम की नातें—पैग़ंबर इस्लाम की प्रशस्तियाँ।
महमूद गामी रचित 'यूसुफ़-जुलेखा', 'लैला-मजनूं', 'शीरीं-फ़रहाद'।
वली उल्लाह मत्तू रचित 'हीमाल नागराय' (कश्मीरी लोककथा पर आधारित काव्य)।
मक़बूल शाह कृत 'गुलरेज़', 'ग्रीसनामा', 'परीनामा'।
वहाब परे कृत 'शाहनामा' (फ़िरदौसी के फ़ारसी 'शाहनामा' का कश्मीरी रूप), 'अकबरनामा'।
प्रकाशराम कुरीगाम कृत 'रामावतारचरित', 'लवकुशचरित'।
लक्ष्मणजू बुलबुल नागाम रचित 'नलदमयंती', 'सामनामा'।

कश्मीरी गीतों, ग़ज़लों, लीलाओं तथा लोकप्रिय धुनों की ऐसी परंपरा इन काव्यों से चल पड़ी है, जो कश्मीरी काव्य के विभिन्न अंगों और रीतियों का रूप धारण कर चुकी है। उदाहरणतः, महमूद गामी का 'रोह' (रोफ़) कश्मीरी लोकगीतों और लोकनाच का आधार बन गया है। परमानंद का 'च्यध', 'गुलरेज़' की लय और छंद, 'ग्रीसनामा' का व्यंग्य, 'शाहनामा' का ओजपूर्ण वर्णन अब कश्मीरी काव्य की विभिन्न शैलियाँ बन गये हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं शती ने कश्मीरी साहित्य का आँचल भर दिया है। इस युग में आदिकाल और पूर्व मध्यकाल की परंपराओं को न केवल आगे बढ़ा दिया गया है, बल्कि उनका क्षेत्र भी विस्तृत किया गया है। साथ ही, आधुनिक काल की ग़ज़लों की दाग़बेल भी इसी युग में डाल दी गयी। ऐसे कवियों में रसूल मीर का नाम प्रमुख है। यह आधुनिकता का पहला कवि है जिसने कश्मीरी भाषा में भावप्रवण काव्य को वह रूप दिया, जिसका अनुकरण बाद के कवियों ने भी करना गौरवमय समझा। और तो और, आधुनिक युग के एक प्रतिनिधि कवि श्री ग़ुलाम अहमद 'महजूर' ने भी रसूल मीर की लोकप्रियता और कलाकारिता को इस प्रकार स्मरण किया है, **'जो हाला 'मीर' बाँट कर गया है, महजूर उसी हाला को नये प्यालों में भर-भर कर बाँट रहा है।'** एक और जगह 'महजूर' कहता है, **'दर्द और सोज़ (वेदना और भावुकता) के जिन आवरणों को रसूल मीर उघाड़ कर चला गया, महजूर उन्हीं पर्दों को फिर ओढ़ कर आ गया।'**

यद्यपि बीसवीं शती के आरंभ में उत्तर मध्यकाल के कुछ प्रसिद्ध कवि जीवित थे, जो अपनी परंपरा के अनुरूप काव्य-साधना करते रहे, तथापि आधुनिक युग के कश्मीरी साहित्य का नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोड़ कवि 'महजूर' की रचनाओं से आरंभ होता है। इनका जन्म १८८८ ईसवी में कश्मीर के एक गाँव 'मित्रगोम' में हुआ। फ़ारसी और अरबी की साधारण शिक्षा पा कर 'महजूर' कई वर्ष कश्मीर से बाहर रहे, जहाँ वे मौलाना शिवली जैसे विद्वानों के संपर्क में आये। प्रारंभ में वे उर्दू शायरी करने लगे थे, किंतु शीघ्र ही कश्मीरी की ओर प्रवृत्त हुए। सन १९२० से १९४७ तक का काल 'महजूर' की कविताओं का दौर रहा। यदि आधुनिक काल को मुख्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से बाँटना पड़े तो शती के आरंभ से १९४७ तक का काल 'पूर्व भाग' कहा जा सकता है, जिसका प्रतिनिधित्व निश्चय ही 'महजूर' और 'आज़ाद' करते हैं।

'महजूर' हमारे पहले कवि हैं जिनके बारे में यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि उन्होंने कश्मीरी काव्य को तसव्वुफ़ की भूलभुलैयों से बाहर निकाल लाने, और रसूल मीर की परंपरा को बढ़ावा दे कर प्रकृति के निकट लाने की कोशिशें कीं। कश्मीर के प्रसिद्ध कवि 'नादिम' का कहना है कि, **'महजूर' वह शायर हैं, जिन्होंने काव्य को परंपरागत भोंडी उपमाओं और मुहावरों से मुक्त कर के वास्तविक कश्मीरी भावों से सजाया और जो आध्यात्मिकता हमारे काव्य में फ़ारसी काव्य की नक़ल से पैदा हुई थी, वह दूर की। 'महजूर' की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता स्वस्थ आशावाद है।'**

'महजूर' के दौर में कश्मीर देश के अन्य भागों के साथ-साथ राजनीतिक संघर्ष के बीच से गुज़र रहा था। 'महजूर' युग की पुकार को भाँप गये। संवेदनशील हृदय था ही, झट उन्होंने ऐसा अनुभव किया, मानों पिंजरे में बुलबुल पर काट कर रखी गयी है और वह स्वाधीनता के लिए छटपटा रही है। उनके भीतर का कवि मर्माहत हो उठा। ऐसी स्थिति में जो उद्‌गार उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हुए, वे ग़ज़लों के रूप में थे या नज़्मों में। उनसे कश्मीर की राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नवचेतना का प्रतिपादन हुआ। उन्होंने कविता-कामिनी को अपने पूर्वगामी सूफ़ी कवियों की संकीर्ण कंदराओं से निकाल कर कश्मीर की शस्य-श्यामला वाटिकाओं और सुरभिमय फुलवारियों में पहुँचा कर जनसाधारण से परिचित कराया और उसे उनका ही सुर-ताल सिखाया। यही कारण है कि लोकप्रियता की दृष्टि से जो स्थान 'महजूर' को मिला, उसकी मिसाल नहीं मिलती।

अब्दुल अहद 'आज़ाद' वास्तव में कश्मीरी शायरी के पहले विद्रोही कवि हुए हैं, जिन्होंने विषयों की परंपरा और अतीत की चिरपरिचित शैली से हट कर और उलझे हुए जीवन की समस्याओं को आधार बना कर ऊँचे स्वर से क्रांति का उद्‌घोष किया। सामाजिक विषमता, धर्मांधता और राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध उनका ओजपूर्ण स्वर इतना मुखर रहा कि कई लोग उस स्वर को समय से बहुत पहले की आवाज़ तक कह गये। 'आज़ाद' कश्मीरी साहित्य के प्रथम समालोचक भी हुए हैं। उनकी ऐतिहासिक रचना 'कश्मीरी ज़बान और शायरी' बहुत ही महत्वपूर्ण और गवेषणायुक्त कृति है, जिसकी प्रशंसा सभी एक स्वर से करते हैं।

'आज़ाद' से कश्मीरी साहित्य को बहुत आशाएँ थीं, किंतु निर्दयी काल ने सन् १९४८ में ही उन्हें हमसे छीन लिया।

सन १९४७ के बात कश्मीरी साहित्य का वर्तमान दौर आरंभ होता है। इस दौर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरंभ युद्ध की ललकार, देश-रक्षा और 'क़दम-क़दम बढ़ेंगे हम' के जयघोष से हुआ। यद्यपि इन्हीं दिनों देश स्वाधीन हुआ था तथापि ऐसी समस्याएँ सामने आयी थीं, जो देश और समाज की चूक से सारे भवन की चूलें ढीली कर देतीं। कश्मीर के नये कवि और साहित्यिक ने समय की नज़ाकत को महसूस किया और राष्ट्रीयता व देशप्रेम का वह स्वर मुखर किया जिससे जन-जन के जीवन में नवस्फूर्ति और चेतना की लहर दौड़ गयी।

इस युग का प्रतिनिधित्व कविवर दीनानाथ 'नादिम' ने किया। उनके साथ उदीयमान कलाकारों का दल-का-दल आगे आया और सभी ने साहित्य के मोर्चे पर अपना-अपना स्थान अत्यंत जागरूकता से सम्हाल लिया।

संक्रांति का समय बीता। हलचल शांत हुई। तूफ़ान टल गया तो कश्मीरी का भाव-शिल्पी (कवि तथा साहित्यकार) प्रयोगवाद के दौर में पदार्पण करने लगा। नयी धाराओं से परिचित होने, नये तक़ाज़ों को पूरा करने और नये प्रयोगों को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। गत १०-१५ वर्षों का कश्मीरी साहित्य इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। कश्मीरी कविता के क्षेत्र में 'नादिम' ने जहाँ गीतिरूपक (opera) और सॉनेट की विधा आरंभ की, वहाँ रुबाइयों, नज़्मों और ग़ज़लों का क्षितिज भी बहुत विस्तृत किया गया।

इस दौर को यदि गद्यकाल भी कहा जाय तो अनुचित न होगा। क्योंकि वास्तव में कहानी, उपन्यास, निबंध, रूपक, नाटक, प्रहसन और पत्रकारिता के लिए गद्य की भूमिका इसी दौर में तैयार हो सकी है। यद्यपि कश्मीरी में गद्य की राशि अभी थोड़ी है, तथापि जितनी भी है, विषय-वस्तु, शैली, अर्थात कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से श्रेष्ठ साहित्य की बराबरी करती है। इस क्षेत्र में अख़्तर मुहीउद्दीन, अलीमुहम्मद लोन, कामिल, बंसी निर्दोष आदि सफल प्रयास कर चुके हैं।

कश्मीरी पहले शारदा लिपि में लिखी जाती थी, जो देवनागरी से मिलती-जुलती थी। परंतु फ़ारसी लिपि के प्रचलित होने से शारदा का चलन रुक गया। इधर अब फ़ारसी लिपि (नस्ख़) में ही कुछ परिवर्तन कर के कश्मीरी लिपि बनायी गयी है, जिससे लिपि की अड़चन बहुत कुछ दूर हो गयी है।

अभी तक कश्मीरी में कोई दैनिक या साप्ताहिक नहीं निकला है। मासिक पत्र 'कुंग-पोश', 'गुलरेज़' और 'पंपोश' निकल कर बंद भी हो चुके हैं। साहित्य अकादेमी, कश्मीर कल्चरल अकादेमी और कश्मीर रेडियो (आकाशवाणी) कश्मीरी साहित्य को बढ़ावा देने में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। अब तक साहित्य अकादेमी की ओर सें तीन पुरस्कार कश्मीरी साहित्यिकों को दिये जा चुके हैं जिनके नाम और रचनाएँ इस प्रकार हैं :

(१) मास्टर जिंदा कौल—'स्मरण' (कविता संग्रह)।

(२) अख़्तर मुही-उ-द्दीन—'सतसंगर' (कहानी संग्रह)।

(३) रहमान राही—'नौरोज़-सबा' (काव्य संग्रह)।

वर्तमान प्रगति को देखते हुए कश्मीरी साहित्य का भविष्य उज्वल है और यह आशा की जा सकती है कि भारतीय भाषा-उपवन का यह पुष्प भी पूर्णतः विकसित हो कर संपूर्ण उद्यान की शोभा में अभिवृद्धि करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्तंभ के अंतर्गत दीनानाथ 'नादिम' और अख़्तर मुही-उ-द्दीन की रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

दीनानाथ 'नादिम' का जन्म सन १९१६ में श्रीनगर (कश्मीर) में हुआ और उन्होंने बी० ए०, बी० टी० तक शिक्षा प्राप्त की। सन १९३५ से कश्मीरी में कविता करने लगे। इससे पहले उर्दू में शायरी करते थे। कविता के अतिरिक्त इन्होंने निबंध, कहानियाँ और नाटक भी लिखे हैं। कश्मीरी काव्य को इन्होंने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा से जितना बढ़ावा दिया है और जिस प्रकार साहित्य क्षेत्र में युग की गतिविधि का नेतृत्व किया है, उसको ध्यान में रखते हुए साहित्य के क्षेत्र में 'नादिम' आज की कश्मीरी के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

उनकी लोकप्रिय और सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में उनकी नज़्मों के अतिरिक्त 'बंबूर-यंबज़र्वल' (नरगिस-भौंरा) का गीतिरूपक, उनके सॉनेट और रवींद्र ठाकुर के गीतों का रूपांतर है।

'म्य छेम आश पगहॅच्य्' की जो कविता यहाँ दी गयी है, वह उनकी श्रेष्ठ कविताओं में गिनी जाती है।

'नादिम' प्रगतिशील वामपक्षी विचारधारा के समर्थक हैं। कश्मीरी अध्यापकों को संगठित करने और उनकी एक संस्था बनाने में उन्हें संस्थापक का श्रेय प्राप्त है। वर्षों कश्मीर की विधान-परिषद (लेजिस्लेटिव कौंसिल) में अध्यापकों के निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते रहे। इस समय, ललद्यद मेमोरियल हायर सेकेंडरी स्कूल, श्रीनगर, के आचार्य (प्रिंसिपल) हैं।

अख़्तर मुही-उ-द्दीन का जन्म श्रीनगर (कश्मीर) में सन १९२८ में हुआ। उन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। पहले उर्दू में कहानियाँ लिखते रहे। 'पौंड्रिच' शीर्षक कहानी पर एक बार अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता में दूसरा पुरस्कार प्राप्त किया। वर्षों से अब कश्मीरी में ही साहित्य-साधना कर रहे हैं। अब तक उनके दो कहानी-संग्रह 'सतसंगर' (सप्तशिखर) और 'सोंज़ल' (स्वर्णतरी) तथा 'दोद-दग' (पीड़ा-व्यथा) शीर्षक उपन्यास छप चुके हैं। 'सतसंगर' पर साहित्य अकादेमी का पाँच हज़ार रुपये का पुरस्कार मिल चुका है।

इस समय कश्मीर कल्चरल अकादेमी में कश्मीरी शब्दकोश के मुख्य संपादक हैं।

कश्मीरी यूनिट,
आकाशवाणी,
नयी दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल मेरी आशा का दिन है

दीनानाथ 'नादिम'

कल मेरी आशा का दिन है,
कल संसार सँवर जायेगा!

जग-उजियारा निखरेगा औ' फुलवारी खिल-खिल जायेगी,
हुमक उठेगी धरती सारी, हरी चदरिया लहरायेगी,
'उन' के मन में प्रीत-प्यार की धारा उमड़-उमड़ आयेगी,
कल संसार सँवर जायेगा!

बिन काजल के हो जायेंगी कजरारी दो अखियाँ मेरी,
छाती में अमृत उतरेगा, होगी उर की छाँह घनेरी,
वर्षों बाद हमारे घर भी लग जाये 'दशहार'[1] की फेरी,
कल संसार सँवर जायेगा!

शिशु-रोदन की ध्वनि कानों में पड़ मिट जायेंगे ग़म सारे,
नृत्य करेंगे वक्षस्थल पर स्तन-पान के मंद इशारे,
चमक उठेंगी प्रसव-कक्ष की दीवारें स्वर्णाभा धारे,
कल संसार सँवर जायेगा!

सटे द्वार से धीमे-धीमे 'वे' सुन पायेंगे स्वर-लहरी,
गर्वित हो निज सीस उठा कर लौट चलेंगे मेरे प्रहरी,
मंद-मंद तब मैं गाऊँगी नन्हें के अब्बा की लोरी,
कल संसार सँवर जायेगा!

दौड़ी आयेंगी सब सखियाँ उत्सुक मुझे बधाई देने,
पूतों वाली छाँव चनार की हूँ! खुल कर कह दूँगी उनसे,
एक न मानूँगी लेलूँगी गोद-उठाई एक-एक से,
कल संसार सँवर जायेगा!

कहते हैं कल जंग छिड़ेगी!
काश, छिड़े ना जंग कभी भी!
कल संसार सँवर जायेगा,
निश्चय ही कल जंग न होगी ॥१॥

---

[1] कश्मीरी हिंदुओं का एक प्रसिद्ध त्योहार जो, कुंभ की तरह, दस वर्षों के बाद मनाया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल मेरी आशा का दिन है,
कल साजन हैं आने वाले!

साँझ ढले ही लताकुंज की ओट निहारूँ बाट मैं उनकी,
प्रेम-प्यार की मतवाली 'हीमाल'[२] उन्हींकी राह तकूँगी,
चिंता नहीं अगर आने में उनके कुछ देरी भी होगी,
कल साजन हैं आने वाले!

प्रेम-दिवाना छिपता-छिपता आ जायेगा मटक-मटक कर,
तब मैं उनकी माला के हित चुनती हूँगी फूल मनोहर,
बात करेंगे, मैं रूठूँगी, मुखरित होगा सांकेतिक स्वर,
कल साजन हैं आने वाले!

लाख मनायें, मुखड़ा अपना रखूँगी तब तक लटकाये,
थामेंगे जब आँचल मेरा, तब देखूँगी आँख मिलाये,
गले लगाते ही आँसू की धारा रोके ना रुक पाये,
कल साजन हैं आने वाले!

सीस धरे गोदी में उनके व्यक्त करूँगी मनोवेदना,
भेटूँगी वे दाग़ रूपहले सीने पर जो बने अल्पना,
पूछूँगी, किस कारण भाया प्रेम-पाश में यों उलझाना!
कल साजन हैं आने वाले!

कह देंगे अब आने वाले दिन हैं, मचल उठेगा यौवन,
प्रीत हमारी मुक्त भाव से बहलेगी, हुलसेगा जीवन,
बीती पीछे छोड़, सजाना-सहलाना होगा अब नूतन,
कल साजन हैं आने वाले!

कहते हैं कल जंग छिड़ेगी!
काश, छिड़े ना जंग कभी भी!
कल साजन हैं आने वाले,
कल निश्चय ही जंग न होगी॥२॥

कल मेरी आशा का दिन है,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

बोल मधुर सुनते ही निकलूँगी मैं उनकी अगवानी को,
बरबस गले लगूँगी उनसे, जीवन वारूँगी मानी को,
नवल घास की सेज सजा कर बिठलाऊँगी वरदानी को,

---

[२] कश्मीरी लोककथा 'हीमाल-नागराय' की नायिका!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों के अब्बा आयेंगे!

थके हुए आयेंगे, पहले कोमल चरण पखारूँगी मैं,
पैर दबा कर, सहला कर तन, मीठी नींद सुलाऊँगी मैं,
गाढ़े श्रम की गठरी उसके संमुख ही रखवाऊँगी मैं,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

गठरी में होंगे गुलबूटे नये-नवेले सुंदर-सुंदर,
छींट मेरी औ' कर्ण-फूल जानी के झूमर स्वर्णिम मनहर,
होगा नन्हें के ख़तने का ख़र्चा भी गठरी के अंदर,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

आने वाली ईद के लिए नूतन वस्त्र सिलवायेंगे,
क़ुर्बानी के हित दो छोटी भेड़ें भी लेते आयेंगे,
हब्बे[३] की श्रेणी के बच्चों में रसगुल्ले बँटवायेंगे,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

पतझड़ को फिर जाना चाहें तब मैं एक नहीं मानूँगी,
नववसंत को नीड़ यहीं बनवाने का अनुरोध करूँगी,
भख, नंग और नादारी का मान बढ़ाने को कह दूँगी,
बच्चों के अब्बा आयेंगे!

कहते हैं कल जंग छिड़ेगी!
काश, छिड़े ना जंग कभी भी!
बच्चों के अब्बा आयेंगे,
कल निश्चय ही जंग न होगी ॥३॥

●

अनुवादक : शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'

[३] हबीब का संक्षिप्त (प्यार का) नाम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो आँखें

अख़्तर मुही-उ-द्दीन

एक व्यक्ति इधर से आया, दूसरा उधर से। दोनों आपस में मिले।

एक ने कहा, "अस्सलाम-अलैकुम !"

दूसरे ने ठंढी आह भरी। पहले व्यक्ति ने पूछा, "कारण ? आप उदास से क्यों दीखते हैं ?"

"अमुक आज मर गया !" दूसरा बोला।

"हाय-हाय !" पहले व्यक्ति के मुख से हठात शोकभरी आवाज़ निकल पड़ी। उसके बाद ख़ामोशी छा गयी। बस, कहानी समाप्त हो गयी। दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

पर कहानी बीच में लटकती रही; काली-कराली सी कहानी—'अमुक मर गया। एक इंसान मिट गया। अब न वह कभी देखा जायगा, नाही उसकी बातें कभी सुनने को मिलेंगी।' यह कड़वी कहानी मेरे सामने नाचती रही, अपने चारों ओर धूल-मिट्टी उड़ाती, बढ़ती, पुष्ट होती और ऊँचे-ही-ऊँचे उठती, बबूले[1] की तरह आँखों में रेत-मिट्टी झोंकती, मुख पर कालिमा पोतती और कपड़े-लत्ते उलझाती हुई !

बबूले-जैसी यह कहानी ऊपर उठी, बढ़ी, पुष्ट हुई और एक आकृति में परिणत हो गयी—खल्वाट पर मकई के सूखे डंठलों जैसे लटकते केश, कानों के पित्ते फटे हुए, पतली भस्मवर्ण सिल-पट्टी जैसी नाक, बढ़ी-फैली हुई आँखों के कीच के गढ़े—कीच के गढ़े, मानो पोखरों में पानी सूख कर काला कीचड़ शेष रह गया हो।

मैं डर गया। भाग जाता, पर भाग न सका। बबूले ने मेरा गरेबान पकड़ लिया। मैं हक्का-बक्का रह गया। और मैं जो कुछ सुन पाया उससे लगा मानो अंतर्मन के चोरद्वार की कुंडी खुल गयी हो...

कौन इस बात पर विश्वास करे कि एक दिन मैं पैदा हुआ—लता पर शबनम से युक्त फूल-जैसा, टोकरी पर बेदमुश्क-वत चूज़े जैसा और गोशाला में जीवन-स्नात अर्द्धशुष्क वत्स जैसा। इस बात पर कौन भरोसा करे कि तभी मुझे नील सरोवरों की एक जोड़ी दिखी—दयापूर्ण, शीतल तथा रोगनिवारक जल से भरी हुई। मेरी आत्मा ने उन सरोवरों में स्नान किया, उनका ध्यान किया और जैसे उसकी थकन मिट गयी, जैसे उसी पवित्र स्नान से उसके जन्म-जन्मांतर

---

[1] **बबूला—उर्दू (गिर्दबाद) अंग्रेजी Spiral के अर्थों में प्रयोग किया गया है। कश्मीरी में इसके लिए 'शैतानवाव' शब्द आता है जिसका शब्दानुवाद 'शैतानी हवा' हो सकता है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पापों का मल धुल गया। कहते हैं, मेरे अधरों पर बहार-सी खिल उठी! पर मझे क्या मालूम, खिली होगी। मुझे सुध ही कहाँ थी। मैं तो उन नील-सरों में अपने भविष्य के सपने देखता और झूम उठता था।

कौन माने कि नील सरोवरों की यह जोड़ी मेरी माँ की अखियाँ थीं। पैदा होते ही मेरे 'स्वत्व' पर इन आँखों की ही कृपा-दृष्टि हुई। मुझे यक़ीन हुआ कि ख़ुदा आसमान पर बठा हुआ मेरी जीवन-सामग्री जुटा रहा है। एक बीज को माटी में से उपजाने, धूप-वर्षा में पल्लवित हो कर पुष्पित होने की हिम्मत देता है। ख़ुदा माँ है, अपनी माँ—जिसकी आँखें नीलनाग जैसी हैं, कृपापूर्ण, शीतल और रोगनिवारक जल-भरी।

क्या बताऊँ उन नयनों में मैंने क्या देखा—जैसे मेरे पंख लग गये हैं और मैं नील गगन के विस्तार में एक विशाल संगत के साथ हिमधवल कपोत-सा उड़ रहा हूँ . . . उड़ रहा हूँ चहुँ ओर नाचते हुए, और बीच-बीच में पंख समेट कर गेंद की तरह नीचे उतर रहा हूँ . . . उतरते-उतरते झट अपने आप को पलटता हूँ और पुनः पर तोल कर ऊपर-ही-ऊपर चढ़ते हुए नाचता जाता हूँ।

धरती पर रहने वालो, तुम क्या जानो अंबर पर नाचना-थिरकना कितना मधुर है! रक्त उबलता है, साँस के उतार-चढ़ाव से संपूर्ण फ़िज़ा डोल उठती है और नज़रें सूर्य की प्रचंडता और विस्तार पाती हैं। नाली के कीड़े पर दृष्टि ही नहीं पड़ती। यह सृष्टि की गणना में ही नहीं आता—यह उज्झड़-पागल कीड़ा, जो अपने आप को व्यर्थ ही दुनिया के जीवों का एक अंग गिनता है। मुझे इस पर हँसी आती है! क्या यह कभी नक्षत्र बन कर ज्योति फैला सकेगा? क्या यह नाली से वाहर आ कर भी गतिशील रह सकेगा? हँसने वाली वात है। यह भी मोटे-तगड़ेपन के कारण अपने आप को कुछ समझता है, यह कीड़ा जो ऊपर-से-नीचे तक बस आमाशय ही आमाशय है।

अरे! मेरा गरेबान जकड़ा हुआ है। कीच के गढ़ों-जैसी दो आँखों वाली आकृति मेरे सामने है। मगर इन कीच के गढ़ों में से भी मैं देख सकता हूँ—दूर अति दूर—वह दिन, जब मैं कहीं से आया हुआ कहीं जा रहा था। एक गली से गुज़रा कि राह कुछ नज़दीक थी। गली के नुक्कड़ पर बायीं ओर एक आस्तान (धर्मस्थान) है और दायीं ओर एक दर्ज़ी की दुकान। समय था, मध्याह्नोत्तर। सूर्य वृक्षों के पीछे छिपा था और धूप दायीं ओर के एक मकान पर पड़ रही थी। आस्तान के समीप पेड़ पर मैनाएँ शोर मचा रहीं थीं।

दर्ज़ी की दुकान पर कोई हारमोनियम पर गाना गा रहा था। हारमोनियम की ही तरह उसकी आवाज़ भी भद्दी-बेढंगी थी। जाने कौन-सा गीत गा रहा था। मैंने सुना नहीं, क्योंकि हारमोनियम की बेसुरी धुन उसकी भद्दी आवाज़ को दबा कर भिखमंगी बुढ़िया के भग्न चर्खे की-सी आवाज़ लग रही थी। साथ था, आस्तान वाले वृक्ष पर मैनाओं का शोर—जाने लोग ऐसा गाना क्यों सुनते हैं?

मैंने अपने कान बंद किये। आसपास का सारा वातावरण मानो यह विलाप सुन कर दुख मना रहा था, और उस मकान की दीवार पर धूप थी जैसे अकिंचन कुटिया की घास की छत की आग चमकी हो। मैं कहीं जाने वाला था। हाय ख़ुदा, मैं इस गली से गुज़रा ही क्यों?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंतु ख़ुदाया, मैंने अच्छा किया जो इस गली से निकला। ज्यों ही मैं उस दुकान के पास पहुँचा, उस कूचे के सिरे से जैसे एक परी पैदा हो गयी—यही कोई अट्ठारह वर्ष की आयु, लंबा छरहरा क़द, प्यालियों जैसे नयन और यौवनपूर्ण वक्ष ! फटे-पुराने कपड़े पहने, नंगे पाँव चल रही थी वह। उसकी आँखों में सारा विश्व प्रतिबिंबित था। उसके पदचाप में कथकलि थी, और उसकी भाव-भंगिमा पर कुसुम खिल-खिल जाते थे।

पास आते ही वह चिल्लायी; जाने मुझ पर या गायक पर। संबोधन था, "अरे ! क्या हो गया तुझे ? यह किस समय का राग गा रहा है ?"

उस चीख़ ने जैसे मुझे निर्जन स्थानों में से एकबारगी उठा कर 'शालामार' में डाल दिया। मैंने ठहर कर उसकी ओर देखा, मगर वह मेरी ओर नहीं देख रही थी; उस गायक पर बिगड़ रही थी, "अंधा है क्या ! देखता नहीं समय कौन सा है ?"

"अरी पगली ज़रा इधर आ।" दर्ज़ी ऊँची आवाज़ में बोला। गायक चुप हो गया। वह आने, दो-आने के निमित्त गाता था। उसे स्पष्ट ही यह दुख था कि पगली ने उसे आने, दो-आने से वंचित किया। पर मैं संतुष्ट था। उसका गाना बंद होने से जैसे दुनिया रोना-विलापना भुला बैठी। परंतु दर्ज़ी से चुप न रहा गया। वह दुकान से उठा, पगली के पीछे दौड़ा और उसको दुकान पर ले आया।

"अरी ! तुझे क्या हो गया है ? आ, तंबाकू के दो कश तो लगाती जा।" वह उसको मना रहा था।

पगली ने हुक्का गुड़गुड़ाया। मुँह से इतना धुआँ उगला मानों छाती के भीतर की घास की झोपड़ियाँ जल गयी हों। मुख पर ऊष्मा की लाली उभर आयी और तब वह निश्शंक और निस्संकोच हो गायक से बोली, "सम्हाल रे साज़ !"

हारमोनियम रो रहा था, मगर अब नहीं। अब जैसे नींद की माती माँ अपने पहलौठे लाल को सुलाने के निमित्त लोरी गा रही थी। मैं उजाड़ों में से निकल कर 'शालामारों' की सैर कर रहा था। इतने में पगली गाने लगी—ऊँचे स्वर में, रसीले स्वर में, और फिर—क्या कहूँ, मैं क्या कहूँ—मेरे ख़ुदा ! बुलबुलें भी ऐसी स्वरलहरी कहाँ से लायें ! कोयल भी हकला गयी, पपीहरा वैसा कंठ कहाँ से लाये ! मैं क्या कहूँ—न कुछ सुन पाया न सोच पाया—बस, अप्सराओं का सा हँसना सुनायी देता। मेरे भीतर कहीं से परियों की गीत-धुन उभरती हुई प्रतीत होती ! मैं वर्णन करता मगर शब्द कहाँ से लाऊँ—मैं भी मूक हो गया, हाँ, अवाक रह गया।

उस मकान की दीवार को रश्मिरथी अपनी स्वर्णकिरणों से स्पर्श कर रहा था। आस्तान की गौरव-गरिमा अभिभूत कर रही थी। हाट-बाज़ार के कंकरों की चोंचें आकाश की ओर तकते हुए करामात देखती थीं। और मैं ? जाने मैं कहाँ-कहाँ घूमता रहा !

गाना बंद हुआ। सारा देश-काल रुक गया। उड़ते-उड़ते जैसे मैं एक ऊँचे पर्वत पर सुस्ताने बैठ गया। जीवनोत्साह मेरे हृदय में तेज़ी से धड़क रहा था। दायें-बायें हिमशिखर मानो सूर्य को दर्पण दिखा रहे थे। अचानक पगली हँस पड़ी जैसे शीशभवन में मोती

१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की डिबिया बिखर गयी अथवा जैसे किसी कारीगर ने संतूर के तारों पर झट से क़लम फेर दी !

अचानक अट्टहास हुआ मानो शीशमहलों में मोतियों की डिबियाँ बिखर गयीं या जैसे कारीगरों ने संतूरों के तारों पर क़लमें फेर दीं—मेरा दिल धक-धक कर रहा था। मैं महिलाओं का 'वनवुन' (गायन) नहीं सुन रहा था। मैं बूढ़े दादा की यह सीख नहीं सुन रहा था—'सुन लिया बेटे मेरे ! एक दिन मेरा भी ब्याह किया गया, पर यह दुनिया झंझट है, मुसीबत है. . .।' मेरे कानों को मानो स्वर-लहरी छू रही थी, मीठी और रसीली, और मेरी आँखें द्वार की ओर एकटक लगी थीं। मैं पल-क्षण गिन रहा था, मेरा दिल धक-धक कर रहा था।

यह हाथों पर से फूलों-भरा टोकरा चढ़ाया गया। लोक-परलोक में सुरभि रच-बस गयी। फूलों की इसी राह से मैं स्वर्ग को गया—'सुन लिया मेरे बेटे ! एक दिन की· · · · · ·!' बकवास ! सब लोग बक रहे हैं। जो मैं देख पाया, किसने देखा ? किसे देखना आयगा ? और किसके भाग्य में ऐसा दृश्य हो सकता था ?

यह जन्नत ! ये रंगबिरंगे फूल और फूलों की ओट में जोड़ा अनार का। झुटपुटे की डाली पर सेब और शीतल द्राक्षलता की छाँह तले दो सरोवर—गहरे, विशाल, शीतल, कृपामय और अंबरवर्ण ! मैं करूँ तो क्या करूँ ? हुस्न (रूप) की वासंती धूप में लेट जाऊँ कि शीतल छाँह में बैठ कर चौसर खेलूँ, या कि अंगूर की डालों के पास ताल-तटों पर बैठ कर अपनी छाया देखता रहूँ. . .आदम को 'स्व' कितना प्रिय है। मानव को अपना प्रतिबिंब कितना भला लगता है ! सौंदर्य छाया को अस्तित्व प्रदान करता है और बहार सत्ता को जन्म देती है।

मैंने हर रंग में सौंदर्य देखा—हर प्रकार सुंदरता का अनुभव किया। सुंदरता के रत्नाकर से मैंने लाल जवाहर निकाले—अरे, ये तो मेरी ही सूरत के हैं ! मेरी जैसी ही इनकी खू-बू है ! यह मेरा ही वजूद (अस्तित्व) दुहरा-चौगुना हो गया है—

"प्यारे ! मैं गेंद से खेलूँ"—हुस्न की मिहर !
"प्यारे ! मैं पाठशाला जाऊँ"—हुस्न की मिहर !
"प्यारे ! मैं गगन मापूँ"—हुस्न की मिहर !
"प्यारे ! मैं गीत गाऊँ"—हुस्न की मिहर !

—क्या अभी मैं काफ़िर हूँ ? क्या अभी बेईमान हूँ ? देखते नहीं, ज्योति-जीवन से मैं कैसे तन-बदन धो कर आया और अब किस उत्साह से पुष्प-चरण चूम रहा हूँ, गुलदस्तों के बोसे ले रहा हूँ और सरो (मयूरपंख) की मतवाली चाल के गले लग रहा हूँ। आसान नहीं है सागर में पैठना और गोता लगा कर फिर रत्न निकाल लाना। इसके लिए पहले जिंदा रहना आवश्यक है। यह देखो, मैं ज़िदा हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, तरसता हूँ, पाता हूँ और बौरा जाता हूँ—हूँ न जीवित ?

अब छोड़ दे गरेबान ! मरा वही, जो मर गया। मैं कैसे मरूँ ! मैं, जो तुहारे कीच के गढ़ों में से भी देख सकता हूँ।

अनुवादक : शंभुनाथ भट्ट 'हलीम'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेचना

विद्यानिवास मिश्र

भाषा और समाज

रामविलास शर्मा की भाषाविज्ञान संबंधी कृति। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, नयी दिल्ली। सन १९६१। मूल्य : १५.००।

हिंदी के प्रखर आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने **'साहित्यकारों से मूलतः प्रेरणा'** ग्रहण कर के भाषाविज्ञान पर यह विचारोत्तेजक और चर्चनीय ग्रंथ लिखा है। न्याय की बात यह होगी कि इस ग्रंथ का विवेचन साहित्यकार की कृति के रूप में किया जाय। मैं भाषाविज्ञान का (भाषा के नाम पर कल्पनाविलास का नहीं) अध्यापक होने के कारण शायद कुछ पूर्वाग्रह रख सकता था, परंतु 'भाषा और समाज' की भावात्मक परिधि हिंदी भाषा और हिंदीभाषी जन को ही केंद्र बनाये हुए है, इसलिए हिंदी के एक पक्षधर तथा हिंदी के एक विनीत लेखक की हैसियत में ही अपने को रखूंगा और डॉ० रामविलास शर्मा की उपलब्धियों का मूल्यांकन भी उसी दृष्टि से करने का यत्न करूँगा। इतना ज़रूर पहले ही जोड़ दूं कि बहुत सी प्रचलित भ्रांतियों का खंडन जो डॉ० शर्मा ने अपने मौलिक ढंग पर या पावलोव जैसे रूसी सहधर्मियों के प्रमाण के आधार पर किया है, वह खंडन भाषाविज्ञान की नयी संघटनात्मक धारा बड़े सहज ढंग से कर चुकी है; उससे भी लाभ उठाना कुछ कुफ़ न होता।

डॉ० शर्मा ने इस ग्रंथ में मुख्य रूप से तीन मान्यतायें सामने रखी हैं : एक तो यह कि **'भाषा का अध्ययन उनकी ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और मूल शब्दभंडार को दृष्टि में रख कर करना चाहिए'**, दूसरी यह कि **'भाषा के रूप और उसकी विषयवस्तु पर उन अंतर्विरोधों का प्रभाव पड़ता है जो सामाजिक विकास के कारण होते हैं, चाहे वे उस समाज के बाहर से उद्भूत हों या उसके भीतर से'** और अंतिम यह कि **नस्ल (रक्त, रेस) और भाषा का समवाय संबध नहीं है।** पहली और दूसरी मान्यताओं में स्पष्टतः विरोध है। अगर भाषा के अध्ययन का आधार उसकी ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और मूल शब्दभंडार है तो फिर सामाजिक प्रभाव को प्रमुखता कैसे दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकती है ? लिखित साक्ष्य पर आधृत ऊहात्मक भाषाशास्त्र की जो धारा १९ वीं शती तक पश्चिम में चलती रही, उसकी कमज़ोरी तो तभी सामने आ गयी जब बोली जाने वाली भाषा के रूप को ही भाषा का जीवंत रूप माना जाने लगा। इसीलिए **फिलॉलजी** (अर्थात लेख-परीक्षा शास्त्र) के स्थान पर **लिंग्विस्टिक्स** (भाषा—बोली जाने वाली—विज्ञान) नाम की प्रतिष्ठा हुई। इस नये बोध ने भाषा को अपने आप में एक परस्पर संबद्ध और सामाजिक स्वीकृति प्राप्त व्यवहार-साधन के रूप में स्थापित किया। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का पारिवारिक वंशवृक्ष वाला हिसाब-किताब अपने आप ढह गया; संस्कृत की बेटी न तो प्राकृत है, न प्राकृत की बेटी या पोती हिंदी ही है। हाँ, संस्कृत या भाषा के लिखित साक्ष्य अवस्थांतर की प्रक्रिया को समझने के लिए सहायक हैं। संस्कृत और प्राकृत का, प्राकृत और अपभ्रंश का, अपभ्रंश और संस्कृत का, अपभ्रंश और हिंदी का, हिंदी का और संस्कृत का एक समकालीन स्तर पर व्यवहार हुआ है और आगे भी इस प्रकार का सहजीवन संभव है। संस्कृत या प्राकृत या अपभ्रंश के जो साहित्यिक रूप हमें प्राप्त हैं, वे एक जाति की भाषा की ऐतिहासिक यात्रा के मील के पत्थर हैं। वे स्वयं गति नहीं हैं, मात्र गति के मापक हैं। दूसरे शब्दों में, हर एक समुदाय भाषा की एक विरासत ले कर जब आगे बढ़ता है तब वह विरासत हर क्षण परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रती है और यह परिवर्तन भाषा के किसी एक अवयव में न हो कर उसकी समग्र रचना में होता है, भाषा की एक ईंट अलग से खिसकायी नहीं जाती, ईंटों का पूरा विन्यास ही बदल जाता है; तभी कहा जाता है, अमुक भाषा अमुक से भिन्न हो गयी है। अपनी पहली मान्यता का प्रतिपादन करते समय डॉ० शर्मा स्वयं उसी प्राचीन तुलनात्मक भाषाविज्ञान की संकुचित और साथ ही विभक्त दृष्टि के शिकार हो गये हैं जिसके विरुद्ध उनका इतना सही आक्रोश है। भाषा की ध्वनिप्रकृति, भावप्रकृति और शब्दभंडार—क्या ये तीनों चीज़ें अलग की जा सकती हैं ? जैसे किसी एक नस्ल से किसी एक भाषा का कोई सहजात संबंध नहीं हो सकता, उसी तरह किसी एक भाषा या एक भाषाभाषी जन की कोई एक स्थिर प्रकृति भी नियतभावी नहीं है। चाहे मार्क्सवाद की दुहाई दी जाय या भौतिक विज्ञानवाद की या आध्यात्मिक चिंतन की, वाक् और अर्थ अविभाज्य हैं, संपृक्त हैं, और उनमें अकेले-अकेले परिवर्तन नहीं हो सकता। भावप्रकृति ध्वनिप्रकृति के साथ-साथ बदलती है, इसका एक प्रमाण यह है कि विभक्तियों की ध्वनियों के घिसाव के साथ-साथ हिंदी में संश्लिष्टता समाप्त हो कर विश्लिष्टता आयी है और रूप की अभिव्यक्ति विभक्ति के योग से न हो कर पूरे पद के योग से होने लगी है। केवल विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से वर्ण, रूप और वाक्य एक ओर और अर्थ दूसरी ओर रखा जाता है, नहीं तो भाषा की अनुभाव्य वास्तविक इकाई उक्ति के रूप में वाक्य और ग्रहण के रूप में उसका एक अखंडार्थ है। इसीलिए जब बच्चा भाषा सीखता है तब सबसे पहला संस्कार वाक्य के काकु का होता है और काकु का संस्कार ही सबसे दृढ़ होता है। दूसरी भाषा की शब्द-रचना और वाक्य-रचना सीख कर भी प्रायः उस भाषा की काकु-रचना यदि भिन्न है तो अपनी भाषा की काकु-रचना के अनुसार ही वह दूसरी भाषा बोलेगा।

सामाजिक अंतर्विरोध या समन्वय या सतह पाने की कोशिश से अर्थ जब प्रभावित होता है तब एकांश में नहीं पूरी की पूरी भाषा की विभेदक रेखायें नयी हो जाती हैं। यहाँ तक कि उधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये हुए शब्द एक भिन्न निश्चित संदर्भ में स्थापित हो जाते हैं, पूर्ण पर्याय नहीं बन पाते। जिन संदर्भों में 'ख़ास' का व्यवहार होता है उनमें कुछ में 'विशेष' का भी व्यवहार हो सकता है, पर कुछ ऐसे संदर्भ ज़रूर होंगे जहाँ 'खास' और 'विशेष' का विनिमय नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, 'ख़ास-ख़ास जगहों' की जगह 'विशेष विशेष स्थानों' को यदि रखा जाय तो पहली उक्ति में जो आत्मीयता का बोध है, वह नहीं आ पाता। इसलिए मैं डॉ० शर्मा की पहली मान्यता में असंगति पाता हूँ।

जहाँ तक दूसरी मान्यता का प्रश्न है, उससे इस अंश तक तो प्राय: सभी की सहमति है—वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के भारतीय विद्यार्थियों की भी है, (आगरा वालों की बात निराली है)—कि सामाजिक घात-प्रतिघात भी एक कारण है भाषा के विकास में। पर वह कारण उतना मुख्य नहीं है क्योंकि यद्यपि समदाय के संकेत या समय ही में भाषा का प्रामाण्य निहित है, तथापि परिवर्तन की प्रक्रिया की शुरुआत व्यक्ति से होती है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ भिन्न रूप में भाषा को ग्रहण करता है और इसीलिए बोलते समय वह कुछ न कुछ भेद कर ही देता है। पर एक परिधि के भीतर ये भेद ऐसे मालूम होते हैं जैसे कोई ख़ास बात न हुई हो। पारिभाषिक शब्दावली में ये भेद सार्थकता नहीं रखते। उस परिधि के बाहर जाते ही (यह बात भौगोलिक सीमा के कारण हो सकती है, ऐतिहासिक सीमा के कारण भी हो सकती है, सामाजिक सीमा के कारण भी हो सकती है) भेद की प्रतीति होने लगती है; तब हम कहते हैं कि दो भाषाएँ हो गयीं। अगर एक भाषा और दूसरी भाषा में भेद की प्रतीति के बावजूद काफ़ी हद तक संप्रेषणीयता और व्यवहारसाम्य है और दोनों एक तीसरी अपेक्षाकृत अधिक परिधि वाली भाषा से जुड़ी हुई हैं तो पहली दोनों उस तीसरी की बोलियाँ भी कही जा सकती हैं। वैसे, भाषा और बोली का भेद बड़ा ही अवस्तुपरक है। राजतंत्र में या प्राचीन भारत की जैसी बौद्धिक प्रभुत्व वाली व्यवस्था में व्यक्ति या विशिष्ट व्यक्तियों का भाषा के विकास में योगदान होना तो स्वाभाविक था ही, जनतंत्र में भी, जहाँ व्यक्ति के सम्मान की सुरक्षा है, भाषा के परिवर्तन का प्रवर्तक व्यक्ति है; समुदाय परिवर्तन को मर्यादित करने वाला यंत्र है। समुदाय परिवर्तन की तीव्रता और एकोन्मुखता पर नियंत्रण रखता है, परिवर्तन की प्रक्रिया को एकदम रोक नहीं सकता। स्तालिन और कोस्मिस्की के सामाजिक विकास वाले जिस सिद्धांत को भाषा के क्षेत्र में डॉ० शर्मा ने लागू किया है, वह सिद्धांत स्वयं तर्कशुद्ध नहीं है। आदिम क़बीलों से लघु जातियाँ और लघु जातियों से महाजाति उद्भूत हुई यह बात कम से कम भारत के इतिहास पर घटित नहीं है। भारत में सामंतवादी संगठन क़बीलों के बाद नहीं, महाजाति के बाद है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ग-संघर्ष नहीं, व्यक्ति और समाज के बीच सामरस्य स्थापित करने का यत्न है। संघर्ष एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच नहीं था, संघर्ष यदि था तो व्यक्ति और समाज के बीच। इसीलिए चार ऋणों की व्यवस्था कर के व्यक्ति को समाजपरायण और समाज को संन्यासी व्यक्ति के प्रति प्रणत बनाया गया; इसीलिए समाजवाद या समाजनिरपेक्ष आंदोलन, जो व्यक्ति और समाज के बीच एक दरार डालते थे, निरंतर विफल हुए। जिन लोगों ने वेद का अप्रामाण्य स्वीकार करते हुए नयी 'सका निरुत्ति' (स्वका भाषा) या नयी आर्ष भाषा (अर्ध मागधी) की पवित्रता पर बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया, उन्हीं लोगों ने सामंजस्य की व्यापक धारा के बहाव में विवश हो कर अपने धर्म को बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य बनाने के लिए संस्कृत भाषा का आश्रय लिया। जो नहीं ले सके, वे ही अनुदार बने, हीनयानी कहलाये। पाश्चात्य नृतत्व और समाजशास्त्र के पंडितों ने ग्राम्य संस्कृति की नागर संस्कृति में परिणति का सादृश्य ढूँढ़ कर लघु समुदाय और महान समुदाय का जो भेद भारत में भी आरोपित करना चाहा है, वह ठीक नहीं है। भारत की सांस्कृतिक स्थापना नागर संस्कृति को देख-सुन कर तिरस्कृत करने वाली ग्राम्य संस्कृति की नींव पर हुई है। इसलिए भारत के सामाजिक इतिहास की प्रक्रिया भी एक ही डंडे से हाँकी जाय, यह उचित नहीं है। डॉ० शर्मा की समाजशास्त्रीय स्थापनाएँ (जो उनकी अपनी नहीं हैं) रोचक हैं, उनका प्रयोग और अधिक रोचक है, पर उनका निष्कर्ष ग्राह्य नहीं हो सकता।

मैं उनकी मान्यताओं से असहमति रखते हुए इतना बलपूर्वक कहूँगा कि डॉ० शर्मा ने साहसपूर्वक उन लचर तर्कों का खंडन किया है, जो भारत के द्वारा एकजातीय भाषा स्वीकार न किये जाने के पक्ष में दिये जाते हैं, या जो भारत को भाषावार खंडों में विभक्त करते हैं। भाषाओं की पारिवारिक एकता या एकरक्तीय एकता के सत्याभास का खंडन शक्तिशाली ढंग से किया गया है। वस्तुतः पारिवारिक एकता की बात विशुद्ध वैदुषिक स्तर पर करनी चाहिए। व्यावहारिक स्तर पर यह कहना कि ब्राहुई (बिलोचिस्तान के एक हिस्से में बोली जाने वाली भाषा) द्रविड़ परिवार की है इसलिए ब्राहुईभाषी तमिलभाषियों के समीप होंगे, विशुद्ध गजनिमीलिका है। उसी तरह, रक्त के आधार पर आर्य, द्रविड़, कोल और किरात परिवार, ये नाम भी भ्रामक हैं। विश्व में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ ये मध्ययुगीन अस्थि-अवशेष धारणाएँ मेल नहीं रखतीं। वस्तुतः जैसा कि अमरीका के एक विश्रुत पंडित प्रो० एमेन्यू ने प्रतिपादित किया है, भाषा-परिवार की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक और अनुभाव्य संबंध की इकाई है भाषा-क्षेत्र, और उन्होंने यह सुझाया है कि भारत एक भाषा-क्षेत्र है जिसमें बोली जाने वाली भाषाएँ संगठन की अभिव्यक्ति और अर्थवत्ता दोनों ही स्तरों पर व्यापक समानताएँ रखती हैं और निरंतर एक दूसरे को प्रभावित कर रही हैं। यही कारण है कि विभिन्नता रखते हुए भी तमिलभाषी हिंदीभाषी तक जितनी आसानी से अपनी बात पहुँचा सकते हैं, उतनी आसानी से फ्रेंचभाषी जर्मनभाषी तक नहीं पहुँचा सकते, रूसी यूगोस्लाव तक नहीं पहुँचा सकते। इस समय स्थिति यह है कि वाक्य-संघटना, स्वरध्वनि-संघटना, मुहावरों की रचना तथा अर्थच्छटा में समस्त आधुनिक भारतीय भाषाएँ एक तार पर बज जाती हैं।

हिंदी जितनी तेलुगु के समीप है उतनी संस्कृत के नहीं। वस्तुतः संस्कृत नहीं, संस्कृत में निहित बौद्धिक संपदा योजक सूत्र है। देश के स्वतंत्र बौद्धिक विकास में उस संपदा का उपयोग होना स्वाभाविक है। उस संपदा का वाहन जितनी संस्कृत है, उतनी ही ब्रज, अवधी, मराठी, बँगला, तेलुगु, तमिल और पालि-प्राकृत भी हैं। हमारी चिंतन-प्रक्रिया में इसीलिए सूक्ष्म रूप से एकजातीय स्रोत का प्रवाह है। हिंदी उस प्रवाह की केंद्रीभूत शक्ति है; न किसी से छोटी, न किसी से बड़ी। यह उसका भौगोलिक और ऐतिहासिक दाय है। डॉ० शर्मा ने हिंदी-उर्दू विवाद की निस्सारता सही तरीक़े से परखी है और भारतेंदु-युग की सहज भाषानीति का महत्व भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक-ठीक समझा है। जो लोग साहित्यिक हिंदी के ऊपर संस्कृतनिष्ठता का आरोप करते हैं, वे भूल जाते हैं कि विद्यापति से ले कर भारतेंदु तक प्रत्येक हिंदी कवि ने 'भदेस की भनिति' में सौंदर्य की बारीक़ी पहचानी थी, पर विचार की समृद्धि उन्हें विवश करती थी कि नये सिरे से प्राचीन स्रोत से शब्द लें, उन्हें अपने 'देसिल बैना' के साँचे में ढालें। तभी तो **'पुनीत'** जैसे शब्द आ गये और **'परम पुनीत'** बन गये। यह संस्कृत के प्रति निष्ठा नहीं है, यह है अपनी भाषा की समृद्धि के प्रति निष्ठा। आज जो लोग **'जाने'** के बजाय **'गमन'** कर के अपनी संस्कृत निष्ठा का इज़हार करते हैं, वे 'शिवद्रोही मम दास कहावा' की तरह संस्कृत के भी उतने ही दुश्मन हैं, जितने हिंदी के। भारतेंदु से ले कर राहुल सांकृत्यायन की हिंदी-निष्ठा संस्कृताश्रित न हो कर संस्कृतानुरागिणी है। हिंदी की स्वतंत्र सत्ता के प्रति निष्ठा जाग्रत करने में 'भाषा और समाज' सफल है। यह दूसरी बात है कि 'हिंदी शब्दानुशासन' की दुहाई देते-देते, हिंदी के मौलिक व्याकरण का दावा करते हुए भी, डॉ० शर्मा भी संस्कृत व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों के जाल में फँस जाते हैं, क्योंकि तुलनात्मक पूर्वाग्रह से वे मुक्त नहीं हो सके हैं। हिंदी व्याकरण में कर्ता, कर्म, करण आदि की बात उठानी उतनी संगत नहीं, जितनी क्रिया रचना से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो प्रकार के संबंध रखने वाली क्रियेतर रचना की बात संगत है। उदाहरण के लिए, **मैं** देखता हूँ, **पहाड़** दिखता है, मैंने **रोटी** खायी, इन तीन वाक्यों में **मैं, पहाड़** और **रोटी** क्रिया रचना से प्रत्यक्ष संबद्ध हैं, जब कि **मुझे** जाना है, **मुझसे** न होगा, **मैंने** खाया, में **मुझे, मुझसे** और **मैंने** क्रिया रचना से प्रत्यक्ष संबद्ध नहीं हैं, इसीलिए लिंग वचन में वे क्रिया से समनुहार नहीं रखते। इसी प्रकार सकर्मक और अकर्मक भेद न कर के **ने—क्रिया** और **ग़ैर-ने क्रिया** इस प्रकार भेद करना चाहिए। **'लाया'** क्रिया सकर्मक हो कर भी **'ने'** नहीं लेती। पर डॉ० शर्मा संघनात्मक भाषाविज्ञान से जाने क्यों घबराते हैं। इसी घबराहट के कारण उन्होंने अधुनातन प्रवृत्तियों का (जो रूस और अमरीका दोनों जगह एक सी अमूर्त्तोंमुख हैं) लाभ नहीं उठाया और उन्हें निरस्त सिद्धांतों का (हिंदी की सस्ती पाठ्यपुस्तकों में उन्हें स्थान मिला हुआ है, यह दूसरी बात है। यह तो पाहन पूजा का परिणाम है) व्यर्थ खंडन करने का श्रम उठाना पड़ा है।

कदाचित खंडन के उत्साह के अतिरेक ने ही डॉ० शर्मा की सचेत दृष्टि पर भी यह पर्दा डाल दिया कि वे यह नहीं देख सके कि भारोपीय भाषा की कल्पना की बात करते समय किसी वास्तविक भाषा के अस्तित्व की बात आज कोई समझदार आदमी नहीं करता। प्रत्येक भाषा में उसके भीतर ही प्राक् रूप के आकलन के लिए आधार मौजूद है, उसी का विस्तार कर के एक से अधिक व्यवस्थित रूप से संबद्ध भाषाओं के प्राक् रूप की वास्तविकता का नहीं, बल्कि उसकी संघटना के सीमांतों का आकलन किया जाता है। उदाहरण के लिए, प्राक् भारोपीय भाषा में **क्** की तीन श्रेणियों या दो श्रेणियों की बात करते समय जिन **क्, क्य्, क्व्,** विभेदकों को स्थापित किया जाता है, वे क्या थे यह पता नहीं, पर उनमें दो-दो विभेदक-राशियों का सम्मिश्रण था, जिसके कारण एक से तालव्य, दूसरे से ओष्ठ्य भेद होने की संभावना निहित थी। संघटना में परिवर्तन एक ध्वनि में नहीं होता और परिवर्तन इसीलिए नयी संघटना को जन्म देता है। **र। ल** का भेद **र** के एकीकरण में आ कर पुनः **र। ल़** की अभिन्नता में परिणत हो सकता है, और यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिकोत्तर भाषा में हुआ है, और यह अभिन्नता पुनः भिन्नता में परिणत हो सकती है। यह भी ज़रूरी नहीं कि परिवर्तन की वही प्रक्रिया सदियों तक चले; वह प्रक्रिया रुक सकती है, वह प्रक्रिया विपरीत दिशा में मुड़ भी सकती है। एक संघटना को दूसरी संघटना काटती है और नयी संघटना जन्म लेती है। हिंदी में **ड़** ध्वनि दो स्वरों के बीच में या अक्षरांत में आती थी, शेष स्थितियों में **ड** आती थी। रेडियो जैसे अंग्रेज़ी शब्दों के आने पर अब **ड । ड़** दोनों दो स्वरों के बीच आते हैं और वे अब पूर्ण विसदृश ध्वनियाँ हैं। डॉ० शर्मा ने भारोपीय भाषाओं को असंबद्ध स्थापित करने के लिए या प्रा० भा० आर्यभाषा, मध्य भा० आर्यभाषा और आधुनिक भा० आर्यभाषा की मंज़िलों को व्यर्थ सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं, वे अधिकतर तर्काभास हैं। मूल शब्दभंडार की बात करते समय वे चीनी, सुमेरियन और अरबी से दूराकृष्ट समीकरण स्थापित कर सकते हैं, पर प्रत्येक अपवाद ध्यान रखने वाले सुस्थापित भारोपीय समीकरण उन्हें ग्राह्य नहीं हैं।

वे जब धातु से धातु का उद्‌भव दिखलाना चाहते हैं तब भूल जाते हैं कि धातु भाषा की चीज़ वस्तु नहीं, भाषा के विश्लेषण की एक काल्पनिक इकाई है; वह एक मानसिक सत्ता है। भाषा बोलने वाला सिर्फ़ उसका आभास पाता है। **मैं सोता हूँ, मैं सोया, सोना हराम हो गया है** में एक इकाई की समानता का उसे आभास है, भाषाविद उसमें से चाहे **'सो'** इकाई कल्पित करे चाहे **'सोय'**, बोलने वाले को इससे कोई प्रयोजन नहीं। वस्तुतः पालि क्रिया की पूरी रचना से नयी धातु की इकाई बनती है, संस्कृत की इकाई से पालि की इकाई नहीं निकलती। **सुनना 'श्रु'** से नहीं निकला, **श्रृणोति** से **सुणोति, सुणेइ** आये और तब **'सुनइ'** आया और तब **'सुनना'** निकाला गया। इसी प्रकार कृदंत प्रत्यय भी निरपेक्ष रूप में नहीं आये; वे पूरी संघटना के अंग हो कर आये। **गत** का **गया** हुआ, पर **गता** का **गयी** जो हुआ वह इसलिए कि लिंग की संघटना संस्कृत से हिंदी में भिन्न थी। डॉ० शर्मा इस हद तक तो बिल्कुल सही दृष्टि रखते हैं कि **'संस्कृत को परिनिष्ठित भाषा बनाया गया था, उसकी समानांतर जनपदीय भाषाओं के बीच में, न कि प्राकृतों से भिन्नता दिखाने के लिए उसके संस्कार किये गये थे'** पर जहाँ वे यह कहते हैं कि **'धन, जन, वन जैसे तत्सम रूपों को हम सदा संस्कृत से आया नहीं मान सकते, उसी प्रकार तद्‌भव रूप भी इस सामान्य संपत्ति से बड़े होंगे, यह अनुमान तर्कसंगत है'**, वे अपने ही प्रवाहवाद का खंडन करने लगते हैं। **कमल । कँवल, गाभिन । गर्भिणी** जैसे युग्म शुरू से ही युग्म नहीं रहे होंगे, ये दो विभिन्न कालिक संघटनाओं के संश्लेष को सूचित करते हैं। प्राचीन भाषा की सांस्कृतिक संपदा बार-बार नये अर्थ देने जब आती है तब नये शब्द भी देती है, उन शब्दों से नये शब्द बनाने की प्रेरणा भी देती है। 'प्रतिनिधि' किस मूल संपदा का शब्द है जो आज सर्वत्र गृहीत हो गया। लगता है डॉ० शर्मा कुछ ज़्यादा मात्रा में साहित्यिक हो गये हैं।

इसी प्रकार डॉ० उदयनारायण तिवारी के इस मत के खंडन में कि भोजपुरी संघटना में पश्चिमी हिंदी की अपेक्षा बँगला के समीप है, डॉ० शर्मा ने भावुकता का ही अधिक परिचय दिया है। शुद्ध व्यवहार के स्तर पर तो बात यह है कि पंजाब से ले कर बिहार तक प्रायः औसत व्यक्ति दो भाषाएँ बोलता है, एक हिंदी और दूसरी अपनी स्थानीय भाषा—जिसे बोली कहिए मुझे कोई आपत्ति नहीं—पर वह भाषाभाषी के माध्यम से संबद्ध होते हुए अपनी संघटना में स्वतंत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मान लेने पर भोजपुरी बँगला के समीप हो, इससे हिंदी की क्षति नहीं होती है, हिंदी की समृद्धि का विस्तार होता है। समीप होने का अर्थ परस्पर संप्रेषणीयता नहीं है। हिंदी क्षेत्र की बोली भोजपुरी है, पर खड़ी बोली की वह बोली नहीं। स्वयं खड़ी बोली हिंदी क्षेत्र की बोली है, हिंदी नहीं है। डॉ० तिवारी हिंदी की व्यापक सत्ता को खड़ी बोली, ब्रज और अवधी की सत्ता से पृथक कर के देखते हैं। भोजपुरी को वे बँगला के समीप दिखलाते हैं, इसलिए कि संघटना की दृष्टि से दोनों एक हद तक समान विकासक्रम को द्योतित करती हैं। और डॉ० तिवारी यह भी समझते हैं कि बँगला अब भोजपुरी को प्रभावित करे, इसकी संभावना नहीं है। संभावना क्या वास्तविकता भी यही है कि हिंदी भोजपुरी को प्रभावित करे और भोजपुरी हिंदी को प्रभावित करे। कालांतर में जो भाषा संघटित हो, उसे हम आज की बँगला से एकदम अछूती कह सकें, पर तब भी इस नयी भाषा का इतिहास रचते समय बँगला से मध्ययुग में संबद्ध होने की बात उपेक्षित नहीं कर सकते।

मैं डॉ० शर्मा के उदाहरणों के विश्लेषण के ब्योरे में नहीं पड़ना चाहता, क्योंकि वह भाषाविज्ञान के अध्यापक की बात होगी, पर भाषा के सामाजिक समीक्षक की हैसियत से विचार करते समय मुझे लगा कि उनके ग्रंथ में जहाँ उत्साह के साथ मत को रखने का खुलापन है, वहाँ दूसरों के मत को न समझने की संकीर्णता भी है और उनके तर्क जितने विस्तृत हैं, उतने पैने और परिच्छिन्न नहीं। डॉ० शर्मा ने परिनिष्ठित भाषा के प्रश्न पर जो विचार किये हैं, वे अवश्य सुलझे हुए विचार हैं। उनमें न तो ग्रंथिलता है, न उनके समानधर्माओं का मताग्रह ही। अधिक अच्छा होता कि इस ग्रंथ को उन्होंने इस समस्या तक केंद्रित रखा होता और इसका नाम भी रखा होता—हिंदी भाषा और हिंदीभाषी समाज। तब उनके साहित्यिक संस्कारों का भी अच्छा उपयोग हुआ होता और वे व्यर्थ के बाहरी विवादों से बच भी गये होते। अंत में मैं डॉ० शर्मा को उनके इस ग्रंथ के लिए साधुवाद देता हूँ कि उन्होंने भाषा संबंधी हमारे जड़ीयमान चिंतन को एक गति दी है और भाषा के बारे में बौद्धिक सचेतपन लाने का सफल प्रयास किया है।

संस्कृत-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विवेचना' में 'भाषा और समाज'

पिछली १६ जुलाई को सायंकाल एनीबेसेंट मेमोरियल हॉल में 'विवेचना' गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें डा० रामविलास शर्मा के 'भाषा और समाज' नामक ग्रंथ पर विचार-विमर्श किया गया। विवेचनात्मक निबंध श्री विद्यानिवास मिश्र ने प्रस्तुत किया और गोष्ठी की अध्यक्षता की डा० हरदेव बाहरी ने।

निबंध-पाठ के बाद हुए विचार-विमर्श में प्रमुख रूप से सर्वश्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, उपेंद्रनाथ अश्क तथा वेदप्रकाश ने भाग लिया।

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि पुस्तक में सामाजिक विकास वाली बात ठीक ही कही गयी है। प्रश्न उठता है कि हिंदी का रूप क्या है, अर्थात हिंदी आज क्या है? डा० ग्रियर्सन और डा० उदयनारायण तिवारी दोनों का मत है कि भोजपुरी एक स्वतंत्र बोली है। पूर्वी हिंदी का पश्चिमी हिंदी से कोई संबंध व्याकरण की दृष्टि से नहीं है। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग में शर्मा जी का चिंतन बहुत संतुलित और स्पष्ट है। सामाजिक विकास के अतिरिक्त उन्होंने हिंदी-उर्दू, भोजपुरी आदि से संबद्ध कुछ बातें भी कही हैं, जिनसे हिंदी का वास्तविक स्वरूप समझने में सहायता मिल सकती है। पर यदि इस समस्या को काव्य-भाषा की दृष्टि से भी देखा गया होता तो विवेचन में और स्पष्टता आ सकती थी। यों भाषा के विकास और प्रसार के संबंध में उनका जातीयता संबंधी अध्ययन प्रचलित भ्रमों का कुछ दूर तक निराकरण करता है। संघटनात्मक तत्व पर बल देने से भाषा की समस्या सुलझ नहीं सकती। उर्दू और हिंदी दोनों का साहित्य अलग-अलग है; बोलचाल के स्तर पर उनका रूप भले ही एक हो। आज तक हिंदी साहित्य के इतिहास में इसीलिए मीर और ग़ालिब को नहीं रखा गया। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि निबंध में मिश्र जी ने भाषा और बोली के विभाजन में बोधगम्यता के तत्व पर अधिक बल दिया है। लेकिन यदि इनके आधार पर भाषाओं का विवेचन किया जाय तो स्वयं ग्रियर्सन के अनुसार बँगला, असमिया, उड़िया आदि भाषाओं का अलग-अलग विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि हम बोधगम्यता अथवा संप्रेषणीयता को मूल आधार मान लें तो बँगला, असमिया, उड़िया की समस्या उपस्थित हो जायगी। तीनों भाषाओं की तीन जातियाँ हैं; तीनों का अपना साहित्य है। यहाँ विभाजन में स्पष्ट ही संप्रेषणीयता को आधार नहीं माना जा सकता।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि मैंने पुस्तक को बहुत ध्यान से पढ़ा है। शब्द-भंडार वाली बात पर सब जगह बल दिया गया है। ध्वनि, शब्द आदि भाषा के विभिन्न रूपों पर विचार किया गया है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में संघटनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रयोग गत बीस वर्षों से किया जाने लगा है। किंतु शब्द-भंडार भाषा का उतना आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग नहीं है। यदि भाषा के संबंध की बात की जाय तो निश्चय ही ग़लत अर्थ निकाले जायँगे। भाषा का पारिवारिक संबंध अखंड काल तक के लिए नहीं होता। उदाहरण के लिए, उर्दू और हिंदी दोनों अलग-अलग भाषाएँ न मानी जा कर वे एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानी जाती हैं। संप्रेषणीयता की दृष्टि से वे एक दूसरे के लिए कठिन भी नहीं हैं। कालांतर में वे एक दूसरे में परिनिष्ठित हो जायँगी।

श्री वेदप्रकाश ने प्रश्न किया कि यदि हिंदी और उर्दू दोनों अलग-अलग भाषाएँ न हो कर एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं तो फिर उर्दू के कवियों को हिंदी का कवि क्यों नहीं समझा जाता। संघटनात्मक तत्व के आधार पर यह समस्या नहीं सुलझ सकती। यदि उर्दू के संबंध में निहित स्वार्थ वाली बात कही जाती है तो आज यही बात हिंदी के लिए भी लागू हो सकती है।

श्री उपेंद्रनाथ अश्क ने कहा कि उर्दू के शायर हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में नहीं आये यह बात तो ठीक है किंतु जहाँ तक जनता की भाषा का सवाल है, इसका निर्धारण राजनीतिक कारणों से होता है। इसे सरकार निर्धारित करती है।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने इस संबंध में अपना निजी मत व्यक्त करते हुए कहा कि सामाजिक चिंतन और शब्द-भंडार का संबंध प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष है। हिंदी की विभिन्न बोलियों को न ले कर उसके व्यापक रूप को लीजिए। प्रत्येक व्यक्ति दो बोलियाँ बोलता है—एक उसकी अपनी क्षेत्रीय बोली और दूसरी व्यापक स्तर पर बोली जाने वाली हिंदी। आज साधारण जन तक भाषा का प्रयोग बढ़ गया है और दो भाषाओं की यह स्थिति अब धीरे-धीरे घटती जा रही है। व्यापक स्तर पर हिंदीभाषी होने के कारण भोजपुरीभाषी व्यक्ति हिंदीभाषी है। हिंदी का क्षेत्र व्यापक है। भोजपुरी उससे बाहर नहीं है बल्कि यह स्वाभाविक है कि भोजपुरी उसमें मिल जाय। यह धारणा आज डा० उदयनारायण तिवारी की भी है।

उन्होंने यह भी कहा कि समाज के उन्नति की मूल जड़ गाँवों में थी। गाँव की माटी से ही शहरों का निर्माण हुआ। एक प्रकार की विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था कुछ लोगों पर लागू हो सकती है किंतु यह जरूरी नहीं कि वह सब जगह और सदैव लागू हो।

उर्दू और हिंदी के प्रश्न पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि साहित्य में स्वीकृति का आधार भिन्न होता है। तुलसी को हिंदी का कवि माना जाता है, मीर और ग़ालिब आदि को नहीं। उर्दू एक सीमित वर्ग के लोगों की भाषा के रूप में मान्य हुई। डा० शर्मा ने इस संबंध में सही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। निहित स्वार्थों के कारण तथा सीमित वर्ग के लोगों की भाषा होने के कारण ही स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उर्दू के प्रति आक्रोश और विद्रोह होना स्वाभाविक था। ठीक इसी रूप में अंग्रेज़ी के प्रति भारतेंदु जी का विद्रोह था। हिंदी का प्रयोग आज ग्राम पंचायतों की कार्यवाइयों में होता है। व्यापक स्तर पर लोग हिंदी ही बोलते हैं। एक प्रदेश का रहने वाला दूसरे प्रदेश के रहने वाले के साथ हिंदी के माध्यम से ही बातचीत करता है। इस प्रकार व्यापक और सर्वग्राही स्तर पर जो भाषा स्वीकृत होती है उसे हम निहित स्वार्थों की भाषा नहीं कह सकते। यह बात आज हिंदी के लिए लागू होती है। इस समय हिंदी-उर्दू दोनों चल रही हैं और दोनों ही चलेंगी, किंतु कालांतर में दोनों का एक परिनिष्ठित रूप बन जायगा। व्यापक स्तर पर व्यापक रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोली जाने वाली हिंदी ही है और यही व्यापक रूप हिंदी का रूप है। सरकार द्वारा बनायी गयी हिंदी कोई हिंदी नहीं है। भोजपुरी बोलने वाला भी हिंदी पढ़ता है और बाहर किसी ब्रजभाषी के साथ वह भोजपुरी में न बोल कर व्यापक रूप में बोली जाने वाली हिंदी में बात करता है। और यही है व्यापक हिंदी का रूप।

डा० रघुवंश ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि परंपरित भाषाशास्त्र से बहुत सी समस्याओं का हल नहीं होता। यदि ऐतिहासिक और संघटनात्मक भाषा-विज्ञान की पद्धतियों का उपयोग करके विवेचन किया जाय तो इससे संपूर्ण देश की भाषा समस्या को हल करने में सुगमता हो सकती है। हमें ऐतिहासिक-सामाजिक क्रम को भी स्वीकार करना चाहिए।

श्री विद्यानिवास मिश्र ने कहा कि भाषा पर सामाजिक प्रभाव को मैं स्वीकार करता हूँ, किंतु भाषा पर समाज का प्रभाव मुख्य कारण नहीं है, बल्कि यह परोक्ष कारण है। यह परिवर्तन सदैव अप्रत्यक्ष रूप में होता है। लोक ही भाषा का प्रमाण है। आज भी यही प्रमाण है--जनता की भाषा व्यापक स्तर पर क्या है इसे मानना ही पड़ेगा।

अंत में अध्यक्ष पद से बोलते हुए डा० बाहरी ने कहा कि डा० शर्मा की यह पुस्तक अपनी पद्धति के विवेचन में हिंदी के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। समाज और संघटनात्मक भाषा-विज्ञान में कोई ऐतिहासिक संबंध निकल सके, यह संभव नहीं है। शब्दतत्व, भाषातत्व और समाजतत्व सब अलग-अलग होते हैं। ध्वनि के विश्लेषण में उन्होंने कोई मान्यता नहीं स्वीकृत की है। डा० शर्मा ने शब्दों पर अधिक बल दिया है। मैं समझता हूँ कि उनके कुछ पूर्वाग्रह हैं। उन्होंने जानबूझ कर अपने पक्ष के समर्थन में सहायक होने वाले उदाहरणों को ही चुना है।

उन्होंने यह भी कहा कि यदि डा० शर्मा की इस पुस्तक का अनुवाद कुछ समय पूर्व अंग्रेज़ी में हो गया होता तो जवाहरलाल जी की आँखें खुल जातीं। लेखक ने बहुत ही सुंदर और युक्तिसंगत ढंग से यह निर्धारित किया है कि हिंदी ही आज इस देश की आवश्यकता है; हिंदी ही इस देश की भाषा हो सकती है, अंग्रेज़ी नहीं। विद्यानिवास जी ने भी यह बात ठीक ही कही है, इसकी आलोचना नहीं की जा सकती। लेखक के प्रति समीक्षक की सहानुभूति होनी चाहिए। भाषा के लिए प्रेषणीयता और बोधगम्यता एकमात्र कसौटी नहीं है। जहाँ तक हिंदी और उर्दू का प्रश्न है उसके बारे में अश्क जी ने ठीक ही कहा है कि यह सब उलटफेर राजनीतिक कारणों से होता है। हिंदी को पूर्वी-हिंदी और पश्चिमी-हिंदी के रूप में विभाजित करना साम्राज्यवादी दृष्टिकोण है। इस पर स्वतंत्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है, और डा० शर्मा की यह पुस्तक इसके लिए प्रेरित करती है।

--विवेचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षाएँ

•

नरेश मेहता की
दो नयी काव्य कृतियाँ :

संशय की एक रात
बोलने दो चीड़ को

हिंदी ग्रंथ रत्नाकर प्रा० लि०, बंबई। १९६२; १९६१। मूल्य ५·००; ३·००।

नरेश मेहता हिंदी की नयी कविता के समर्थ एवं प्रतिष्ठित कवि हैं। आधुनिक हिंदी कविता में सर्वथा विलग हो कर काव्य के नवीन मूल्यों की स्थापना एवं सहजाभिव्यक्ति के माध्यम से कुछ अचीन्हे क्षितिज को यदि नयी कविता के बीच लाने का श्रेय किसी को दिया जायगा तो उनमें नरेश मेहता का स्थान सर्वोपरि माना जायगा। नरेश मेहता की कविता का संस्कार पुरातन है जो परंपरित काव्य के वैभव का पुष्ट रसपान कर नवीनता के परिप्रेक्ष्य में नव्य काव्य-चेतना को जन्म देता है। उनकी नयी कविता शायद इसी कारण नयी कविता के 'लेबिल' की कविता से उतना साम्य नहीं स्थापित कर पाती जितना अपेक्षित है। फल यह हुआ है कि नयी कविता के बीच नरेश मेहता की कविता श्वेत स्फटिक-शिला-सी दृढ़ एवं पारदर्शी हो कर अपने व्यक्तित्व का विलग हो कर प्रतिष्ठापन करने में समर्थ हुई है। 'समय देवता' जैसी एक कविता लिख कर ही काव्य की पुष्कल उपलब्धियों का जो भंडार नरेश मेहता ने हिंदी की आधुनिक कविता को दिया है, उसी के आधार पर उनको भुलाया नहीं जा सकता है। पिछले दिनों 'कृति' के प्रकाशन के बंद हो जाने के बाद उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में दिखायी नहीं पड़ रही थीं। पर अभी हाल में तीन कविता संग्रहों का प्रकाशन जैसे इस बात को प्रमाणित करता है कि कवि सृजनावस्था के बीच ही मौन धारण कर चुप बैठा था। यहाँ मैं इनकी दो विशिष्ट काव्य कृतियों पर ही मंतव्य निर्धारण करने का प्रयत्न करूँगा।

आलोच्य कविता पुस्तकों में प्रथमतः 'संशय की एक रात' को ही देखना चाहिए। इसके पूर्व कि 'संशय की एक रात' की समीक्षा प्रस्तुत की जाय, यह बात भी जान लेने की है कि आधुनिक नयी कविता में इन दिनों प्रबंधत्व की ओर रुझान ज्यादा देखने में आ रहा है। भारती की 'कनुप्रिया', दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विषपायी' जहाँ प्रकाशित हो कर आ गयी हैं, वहाँ कुँवर नारायण एवं डॉ० देवराज की कुछ काव्य-कृतियाँ भी शीघ्र प्रकाश्य हैं, जो नयी कविता के प्रबंधत्व की मर्यादा का निर्धारण करने में समर्थ होंगी। आधुनिक युगबोध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या—मानव-जीवन के विकास के लिए युद्ध की अनिवार्यता है या नहीं—एक शाश्वत प्रश्न हो कर नयी कविता के अनेक काव्य-ग्रंथों में उभरी है। लँगड़ी संस्कृति और कृत्रिम सभ्यता के वैषम्य को वाणी देने का प्रयास धर्मवीर भारती, दुष्यंत कुमार, डॉ० देवराज, सभी में समान दिखायी पड़ता है। शायद यही कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है कि नयी कविता के अधिकांश प्रतीक एवं काल-बिंब महाभारतकालीन हैं, क्योंकि आधुनिक युग की संत्रस्तता की पृष्ठभूमि भी महाभारत युग से साम्य स्थापित करती दिखायी पड़ती है। नरेश मेहता की 'संशय की एक रात', इसी परंपरा में, विषम जीवन की संत्रस्त मनःस्थिति का परिचायक काव्य है जो राम के जीवन से संबंधित है। निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' के बाद उसी कथा के साम्य को प्राप्त करते हुए नयी कविता की भाषा में राम के सहज मानव-मन की प्रतिक्रियाओं का निदर्शन करने वाला यह काव्य हिंदी कविता की एक महत्तम उपलब्धि है, इसमें संदेह नहीं।

रामेश्वरम में सेतु-बंधन के समय जब युद्ध की संपूर्ण तैयारी हो गयी है, राम के मन में एक अनिश्चय और तर्क का तूफ़ान उठ खड़ा होता है। वे सोचते हैं : जिसमें भविष्यत युद्ध की पृष्ठभूमि का प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है, वह क्या अपेक्षित है, वांछनीय है? तभी उनको स्वयं अपनी जीवन-यात्रा की समस्याएँ याद आती हैं, जिनसे हो कर वे गुज़रे हैं और भटक भी गये हैं :

वहाँ उस साँझ तारे को नहीं
मुझको विलोको।
पश्चात्ताप में
इस झुके मेरे माथ को
नील फूलों की
शुभाशंसा प्रदत्तो।
मेरी यात्रा
छोटे शंख सी
यहीं बालू में कहीं गिर
खो गयी है।

निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' में राम की मानवोचित दुर्बलताएँ प्रथम बार प्रकट हुई हैं, जिसमें एक तरलता है, विषम घोर मानव-मन की यत्रणा का मृदुल उच्छ्वास दिखलायी पड़ता है। नरेश मेहता-कृत 'संशय की एक रात' के राम में शंकाओं एवं उच्छ्वासों का वह समन्वित धुँध है जो राम के मन में मोहाकुल परिवेश की रचना करता है; जिसमें उनका मन सत्य-असत्य के बीच सेतुबंध करने में असमर्थ दिखायी पड़ता है। पुरुषोत्तम राम के मन की यह विकल्पना जो संशय की एक संध्या में प्रकट होती है और रात भर राम एवं उनके परिवेश को तापित करती है, उनके मानव-मन के संचारी भावों की प्रक्रिया का ही यात्रा-चिन्ह है। राम के मन का यह प्रश्न :

इतिहास के हाथों
बाण बनने से अधिक अच्छा है
स्वयं हम
अँधेरों में यात्रा करते हुए
खो जायें।

आज की संपूर्ण मानव-पीढ़ी के मन की शंका ही राम के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। आज की मानवता के समक्ष द्वंद्व एवं अनिश्चित लक्ष्य का जो संक्रमण उपस्थित है, उसका यह बड़ा ही मार्मिक चित्र स्थापित करता है। राम की अनिश्चित मनःस्थिति के बीच लक्ष्मण का चरित्र अटूट एवं संपृक्त लगता है—कारण वे प्रभु न हो कर सेवक हैं। प्रभु का दायित्व ही राम को बाधित कर रहा है—पर लक्ष्मण में जो है वह मात्र भाव-निष्पेषण ही है, अतः जैसे राम के आँसू को देख कर 'राम की शक्ति-पूजा' के हनुमान सीता को मुक्त करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट-स्वरूप हो जाते हैं, वैसे ही, ओज यहाँ लक्ष्मण में भी आता है :

आप रुकें रामेश्वर
जायेगा लक्ष्मण ले अभीयान।
यदि नितांत एकाकी भी जाना पड़े
जाऊँगा
बंधु ! जाऊँगा
सीता को लाऊँगा
अपने पुरुषार्थ से।
विश्वासें
प्रभु ! विश्वासें
अपने बंधु-मित्रों के
पौरुष को।
मन-जन के द्वारा निर्मित होते
सेतुबंध को।

यहाँ लक्ष्मण के चरित्र की जो निष्ठा है, वह जन-निष्ठा है, जो संश्लेषित हो कर रावण को पराजित करने में विश्वास रखती है। राम में विकल्प है क्योंकि वे इकाई हैं; लक्ष्मण में विकल्प का अभाव है क्योंकि वे जन-निष्ठा के एक बिंदु मात्र हैं, जो सेतुबंध को बाँधने से ले कर असत्य को पराजित करने के लिए कटिबद्ध है।

दशरथ एवं जटायु को भी नरेश मेहता ने अतिभौतिक प्राणात्मा के रूप में उपस्थित कर राम के संकल्प को वैश्वानर की स्थिति में लाने का प्रयास किया है। यद्यपि नाटकीयता एवं काव्य-संघटन की दृष्टि से यह प्रसंग बहुत अर्थवत्ता से पूर्ण नहीं लगता तथापि राम के मन का साक्ष्य दे कर सबल करने का लक्ष्य सफल हो जाता है :

यही तो है बात
लक्ष्मण !
राम ने कभी नहीं किया अविश्वास।

ऐसी स्थिति वाले राम को दशरथ की यह उक्ति :

ओ, विकल्पित पुत्र मेरे !
परिस्थितियाँ धेनु हैं।
दुहो इनको
निष्ठुर अँगुलियों से दुहो इनको।

समीचीन नहीं लगती है, किंतु आधुनिक युगबोध की समस्या के लिए यह दाशरथी उक्ति अधिक व्यावहारिक है—इसमें भी संदेह नहीं। नरेश मेहता का राम बहुत अधिक मानवीय है, संतुलित है, मोहयुक्त एवं शीलपूर्ण है, यही दुनिया है। फलतः वह जनवाणी की समग्रात्मक चेतना 'सेतुबंध' को अपेक्षित नहीं मानता है। रावण एवं लंकाविजय के पीछे जनता की समग्र चेतना की आकांक्षा को ध्वनित नहीं पाता—वह मात्र सीता को वैयक्तिक परिवेश में ही देखता है। पर लक्ष्मण, नल, नील, हनुमान, विभीषण, दशरथ तथा जटायु आदि पात्रों के समक्ष रावण असत्य का प्रतीक है। सेतुबंध की रचना आवश्यक है—फलतः युद्ध की योजना भी वांछनीय है। दो ध्रुवों की यवनिका के बीच ही वास्तविकता की वह चेतना है जिसे पाने के लिए 'संशय की एक रात' का राम तापित है। राम, रावण, नल, नील, हनुमान और लक्ष्मण सभी को कवि ने प्रतीकार्थ में रखा है—किंतु कथा की सार्थकता एवं इतिहास की पुष्टि भी वे करते हैं। नरेश मेहता के राम पर एवं 'संशय की एक रात' की समस्या पर निराला के 'राम की शक्ति-पूजा' के राम के चरित्र का प्रभाव है, साथ ही, सुमित्रानंदन पंत के 'अशोक वन' की सीता और राम संबंधी समस्या का पालन भी है। 'अशोक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन' में पंत ने सीता को स्वातंत्र्य-चेतना का स्वरूप दिया है—जो लंका में वंदिनी हो गयी है। यहाँ भी नरेश मेहता यह कह कर कि—

> **रावण अशोक वन की सीता**
> **हम साधारण जन की अपहृत स्वतंत्रता।**

पंत की भावना का ही रूपायित स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न उठता है—नरेश मेहता के इस काव्य की समासतः उपलब्धियाँ क्या हैं? मेरी दृष्टि में नरेश मेहता के इस काव्य को कथाकाव्य की सरणि में न ले जा कर भावात्मक स्थिति का एक भावपूर्ण काव्य मानना चाहिए जिसमें आधुनिक युगबोध को प्राचीन सेतुबंध की कथा के साथ आश्लेषित कर उपस्थित किया गया है। भाषा नयी कविता की अपनी है; और नरेश मेहता की इस कृति में उनकी भाषा की सक्षमता दिखायी पड़ती है। राम की मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से काव्यात्मक विश्लेषण करते हुए कवि कहीं भी पराजित नहीं हुआ है। कुछ पंक्तियाँ तो सूक्तियाँ वन गयी हैं। यथा :

> (क) **संभव है प्रथम हो**
> **किंतु अंतिम तो नहीं है।**
> (ख) **क्या हो**
> **क्या न हो के प्रश्न ही प्रश्न हैं।**
> (ग) **यहाँ कुछ नहीं समाप्त हुआ**
> **क्योंकि कभी भी**
> **कुछ नहीं आरंभ हुआ।**
> (घ) **युद्ध केवल फेन ही नहीं**
> **निर्णय है**
> **जिससे इतिहास बना करता है।**

इसके साथ ही 'संदिग्ध मन का संकल्प और सवेरा' खंड में राम के मन के विकल्प को संकल्पित एवं ज्योतित करने का जो श्रेय भी कवि ने लिया है, वह अभूतपूर्व है। लगता है, राम संशय की रात के बाद की आलोक-किरण को साक्षातकृत समग्रात्मक चेतना की अंतःप्रेरणा को आतमसात कर लेते हैं। आधुनिक भारतीय युग-बोध के बीच की दुविधाग्रस्त स्थिति में इस संदर्भ का मूल्यांकन विशिष्ट अर्थ में किया जाना चाहिए। युद्ध की समस्या भौतिक समस्या न हो कर हमारी समस्त चेतना की वांछनीय समस्या है, जिसका संबंध जीवन-जगत के मूल्यों एवं स्थापनाओं से वेष्टित है। नरेश मेहता के काव्य 'संशय की एक रात' में हमारी उस शंका को ऋतत्व प्रदान कर संकल्पित सूर्य की भास्वरता प्रदान की गयी है जो ध्यातव्य है। राम द्वारा कही गयी इन पंक्तियों में—

> **ओ मेरी अपारमिता!**
> **अपने पाथर को आकाश करो**
> **वही सूर्योदय है**
> **वहीं ऋतंभरा है, वैश्वानर है।**

मानवता के लिए फिर एक आकांक्षित आलोक है, जो प्रणम्य है। कवि की इस कृति के संदर्भ में नयी कविता की अन्यान्य उपलब्धियाँ सहज ही आ गयी हैं, तथा उनसे हिंदी कविता को एक बल मिला है, इसमें संदेह नहीं।

दूसरी आलोच्य कृति 'बोलने दो चीड़ को' नरेश मेहता की स्फुट कविताओं का संग्रह है, जिसमें 'सप्तक' के कवि नरेश मेहता की अनेकानेक भावप्रवण कविताओं को संग्रहीत किया गया है। नरेश मेहता की कविता शैवाल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाल रच कर मन को उलझाती नहीं है वरन तीखी एवं नुकीली स्पर्शिता से मन को कुरेदती है, यह उनकी विशेषता है। संपूर्ण नयी कविता के बीच नरेश मेहता मुझे कैक्टसवादी कवि नहीं लगते वरन उनकी कविता घोंघे, सीपियों की कविता न हो कर शंखों एवं मोतियों की रचना है, जिससे काव्य-कोष संपुष्ट हुआ है। आधुनिक नयी कविता में जो अधिकांश आया है वह अपरिचित हो कर ही चौंकाता रहा है। नरेश मेहता के इस संग्रह की अधिकांश रचनाएँ परिचित हो कर मन को सहलाती हैं, यही इनकी विशेषता है। 'चाहता मन', 'कमल-वन', 'भेंट', 'बोलने दो चीड़ को', 'एक क्षमा-याचना', 'अनुनय' इत्यादि कविताएँ इस संग्रह की ही नहीं, नयी कविता की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं, यह मानना पड़ेगा।

'बोलने दो चीड़ को' के कवि की इन छोटी कविताओं में भाषागत सौंदर्य की एक वंकिमा एवं काव्य-मुक्ता की एक विशिष्ट परिचिति है, जो स्तुत्य है। आधुनिक जीवन की अनास्था-मूलक विषम परिस्थिति के बीच इन कविताओं का स्वरूप टूटी-सी किसी पर्णकुटी में जलायी गयी तुलसी-चौरे की दीपशिखा सी उज्वल एवं मांगलिक है जो भारतीयता की देन है। कवि ने नवीनता के आकर्षण में अपनी विशिष्टता को नहीं छोड़ा है, तथा अपनी निष्ठा को आहत नहीं होने दिया है। फलतः इस संग्रह की कविताओं का संपूर्ण हिंदी कविता के बीच एक अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, जो वरेण्य माना जायगा। शायद तभी इसी आस्थापूर्ण स्वर से कवि कहता है :

यहाँ वहाँ लोग ही लोग हैं
मैं कहाँ हूँ ?
तुम्हारे पैरों के नीचे
मेरा नाम कहीं दब गया है
उठा लेने दो—
मेरे लिए वह मूल्य है।

काव्य के नये मूल्यों की स्थापना और सत्य की खोज की पीड़ा से व्यथित कवि की इन छोटी कविताओं का महत्व असंदिग्ध है। नरेश मेहता का कविता-संग्रह 'बोलने दो चीड़ को' का मैं नयी कविता के महत्वपूर्ण संग्रहों के बीच स्वागत करता हूँ।

—कृष्णनंदन पीयूष,
हिंदी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर–७।

किनारे से किनारे तक

राजेंद्र यादव का कहानी संग्रह। राजपाल एंड संस, दिल्ली। सन १९६३। मूल्य : ४.००।

प्रस्तुत संग्रह में लेखक की दस कहानियाँ और 'आज की कहानी : परिभाषा के नये सूत्र' नाम से एक भूमिका है। जहाँ तक भूमिका का प्रश्न है, उससे वहुत उलझ कर मैं इस संग्रह की कहानियों के प्रति अन्याय न करूँगा। फिर भी, भूमिका में कुछ बातें ऐसे विवादास्पद ढंग से और ऐसी गर्वोक्तियों के रूप में कही गयी हैं कि उनके संबंध में विचार-विमर्श करना भी आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक लेखक में एक आत्मविश्वास होता है कि वह एक नयी दिशा दे रहा है, और साथ ही ऐसा कुछ दे रहा है जैसा उसके पहले किसी ने नहीं दिया था। यही भावना होती है जो उसे लिखने अथवा कला की उपासना के लिए विवश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है। लेकिन आज की तरह पिछले सारे कृतित्व को न तो कभी झुठलाया गया था, न इस प्रकार की गर्वोक्तियाँ कर के ही अपनी कृतियों के मूल्य को बढ़ाने का प्रयास किया गया था। आज की कहानी के संबंध में बतलाते हुए राजेंद्र यादव ने जिस प्रकार परंपराबद्ध कहानी और नयी कहानी को अपनी मान्यताओं के अनुसार स्पष्ट करने का प्रयास किया है, वह इस प्रकार है—**'पिछली पीढ़ी वाले या कहिए परंपराबद्ध कथाकार की तरह अपनी निर्वैयक्तिक (ऑब्जेक्टिव) दृष्टि और प्रतिभा के तेज़ चाकू से कसाई जैसी तटस्थता के साथ एक साफ़-सुथरे, कटे-छटे आइडिया वाली कसी-कसाई (एब्जेक्ट) कहानी काट कर निकाल लेना आज के भी कहानीकार के लिए कठिन नहीं है। लेकिन क्या सचमुच कोई भी भाव या भावना ऐसी अलग-अलग, स्वयं-संपूर्ण और सीधी-सपाट होती है?'** अन्यत्र उन्होंने लिखा है **'इन दस वर्षों की कोई भी अच्छी कहानी उठा लीजिए—उसका प्रभाव या परिणति एक झटके के साथ देखा या पाया हुआ सत्य नहीं होता। न वह हथौड़े की चोट की तरह सारे अस्तित्व को झनझनाती है, न चुभे तीर की तरह टीसती है। वह तो कुहासे या अगरु गंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है—स्वयं उसका अंग बन जाती। इस प्रकार अनजाने ही आत्मा को संस्कार और दृष्टि देती है। यहीं यह कहना बहुत बड़ी गर्वोक्ति न होगी कि मानव-आत्मा का शिल्पी आज की कहानी में ही पहली बार अपनी भूमिका का सही निर्वाह करने का प्रयत्न करता है।'** यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि राजेंद्र यादव इसे कोई बहुत बड़ी गर्वोक्ति नहीं समझते हैं। मेरा यह विचार है कि एक बार उन्हें नयी कहानी के संबंध में बहुत बड़ी गर्वोक्ति करने की छूट दे कर यह देखना चाहिए कि वह नयी कहानी को कितना ऊँचा चढ़ा देते हैं और उनके अनुसार जो परंपराबद्ध कहानी है उसे किस गड्ढे में ले जा कर डालते हैं।

राजेंद्र यादव का यह संग्रह और नई कहानी का लेबिल लगा कर इधर जो कहानियाँ निकली हैं, उनमें से कुछ को पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। ऐसा नहीं है कि उनमें मुझे अच्छी कहानियाँ नहीं मिलीं, और न ऐसा ही है कि मुझे यह लगा हो कि मैं ऐसा कुछ पढ़ रहा हूँ जो कला की दृष्टि से महान और जीवन का सही और सच्चा चित्र उपस्थित करने की दृष्टि से पिछले साहित्य से अधिक सामर्थ्यवान हो। इन कहानियों की एक विशेष देन मुझे समझ में आयी है कि ये मनुष्य के विचारों का जैसा का तैसा पूर्ण विश्रृंखल चित्र उपस्थित करती हैं। पिछले कहानीकारों की भाँति किसी केंद्रीय विचार से संबद्ध विचार धारा को ही चित्रित किया जाय, यह इनमें नहीं दिखलायी देता। इन कहानियों में व्यक्ति प्रधान है, और प्रधान है उसकी कुंठा। जहाँ तक, जिस समाज में, जिस वातावरण में और जिस परिवेश में पात्र रह रहे हैं उसके चित्रण की बात है उस संबंध में कोई विशेष उपलब्धि राजेंद्र यादव की हो, ऐसा मुझे नहीं दिखलायी देता। राजेंद्र यादव ने पिछले कहानीकारों पर यह दोष लगाया कि वे अपनी कहानी को आसपास के वातावरण और परिवेश से अलग काट कर एक चित्र उपस्थित कर देते थे। मुझे उनका यह कथन सारहीन प्रतीत होता है। इधर की कहानियाँ जिस प्रकार केवल मानसिक ऊहापोहों में उलझ कर रह जाती हैं, उनमें तो मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ तक देखा है कि लेखक अक्सर इस बात को भी भूल जाता है कि वह इसका भी कुछ संकेत कर दे कि उसके पात्र किस युग में साँस ले रहे हैं।

प्रस्तुत कहानी संग्रह में दस कहानियाँ हैं। इन कहानियों की विशेषता, जैसा मैंने पहले भी संकेत किया है, मुख्यतया अपने पात्रों की मन:स्थिति का एक पूरा चित्र देना है। इस दृष्टि से इस संग्रह की कहानियाँ सफल हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। 'प्रतीक्षा' में गीता के अभावग्रस्त जीवन ने उनकी मनोदशा कैसी कर दी है, इसका विस्तृत वर्णन है। पुरुष के प्रेम के लिए तरसी हुई गीता नंदा पर अपना स्नेह किस प्रकार लुटाती है और भावावेश में उसका और नंदा का संबंध किस प्रकार औचित्य की परिधि को लाँघता चला जाता है, इसका चित्रण लेखक ने सफलतापूर्वक किया है। गीता को समय पर किसी ने नहीं अपनाया, न वह किसी की हो पायी, परंतु उसकी वासना तो तृप्त हो न सकी। नंदा को पा कर वह किस प्रकार संतोष करने का प्रयास करती है, यह क्षेत्र ऐसा था जिस पर अब तक कहानियाँ हिंदी में कम ही दिखलायी दीं। राजेंद्र यादव ने यह एक नया क्षेत्र अपनी कहानी के लिए अवश्य ही ढूँढ़ा है। नंदा से प्रेम करने वाले के प्रति गीता के मन में कैसी ईर्ष्या होती है, किस प्रकार यह भय—कि कोई नंदा को उससे छीन न ले जाय—उसे सताया करता है, इसका चित्रण भी बड़ा स्वाभाविक हुआ है। चित्रण की दृष्टि से इतनी ही सफल दूसरी कहानी है, 'किनारे से किनारे तक'। मानिक के मन में जो संदेह उत्पन्न हो गया था वह कितना भयानक तथा विकृत आकार धारण करता गया, इसका चित्रण बड़ा विस्तृत हुआ है। किसी बात पर, चाहे वह कल्पित ही क्यों न हो, यदि बार-बार विचार किया जाता है तो वह कैसे बिल्कुल सत्य ही प्रतीत होने लगती है, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेखक ने बड़े कौशल से चित्रित किया है।

संकेतात्मक भाषा और वर्णनों से वह बात कह दी जाय जिसको लेखक अपने शब्दों में कहीं नहीं कहता, इस शैली में भी इस संग्रह में कुछ कहानियाँ हैं। चाहें तो इसे संकेतात्मक शैली कहा जा सकता है। वैसे तो सभी कहानियों में इसी शैली का प्रयोग है लेकिन कहीं-कहीं संकेत से बात कहने में बड़ी सफलता मिली है। उदाहरणार्थ, 'आत्मा की आवाज़', 'शहर के बीच का वृक्ष', 'बिरादरी बाहर', 'माध्यम का विद्रोह' में।

इधर एक प्रथा यह भी चल पड़ी है कि कहानियों के शीर्षक ऐसे दिये जाते हैं जिनसे कहानी का कोई संबंध नहीं जुड़ पाता। मुझे यह देख कर प्रसन्नता हुई कि राजेंद्र यादव के संग्रह में ऐसे शीर्षक नहीं हैं। कुछ कहानियों के शीर्षक बहुत ही उपयुक्त और आकर्षक हैं जैसे, 'बिरादरी बाहर', 'माध्यम का विद्रोह' और 'किनारे से किनारे तक'।

इन कहानियों को पढ़ कर एक बात मेरे ध्यान में यह भी आयी कि इनमें कहानी कहने का आग्रह तो है नहीं। कहानी का पाठक, कहानी के संबंध में अपनी मान्यताएँ ले कर, जब इन्हें पढ़ने बैठेगा तब उसे वह नहीं मिलेगा जो वह चाहता है। एक नयी चीज मिलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। अपने इस रूप में यह उन सभी पाठकों को रोचक प्रतीत होगी जिनके गले का हार कहानी रही है, इसमें भी मुझे पूर्ण संदेह है। क्या यह उचित नहीं होगा कि साहित्य के इस माध्यम के लिए हम कोई नयी संज्ञा ढूंढ़ लें। कहानी नाम से इसे चलाना निश्चय ही भ्रम उत्पन्न करना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह की भूमिका में नयी कहानी के प्रभाव का वर्णन करते हुए राजेंद्र यादव ने लिखा है कि वह तो कुहासे या अगरु गंध की तरह समस्त चेतना पर छा जाती है। मैंने इस संग्रह की कहानियों को पूर्ण सहानुभूति के साथ पढ़ा है। सब कहानियाँ मैं पढ़ गया पर उस अगरु गंध से कहीं भेंट न हुई। अधिकांश कहानियों को पढ़ कर एक प्रकार की छटपटाहट, परेशानी और कुंठा चाहे मन में व्याप्त हो गयी हो, अच्छी स्वस्थ साहित्यिक कृति को पढ़ कर मन में जो आनंद उत्पन्न होता है, वह कहीं नहीं मिला। जीवन के जो चित्र इन कहानियों में उपस्थित हुए हैं उनमें प्रकाश अथवा सत के दर्शन भी कहीं नहीं होते। एक निराशा-सी मन पर छा जाती है। मानव का भविष्य बड़ा अंधकारमय है, ऐसा ही लगता है।

यों तो हर नयी धारा को ग्रहण करने में कुछ समय लगता है, लेकिन नयी कहानी की प्रतिनिधि रचनाओं के रूप में यदि इन कहानियों को मैं देखता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए कहानी के इस रूप को अभी कई जन्म धारण करने होंगे।

—गंगाप्रसाद मिश्र,
प्रधानाचार्य,
राजकीय इंटरमीडिएट कॉलेज,
सुल्तानपुर।

गाँव

मुल्कराज आनंद का उपन्यास। अनुवादक : शिवदान सिंह चौहान तथा विजय चौहान। राजपाल एंड संस, दिल्ली। सन १९६३। मूल्य : ५.५०।

मुल्कराज आनंद विशेषतः अंग्रेजी उपन्यासकार के रूप में देशदेशांतर में विख्यात हो चुके हैं। लंबे समय तक विदेशों में रहने के बावजूद जिन लेखकों ने भारतीय संस्कृति, कला एवं वाङ्मय को बहुत हद तक अपनी रचनाओं में स्थान दिया, उनमें मुल्कराज आनंद का भी स्मरणीय योगदान रहा है। लेखक की अन्य उत्कृष्ट कृतियों में एक कृति 'कुली' अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त कर चुकी है। प्रसन्नता की बात है कि लेखक की अनेक रचनाएँ हिंदी, हिंदीतर तथा अन्य विदेशी भाषाओं में बराबर अनूदित हो कर आ रही हैं। समीक्ष्य पुस्तक भी लेखक की मूल अंग्रेजी कृति 'दि विलेज' का हिंदी अनुवाद है। अनुवादक हैं हिंदी के माने हुए आलोचक शिवदानसिंह चौहान तथा बहुभाषाविद प्रतिभा लेखिका विजय चौहान।

'गाँव' की कथा निहालसिंह, लालू, चंडी, महंत नंदगीर, हवलदार लछमनसिंह, मेजर अरब्रेल सिंह, चाचा किरपू, ईसरी तथा मिस्टर लाँग आदि पात्रों के माध्यम से इस प्रकार संग्रथित है जिससे कहीं भी अस्वाभिकता और कृत्रिमता का आभास नहीं मिलता। सचमुच 'गाँव' में मानवीय संवेदनाओं और लोकोन्मुखी भावनाओं का जीवनमूर्त संयोजन हो पाया है। यह भारत के एक प्रांत विशेष के ग्राम्य जीवन का रंग, बहुत गहरा और सजीव रूप में उपस्थित करता है। यानी संपूर्ण उपन्यास में पंजाब के ग्राम्य जीवन का स्वाभाविक अंकन किया गया है। नंदपुर से मानाबाद और मानाबाद से शेरकोट तक बहने वाली पात्रों की गाथाएँ इसकी औपन्यासिकता को मौलिक धरातल देती हैं। ग्राम्य जीवन का सहजानंद, गाँव के खेतों में किसानों के कार्य, हँसती-गाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिंदगी के क्षण, भूत-प्रेत के प्रति ग्रामीणों की अंध आस्था, जमींदारों द्वारा निर्दोष लोगों को सताये जाने की भावना तथा मठों में एकत्र महंतों की तीव्र वासना के बोलते चित्र इस उपन्यास में साफ़-साफ़ आभासित हैं। सचमुच लेखक की दृष्टि यथार्थ के उन पारदर्शी संगमों तक गयी है जहाँ शंका की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। चूँकि यह उपन्यास पंजाब के ग्राम्य जीवन पर आधारित है, अतः मूल के अनुरूप वैसी ही आंचलिक भाषाओं का प्रयोग कर अनुवादकों ने लेखक के साथ न्याय करने के अतिरिक्त अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय भी दिया है। और तथ्य तो यह है कि ये सब ऐसे भी नहीं लगते जैसे ऐस्प्रेसो कप में किसी ने नमक घोल रखा हो। पंजाब क्षेत्र में ये आंचलिक भाषाएँ—'बल्ले-बल्ले,ओए, नई, सदक़े जाऊँ, खसमानूंखानी' आदि आमफ़हम बोली जाती हैं। अतः इन भाषाओं के प्रयोग से उपन्यास की लोकोन्मुखी भावना तथा सारग्राहिता और भी उजागर हो गयी है। इसके पात्रों द्वारा पंजाबी गालियाँ भी अनुवादकीय भाषा में ज्यों की त्यों रखी गयी हैं। देखिए—'माई कुत्तेयाँवाली, मरजानी बच्छिए, मरजा औत्री' आदि। कुछ ठेठ ग्राम्य शब्दों के प्रयोग भी इसे प्राणवान करने में योग देते हैं, जैसे—डागदर, जनरनैल, पैंना, कड़छी, सोंटी' इत्यादि-इत्यादि। कथोपकथन भी प्रवाहपूर्ण बन पड़े हैं यथा—'कभी कबूतरों को गेहूँ उठाने के लिए नहीं भेजना चाहिए, न ही किसी वकील या रंडी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आना चाहिए' (पृष्ठ-२८) तथा 'इमानदारी और मुनाफ़ा एक ही थाली में कभी नहीं मिलते' (पृष्ठ २९) जैसे अनेक स्वाभाविक कथोपकथन हैं जिनमें जीवन की कटु सत्यता अंतर्निहित है।

उपन्यास की कथावस्तु हृदयग्राही है और सबसे बीज बात तो यह है कि इसे पढ़ने के समय कहीं भी ऐसा आभास नहीं होता कि अनुवाद पढ़ा जा रहा है। घटनाएँ तथा पात्र हू-ब-हू आँखों के आगे उभरने लगते हैं। मूल लेखक की मौलिक अभिव्यक्तियों को सही-सही अनूदित रूप देना कोई सहज कार्य नहीं। इस निकष पर भी अनुवादकों को अच्छी सफलता मिल सकी है।

—देवप्रकाश गुप्त,
ग्राउंड कॉटेज,
१८।३१७ लोदी रोड,
नयी दिल्ली–३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपत्तिका

सृजन-प्रक्रिया और प्रेषणीयता की समस्या

मैं संभवतः यह प्रश्न रख कर एक ख़तरा उठा रहा हूँ। क्योंकि एक तरफ़ वे लोग हैं जो प्रेषणीयता की कोई समस्या नहीं मानते और कहते हैं कि यदि कृतिकार में क्षमता है तो उसकी रचना, उसकी काव्यवस्तु स्वतः संप्रेषणीय होगी, उसके लिए बीच-बचाव या व्याख्याता की आवश्यकता नहीं; और दूसरी तरफ़ वे लोग हैं जो अस्पष्टता को बहुत बड़ा कौशल समझते हैं और उसके आतंक का ग़लत फ़ायदा उठाते हैं। मुझे 'टाइम्स' की एक टिप्पणी याद आती है जिसमें कहा गया था कि इससे बड़ा साहित्यिक छल हो नहीं सकता कि आसानी से समझ में आने वाली रचना साधारण, और कठिनाई से समझ में आने वाली या न समझ में आने वाली रचना विशिष्ट रूप से महत्वपूर्ण समझ ली जाय। मैं व्याख्याता या समीक्षक की हैसियत से नहीं, रचनाकर की हैसियत से ही यहाँ नयी सृजन-प्रक्रिया की कुछेक समस्याओं को सामने रख कर 'रचना' की प्रेषणीयता के प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ। मैं व्याख्या करना ही चाहता हूँ तो सबसे पहले अपने लिए क्योंकि हर दूसरे कृतिकार की तरह मैं भी एक पाठक हूँ। मुझ पर यह आरोप न लगाया जाय कि मैं कठोर अस्पष्टता की तह में छिपी हुई किसी सृजनात्मक सचाई का पक्ष इसलिए ले रहा हूँ कि साधारण पाठक को हीन और अक्षम समझता हूँ। निवेदन करूँ कि मैं ऐसा कोई भेद नहीं मानता। इतना अवश्य है कि मैं पाठक से यह अपेक्षा रखता हूँ कि वह रचना के अर्थग्रहण में रचनाकार के साथ हो, हिस्सा ले, 'पार्टिसिपेट' करे; तटस्थ और तमाशबीन न हो। पर्सी ल्यूबक की यह शर्त कहानी-उपन्यास के पाठक के लिए ही नहीं, कविता के पाठक के लिए भी उतनी ही सही है। आज की कविता को पढ़ते हुए शब्द, अर्थ, लय, 'रेटारिक' को ही आयत्त कर लेना काफ़ी नहीं है—इन सबके वैशिष्ट्य पर ध्यान देने से पहले रचनांकार की सृजन-संवेदना (क्रिएटिव सेंसिबिलिटी) से परिचित होना, अभिज्ञ होना भी आवश्यक है। बिना इस सहानुभूतिपूर्ण प्रयास के नयी सृजन-प्रक्रिया को समझना और उसके अर्थ-परिणाम तक पहुँचना संभव नहीं है। फ़तवे देने से कोई लाभ नहीं है। उनका मूल्य, जैसा किसी पाश्चात्य समीक्षक ने लिखा है, उस अखबारी बयान (जर्नलिस्टिक स्टेटमेंट) के बराबर है जो आज ठीक और कल वाहियात मालूम हो सकता है। मैं एक कविता यहाँ सामने रखता हूँ कविता का एक अंश:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये पेड़
भीड़ में छिपे जासूस की तरह
तुम्हारा पीछा करेंगे
तुम जहाँ भी जाओगे
जैसे ली पो की कविता में
समुद्र की लहर
तट की गंध का पीछा करती है
वह जिधर भी जाती है.......
एक हरी-भरी डाल के नीचे से गुज़रते हुए
तुम्हें पता भी नहीं चलेगा, कि तुम
अब तुम नहीं हो
महज़ खुरदरी छाल और
सख़्त तने के बीच में
एक धुँधली-सी स्मृति है
जिसे पेड़ कभी महसूस नहीं करते......

शब्द कोई कठिन नहीं, शैली सीधी और संलाप की, लक्ष्य स्पष्ट—फ़तवा देने वाले लोग ज़रा इसका तात्पर्य मुझे समझायें या यही फ़तवा दें कि 'तात्पर्य वृत्ति-शून्य' कविता है, यानी निरर्थ है। इस कविता पर ध्यान दें तो देखेंगे कि भय का एक इंप्रेशन है। कैसा भय! किससे भय! पेड़ों से! क्यों पेड़ों से ही! क्यों नहीं अपने से—आत्म-भय? एक बार देखने में मुश्किल कविता है। इतनी मुश्किल तो है ही कि व्याख्या न की जा सके, व्याख्या करते हुए कठिनाई महसूस हो, यह डर बना रहे कि पूरी बात हम व्याख्या करते हुए कह नहीं पा रहे हैं क्योंकि कुछ न कुछ बराबर रचना में घट जाता है जिसे हम अनुभव तो करते हैं पर व्याख्या की भाषा में नहीं कह सकते। जहाँ इस तरह की कठिनाई का अनुभव हो वहाँ रचना की प्रक्रिया को सावधानी से समझने की या परखने की आवश्यकता है। नामवर सिंह ने बहुत पहले एक गोष्ठी में यह प्रश्न उठाया था कि क्या कविता पढ़ायी जा सकती है? और निराला की इन पंक्तियों को सामने रख कर प्रमाणित किया था कि नहीं पढ़ायी जा सकती:

मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में
मन सरलता की बाढ़ में
जल बिंदु-सा बह जाय

'मौन' का 'मधु' हो जाना, या भाषा का मूकता की ओट हो जाना—भाषा का केवल बारीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाना नहीं है (क्योंकि बारीकी तो कौशल से भी आती है) बल्कि एक निश्चित मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए मार्मिक सांकेतिकता से संपृक्त हो उठना है। यहाँ जोड़ दिया जाय, कि ऐसे सांकेतिक अर्थ से परिचित होने के लिए थोड़े से खरोंच की आवश्यकता है, यानी प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

पहले उद्धृत की हुई कविता केदारनाथ सिंह की एक नयी कविता है जो एक खास आधुनिक मनःस्थिति को सामने रखती है। 'भीड़ में अकेले हो जाना' हमारे समय का, अर्थात आधुनिक मुहावरा है और कम से कम सत्तर फ़ीसदी नयी कविताओं में हम इसका प्रयोग देखते हैं। कम कविताएँ ही दिखा पाती हैं कि भीड़ में अकेले हो जाने का अनुभव एक दहशतभरा अनुभव है और समकालीन नियति का दंश उससे व्यक्त होता है। केदारनाथ सिंह इस कविता में इस नियति-दंश को किन्हीं 'कैच वर्ड्स' के ज़रिए व्यक्त नहीं करते, एक गहरी यातना, एक बड़े भय (हॉरर) के स्तर पर इसे महसूस करना और कराना चाहते हैं। इसीलिए वे 'पेड़' को 'भीड़ में छिपे जासूस' की तरह पीछा करते हुए पाते हैं। इस कविता की चिंतन-प्रक्रिया जब उनके कवि-मानस में चल रही थी, वे अपनी बात यहाँ से शरू करना चाहते थे ––

मैं पेड़ों की व्याख्या से डरता हूँ।

बाद में देखा गया कि यह पंक्ति कविता में कहीं नहीं आती, यद्यपि कविता का उत्स अब भी लगता है इस एक पंक्ति के पीछे छिपा है।

नयी सृजन-प्रक्रिया की विशिष्टता यह है कि एक कविता अपने आप में पूरी नहीं होती। एक चिंतन-प्रक्रिया जो कवि के मन में एक लंबे अर्से तक चलती रहती है, कई कविताओं में अलग-अलग पहलुओं के रूप में प्रतिफलित होती है। जिस कवि की सृजनात्मक चिंता जितनी ही तीखी होती है, उसके साथ यह कठिनाई प्रायः आती है कि वह कई रचनाओं में क्रमशः एक वृहत्तर अर्थ-संवेदना को व्यक्त करता है। जिस संकट-बोध की बात केदार ने पहले दी हुई कविता में की है कुछ पहले इसी के लिए पेड़ों को ही साझीदार बनाने की भावना उन्होंने अपनी कविता 'वसंत' (१९६४) में व्यक्त की थी।

मैं चाहता हूँ कि पेड़ जगें
और महसूस करें
इस संकट को......।

अतः सच तो यह है कि पाठक यदि धैर्य और उत्सुकता से प्रतीक्षा करे तो वह पायगा कि कृतिकार स्वयं ही अपनी एक रचना की व्याख्या दूसरी रचना में करता है। 'परिवेश : हम तुम' संग्रह की बहुत सी कविताओं का अर्थ कुँवरनारायण की हाल में प्रकाशित 'अपरिचिता' शीर्षक कविता में खुलता है। ये पंक्तियाँ, लगता है, पहले प्रकाशित उनकी कविताओं के उन अंशों की व्याख्या हैं जो तब स्पष्ट नहीं थे ––

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक चेहरा जो मेरे लिए चाँद हो सकता था
भीड़ हो जाता है,
और एक अन्यतम स्वागत-गान होंठों तक आते-जाते
झिझक जाता है;
लगता है, वह जो अभी-अभी झलक कर
उस मोड़ पर ओझल हुआ--
अपरिचित था
जिसको भूल से मैंने
अपनी अत्यंत निजी अनुभूतियों से छुआ।

कृतिकार अपनी रचना से अलग होता है तो उसे हमेशा के लिए भूल जाने के लिए नहीं, बल्कि उसे अधिक बेलाग अर्थ तक पहुँचाने के लिए, और ऐसा वह दूसरी, आगामी रचना में करता है। इस प्रकार रचना की प्रक्रिया रचना से पहले, रचना के भीतर और रचना के बाद तक निरंतर चलती रहती है। जो लोग प्रक्रिया को रचना से पहले ही समाप्त मानते हैं (या वह कच्ची सामग्री, कच्चा माल मानते हैं जिससे कोई रचनात्मक वस्तु बन कर तैयार होती है) उनके लिए रचना-प्रक्रिया का अपने में कोई मूल्य न हो, शेष सबके लिए है; जागरूक पाठक और कृतिकार दोनों के लिए ही है।

यहाँ इतनी बात जोड़ने की आवश्यकता है कि यह प्रक्रिया केवल बिखरी हुई चीज़ों को जोड़ने और तालमेल बिठाने की क्रिया नहीं है (जैसा अक्सर 'नयी' के नाम पर छपने वाली अधिसंख्य कविताओं में होता है); यह प्रक्रिया इससे भिन्न तात्कालिक और गोचर वास्तविकता का अतिक्रमण करने की प्रक्रिया है; बक़ौल निर्मल वर्मा—वास्तविक यथार्थ के पर्दे पर अपनी अनुभूत वास्तविकता को प्रक्षेपित करने की प्रक्रिया है; और असंदिग्ध रूप से सरल प्रक्रिया नहीं है। ऐसी प्रक्रिया से गुज़रने के लिए अपनी समकालीन वास्तविकता से प्रतिबद्धता का प्रमाण देना ज़रूरी है पर साथ ही, कहीं न कहीं एक प्रकार की कालातीत दृष्टि-चेतना को आत्मसात करना भी ज़रूरी है। आधुनिकता का संकल्प यहाँ आ कर पूरा होता है और यहीं आ कर हम अनुभव करते हैं कि बहुत सी रचनाएँ छद्म-आधुनिकता को अतिरिक्त कौशल या छल के साथ ओढ़े हुए हैं। इसीलिए ऐसी रचनाएँ 'भीड़ में अकेले होने' के मुहावरे को एक 'कैच वर्ड' की तरह दुहराती तो हैं,पर वे उस दहशत का एहसास नहीं करातीं जो केदारनाथ सिंह की कविता को पढ़ते हुए हम महसूस करते हैं। केदार की पहले उद्धृत कविता यहाँ आ कर पूरी होती है—

और तुम कभी नहीं जान पाओगे
कि तुम्हारा सारा दिन गुजर जाता है
एक बीते हुए पेड़ से
एक खोये हुए घर की दूरी तय करने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मद्धिम रोशनी में
तुम्हारी मेज़ पर रखी हुई हर पुस्तक
उसी की व्याख्या करती है
जिसे पेड़
अलग-अलग
तुम्हारे बारे में सोचते हैं।

बिना इस समूची प्रक्रिया से गुज़रे हुए नयी सृजन-प्रक्रिया को समझना और बहुत-सी श्रेष्ठ नयी कविताओं के अर्थ तक पहुँचना संभव नहीं है। बहुत-सी बिखरी हुई चीज़ें जो सैकड़ों कविताओं में आये दिन दिखायी देती हैं वे अप्रासंगिक हैं, यदि किसी दूरगामी संदर्भ से जुड़ी नहीं हैं। कविता कोई 'शो केस' नहीं है कि उसमें ढेर सारी चीज़ें या उनके चित्र इकट्ठा कर के सजा दिये जायँ। हम इस स्तर पर विचार करेंगे तो सच्ची और नक़ली नयी कविता में भेद करना कठिन नहीं होगा।

—परमानंद श्रीवास्तव
हिंदी विभाग, सेंट एंड्रूज़ कालेज
गोरखपुर

त्रैभाषिक तिभाषिये

बहुत दिन हुए, प्रयाग के 'पायोनियर' के एक अंग्रेज़ संपादक ने 'By-glot' (दो भाषा जानने वाला) शीर्षक अपने संपादकीय में, घृणा से नाक-भौं सिकोड़ते हुए, यह व्यंग्यात्मक भविष्य-वाणी की थी कि भारतीय अब 'Big-lot' हो जायेंगे। मज़ाक भोंडा था। पर इन संपादक महोदय की राय थी कि हिंदुस्तानी आसानी से 'Poly-glot' (बहुभाषा-भाषी) बन सकते हैं जिसे वह महापाप समझते थे। विक्टोरिया क्रास सरीखी निम्नश्रेणी की उपन्यास-कर्त्री ने भी लिखा है कि भारतीय 'इंडियन सिविल सर्विस' की परीक्षा पास करने से लगा कर चटनी बनाने तक का सब काम कर सकता है। क्या किसी ऐसी ही भावना से प्रेरित हो कर हमारे एक राज्यपाल ने इस प्रदेश पर तिभाषियेपन का शाप लाद दिया है, जो समस्त देश पर अपना फण फुफकार रहा है? हमारे शिक्षा मंत्रियों को यदि सचमुच शिक्षा का मंत्र देना है तो उन्हें अपने शत्रु-मित्र की नीर-क्षीर विवेचना करनी चाहिए।

ये तीन भाषाएँ हैं: (१) अंग्रेज़ी, (२) प्रांतीय भाषा तथा (३) एक अन्य प्रांतीय भाषा (अधिकांश दाक्षिणात्य)।

यह मंत्र नहीं है; अभिशाप है। और इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) क्या अंग्रेज़ी अनंतकाल तक भारतीयों को पढ़नी पड़ेगी? प्रत्येक भारतीय को? महाशोक! किसी भी देश ने किसी विदेशी भाषा को न इस तरह अपनाया है, और न अपना सकता है। मनुष्य की ऐसी प्रकृति ही नहीं है।

प्रत्येक भारतीय को शिक्षा का अधिकार है, परंतु अंग्रेज़ी शिक्षा पाने की विवशता तो नहीं। ४५ करोड़ अंग्रेज़ी गिटपिट करने वाले तैयार कर के हम भारत में अंग्रेज़ी बोलने वालों की बहुसंख्या कर सकते हैं, पर अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। (अ) अगर कोई और अंग्रेज़ी बोलने वाले इस पृथ्वी पर न रहे तो अकेला भारत अंग्रेज़ी को ज़िंदा नहीं रख सकेगा। (ब) कोई जन्मजात अंग्रेज़ी बोलने वाला अंग्रेज़ी के किसी भी मामले में भारत की बहुसंख्या को कभी कोई भी अधिकार न देगा कि वह अंग्रेज़ी की कोई समस्या हल करे। उल्टे वह भारतीयों पर नाक-भौं ही नहीं सिकोड़ेगा, बल्कि बूट-घूंसे तक चलायेगा। (स) जब भारत का बच्चा-बच्चा कैट-रैट-फ़ैट-मैट का महामंत्र अलापेगा तब भारत की अंग्रेज़ी चीनियों की Pidgin अंग्रेज़ी से भी गयीबीती हो जायगी। हम 'पिंग-पोंग' को 'टेबिल टेनिस' कहने लगे हैं तो 'इंग्लिस' की क्या मिट्टी-पलीद करेंगे। स्कॉटलैंड के लोग 'इंग्लिश' केवल 'लो-लैंडर्स' की भाषा को कहते थे। आइरिश और वेल्श लोगों के लिए अंग्रेज़ी मातृ-भाषा नहीं है।

भारत यदि अंग्रेज़ी को चाहता ही है तो कुछ प्रदेशों में ऐसे आठ-दस केंद्र स्थापित कर दिये जाने चाहिए जहाँ अंग्रेज़ी शुद्ध रीति से पढ़ायी जाय। तभी भारतीय उसके उपयुक्त कुछ काम कर सकेंगे। ४५ करोड़ अधकचरे ज्ञान वाले अंग्रेज़ी-दाँ लोग भारत की संसार में नाक ही नीची करेंगे, और कुछ नहीं।

जो कोई वाणिज्य आदि के लिए अंग्रेज़ी सीखना चाहता है तो, जैसा योरपवासी करते हैं, उसे चाहिए कि साल-छह महीने उसे लिखना-पढ़ना सीख ले। सारा योरप अंग्रेज़ी सीखने नहीं दौड़ा जाता। हाँ, हमारी यही बीसवीं सदी की पीढ़ी और अंग्रेज़ी के अखबार वाले अंग्रेज़ी का पक्षपात करते हैं। निस्संदेह, ये लोग दूसरों की नहीं सुनेंगे—बिना पुनर्जन्म के। परंतु इन मुट्ठी भर लोगों के लिए सारे देश की गर्दन पर अशुद्ध अंग्रेज़ी की छुरी क्यों फेरी जाय?

(२) अंग्रेज़ी के स्थान पर संस्कृत पढ़ायी जानी चाहिए। मुसलमानों को अरबी। ये धर्मभाषाएँ हैं। संस्कृत में अपार भंडार है। बिना उसके ज्ञान के भारतीय जनता भारत की आत्मा से परिचित नहीं है, भारत की बुद्धि से वंचित है और नये-पुराने स्वर मिला कर भारत का संदेश उच्चारण नहीं कर सकती। यह बात निर्विवाद है।

(३) अपनी प्रांतीय भाषा तो सब को पढ़नी पड़ती है, यह तीसरी भाषा क्या हो; कहाँ की हो? यह हमारे किस काम आ सकेगी?

परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी ऐसी सरल भाषा ही ढूँढ़ते हैं जिसमें साधारण परिश्रम से ही सफलता प्राप्त हो सके। जिस प्रदेश में अधिकांश विद्यार्थी मुसलमान होंगे वहाँ वे उर्दू ले लेंगे; न हुए, तो गुजराती ले लेंगे, और कुछ केवल बँगला। तेलुगु-तमिल के पढ़ने वालों की संख्या अधिक न होगी। उनसे उन्हें कोई अनुराग नहीं हो सकता; लोभ भी नहीं। अतः दाक्षिणात्य भाषाओं की थोड़ी सी पाठशालाएँ पर्याप्त होंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोड़े से हिंदी-भाषियों के तमिल-तेलुगु पढ़ने से भारती हिंदी में इतने दक्षिणी शब्द नहीं आ पायेंगे जितने दक्षिणवासियों के हिंदी पढ़ने से आ जायेंगे। पहली हिंदी से दूसरी हिंदी अधिक रोचक हो सकती है। हिंदी वाले अहिंदी शब्द प्रयोग करने से हिचकेंगे। अहिंदी-भाषी अपनी मातृभाषा के शब्द अदबदा कर लिखेंगे तथा सम्मिलित करने की चेष्टा करेंगे। 'दियासलाई' को 'अंगारपेटी' भी कहेंगे। 'माचिस' कहते हैं तो बुरा नहीं करते। भाषा इसी प्रकार बढ़ती है। रघुवीरी हिंदी स्वाभाविक नहीं है। अप्राकृतिक है। किसी भाषा का इतिहास डाक्टर रघुवीर के पथ को नहीं अपनाता। कपोलकल्पित संस्कृत ढपोरशंख की आवाज़ ही कही जायगी।

सारांश यह है कि तिभाषिया बनना समय नष्ट करना है।

—शिवाधार पाण्डेय,
भूतपूर्व अध्यक्ष, अंग्रेज़ी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय,
म्योर रोड, इलाहाबाद।

सार्वदेशिक हिंदी के निर्माण में कश्मीरी भाषा का योगदान

कश्मीरी भाषा और साहित्य के संबंध में विचार करते समय लिपि का प्रश्न सहज ही सामने आ जाता है। मेरे विचार में कश्मीरी शब्दों का सही उच्चारण देने में केवल शारदा लिपि ही समर्थ है, और शारदा लिपि को ठुकराने का ही यह प्रभाव है कि आजकल भी लिखी हुई कश्मीरी तथा बोलचाल की कश्मीरी में ज़मीन-आसमान का अंतर है। कश्मीरी में लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ और ही जाता है। वास्तव में फ़ारसी-अरबी लिपि में कश्मीरी भाषा अनुमान की ही भाषा रह गयी है। साधारणतः कश्मीरी लोग भी लिखित कश्मीरी पढ़ नहीं पाते हैं—लिखने की तो बात ही दूर। इसलिए कश्मीर सरकार से भी हमारा सुझाव है कि अखंड देश की एकता को ध्यान में रखते हुए वह कश्मीरी भाषा के लिए फ़ारसी-अरबी तथा शारदा लिपि के बदले केवल देवनागरी लिपि का ही आधार अपनायें। देवनागरी लिपि के अभाव में कश्मीरी शेष भारतीय भाषाओं से पृथक सी लगती है।

कश्मीर में कश्मीरी भाषा के ही दो रूप हैं। एक वह जो कश्मीरी पंडित बोलते या लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों का ही सर्वाधिक प्रभाव है। और दूसरी वह, जो कश्मीरी मुसलमान लिखते या बोलते हैं जिसमें अरबी और फ़ारसी का ही अधिकतम प्रभाव है। वास्तविक कश्मीरी का ठेठ रूप कश्मीर के सुदूर गाँवों में ही सुनने को मिलता है जो शहर की हिंदू-मुस्लिम कश्मीरी से सर्वथा अप्रभावित हैं। यों तो भाषाओं के इतिहास में ही यह मान्यता है कि हर दस मील के अंतर पर उसके उच्चारण अथवा अभिव्यक्ति में अंतर आता है; किंतु वर्तमान कश्मीरी, वैज्ञानिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिपि के अभाव में, कुंठित-सी हो कर केवल एक बोली तक ही सीमित रह गयी है जो कश्मीरी भाषा के लिए बड़े ही दुर्भाग्य की बात है।

यह सत्य है कि कश्मीरी भाषा की धरोहर चौदहवीं शती के आरंभ से लल्लेश्वरी के वाक्यों तथा उसी शताब्दी के अंत में नुंद ऋषि के श्लोकों में अब भी हमारे पास सुरक्षित है तथा समय-समय पर इसमें अभिवृद्धि होती रही है। पर यह एक आश्चर्य की बात है कि पंद्रहवीं शताब्दी में ज़ैन-उल-आब्दीन के राजकवि श्री महावतार लिखित 'बानासुर कथा' (जो एक महाकाव्य है) तथा गणका प्रसाद लिखित 'सुख-दुख चरित' अधिक प्रचलित नहीं हो पाये हैं, जब कि लल्लेश्वरी का शैव दर्शन तथा नुंद ऋषि का सूफ़ीवाद काफ़ी प्रचलित है।

ज़ैन-उल-आब्दीन को कश्मीरी में महान राजा का सम्मान मिला है, लेकिन उसने भी कश्मीरी के बदले फ़ारसी को ही राज्य भाषा का सम्मान दिया था। हालाँकि कहा जाता है कि कश्मीरी भाषा के विकास तथा साहित्य-निर्माण के लिए उसने विशेष प्रोत्साहन दिया था।

आगे चल कर सोलहवीं शताब्दी में हब्बा ख़ातून का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कश्मीरी भाषा को शृंगार रस से ओतप्रोत कर दिया। १७५० में अरण्यिमाल का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने कश्मीरी भाषा में विरह रस का प्रतिपादन किया। उनके काव्य में विरह ही विरह व्याप्त है। इसके बाद दिवाकर प्रकाश भट्ट की कश्मीरी रामायण उपलब्ध होती है।

जिन दिनों कश्मीर में अफ़गानों का आतंक छाया रहा है वह काल वास्तव में कश्मीरी इतिहास का सर्वांगीण अंधकारपूर्ण काल रहा है। उसी काल में कश्मीर का साहित्य-भंडार ख़ाली हो गया। वह सारी सामग्री जला कर डल झील पर बनाये गये सेतु के नीचे दबा दी गयी और इस प्रकार कश्मीर की वैभवशाली साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सामग्री संसार से लोप हो गयी। आज हम कश्मीर के महानतम अतीत के सूचना-स्रोतों से वंचित हैं। एकमात्र 'राजतरंगिणी' भी कश्मीर के उज्वलतम अतीत का विस्तृत विवरण देने में आज भी असमर्थ है।

सोलहवीं शताब्दी में कश्मीर ने एक अमर साहित्यकार, मार्तंड के पंडित परमानंद को जन्म दिया जिनके 'राधा स्वयंवर', 'सुदामा चरित' आदि कश्मीर के जन-मानस में अपना स्थान बना पाये हैं। उपर्युक्त ग्रंथों से स्पष्ट है कि किस प्रकार भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य, कश्मीर तथा कश्मीरी भाषा में पोषण पाता रहा है। यहाँ इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि १९४७ तक कश्मीरी भाषा अपना साहित्यिक विकास केवल काव्य तथा गीतों और नज़्मों में ही कर पायी है।

१८७९ में परमानंद के स्वर्गवास के बाद १८८५ में गुलाम अहमद 'महजूर' का जन्म हुआ। 'महजूर' को वर्तमान कश्मीरी काव्य का प्रणेता कहा जा सकता है। उसके बाद अब्दुल अहद 'आज़ाद' १९०५ में पैदा हुए। 'आज़ाद' ने कश्मीरी भाषा में समाजवाद की ललकार की। 'मास्टर जी' विशेष उल्लेखनीय इसलिए हैं कि उनकी काव्य पुस्तक पर साहित्य अकादेमी ने उन्हें पुरस्कार से संमानित किया है। इस प्रकार कश्मीरी भाषा नज़्मों और गीतों में विकास पाती रही।

१९५४ से १९६० तक भारत सरकार के फ़िल्मस् डिवीज़न ने कश्मीरी भाषा में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघुचित्रों का निर्माण कर के कश्मीरी गद्य को विकास का अवसर प्रदान किया था; किंतु १९६० में ही कश्मीर सरकार की माँग पर भारत सरकार को कश्मीरी ख़त्म कर के सिंपिल उर्दू के आवरण में उर्दू में ही कश्मीर के लिए लघुचित्र बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। हालाँकि 'कश्मीरी बज़्म अरब' ने इन शब्दों में इसका विरोध किया था, 'समझ में नहीं आता कि कश्मीरी को रियासत की इलाक़ाई ज़बान का दरजा हासिल है तो सरकारी और मुख़्तार अदबी इदारों को इस ज़बान में किताबें छपाने की मनाही करना और दस्तावेज़ी फ़िल्मों में इसको खारिज करना क्या मानी रखता है। उम्मीद है इस बारे में हकूमत अवाम को मुतमयीन करेगी।'

सरकारी कारवाँ कानों में तेल डाल कर बढ़ता ही चला और कश्मीरी भाषा को क्षति पहुँचती रही। 'रेडियो कश्मीर' नाममात्र के लिए ही कश्मीरी कार्यक्रम करता है अन्यथा वहां पर भी उर्दू का ही बोलबाला है; क्योंकि कश्मीर सरकार ने उर्दू को ही अंग्रेज़ी के साथ-साथ राज-भाषा रखा है। यों तो अंग्रेज़ी के नीचे उर्दू भी दबी हुई है लेकिन फिर भी कश्मीर में कश्मीरी के बदले उर्दू की ही तूती अधिक बोलती है। कश्मीरी भाषा को जब स्वयं सरकार ही समाप्त करने पर तुली हुई है तो कश्मीरी से प्रादेशिक हिंदी के निर्माण में योगदान की आशा ही व्यर्थ है। जिसके स्वयं के पंख कटे हुए हों वह दूसरे को उड़ने का सहारा ही कैसे दे सकता है?

श्री अली मुहम्मद लोन, पुष्कर मान तथा कलकत्ता निवासी प्रेमनाथ कौल आदि कुछ नाम हैं जो इन सभी अवरोधों के बाद भी कश्मीरी भाषा के गद्य को सँवारने में योगदान दे रहे हैं। यों तो 'नादिम', 'आरिफ़' आदि कवि भी कश्मीरी में कविता करते हैं, किंतु वे भी कुंठित हैं। तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक लिपि के अभाव में कश्मीरी भाषा स्वयं अस्तव्यस्त है। कश्मीरी भाषा का कल्याण केवल नागरी लिपि अपनाने से ही हो सकता है—ऐसी समय की माँग है; और भारत के साथ कश्मीर की अखंडता भी तभी अटूट रह सकती है। वैसे भी कश्मीरी भाषा विशेष रूप से संस्कृत भाषा की छत्रछाया में ही विकसित होती रही है।

समाप्त करने से पूर्व एक बात अवश्य ही कहना चाहता हूँ। वह यह कि अज्ञान के कारण ही हिंदी के प्रति भारत के अहिंदी प्रदेशों में एक स्पर्धा सी उत्पन्न हुई है। इस स्पर्धा को समाप्त करने का, मेरे विचार में, एक रास्ता यह है कि संविधानिक रूप से भारत की व्यावहारिक राष्ट्र भाषा का नाम 'भारती' दिया जाय। 'भारती' की लिपि केवल देवनागरी ही हो। देश के सभी प्रदेशों की भाषाओं के अधिकतम प्रचलित शब्द और साथ ही अंग्रेज़ी के बहुप्रचलित शब्द भी व्यापक रूप में 'भारती' में आत्मसात किये जायें तभी हमारे देश में भाषा-विवाद समाप्त हो सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो 'हिंदी' शब्द भी अपने आप में अभारतीय शब्द ही है किंतु इस शब्द को आत्मसात किया गया है। जिस प्रकार संविधानिक रूप में अपने भारतीय राष्ट्र का नाम 'हिंदुस्थान' अथवा 'हिंदुस्तान' न रख कर निर्विवाद रूप से 'भारत' रखा गया है, उसी भाँति भारत की राष्ट्रभाषा 'भारती' हो। हिंदी स्वतंत्र रूप में अन्य भाषाओं की भाँति ठेठ हिंदी का ही विकास करती रहे जिससे हिंदी साहित्य को अपनी विशिष्टता प्राप्त हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार सकल राष्ट्र में 'भारती' सहज रूप में ग्राह्य हो सकती है तथा किसी भी प्रदेश को राष्ट्रभाषा के साथ द्रोह करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा; क्योंकि 'भारती' किसी एक प्रदेश विशेष की बपौती न हो कर समग्र राष्ट्र की वाणी होगी।

--रोचक पंडित,
मँगरू निवास, कांतिभाई कंपाउंड,
पारसी पंचायत पथ,
अंधेरी (पूर्व), बबई-६९।

बाल-साहित्य के नये प्रतिमान

शैशव अवस्था पार करते ही बच्चों की मानसिक अवस्था में स्वतः ही परिवर्तन होने लगता है वह अपने पास-पड़ोस की वस्तुओं में रुचि प्रकट करता है। उनके प्रति मन में जाग्रत होने वाली उत्कंठा के कारण अनेक प्रश्न पूछता है। इनका उत्तर मिलने पर उसकी कल्पना अपना ताना-बाना बुनती है। उसकी रुचि कहानियों में बढ़ने लगती है। हर बात, हर चीज़, हर काम की वह एक कहानी सुनना चाहता है। कहानी भी ऐसी हो जिसमें उसकी कल्पना अद्भुत प्राणियों, विचित्र परिस्थितियों, देशों और आश्चर्यचकित करने वाली घटनाओं में उसे डुबा दे। कल्पना की यह उड़ान धीरे-धीरे जिज्ञासा में परिणत होने लगती है। उसकी इस जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा को शांत करता है वह साहित्य जो विशेषकर बच्चों के लिए, बच्चों की रुचि के अनुकूल और बच्चों की ही भाषा में लिखा गया हो।

यदि हम किसी भी देश के प्राचीन साहित्य का आलोड़न-विलोड़न कर के देखें तो पायेंगे कि साहित्य में ऐसा कहीं कुछ भी नहीं है, जो केवल बच्चों के लिए ही लिखा गया हो। हमारे यहाँ की रामलीला, यूरोप के थियेटर—बाल, युवा और वृद्ध सभी का मनोरंजन करते थे।

किंतु संस्कृति के विकास और नवजागरण के साथ जब लोगों में चेतना आयी तब इस ओर भी उनका ध्यान गया। उन्होंने देखा कि उनके साहित्य का बहुत-सा ऐसा अंग है जो बच्चों ने स्वयं ही अपना लिया है। लोकप्रचलित परीकथाएँ, साहसिक कथाएँ, यात्रा-कथाएँ आदि को अपनी रुचि के अनुकूल देख कर बच्चों ने उन्हें अपनी दुनिया की वस्तु बना लिया। रॉबिसन क्रूसो, सिंदबाद जहाज़ी तथा गुलिवर की कथाएँ कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं जो इस कथन की पुष्टि करते हैं।

बच्चों की इस स्वाभाविक रुचि ने ही स्वतंत्र बाल-साहित्य-रचना की प्रेरणा दी। यह समय उन्नीसवीं शताब्दी का था, जबकि संसार के प्रायः सभी देशों ने बाल-साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न आरंभ किये। उस समय कल्पना-लोक की परियाँ, राक्षस, भूत, राजा-रानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भयंकर जीव-जंतु आदि बाल साहित्य के आकर्षक विषय थे । वे बच्चों के लिए रुचिकर भी सिद्ध हुए। प्राचीन धार्मिक और परंपरागत कथाओं को भी अत्यंत महत्वपूर्ण मान कर बाल-साहित्य में स्वीकारा गया। 'यह करो, वह न करो', 'सदा सच बोलो' आदि सीख देने वाली कहानियों की तो भरमार हो गयी। उस समय बच्चों के लिए बाल्य साहित्य जिस रूप में प्रस्तुत किया गया उससे स्पष्ट था कि उनके लिए सभी कुछ सीखना आवश्यक है।

बीसवीं शताब्दी में आते ही बाल-साहित्य में एक विश्वव्यापी क्रांति-सी हो गयी। उसे नैतिक उपदेश देने वाली सीमा से बाहर निकाला गया। बच्चों के जीवन और मनोभावों को प्राथमिकता मिलने लगी। तब उनके लिए यह आवश्यक नहीं रह गया कि वे सदैव कल्पना-लोक में ही विचरण करें। उन्हें यथार्थ के धरातल पर ला कर जीवन के सत्य और मूल्यों को पहचानने के योग्य बनाने का भी प्रयत्न किया जाने लगा।

बाल-साहित्य की इस विश्वव्यापी क्रांति की आधारभूमि संस्कृतियों का परिवर्तन और विकास ही माना जा सकता है। आज के युग में हम स्पष्टतः देखते हैं कि बाल-साहित्य-लेखन अब पहले जैसा नहीं रहा। अब बाल-साहित्य प्रौढ़-साहित्य से सर्वथा भिन्न है। उसकी अपनी पृथक विशेषताएँ हैं। उसमें बाल मनोवृत्ति से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता होना, एक आवश्यक तत्व माना जाता है।

आज बदलती हुई दुनिया के साथ, साहित्य के रूप में भी परिवर्तन हो रहे हैं। बाल-साहित्य में जंगली राक्षस, राजा-रानी, परियों की कल्पना भरी उड़ान इत्यादि का अब वह महत्व नहीं रह गया जो अब से पचास या सौ वर्ष पहले था। अब सभी जानते हैं कि न राक्षस होते हैं और न रंगबिरंगी परियाँ। आज का युग विज्ञान के धरातल पर खड़ा है। वह सत्य और प्रमाणों का सहारा ले कर चलता है। इसलिए कोरी और निर्मूल कल्पनाभरी बातों का अब कोई महत्व नहीं रहता। बाल-रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल कल्पना और रहस्यमयी बातों का महत्व अत्यधिक है, यह एक निर्विवाद सत्य है; किंतु अब उस कल्पना और रहस्य का भी कोई न कोई आधार बनाना आवश्यक हो गया है। आज हम आसमान की रंगबिरंगी परियों को झूठ कहते हुए भी यह स्वीकारते हैं कि मनुष्य के लिए आकाश में उड़ना अब असंभव नहीं रहा। आज की कहानियों के कथानक और पात्र कोरी कल्पना की उड़ान मात्र नहीं होते बल्कि जीवन के सत्य से अनुप्राणित होते हैं। हमारे जीवन में रोज़ जो कुछ घटित होता है, वही साहित्य के निर्माण का आधार बन जाता है।

आज के बाल-साहित्य में एक तो वे पौराणिक गाथाएँ हैं जिन्हें हम संस्कृति का पोषक तत्व कहते हैं, और दूसरी ओर वह साहित्य है जो नयी दिशा और नयी धाराओं को ले कर चलता है। अंतरिक्ष-युग में—ग्रहों की यात्रा, वहाँ की रहस्यमयी बातों का अध्ययन और अंतरिक्ष में उड़ान भरना—बाल-साहित्य की वे नयी धाराएँ हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन्हें हम चाहे वैज्ञानिक तथ्यों के आधार मात्र के लिए ही क्यों न लें, किंतु ऐसा करना अधिक उपयोगी और रुचिकर सिद्ध होगा।

एक युग था जब युद्ध की रोमांचक कहानियाँ बच्चों को बहुत अच्छी लगती थीं। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब युद्ध का रूप ही बदल गया है। अब पहले जैसी बातें नहीं रहीं। एटम के इस युग में पृथ्वी से उड़ कर आसमान में भी युद्ध करने के लिए लोग तैयार हैं। दूसरी ओर, युद्ध की विभीषिका से जो पीड़ित हो चुके हैं, वे उससे घृणा करते हैं। वे अपने बच्चों को ये घृणित बातें नहीं बताना चाहते। आज के माता-पिता चाहते हैं कि उनका बच्चा खूब धनी हो अथवा कोई बड़ा नेता बने या कला-कौशल के क्षेत्र में उन्नति करे।

आज आवागमन के अनेक साधन उपलब्ध हैं और यात्रा-पथ इतने दुर्गम नहीं हैं जितने पहले थे। प्राचीन काल में यात्राएँ प्रायः वयस्क ही किया करते थे, और उनके संस्मरण बाल-युवा सभी को प्रेरणा देते थे। किंतु अब बच्चों के लिए लिखे गए यात्रा-विवरणों में, बच्चे स्वयं यात्री हों, यह एक आवश्यक तथ्य समझा जाता है। बाल-यात्री अपनी सूझबूझ के अनुसार जो कुछ भी अनुभव करेगा वह अन्य बाल-पाठकों के लिए प्रेरक सिद्ध होगा। अपने सीमित साधनों के बीच बाल-यात्री अधिक रोचक और प्रेरक संस्मरण दे सकेगा और ऐसे विवरण पढ़ कर बच्चे उससे अपना तादात्म्य सरलता से स्थापित कर लेंगे।

नाटक और गीतों में भी अब परिवर्तन आ रहा है। आज आवश्यकता ऐसे नाटकों की है जो बच्चों की रुचि के अनुकूल हों और उनकी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकें। सफल बाल-नाटक वही होंगे जिनको बच्चे स्वयं प्रस्तुत कर सकें।

मीठी-मीठी लोरियों के झूले से उतर कर बच्चा जब धूल-मिट्टी में खेलने लगता है तो वह प्रत्येक वस्तु के प्रति जिज्ञासु होता है। अपने मनोरंजन और जिज्ञासा की शांति के लिए वह अनेक बातें खेल-खेल में ही सीखना चाहता है। ये खेल यदि गीतों के माध्यम से सिखाये जायें तो निश्चय ही उसकी बौद्धिक क्षुधा और मनोरंजन की लालसा शांत हो जायगी। साथ ही शब्दों की ध्वनि, छंदों में निहित संगीत और उसका अर्थ, बाल-मानस पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालेंगे।

बाल-साहित्य के ये नये प्रतिमान बदलते हुए युग की सूचना देते हैं। आज संसार के प्रायः सभी देशों में इन्हीं प्रतिमानों की आधारभूमि पर बाल-साहित्य लिखा जा रहा है। अंतर केवल विचारधारा का है, जो इन प्रतिमानों को अपने अनुकूल बना लेती है। रूस की साम्यवादी नीति तथा अमरीका की पूँजीवादी नीति का अंतर बाल-साहित्य को प्रभावित किये बग़ैर नहीं रह सकता।

अमरीकी बाल-साहित्य अपने आरंभिक दिनों में पूर्णतः उपदेशात्मक ही रहा है। किंतु बीसवीं शताब्दी में आ कर उसकी विधाओं और विचारधारा में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अमरीकी बच्चों का पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा आरंभ से ही इस ढंग से आरंभ होती है कि वे बड़े हो कर बहुत ही सुखी जीवन व्यतीत करें। बाल-साहित्य के प्रसिद्ध अमरीकी लेखक लूसी स्प्रेग मिचेल ने 'हियर एंड नॉउ' शीर्षक से बच्चों के लिए जो साहित्य लिखा उसमें यह स्पष्ट कर दिया कि अब अभिभावकों और अध्यापकों को चाहिए कि वे बच्चों को काल्पनिक और परियों की कथाएँ न सुनायें। इससे उन पर कुप्रभाव पड़ते हैं और वे जीवन का मूल्य आँकने में भविष्य में भूल कर सकते हैं। इसलिए ऐसे साहित्य के स्थान पर यह बतायें कि संसार क्या है, सत्य क्या है और जीवन के सही मूल्य क्या हैं। उन्हें यह बतायें कि नल से पानी कैसे आता है, घर पर दूध कैसे आता है, आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ांस में बच्चों के जीवन को उनके चरित्र-निर्माण-काल के रूप में महत्व दिया गया है। अतः यह आवश्यक है कि उनके लिए जो भी साहित्य लिखा जाय वह नितांत उपयोगी हो। वहाँ बच्चों की हर क्रिया पर अभिभावक कड़ी नज़र रखते हैं और उनकी सभी भूलों को सुधारते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम अमरीकी बाल-जीवन और बाल-साहित्य से फ़ांस के बाल-जीवन तथा बाल-साहित्य की तुलना करें तो स्पष्ट हो जायगा कि दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। अमरीका का बाल-साहित्य बच्चों का मनोरंजन तो करता ही है, साथ ही, उन्हें ज्ञान की अनेक बातों से भी अवगत कराता है। किंतु फ़ांस के बाल-साहित्य में मनोरंजन का कोई महत्व नहीं है। वह तो उन्हें युवावस्था के लिए तैयार करता है, उनकी आधारभूमि को दृढ़ बनाता है।

रूस का बाल-साहित्य बच्चों को अधिक से अधिक क्रियाशील तथा कर्मठ बनाने के उद्देश्य से लिखा जा रहा है। वहाँ बच्चों की उन सभी क्रियाओं को अधिक महत्व दिया जाता है जो उनके देश की साम्यवादी नीति की पोषक हैं। बच्चों के मनोरंजन तथा उनके स्वतंत्र आचरण के लिए केवल उतनी ही छूट दी जाती है जितनी साम्यवादी नीति के अंतर्गत संभव है।

बाल-साहित्य के ये नये प्रतिमान बच्चों के स्वाभाविक विकास, उनकी रुचि और मनोवृत्ति को कोई महत्व नहीं देते। इनके अंतर्गत तो राजनीति की वह भावना छिपी है जो प्रत्येक देश पर शासन चलाना चाहती है। इस तरह का समस्त बाल-साहित्य अरुचिकर को भी रुचिकर बनाने के प्रयास के रूप में लिखा जा रहा है। क्या बाल-साहित्य का यह नया रूप बच्चों को जीवन के सही मूल्य समझने योग्य बना सकेगा? यह प्रश्न विचारणीय है।

——हरिकृष्ण देवसरे
आकाशवाणी, भोपाल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्र प्रकाशन गौरव-ग्रन्थमाला के चार अनुपम ग्रन्थ

राउलवेल और उसकी भाषा

रचयिता : महाकवि रोड

संपादक : डॉ० माताप्रसाद गुप्त

ग्यारहवीं शताब्दी की शिलालिखित अत्यंत महत्वपूर्ण रचना––शोधछात्रों के लिए विशेष उपयोगी।

मूल्य : ५·०० रु०।

मधुमालती

रचयिता : मंझन कवि

संपादक : डॉ० माताप्रसाद गुप्त

ग्रंथ के मूलपाठ के संपादन और अनुवाद के साथ-साथ मंझन की काव्य-कला, जीवन-दर्शन और प्रेम-दर्शन के अद्‌भुत समन्वय का अनुशीलन।

मूल्य : २०·०० रु०।

मध्ययुगीन प्रेमाख्यान

लेखक : डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय

मूल स्रोतों एवं संपूर्ण प्राप्त सामग्री के आधार पर रचित अनुशीलनपूर्ण शोधग्रंथ।

मूल्य : १०·०० रु०।

भारतीय चित्रकला

लेखक : श्री वाचस्पति गैरोला

सत्तर से अधिक रंगीन और सादे चित्रों के साथ पहली बार संपूर्ण भारतीय चित्रकला-परंपरा की सम्यक् झांकी। मूल्य : ५०·०० रु०।

प्रकाशक : मित्र प्रकाशन (प्राइवेट) लिमिटेड, (पुस्तक विभाग)
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद-३।

उच्चस्तरीय ग्रन्थों के प्रकाशन में अग्रणी

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

के

कतिपय नये प्रकाशन

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य – डाक्टर लक्ष्मीनारायण दुबे – मूल्य १५.००
गालिब के पत्र (दो भाग) – श्रीराम शर्मा – मूल्य १४.००
शंकराचार्य (परिवर्द्धित संस्करण) – आचार्य बलदेव उपाध्याय – मूल्य १०.००
अमरीकी दर्शन का इतिहास (अनुवाद) – ओम प्रकाश दीपक – मूल्य ८.५०

•

एक आगामी आकर्षण

डाक्टर सम्पूर्णानन्द द्वारा लिखित शोधपूर्ण सचित्र ग्रन्थ

ग्रह-नक्षत्र

•

एकेडेमी के शोधपरक, समीक्षात्मक और साहित्यिक ग्रन्थों के लिए बड़ा सूचीपत्र निःशुल्क प्राप्त करें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मेलन के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य
१. प्रेमघन सर्वस्व भाग १, २	श्री दिनेशनारायण उपाध्याय	१० रु० प्रति
२. शिशुपाल वध (महाकाव्य)	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	८ रु०
३. मत्स्यपुराण	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	२० रु०
४. वायुपुराण	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	१२ रु०
५. पुराणों में गगा	सम्पा० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	३.५० रु०
६. क्रान्तिकारी तुलसी	श्री नारायणसिंह वकील	१० रु०
७. मार्क्स और गांधी का साम्य दर्शन	श्री नारायणसिंह वकील	१५ रु०
८. मानक हिन्दी कोश [भाग १]	सम्पा० रामचन्द्र वर्मा	२५ रु०
९. मानक हिन्दी कोश [दूसरा भाग]	सम्पा० रामचन्द्र वर्मा	२५ रु०
१०. प्रत्यक्ष शारीर कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	८ रु०
११. जीव रसायन कोश	सम्पा० डा० ब्रजकिशोर मालवीय	६ रु०
१२. चिकित्सा विज्ञान कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	७.५० रु०
१३. भूतत्व विज्ञान कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	२.२० रु०
१४. साहित्य और कला	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	२.५० रु०
१५. रस और रसास्वादन	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	४.५० रु०
१६. हार	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	१० रु०
१७. आधुनिक कवि भाग ७	डा० हरिवंशराय बच्चन	३ रु०
१८. आधुनिक कवि भाग ८	स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी	३ रु०
१९. आधुनिक कवि भाग ९	श्री नरेन्द्र शर्मा	३ रु०
२०. गीताऽमृत	श्री शिवकुमार मिश्र 'मयूर'	३ रु०
२१. कवि कालिदास	स्व० श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी	१.२५ रु०
२२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१२ रु०
२३. पालि साहित्य का इतिहास	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१५ रु०
२४. रसशास्त्र	श्री अत्रिदेव विद्यालंकार	७ रु०
२५. प्रबोध चंद्रोदय और उसकी हिन्दी परंपरा	डा० सरोज अग्रवाल	१० रु०
२६. सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी	सम्पा० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	४ रु०
२७. हिन्दी भाषा आन्दोलन	डा० सेठ गोविन्ददास	९ रु०
२८. कुतुबनकृत मृगावती	डा० शिवगोपाल मिश्र	६ रु०
२९. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास	डा० श्रीराम शर्मा	१२ रु०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानोदय

आपके लिए एक आवश्यकता है :

- क्योंकि उसका प्रत्येक अंक सुरुचिपूर्ण साहित्य का भंडार है !
- क्योंकि वह नये युग की नयी निर्माण-चेतना का सरस प्रबुद्ध प्रतिनिधि है !
- क्योंकि उसका हर पृष्ठ आकर्षक, पठनीय, संग्रहणीय है !

और अब तो

ज्ञानोदय की इसी कड़ी का नवीन रूप आपके लिए एक अनिवार्यता होगा :

- क्योंकि उसका प्रत्येक अंक अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ आधुनिक भावबोध तथा कला-संचेतना का प्रतिनिधि है !
- क्योंकि देश-विदेश की नवीनतम रचनाएँ तथा ज्ञान-विज्ञान की दिशा-उपदिशा प्रत्येक अंक में संग्रहीत होती हैं !
- क्योंकि ज्ञानोदय समग्र साहित्य, बौद्धिक संतुष्टि, चर्चा-परिचर्चा और नवीनता का पर्याय है !

सितंबर १९६४ से

प्रत्येक साधारण अंक की विशेष सामग्री :

- **किसी एक की उलझन :** किसी विशेष उपन्यास पर आधारित नये लेखक की चार्जशीट और उपन्यासकार द्वारा समाधान !
- **अनुचिंतन :** जीवन की बौद्धिक प्रक्रिया पर विचारोत्तेजक लेख !
- **सापेक्ष डायरी :** नयी पीढ़ी का मौलिक चिंतन !
- **एक स्तंभ भर व्यंग्य !**
- **विदेशी साहित्य के ताज़े अनुवाद !**
- **नयी से नयी कविताएँ !**
- **पाँच से सात तक नयी कहानियाँ !**
- **धारावाहिक उपन्यास !**
- **समीक्षा !**
- **पत्र-प्रतिक्रिया !**

वार्षिक मूल्य १०.००; एक प्रति का १.००

संपादकीय कार्यालय :

ज्ञानोदय, ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता - २७

वितरण कार्यालय : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी - ५

सोल सेलिंग एजेन्ट्स : बेनेट कोलमैन एण्ड कंपनी, बंबई - १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

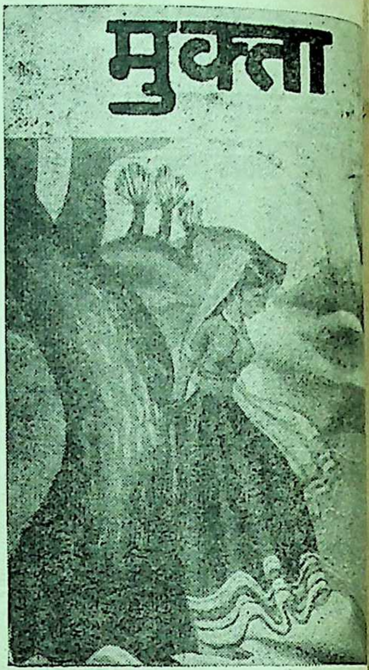

क्या आप

मुक्ता से

पूरी तरह परिचित हैं ?

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखाजोखा--जो हिंदी को किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य--जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठाएगा। ज्ञानविज्ञान के नए-नए विषयों पर बिल्कुल नई सामग्री--जो आप को आधुनिक बनाए रखने में सबसे अधिक योग देगी।

सरिता सामाजिक पुर्नानिर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक मुक्ता राजनीति, कला व ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में

आज ही नमूने की प्रति के लिए निम्न पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झांसी रोड • नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी पत्रकारिता का नवीन प्रकाश-पुंज

केन्द्र

साहित्य-समाज और संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक

संपादक : योगेंद्रकुमार लल्ला

प्रत्येक अंक में प्रस्तुत करता है :—

● श्रेष्ठ कहानियाँ ● हृदयस्पर्शी कविताएँ ● ज्ञानवर्धक तथा मनोरंजक लेख और प्रणय-प्रसंग, ● मीठे करेले ● दुनिया न माने ● चिंतन-कक्ष ● इस दशक की विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि जैसे स्थायी स्तंभ।

मूल्य एक प्रति : ७५ पैसे ; एक वर्ष : आठ रुपये।
नमूने की प्रति के लिए ७५ पैसे के डाक-टिकट भेजें।

केन्द्र

५७ दरियागंज, दिल्ली—६

श्री मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर

की

मासिक मुख-पत्रिका

वार्षिक मूल्य ५) -- वीणा -- एक प्रति ५० पै.

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उत्तर प्रदेश की शिक्षा संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३७ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होकर हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवं गम्भीर प्रकाश डालने वाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तमा (रत्न) तथा बी० ए० और एम० ए० के छात्रों के लिए इसके निबंध अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है !

ज्ञान-वृद्धि के लिए वीणा अनुपन साधन है!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

ल ह र

जुलाई १९५७ से
नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर विचार-युक्त सामग्री प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु० मात्र।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बॉ० ८२, अजमेर।

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले युगप्रभात में हिंदी-अहिंदी-भाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारा-वाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में युग-प्रभात जनप्रिय होता जा रहा है।

वार्षिक चंदा – छः रुपया

मैनेजर 'युगप्रभात'

कालिकट, केरल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7|10|64.

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष १ : अंक ६
अक्टूबर १९६४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

संपादकीय ३

लेख

देवदारु ७ हजारीप्रसाद द्विवेदी
आधुनिक कहानी के संदर्भ में : श्लीलता-अश्लीलता : एक विवेचन १६ लक्ष्मीकांत वर्मा
उन्नीसवीं शताब्दी की गद्य-भाषा : समस्याएँ और युग-विभाजन ३२ विजयकुमार शुक्ल
पत्रकार: व्यक्तित्व का ह्रास ४३ हेरम्ब मिश्र

कविताएँ

सूर्यास्त के बाद का दृश्य १५ केदारनाथ अग्रवाल
दृश्य-साम्य ४२ दुष्यंतकुमार
दो कविताएँ ५५ शलभ

कहानियाँ

चट्टान २५ अमरकांत
बुरूंश का फूल ५७ बटरोही

सहवर्ती साहित्य

गुजराती भाषा और साहित्य ६३ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
सर्जनात्मक साहित्य में रूप और आत्मा ६८ गुलाबदास ब्रोकर
सुख-दुख के साथी ७१ पन्नालाल पटेल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

का सातवाँ अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'सहवर्ती साहित्य' के अंतर्गत मलयालम की चुनी हुई रचनाओं के अनुवाद।
- स्व० मुक्तिबोध-कृत 'एक साहित्यिक की डायरी' की डॉ० नामवर सिंह द्वारा विवेचना तथा समीक्षाएँ।
- अंचल और कुँवरनारायण की कविताएँ।
- 'लखनऊ' शीर्षक श्रीलाल शुक्ल का रोचक स्केच तथा अन्य कहानियाँ।
- स्व० गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय और वीरेन्द्र मिश्र के लेख।

विवेचना

'अपने-अपने अजनबी' : एक परिचित अजनबी	८२	रामस्वरूप चतुर्वेदी
'विवेचना' में 'अपने-अपने अजनबी'	९०	विवेचक
अर्धशती	९५	नरेंद्र शर्मा
कथा-सूर्य की नयी यात्रा	९७	महेंद्र भटनागर
धर्मचेता	९९	महेंद्र भटनागर
संस्कृति (भारत विद्या विशेषांक)	१००	देवप्रकाश गुप्त

हिंदी जगत

प्रचार या व्यभिचार ?; ये अनुवाद, ये शीर्षक; अंग्रेज़ी का अध्यात्म; स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी और डाक टिकट; आकाशवाणी और हिंदी।	१०१	सात्यकि
अभिमत और प्रतिक्रियाएँ	१०५	
प्राप्ति-स्वीकार	१०७	

आवरण-चित्र को बायें पार्श्व की ओर से देखें

आवरण चित्र : जे० सुल्तान अली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

'यदि मैं तानाशाह होता'

'यदि मैं तानाशाह होता तो विदेशी माध्यम द्वारा शिक्षा तुरंत बंद कर देता, जो अध्यापक इस परिवर्तन के लिए तैयार न होते उन्हें बर्खास्त कर देता, पाठ्यपुस्तकों के तैयार किये जाने का इंतज़ार न करता।' पिछले प्रायः एक पखवारे भर प्रयागनिवासी महात्मा गांधी के इन शब्दों को अपने नगर के अनेक स्थानों पर चिपके पोस्टरों पर लिखे देखते रहे हैं। उत्तर प्रदेश-शासन द्वारा जो 'भाषा विधेयक' विधानमंडल में प्रस्तुत हुआ था उसे ही इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि हम लोगों ने राष्ट्रपिता के इन शब्दों को याद करने-कराने की कोशिश की।

शासन के इस प्रयास से जो चेतना जागृत हुई, स्वभाषा के अपमान की जो तीव्र प्रतिक्रिया हमारे मन में हुई, उसके फलस्वरूप ऐसा जान पड़ने लगा कि 'स्वदेशी आंदोलन' की तरह 'स्वभाषा आंदोलन' भी चल निकलेगा। प्रयाग ने इस स्वतःस्फूर्त अभियान में प्रदेश का नेतृत्व किया। एक सार्वजनिक सभा में विधेयक का विरोध किया गया, निश्चय किया गया कि विरोध को सक्रिय, सुसंघटित संघर्ष का रूप देने के लिए योजना-बद्ध कार्य किया जाय। एक 'हिंदी संघर्ष समिति' स्थापित हुई जिसके तत्वावधान में एक व्यावहारिक कार्यक्रम बना। निश्चित हुआ कि सितंबर ८ से एक 'विधेयक विरोधी सप्ताह' मनाया जाय जिसकी पूर्णाहुति हिंदी दिवस (सितंबर १४) को एक सार्वजनिक सभा के रूप में हो। आंदोलन की एक विवरणिका प्रकाशित हो, नगर के विभिन्न क्षेत्रों में सभाएँ की जायँ, एक सबल संघात जनसमूह के मन और मस्तिष्क पर पड़े। शासन ने विधान परिषद में अपने विधेयक को प्रस्तुत करने के पहले ही विचार बदल दिया। इसका श्रेय किसी एक व्यक्ति या वर्ग को देना ग़लत है: शासन का यह मत-परिवर्तन मूलतः सद्विवेक के सहसा जाग उठने का परिणाम था या संभाव्य जनविरोध की कल्पना का, यह कौन जाने। पर यह अस्वाभाविक नहीं था कि हिंदी वालों ने विधेयक की विभीषिका का हट जाना अपने अभियान की सफलता का प्रमाण माना।

विधेयक के रद्द होने—या रद्द होना निश्चित हो जाने—के बाद 'विधेयक विरोधी सप्ताह' मनाने की ज़रूरत नहीं रही। यह सहज स्वाभाविक जान पड़ता यदि 'संघर्ष समिति' एक औपचारिक बैठक कर के शासन को बधाई देती और अपनी कार्यसिद्धि पर प्रसन्न होकर 'खेल ख़त्म' का नोटिस लटका कर, दर्वाज़े बंद कर देती। पर उसने किया कुछ और ही। उसने बधाई का संदेश तो मुख्य मंत्री के पास भेजा पर साथ ही यह भी निश्चय किया कि न अपना नाम बदलेगी न काम। विधेयक के विरोध में न सही, पर 'संघर्ष' जारी रखने की आवश्यकता अब भी थी—इस कारण समिति ने अपने कार्यक्रम को प्रायः पूर्ववत ही रखने का निश्चय किया। इसके अनुसार सप्ताह भर स्थान-स्थान पर सभाएँ हुईं, पोस्टर चिपकाये गये, लेख लिखे-लिखवाये गये, हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार से एक व्यापक, जीवंत 'हिंदी आंदोलन' के अस्तित्व का बोध कराने के लिए उसके उपयुक्त वातावरण बनाने की चेष्टा की गयी। 'हिंदी दिवस' के दिन एक सार्वजनिक सभा श्री अमृतलाल नागर की अध्यक्षता में हुई जिसमें उपस्थित लोगों ने एक सामूहिक प्रतिज्ञा की कि हिंदी को उसका पद पूर्णरूपेण जब तक नहीं मिलेगा तब तक संघर्ष करते रहेंगे। सितंबर ८ से १४ तक (जिसे 'हिंदी सप्ताह' का नाम दिया गया था) जैसी सक्रियता परिलक्षित हुई थी यदि वैसी ही भविष्य में भी होती रही तो निश्चयपूर्वक एक ऐसी प्रेरक शक्ति उत्पन्न हो जायगी जो जनभाषा को उसके अपेक्षित पद पर प्रतिष्ठित कराने में सफल होगी। हिंदी का प्रश्न केवल लेखकों और बुद्धिजीवियों का प्रश्न नहीं है, सामान्य जनता का प्रश्न है। विधेयक के विरोध में उठे आंदोलन का वास्तविक मूल्य और महत्व यही है कि वह 'लेखकों और बुद्धिजीवियों की बेचैनी' बन कर नहीं रह गया। सच्ची बात तो यह है कि आरंभ से ही उसका रूप एक व्यापक जन आंदोलन का ही रहा; जो लेखक और बुद्धिजीवी इसमें सक्रिय सहायक हुए वे भी लेखक और बुद्धिजीवी होने के कारण नहीं बल्कि इस कारण कि हिंदी के आंदोलन को सामान्य हिंदीभाषी जनता का आंदोलन मान सके, सबके साथ कंधे से कंधा मिला कर काम करने के लिए तैयार हो सके, लेखक और बुद्धिजीवी होने के नाते अपने को एक विशिष्ट वर्ग के रूप में अलग रखने के मोहजाल से मुक्त हो सके। प्रयाग के आंदोलन में जिस प्रकार मुक्त रूप से राजनीतिक कार्यकर्ता, लेखक, व्यवसायी, वकील, क्लर्क और अन्य अनेक वर्ग एक-दूसरे के स्वर में स्वर मिला कर हिंदी की बात कह सके, अपने अनेक पारस्परिक मतभेदों को भुला और दबा कर जिस प्रकार हिंदी के प्रश्न पर एकमत हो सके, वह सचमुच स्तुत्य है। जो प्रयाग में संभव हो सका वह निश्चय ही अन्यत्र भी हो सकता है—और यदि हिंदी को अंग्रेज़ी का स्थान सचमुच लेना है तो हो कर ही रहेगा।

प्रयाग के 'हिंदी सप्ताह' की अवधि में हुई अनेक सभाओं और गोष्ठियों में से एक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सितंबर १२ को उत्तर प्रदेश के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष श्री राधाकृष्ण के सभापतित्व में एक महत्वपूर्ण विचार-गोष्ठी हुई जिसमें ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में हिंदी को माध्यम के रूप में अपनाने के प्रश्न पर अधिकारी विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये। भाग लेने वालों में विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान तथा राजनीति शास्त्र के और स्थानीय इंजीनियरिंग तथा मेडिकल कालेजों के प्राध्यापक और उच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता थे। इस बात पर सभी एकमत थे कि विज्ञान अथवा औद्योगिकी के किसी भी क्षेत्र में हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाने में ऐसी कोई भी दिक्कत नहीं है जो आसानी से दूर न की जा सके। सभी ने कहा कि पारिभाषिक शब्दों के समुचित पर्याय हिंदी में हों या न हों, हिंदी को वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा का माध्यम तुरंत बनाया जा सकता है—बशर्ते कि कोई सचमुच बनाना चाहे। लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष ने अपने विस्तृत अनुभव के आधार पर कहा कि "सारे प्रयत्नों के बावजूद देश में अंग्रेज़ी का स्तर बराबर गिरता ही जा रहा है, और गिरता ही जायगा। हम जितनी जल्दी इस बात को समझ और मान लें कि आगे बढ़ने के लिए हिंदी के सिवा कोई रास्ता नहीं है, उतना ही देश के लिए कल्याणकर होगा।" और शायद इन शब्दों से भी अधिक महत्वपूर्ण उनका यह कथन था कि "स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेज़ी पर जितना बल कभी नहीं दिया गया था, उसके प्रचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसार-उन्नयन की जितनी कोशिश कभी नहीं की गयी थी, उससे कहीं अधिक स्वतंत्रता के बाद से की जाने लगी है।" सबसे बड़े हिंदी-भाषी प्रदेश के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के ये शब्द—सो भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के १७ और हिंदी को राजभाषा बनाने के संकल्प के १४ वर्ष बाद—और उधर, सुदूर नेपथ्य से आती हुई महात्मा गांधी की आवाज़: "यदि मैं तानाशाह होता तो. . ."।

यह निश्चय ही दुख की बात है कि देश के कर्णधार अब तक यही न समझ पाये कि अंग्रेज़ी के महत्व को घटाना हमारे लिए इस समय एक अनिवार्य आवश्यकता है—क्योंकि अभी हमें स्वतंत्र हुए इतने दिन नहीं हुए कि अंग्रेज़ी के प्रति हमारी दृष्टि वैसी ही स्वस्थ, संतुलित और स्पष्ट हो सके जैसी अन्य विदेशी भाषाओं के प्रति सहज ही हो सकती है। माना कि अंग्रेज़ी आज संसार में प्रायः सर्वाधिक उपयोगी भाषा हो गयी है, पर इसका न यह अर्थ है कि प्रत्येक भारतीय के लिए अंग्रेज़ी जानना ज़रूरी है और न यही कि प्रत्येक अंग्रेज़ी जानने वाले भारतीय को अपने सामान्य, दैनंदिन जीवन में अंग्रेज़ी का उपयोग करना चाहिए। अंग्रेज़ी की अनिवार्य शिक्षा, अंग्रेज़ी के अध्ययन के लिए लोगों को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न, प्रशासकीय कार्य में अंग्रेज़ी का उपयोग—इन में से किस चीज़ की इस कारण ज़रूरत है कि अंग्रेज़ी एक महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय भाषा है?

इस प्रश्न का उत्तर कौन दे? जब तक देश के भाग्य-विधायक यह नहीं समझ जाते कि अंग्रेज़ी की गुलामी के विष को राष्ट्र के शरीर से पूरी तरह निकाले बिना पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ संभव नहीं है, कि बना पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ के स्वस्थ, संतुलित, अनाविल दृष्टि उपलभ्य नहीं हो सकती, और बिना स्वस्थ दृष्टि पाये हम कभी अपने लक्ष्य या मार्ग को भली भाँति देख न सकेंगे—जब तक हमारे शासक यह न समझ जायँगे तब तक यह आशा करना व्यर्थ है कि संविधान की राजभाषा-संबंधी धारा सचमुच मान्य होगी। शायद महात्मा गांधी के मन में कहीं यह आशंका छिपी थी कि देश स्वतंत्र भी हो जाय तो भी शायद राष्ट्रीय स्वाभिमान सच्चे अर्थ में जागृत न हो पाये। तभी तो उन्होंने अंग्रेज़ी को हटाने के लिए निरंकुश तानाशाह की शक्ति आवश्यक समझी—अन्यथा "यदि मैं तानाशाह होता" की जगह कहते: "यदि भारत स्वतंत्र हो जाता तो. . ."।

श्रद्धांजलि

सितंबर १९६४ की १२ तारीख को गजानन माधव मुक्तिबोध का स्वर्गवास हो गया—आठ मास की कठिन बीमारी के बाद।

निराला और राहुल सांकृत्यायन की याद हो आती है। मृत्यु से वे भी लड़े, हार-जीत का फ़ैसला कर पाना मुश्किल कर दिया, और फिर अनिवार्य का वरण कर ही लिया। यह दुर्दांत वरण स्वयं ही मानव विवशताओं की मर्मकथा है।

क्षितिज की दूरी और सघनता में धुँधला-सा टिमटिमाता यह नक्षत्र जब टूटा तब हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकबारगी उसके प्रति साश्चर्य जाग उठे। हर वस्तु, हर व्यक्ति, हर घटना किसी न किसी दृष्टि-बिंदु या दृष्टिपथ के क्षितिज पर पड़ सकती है, पड़ती ही है। लेकिन जब दृष्टियाँ ऐसी दूषित और विवर्ण हो जायँ और क्षितिजों के सीमांत ऐसे स्थानच्युत और विकृत हो जायँ कि सामने ही चमकता नक्षत्र हमारे लिए नेपथ्य की परोक्षता और संदर्भहीनता में खो जाय, तब ? . . .

. . .तभी तो, जब हर आकाश के विस्तार और हर क्षितिज के सीमांत को काटता हुआ नक्षत्र एक भास्वर लीक छोड़ता विलीन हो जाता है, हम इस प्रकार सहसा-विप्रलब्ध-से, हताश, हैरान रह जाते हैं।

मुक्तिबोध 'उपलब्धि' से कहीं अधिक 'संभावना' थे––और रह गये। उनकी अधिकांश कविताएँ अधूरी या अलिखित रह गयीं। उनके अधिकांश स्वप्न अव्याकृत रह गये। उनके मन के अंतिम दिनों के अधिकांश तूफ़ान, विचारों के क्वथन-मंथन सिर्फ़ उन्हें ही मथ कर उन्हीं के साथ पर्यवसित हो गये।

उनके अपूर्ण जीवन का अंत सैंतालीस वर्ष की आयु में ही हो गया। (शमशेर जी के शब्दों में) **'उनका सारा जीवन बाहर से असफल, रिक्त, किंतु अंतर से रचनाकार की प्रतिभा से खूब समृद्ध'** होता गया था। वे मौलिक काव्य-शिल्पी और चिंतक थे। सघन बिंबों और प्रतीकों के इंद्रजाल के रूप में बुनी हुई, गहरी अंतर्योजना से संपन्न लंबी कविताएँ, और वैसी ही संघटना वाले निबंध (जिनका एक संग्रह 'एक साहित्यिक की डायरी' नाम से अभी कुछ मास पूर्व प्रकाशित हुआ है)––ये मुक्तिबोध की विशेष उपलब्धियाँ हैं जो प्रकाश में आ चुकी हैं। पर मुक्तिबोध की मूलगामी विश्लेषण-बुद्धि और अंतर्दृष्टि से संपन्न प्रतिभा की ओर सबसे पहले ध्यान आकृष्ट हुआ उनकी 'कामायनी : एक मूल्यांकन' नामक आलोचना के प्रकाशन पर।

मुक्तिबोध के कृतित्व का बड़ा अंश अभी प्रकाश में भी नहीं आ सका है। पर उनके समस्त प्रकाशित-अप्रकाशित कृतित्व के बावजूद उनका जीवन एक 'अधूरी दीर्घ कविता' है––स्वयं उनके जीवन की तरह :

कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर,
जन्म लेना चाहता फिर से,
कि व्यक्तित्वांतरित हो कर,
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ, सच !
नहीं होती, कहीं भी ख़तम कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है।

एक मंजिल छोड़ कर आगे बढ़ गये काल-यात्री के चरण-चिह्नों पर दृष्टि गड़ाये, हम उसके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवदारु

●●

हजारीप्रसाद द्विवेदी

पता नहीं किसने इस पेड़ का नाम 'देव-दारु' रख दिया था। नाम निश्चय ही बहुत पुराना है, कालिदास से भी पुराना, महाभारत से भी पुराना। सीधे ऊपर की ओर उठता है, इतने ऊपर कि पास वाली चोटी के भी ऊपर उठ जाता है, एकदम द्युलोक को भेद करने की लालसा से। नीचे, शाखाएँ मर्त्य लोक को अभयदान देने की मुद्रा में फैलती जाती हैं, मानों कह रही हों, भय नहीं, मैं जो हूँ! प्रत्येक शाखा की झबरीली टहनियाँ कँटीले पत्तों के ऐसे लहरदार छंदों का वितान तानती हैं कि छाया चेरी-सी अनुगमन करती है। जिस आचार्य ने परिपाटी-विहित शिष्टजनानुमोदित सज्जा को 'छाया' नाम दिया था वह ज़रूर इस पेड़ की शोभा से प्रभावित हुआ था। पेड़ क्या है, किसी सुलझे हुए कवि के चित्त का मूर्तिमान छंद है—धरती के आकर्षण को अभिभूत कर के लहरदार वितानों की शृंखला को सावधानी से सम्हालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रीभूत मनोहर छंद! कैसी शान है, गुरुत्वाकर्षण के जड़ वेग को अभिभूत करने की कैसी स्पर्धा है—प्राण के आवेग की कैसी उल्लासकर अभिव्यक्ति है! देवताओं का दुलारा पेड़ नहीं तो यह क्या है! क्या यों ही समाधि लगाने के लिए महादेव ने 'देवदारु-द्रुम-वेदिका' को ही पसंद किया था! कुछ बात होनी चाहिए। कोई नहीं बता सकता कि महादेव समाधि लगा कर क्या पाना चाहते थे। उन्हें कमी किस बात की थी? कालिदास ने बताया है कि उन्होंने इस प्रयोजनातीत (निष्प्रयोजन तो कैसे कहें!) समाधि के लिए देवदारु-द्रुम के नीचे वेदी बनायी थी। शायद इसलिए कि देवदारु भी अर्थातीत छंद है—प्राणों का उल्लासनर्तन, जड़ शक्ति के दुर्वार आकर्षण को पराभूत कर के विपुल व्योम-मंडल में विहार करने का अर्थातीत आनंद!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं, शिव ने जब उल्लासातिरेक में उद्दाम नर्तन किया था तो उनके शिष्य तंडु मुनि ने उसे याद कर लिया था। उन्होंने जिस नृत्य का प्रवर्तन किया उसे 'तांडव' कहा जाता है। तांडव अर्थात तंडु मुनि द्वारा प्रवर्तित 'रस-भाव-विवर्जित' नृत्त ! रस भी अर्थ है, भाव भी अर्थ है, परंतु तांडव ऐसा नाच है जिसमें रस भी नहीं, भाव भी नहीं। नाचने वाले का कोई उद्देश्य नहीं, मतलब नहीं, 'अर्थ' नहीं। केवल जड़ता के दुर्वार आकर्षण को छिन्न कर के एकमात्र चैतन्य की अनुभूति का उल्लास ! यह 'एकमात्र' लक्ष्य ही उसमें छंद भरता है, इसी से उसमें ताल पर नियंत्रण बना रहता है। एकाग्रीभाव, छंद की आत्मा है। अगर यह न होता तो शिव का तांडव, बेमेल धमा-चौकड़ी और लस्टम-पस्टम उछल-कूद के सिवा और कुछ न होता। तांडव की महिमा आनंदोन्मुखी एकाग्रता में है। समाधि भी एकाग्रता चाहती है। ध्यान, धारणा और समाधि की एकाग्रता से ही 'योग' सिद्ध होता है। बाह्य प्रकृति के दुर्वार आकर्षण को छिन्न करने का उल्लास तांडव है, अंतःप्रकृति के असंयत फिंकाव को नियंत्रित करने के उल्लास का नाम समाधि है। देवदारु वृक्ष पहले प्रकार के उल्लास को सूचित करता है, शिव का 'निर्वात-निष्कंप-इव-प्रदीपः' रूप दूसरे प्रकार के। दोनों में एक ही छंद है। शिव ने समझ-बूझ कर ही देवदारु द्रुम की वेदिका को पसंद किया होगा। देवदारु के नीचे समाधिस्थ महादेव ! तुक मिल रहा है, शानदार तुक ! कौन कहता है कि कालिदास ने तुक मिलाने की परवा नहीं की। मेरा मन कहता है कि कालिदास भी तुकाराम थे, तुक मिलाने के मौजी वाग्विलासी ! मगर ये तुक भोंडे क़िस्म के नहीं होते थे, यह तो निश्चित है। 'झगरे रगरे बगरे ठग रे' में भी कोई तुक है ! मगर सारी दुनिया इसी को तुक कहती आ रही है। कुछ न कुछ तो होगा ही, सारी दुनिया पागल नहीं हो सकती। लेकिन यह भी सही है कि बात-बात में तुक मिला करता है। अगर ऐसा न होता तो 'बेतुकी' हाँकने वालों को बुरा न माना जाता। जो लोग 'तुक की बात करते हैं', वे शब्द की ध्वनियों का तुक तो नहीं मिलाते। फिर तुक है क्या !

तुक वह है जो देवदारु की गगनचुंबी शिखा और समाधिस्थ महादेव की निर्वात-निष्कंप-प्रदीप की ऊर्ध्वगामिनी ज्योति में है ! अर्थात तुक अर्थ में रहता है। ध्वनि-साम्य के तुक में कुछ न कुछ अर्थ-चारुता होनी चाहिए। ध्वनि-साम्य साधन है। तुक अर्थ का धर्म होना चाहिए। मगर ऐसा कहना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। किसी नये आलोचक ने अर्थ की लय की वकालत की है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि सारी पंडित-मंडली उस ग़रीब पर बरस पड़ी है। अगर तुक अर्थ में मिल सकता है तो लय क्यों नहीं मिल सकता। मेरे अंतर्यामी कहते हैं कि तुक तो अर्थ में रहता है, लय नहीं रहता। बहुत-से लोग अंतर की आवाज़ को आँख मूँद कर मान लेते हैं, मैं नहीं मान पाता। आँख खोलने पर भी अगर अंतर की आवाज़ ठीक जँचे तो मान लेना चाहिए, क्योंकि उस अवस्था में भीतर और बाहर का तुक मिल जाता है। शिव जी ने अंतर और बाहर का तुक मिलाने के लिए ही तो देवदारु को चुना था। अंतर्यामी भी बहिर्यामी के साथ ताल मिलाते रहें, यही उचित है। महादेव ने आँखें मूँद ली थीं, देवदारु ने खोल रखी थीं। महादेव ने भी जब आँख खोल दी तो तुक बिगड़ गया, छंदोभंग हो गया, त्रैलोक्य को मद-विह्वल करने वाला देवता भस्म हो गया। उसका फूलों का तूणीर जल गया, रत्नजटित धनुष टूट गया। सब गड़बड़ हो गया। सोचता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ, उस समय देवदारु की क्या दशा हुई होगी। क्या इतनी ही फक्कड़ाना मस्ती में झूम रहा होगा? क्या ऐसा ही बेलौस खड़ा होगा? शायद हाँ। क्योंकि शिव की समाधि टूटी थी, देवदारु का तांडव—रसभावविवर्जितमहानृत्त—नहीं टूटा था। देवता की तुलना में वह निर्विकार रहा—काठ बना हुआ। कौन जाने इसी कहानी को सुन कर किसी ने इसे 'देवता का काठ' (देवदारु) नाम दे दिया हो। फक्कड़ हो तो अपने लिए हो बाबा, मनुष्य के लिए तो निरे काठ हो; दया नहीं, माया नहीं, मोह नहीं, आसक्ति नहीं, निरे काठ! ऐसों से तो देवता ही भला! कहीं न कहीं उसमें दिल तो है। मगर यह भी कैसे कहा जाय? देवता के दिल होता तो लाज-शरम भी होती, लाज-शरम होती तो आँखों की पलकें भी झँपतीं। लेकिन देवता है कि केवल ताकता रहता है, पलकें उसकी झँपती ही नहीं! एक क्षण के लिए उसने आँखें मूँदी कि अनर्थ हुआ! बहुत सावधान, सदा जाग्रत।

अलबत्ता, महादेव इन देवताओं से भिन्न थे। जहाँ आँखें झुकनी चाहिए वहाँ उनकी आँखें झुकती थीं, जहाँ टकटकी बँधनी चाहिए वहाँ बँध जाती थी। पार्वती जब वसंत-पुष्पों के आभरण से सजी हुई संचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उनके सामने आयीं, तो उनके (पार्वती के) बिंब-फल के समान अधरोष्ठ वाले मोहक मुख पर उनकी टकटकी बँध गयी। फिर उनकी आँखें झुकी भी। वे मनुष्य के समान विकारग्रस्त हुए। वे देवताओं में मनुष्य थे—महादेव! उस दिन देव-दारु चूक गया। वह सब देखता रहा। इतना बड़ा अनर्थ हो गया और आपने अवधूतपन का बाना नहीं छोड़ा। वह महावृक्ष नहीं बन सका, 'देव-दारु' बन गया। आँखें खोले रहना भी कोई तुक की बात है! महावृक्ष वनस्पति होते हैं, जिनमें भावुकता तो नहीं पर सार्थकता होती है, जो फूल तो नहीं देते पर फल देते हैं—'अपुष्पा फलवंतो ये'। देवदारु चूक गया, 'वनस्पति' की मर्यादा से वंचित रह गया!

तो क्या हुआ? यह सब मनुष्य की आत्मकेंद्रित दृष्टि का प्रसाद है। देवदारु को इससे क्या लेना-देना? वह तो जैसा है, वैसा बना हुआ है। तुम उसे वनस्पति कहो या देवता का काठ कहो? तुम्हें अच्छा लगता है तो अच्छा नाम देते हो, बुरा लगता है तो बुरा नाम देते हो। नाम में क्या धरा है? मुमकिन है, इसका पुराना नाम देवतरु हो। देवता का तरु नहीं, देवता भी और तरु भी। देव हो कर वह छंद है, तरु हो कर अर्थ है। छंद, समष्टिव्यापिनी जीवन-गति के समानांतर चलने वाले व्यष्टिगत प्राणवेग का नाम है; अर्थ, समाजस्वीकृति-प्राप्त संकेत हुआ करता है।

जहाँ बैठ कर लिख रहा हूँ वहाँ से ऊपर और नीचे पर्वतपृष्ठ पर देवदारु वृक्षों की सोपान परंपरा-सी दिख रही है। कैसी मोहक शोभा है! वृक्ष और भी हैं, लोगों ने नाम भी बताये हैं, पर सब छिप गये हैं। दिखते हैं आकाशचुंबी देवदारु। ऐसा लगता है कि ऊपर वाले देवदारु वृक्षों की फुनगी पर से लुढ़का दिया जाऊँ तो फुनगियों पर ही लोटता हुआ हज़ारों फीट नीचे तक जा सकता हूँ, अनायास! पर ऐसा लगता ही भर है। भगवान न करें कि कोई सचमुच लुढ़का दे। हड्डी-पसली चूर हो जायगी। जो कुछ लगता है वह सचमुच होने लगे तो अनर्थ हो जाय। लगने में बहुत-सी बातें ग़लत लगती हैं। इसीलिए कहता हूँ कि लगना अर्थ नहीं होता, कई बार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनर्थ होता है। अर्थ वास्तविकता है, बाह्य जगत की सचाई है; लगता है सो मन का विकल्प है, अंतरजगत की स्पृहा मात्र है, छंद है। दोनों में कहीं ताल तुक मिल जाता तो काम की बात होती। नहीं मिलता, यह खेद की बात है। ताल-तुक मिलना अर्थ है, न मिलना अनर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ न कुछ लगता रहता है। मजेदार बात यह है कि व्यक्ति का लगना अलग-अलग होता है। 'अ-लग' अर्थात जो न लगे। लगता है पर नहीं लगता, यह भी कोई तुक की बात हुई? तुक की बात तब होती जब लगना 'अलग' लगना न होता। इसीलिए कहता हूँ कि तुक अर्थ में होता है। जिसने इस पेड़ का नाम देवदारु दिया था उसे क्या लगा था, कह नहीं सकता। बात औरों को भी कमोबेश लगी होगी, तभी सबने मान लिया। जो सबको लगे सो अर्थ; एक को लगे, बाक़ी को न लगे तो अनर्थ! अलगाव को ही पुराने आचार्यों ने पृथकत्व-बुद्धि नाम दिया है। और भी समझा कर कहा है कि यह अलगाव 'मैं-पन' है, 'अहंकार' है। इधर कवि लोग हैं कि उन्हें हमेशा कुछ देख कर कुछ न कुछ लगता ही रहता है। खुलेआम कहते हैं कि मुझे ऐसा लग रहा है। क्यों कहते हो बाबा, कि 'मुझे' ऐसा लग रहा है। दुनिया की ओर भी देखो। वह तुम्हें पागल कहेगी। पागल को भी तो कुछ न कुछ लगता ही रहता है! मगर दुनिया को देखता हूँ तो हैरत में पड़ जाता हूँ। कवि को जो कुछ लगता है उसके लिए वाह-वाह कह के उसे सिर उठा लेती है। कुछ समझ में नहीं आता—'हौं ही बौरी विरह बस कै बौरो सब गाँव'!

बिहारी अच्छे-ख़ासे कवि माने जाते हैं। उन्हीं की बात याद आ गयी थी। बात इतनी ही-सी थी कि कोई विरह की मारी स्त्री कह रही है कि मैं पागल हो गयी हूँ या सारा गाँव ही पागल हो गया है? क्या समझ कर ये लोग चाँद को ठंडी किरन वाला कहते हैं—'कहा जानि ये कहत हैं ससिहिं सीतकर नाँव।' विरह की मारी महिला का दिमाग़ बिगड़ गया है, जो सब को ठंडा लगता है उसे वह दाहक मान रही है। पागलपन ही तो है। मगर जब बिहारी ने इसे दोहा छंद से बाँध दिया तो बात बिलकुल बदल गयी। हाय-हाय, कैसी विरह-वेदना है कि उस सुकुमार बालिका को चाँद भी गरम मालूम पड़ता है। हृदय के भीतर जलने वाली विरहाग्नि ने उसे किसी काम का नहीं छोड़ा। हे भगवान, तुम ऐसा कुछ नहीं कर सकते कि सारे गाँव के समान इस बालिका को भी चंद्रमा उतना ही शीतल लगे जितना औरों को लगता है। अर्थात् विरहिणी की दारुण व्यथा अब सब के चित्त की सामान्य अनुभूति के साथ ताल मिला कर चलने लगी। पागल का 'लगना' एक का लगना होता है, कवि का लगना सब को लगने लगता है। बात उलट कर कही जाय तो इस प्रकार होगी—जिसका लगना सब को लगे वह कवि है, जिसका लगना सिर्फ़ उसे ही लगे, औरों को नहीं, वह पागल है। लगने-लगने में भी भेद है। जो सब को लगे वह अर्थ है, जो एक को ही लगे वह अनर्थ है। अर्थ सामाजिक होता है।

मगर देवदारु नाम केवल नाम ही नहीं है। मैंने अपने गाँव के एक महान् भूतभगावन ओझा को देवदारु की लकड़ी से भूत भगाते देखा है। आजकल के शिक्षित लोग भूत में विश्वास नहीं करते। वे भूत को मन का वहम मानते हैं। पर गाँव में भूत लगते मैंने देखा है। भूत भगाते भी देखा है। भूत भी 'लगता' है। सब लगालगी वहम ही होती होगी। आँखों की भी। बिहारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानते थे। कह गये हैं—लगालगी लोयन करें, नाहक मन बँधि जाय। नाहक अर्थात बेमतलब, निरर्थक।

हमारे गाँव में एक पंडित जी थे। अपने को वे महाविद्वान मानते थे। विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के ज़ोर से नहीं, फचफचाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था। अगर कुछ कँड़े का हुआ तो दैहिक बल से जय-पराजय का निश्चय होता था। मेरे सामने ही एक बार खासी गुत्थमगुत्थी हो गयी। गाँव-जवार के लोगों को पंडित जी की विद्या पर भरोसा नहीं था पर उनकी फचाफच वाणी और भीम काया पर विश्वास अवश्य था। शास्त्रार्थ में पंडित जी कभी हारे नहीं। कम लोग जानते हैं कि शास्त्रार्थ में कोई हारता नहीं, हराया जाता है! पंडित जी के यजमान जब उनके पीछे लाठी ले कर खड़े हो जाते थे तो उनकी विजय निश्चित हो जाती थी। पंडित जी केवल बड़े दिग्गज विद्वानों को ही नहीं, आसपास के भूतों को भी पराजित करने में अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानते थे। गायत्री का मंत्र (जो उनके मुख से आल्हा जैसा सुनायी देता था!) और देवदारु की लकड़ी उनके अस्त्र थे। एक बार वे बगीचे से गुज़र रहे थे, घोर अंधकार, भयंकर सुनसान! क्या देखते हैं कि आगे दनादन ढेले गिर रहे हैं। पंडित जी का अनुभवी मन तुरंत ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है। मनुष्य इतनी तेज़ी से ढेले नहीं फेंक सकता। पंडित जी डरने वाले नहीं थे। पीछे मुड़ कर ललकारा—अरे केवन है! केवन अर्थात् कौन। पीछे मुँड़कट्टा, घोड़े पर चढ़ा, बढ़ा आ रहा था, टप्प-टप्प-टप्प! (यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए बता दूँ कि एक बार मैंने अपने गाँव के भूतों के जाति भेद की जाँच की थी। कुल तेईस क़िस्म के हैं। 'मुँड़कट्टा' एक भूत ही है। मूँड़ नहीं है। छाती पर दो आँखें मशाल की तरह जलती रहती हैं। घोड़े पर चढ़ कर चलता है।) सो, पंडित जी से उलझने की हिमाक़त की इस दुरंत मुँड़कट्टे ने। डरने वाला और कोई होता है। पंडित जी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मंत्र के पाठ में बाधक था। झमाझम गायत्री पढ़ने लगे। देवदारु की लकड़ी मुट्ठी में थी। दे रद्दे पर रद्दा। बिचारा मुँड़कट्टा त्राहि-त्राहि कर उठा। अब की बार छोड़ दो पंडित जी, पहचान नहीं सका था। अब फिर यह गलती नहीं होगी। आज से मैं तुम्हारा गुलाम हुआ। पंडित जी का ब्राह्मण मन पसीज गया। नहीं तो यह सारे गाँव-जवार का कंटक समाप्त ही हो गया होता। मैं ने यह कहानी स्वयं पंडित जी के मुँह से सुनी थी। अविश्वास करने का कोई उपाय नहीं था—फ़र्स्ट हैंड इनफ़र्मेशन था। उस दिन मेरे बाल चित्त पर देवदारु की धाक जम गयी थी। अब भी क्या दूर हुई है!

आज देवदार के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुँड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुँड़कट्टे होते हैं, आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की चीज़ उनके पास होती ही नहीं। मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गयी तो फूल की संभावना ही कहाँ रही—'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्योद्भवः कुतः!' क्या इन मुँड़कट्टों को देवदारु की लकड़ी से पराभूत किया जा सकता है? करने का प्रयत्न ही तो कर रहा हूँ। पर पंडित जी के पास जो फचफची गायत्री थी वह कहाँ पाऊँ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन की सारी भ्रांति को दूर करने वाले देवदारु, तुम्हें देख कर मन श्रद्धा से जो भर जाता है, वह अकारण नहीं है। तुम भूतभगावन हो, तुम वहम-मिटावन हो, तुम भ्रांतिनसावन हो। तुम्हें दीर्घ काल से जानता था। जानता था पर पहचानता नहीं था। अब पहचान भी रहा हूँ। तुम देवता के दुलारे हो, महादेव के प्यारे हो, तुम धन्य हो!

जानता हूँ कि बुद्धिमान लोग कहेंगे कि यह महज़ गप्प है। यह भी जानता हूँ कि कदाचित् अंतिम विश्लेषण पर पंडित जी की कहानी 'पत्ता खड़का, बंदा भड़का' से अधिक वज़नदार न साबित हो। संभावना तो यहाँ तक है कि पत्ता भी न खड़का हो और पंडित जी ने आद्योपांत पूरी कहानी बना ली हो। मगर बलिहारी है इस सर्जन-शक्ति की। क्या शानदार कहानी रची है पंडित जी ने! आदि काल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य मिथकीय युग में रहता था। जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था वहाँ मिथकीय तत्वों से काम लेता था। मिथक गप्पें भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास हैं। आज भी क्या हम मिथकीय तत्वों से प्रभावित नहीं हैं? भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है। उसमें स्वच्छंद संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छंद विचरण करता है। आश्रय लेता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटा कर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देने वाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं, आवरणों की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचानने वाले कला-समीक्षक कहलाते हैं। दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है, दोनों धोखा खाते हैं। भूत तो सरसों में है। जो सत्य है वह सर्जना-शक्ति के हिरण्मय पात्र में मुँह बंद किये ढँका ही रह जाता है। एक पर एक गप्पों की परतें जमती जा रही हैं। सारी चमक सीपी की चमक में चाँदी देखने की तरह मन का अध्यास मात्र है। गप्प कहाँ नहीं है, क्या नहीं है? मगर छोड़िए भी।

देवदारु भी सब एक-से नहीं होते। मेरे बिल्कुल पास में जो है वह जरठ भी है, खूसट भी। जरा उससे नीचे की ओर जो है वह सनकी-सा लगता है। एक मोटे राम खड्ढ के एक प्रांत पर उगे हैं, आधे ज़मीन में, आधे अधर में; आधा हिस्सा ठूँठ, आधा जगर-मगर; सारे कुनबे के पाधा जान पड़ते हैं। एक अल्हड़ किशोर है, सदा हँसता-सा; कवि-जैसा लगता है। जी कहता है, इसे प्यार किया जाय। सदा से ऐसा होता आया है। हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है। एक इतना कमनीय था कि बैल की ध्वजा वाले महादेव ने उसे अपना बेटा बना लिया था। पार्वती माता की छाती से दूध ढरक पड़ा था। कालिदास खुद कह गये हैं। मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाईस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सब को एक ही जैसा देखते हैं। उनके लिए वह खूसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिंझौटा, वह झबरैला, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह धोकरा, वह नटखटा, वह चपरगेंगा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी, सब समान हैं। महादेव जी के प्यारे बेटे के कमनीय व्यक्तित्व को भी सब नहीं पहचान सकते थे। एक मदमत्त गजराज आये और अपने गंडस्थल की खाज मिटाने के लिए उसी पर पिल पड़े। जड़ें हिल गयीं, पत्ते झड़ गये, खाल छूट गयी और आप खाज मिटाते रहे। महादेव जी को बड़ा क्रोध आया। आना ही था। उन्होंने उसकी रक्षा के लिए एक सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तनात कर दिया। पर मेरे सामने जो अल्हड़ कवि हैं, इनका क्या होगा। वह तो कहिए कि इधर हाथी आते ही नहीं। फिर भी डर तो लगता ही है। हाथी न सही, गधों और खच्चरों से तो शहर भरा पड़ा है। लेकिन मैं जिधर हूँ, उधर वे भी कम ही आते हैं। गाहे-बगाहे आ भी जाते हैं पर उन्हें देवदारु की तरफ़ देखने की फ़ुरसत नहीं होती। उन्हें देखने को और बहुत-सी चीज़ें मिल जाती हैं। बहरहाल, कोई ख़ास चिंता की बात नहीं है। इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ़ जाति देखते आ रहे हैं, व्यक्तित्व देखने की न उन्हें आदत है, न परवा है। संत लोग चिल्ला कर थक गये कि 'मोल करो तलवार की, पड़ा रहन दो म्यान', मगर तलवार बंद ही रह गयी, म्यान के मोलभाव से बाज़ार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है! अर्थ मात्र जाति है; छंद मात्र, व्यक्तित्व हैं। अर्थ आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि वह धरती पर चलता है; छंद आसानी से पकड़ में नहीं आता, वह आसमान में उड़ा करता है।

बात यह है कि जब मैं कहता हूँ कि देवदारु सुंदर है तो सुनने वाले सुंदर का एक सामान्य अर्थ ही लेते हैं। हज़ार तरह के सुंदर पदार्थों में रहने वाला एक सामान्य सौंदर्य धर्म। सौंदर्य का कौन-सा विशिष्ट रूप मेरे हृदय में उल्लास तरंगित कर रहा है, यह बात बस, मैं ही जानता हूँ। अगर मुझमें इस बात को कहने की शक्ति नहीं हुई तो यह गूँगे का गुड़ बनी रह जायगी। जिसमें शक्ति होती है वह कवि कहलाता है। अनेक प्रकार के कौशल से वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है, फिर भी शब्दों का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है। शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं। कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है। वह छंदों के सहारे, उपमान-योजना के बल पर, ध्वनि-साम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण करता है। तो भी क्या सब उसके विशिष्ट अर्थ को समझ पाते हैं? बिल्कुल नहीं। कोई बड़भागी होता है जिसके दिल की धड़कन कवि के दिल की धड़कन के साथ ताल मिला पाती है। कवि के हृदय के साथ जिसका हृदय मिल जाय उसे 'सहृदय' कहा जाता है। देवदारु की ऊर्ध्वशिखा शोभा मेरे हृदय में एक विशेष उल्लास पैदा करती है। मेरे पास कविकौशल नाम की चीज़ नहीं है। मैं अपने विशिष्ट अनुभवों का साधारणीकरण नहीं कर पा रहा हूँ। कवि होता तो कर लेता। उपमानों की घटा खड़ी कर देता, सहृदय के चित्त को अपने चित्त के ताल पर नृत्य कराने योग्य छंद ढूँढ़ लेता, ध्वनियों की नियत संचारी समता का ऐसा समा बाँधता कि सुनने वाले का मन मयूर की भाँति नाच उठता, पर मेरे भाग्य में यह कुछ भी नहीं है। केवल आँख फाड़ कर देखता हूँ, पाषाण की कठोर छाती भेद कर यह देवदारु न जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहा है और क्रम-ह्रस्व छाया का वितान तानता हुआ ऊर्ध्व लोक की ओर किसी अज्ञात निर्देशक के तर्जनी-संकेत की भाँति कुछ दिखा रहा है। यह इतनी उँगलियाँ क्या यों ही उठी हुई हैं? कुछ बात है, अवश्य कुछ रहस्य है। भीतर ही भीतर अनुभव कर रहा हूँ पर बता सकूँ, ऐसी भाषा कहाँ है। हाय, मैं असमर्थ हूँ, मूक हूँ! मीमांसकों का एक संप्रदाय मानता था कि शब्द का अर्थ वहाँ तक जाता है जहाँ तक वक्ता ले जाना चाहता है। वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। ये लोग कहते हैं कि जब जैमिनि मुनि ने कहा था कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तो उनका यही मतलब था। मेरा रोम-रोम अनुभव कर रहा है कि मुनि की बात का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए। कहाँ विवक्षा इतनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर तक ले जाती है? 'सुंदर' शब्द का प्रयोग कर के मैं जो कहना चाहता हूँ, वह कहाँ प्रकट हो पा रहा है? कहना तो बहुत चाहता हूँ, कोई समझे भी तो। नहीं, शब्द उतना ही बता पाता है जितना लोग समझते हैं। वक्ता जो कहना चाहता है उतना कहाँ बता पाता है वह? दुनिया में कवियों की जो क़दर है वह इसीलिए है कि वे जो अनुभव करते हैं उसे श्रोता के चित्त में प्रविष्ट भी करा सकते हैं। प्रेषणधर्मिता उनके कहे का एक प्रधान गुण है। मैं नहीं पहुँचा पाता हूँ उस अर्थ को जिसे मेरा मन अनुभव कर रहा है। क्योंकि मैं शब्दों और छंदों का ऐसा अस्त्र नहीं बना पाता हूँ जो मेरी अनुभूतियों को ले कर तीर की तरह श्रोता के हृदय में चुभ जाय। अर्थ निश्चय ही वक्ता की इच्छा के अधीन नहीं है। वह सामाजिक स्वीकृति चाहता है। उसमें लय नहीं, संगीत नहीं, नाद नहीं, गति नहीं। वह स्थिर है। शब्दों के गतिशील आवेग से वह हिलता है, भरभराता है, नये-नये परिवेश में सजता है और तब कहीं नया अर्थ पैदा करता है। अर्थ में लय नहीं होता, वह लय के सहारे नया अर्थ देता है।

लेकिन देवदारु है शानदार वृक्ष। हवा के झोंकों से जब हिलता है तो इसका आभिजात्य झूम उठता है। कालिदास ने इसी हिमालय के उस भाग की, जहाँ से भागीरथी के निर्झर झरते रहते हैं, शीतल-मंद-सुगंध पवन की चर्चा की थी। उन्होंने शीतलता को भागीरथी के निर्झर-सीकरों की देन कहा, सुगंधि को आसपास के वृक्षों के पुष्पों के संपर्क की बदौलत घोषित किया, लेकिन मंदी के लिए मुहुःकंपित देवदारु को उत्तरदायी ठहराया। देवदारु के बारंबार कंपित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगांतर की संचित अनुभूति ने ही मानों यह मस्ती प्रदान की है। ज़माना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदान में जा बसे हैं और ख़ासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी ख़ानदाना चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ मानों कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ, तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम हैं, मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—'मों ते दुरैहौ कहा सजनी निहुरे निहुरे कहुँ ऊँट की चोरी!' हजारों वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साक्षी दुर्लभ है।

—पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़-३

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्यास्त के बाद का दृश्य

●

आतप-तपी सुमेरु-शरीरा,
नदी-नाद-नद-वाद-वादिनी सिंधु-गँभीरा,
मूर्ति पूर्ति की,
त्याग-तोष की तोरा,
सत्य-संवारी
धरा हमारी—
विदा-वंदना-सहित—अर्चना रवि को दे कर,
अंतिम अरुणा की कर-कंपित-करुणा ले कर,
धावित आते अंधकार पर
जय पाने को सजग खड़ी है।

●

केदारनाथ अग्रवाल
एडवोकेट, बाँदा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक कहानी के संदर्भ में
श्लीलता-अश्लीलता : एक विवेचन

●●

लक्ष्मीकांत वर्मा

: १ :

साहित्य को असाहित्यिक मर्यादाओं से और सौंदर्य को असौंदर्यवादी दृष्टि से जब हम देखते हैं तो दृष्टिदोष होने के नाते अनेक प्रकार की विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। साहित्य की सफलता सर्जनात्मक, अनुभूतिशील अभिव्यक्ति में है। सुंदर भी वही है जो सर्जनशीलता के साथ-साथ वस्तु-विधान और तत्व-संगठन की माँगों की भी पूर्ति करता है। साहित्य, सौंदर्य, अनुभूति और दृष्टि की सार्थकता भी इसी में है कि रचना के तत्वों को उसके गठन के अनुपात में मूल्यवान बनाने में योग दे ! उसके लिए यह माँग प्रस्तुत करना ग़लत है कि वह श्लील भी हो या अश्लील न ही हो, या उससे प्लेग की बीमारी दूर हो जाय या उससे राष्ट्र का चरित्र ऊँचा उठ जाय या नीचे गिर जाय। यह एक **अतिरिक्त माँग** है जो किसी भी साहित्यिक या कलात्मक प्रतिमान में नहीं लाया जा सकता।

नैतिकता और शुचिता के दुराग्रहों ने जितना अधिक साहित्य और कला का अहित किया है उतना शायद अन्य किसी भी वस्तु ने नहीं किया है। इस असाहित्यिक, असौंदर्यवादी, शुचितावादी दृष्टि के दुष्परिणाम इतिहास के उस युग पर अंकित है जब विश्व के अधिकांश भूभाग में सौंदर्य की असंख्य प्रतिमाओं का भंजन किया गया था। इन दुराग्रहों ने जीवन के यथार्थ को देखने की दृष्टि ही कलुषित कर दी है। इनके परिणामस्वरूप कलात्मक या साहित्यिक उपलब्धियों की अपेक्षा वर्जनाएँ अधिक महत्वपूर्ण बन गयी हैं। इन वर्जनाओं ने मनुष्य को छोटा बना दिया है। जब किसी भी युग में श्लीलता, नैतिकता और शुचिता के नाम पर वर्जनाओं का आधिक्य हो जाता है तो अनेक प्रकार की कृत्रिमताएँ आने लगती हैं। यही नहीं, ये कृत्रिमताएँ हमें निकृष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और निचले स्तर का साहित्यकार या कलाकार बना कर छोड़ देती हैं। फिर तो इनसे बचने का कोई चारा ही नहीं रह जाता। एक प्रकार की ऐसी मीडियाक्रिटी घर कर लेती है कि जिसमें वर्ड्स्वर्थ जैसा कलाकार भी उदात्त बनने की अपेक्षा पार्थिव और देशी की दुहाई दे कर अपनी संभावनाओं को नष्ट कर देता है।

किंतु यह तो एक पक्ष हुआ। यदि इसको मान लिया जाय तो भी क्या नितांत कलात्मक दृष्टि से देखने पर कोई भी कृति श्लील या अश्लील नहीं हो सकती? मैं समझता हूँ, कोई भी कलाकृति सुंदर या असुंदर तो हो सकती है किंतु वह श्लील और अश्लील नहीं हो सकती। वस्तुतः श्लील और अश्लील साहित्यिक या कलात्मक मानदंड ही नहीं है। साहित्य और कला के क्षेत्र में अनुभूतिशील या सौंदर्यप्रधान मानदंडों का ही प्रयोग किया जा सकता है।

मैं यह भी मानता हूँ कि नितांत सुंदर गुलाब के फूल का वर्णन समस्त नैतिकता और शुचिता के आदर्शों के बावजूद भी नितांत फूहड़ और असुंदर हो सकता है, और उसी जगह किसी नग्न मूर्ति का कला-पक्ष बिना किसी नैतिकता और शुचिता की दुहाई दिये हुए भी एक सुंदर कृति बन सकती है! अश्लीलता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि कृतिकार एक अनावृत स्त्री का वर्णन कर रहा है या किसी सुंदर फूल का। सौंदर्यात्मक मानदंडों के अनुसार एक सुंदर फूल का वर्णन इतना निर्जीव और सौंदर्यहीन हो सकता है कि वह अश्लील लगे। ठीक उसी प्रकार एक विवस्त्र स्त्री का वर्णन सौंदर्यात्मक प्रतिमानों के इतना अनुकूल हो सकता है कि वह नितांत श्लील लगने लगे। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि लेखक या कलाकार का अनुभूत सत्य क्या है, किस स्तर का है, उसमें कितनी व्यापक दृष्टि और किसी व्यापक सत्य को ग्रहण करने की कितनी शक्ति है। जैसे एक प्यूरिटन निरा भोंडे ढंग से आजन्म बाइबिल की पूजा करते रहने के बाद भी उसके अनुभूत सत्यों से सर्वथा वंचित रह सकता है, ठीक उसी प्रकार एक दूसरा व्यक्ति उसकी पूजा न कर के भी उस के अंतर में निहित मानव-सत्य को अधिक जागरूक हो कर ग्रहण कर सकता है।

अस्तु, वर्जनाएँ जब नहीं होतीं तो कला का सीधा संबंध सौंदर्यात्मक सिद्धांतों से होता है। अश्लील वह है जो कला की सर्जनशील माँगों की पूर्ति नहीं कर पाता। साहित्य या कला का उद्देश्य वर्जनाओं की पूर्ति नहीं है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य है सार्थक अनुभूति की सार्थक अभिव्यक्ति। वर्जनाएँ अनुभूति को अनुशासित करती हैं और उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की रेखाएँ खींचती हैं। साहित्यकार या कलाकार के लिए कोई भी अनुभूति त्याज्य नहीं है। हो सकता है कि एक प्यूरिटन की दृष्टि से कालिदास का 'कुमारसंभव', जयदेव का 'गीतगोविंद' और रीतिकालीन कवियों की शृंगारिक रचनाएँ अवांछनीय लगें, किंतु जहाँ तक कला-पक्ष का संबंध है, ये कृतियाँ निश्चय ही एक सार्थक अनुभूति की उपलब्धियाँ हैं।

: २ :

श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न अधिक ज्वलंत रूप से कहानी और कथा-माध्यमों के प्रयोग में उभर कर आता है। कहानी या उपन्यास में हमारे जीवन का सामाजिक पारस्पर्य,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके तथ्य और कार्यकलाप कहीं अधिक मूर्त रूप में अवतरित होते हैं। अतः उचित-अनुचित, श्लील-अश्लील की समस्या भी यहीं उठती है। आचरणों के औचित्य और श्लीलता के मानदंड समाज, उसके स्तर, परिवेश, देश और काल के भेद के साथ वदल जाते हैं। अतः यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि : श्लीलता और अश्लीलता का मानदंड क्या है? वस्तुतः श्लीलता और अश्लीलता एक सामाजिक समाज-सापेक्ष अवधारणा है। इसके मानदंड सामाजिक मूल्यों से आविर्भूत होते हैं, उसके संक्रमण और उत्थान-पतन से शासित होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इसकी मर्यादा में बँधा साहित्य उच्च कोटि का हो ही। अनेक बार तो ऐसी मर्यादाओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले कृतिकारों का साहित्य उच्च कोटि का हो गया है। इसलिए मात्र यह नारा देना कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जो बहू-बेटियों के हाथ में भी पड़ने लायक़ हो या जिसे अपने गुरुजनों के साथ भी पढ़ा और देखा जा सके, नितांत लचर और ग़लत है। यह धारणा कि पुरी में जगन्नाथ के मंदिर और कोणार्क या खजुराहो को केवल पति-पत्नी ही देख सकते हैं या 'गीतगोविंद' को केवल प्रेमी-प्रेमिका ही पढ़ सकते हैं या 'कुमारसंभव' का पाठ एकांत में ही किया जा सकता है—एक प्रकार की मध्ययुगीन छोटे दिमाग़ की उपज है। साहित्य या कला के क्षेत्र में इस प्रकार की वर्जनाएँ निरर्थक होती हैं। यह प्रायः असाहित्यिक व्यक्तियों की घोषणा हुआ करती है। इससे किसी भी कला की मार्मिक अभिव्यक्ति नहीं रोकी जा सकती।

यदि हम भारतीय जीवन का अध्ययन करें और धर्मग्रंथों से ले कर पुराणों तक का विश्लेषण करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि कम से कम हमारे संस्कारों में इस प्रकार का कोई भी दुराग्रह नहीं रहा है। यहाँ ययाति अपने पिता को यौवन-दान दे सकता है, भीष्म पितामह अपने पिता के भोग के लिए आजन्म अविवाहित रहने का प्रण ले सकते हैं, और द्रौपदी पाँच पतियों की पत्नी बन सकती है। साहित्य और कला के क्षेत्र में कम से कम हमारे प्राचीन साहित्य में, विशेषतः क्लैसिकल साहित्य में, इस प्रकार का कोई भी भ्रम नहीं रहा है। पुराणों में तो यह भी वर्णन है कि समुद्र-मंथन के समय विष्णु के मोहिनी रूप पर शिव आसक्त हो गये थे, और उनके पीछे लोलुप हो कर दौड़े थे। ब्रह्मा ने स्वयं अपनी आत्मजा पर आसक्त हो कर उसी को भोगना चाहा है। भविष्य पुराण में नारद ने प्रद्युम्न से बदला लेने के लिए उसे अपने पिता के पास ऐसे समय भेजा जब वह अपनी तीन सौ साठ रानियों के साथ वन-विहार कर रहे थे और उनकी आसवपान से उन्मत्त पत्नियाँ प्रद्युम्न को घेर कर उसे आलिंगन-बद्ध कर लेती हैं। कृष्ण प्रद्युम्न को दोषी समझ कर उसे कोढ़ी होने का शाप भी दे देते हैं। कुणाल पर तिष्यरक्षिता की आसक्ति के प्रसंग को तथा ईडिपस और युसुफ़-जुलेखा के समस्त कथा-संदर्भों को ही प्यूरिटनवादी अश्लील क़रार देंगे।

इन समस्त स्थितियों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जीवन की वह सारी विस्तृत व्यापार-राशि साहित्य और कला का विषय-वस्तु हो सकती है जिसे हम साहित्य और कला के मानदंडों के आधार पर संयोजित या नियोजित कर सकते हैं। उनका कलात्मक पक्ष कभी भी नैतिक या सामाजिक आचार-विचार की दृष्टि से निम्न कोटि का नहीं सिद्ध किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रोणाचार्य और कुंभज ऋषि की जन्मकथा, कर्ण की जन्मकथा या राम और कृष्ण की जन्मकथाएँ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वस्तुतः इन चारों कथाओं को मिला कर देखने से ही मानव-जीवन का सर्वांग चित्र बनता है। कलात्मक पक्ष से जब हम मिल्टन का 'पैराडाईज़ लास्ट' पढ़ते हैं और 'सैटन' के व्यक्तित्व और चरित्र का साक्ष्य स्वयं मिल्टन जैसे प्यूरिटन की लेखनी से चित्रित पाते हैं तो आश्चर्य होता है कि वह क्यों और कैसे इतने शक्तिशाली चरित्र का निर्माण कर सका। 'सैटन' का व्यक्तित्व यदि 'पैराडाईज़ लास्ट' में 'गॉड' के समकक्ष लगता है तो इसमें मिल्टन के नैतिक पक्ष को ले कर आलोचना करना उस कृति के प्रति अन्याय तो होगा ही, साथ ही कला के अपेक्षित तत्वों की भी अवहेलना होगी। इसलिए ऐसी कृतियों का वास्तविक मूल्यांकन भी उसी समय किया जा सकता है जब उस घटना-विशेष को हम उस कलाकृति के रचना-तत्वों की माँग की सापेक्षता में देखें।

: ३ :

लेकिन एक दूसरी अनुदृष्टि से उन लोगों के कथन में भी आंशिक सत्य है जो साहित्य में अश्लीलता का विरोध करते हैं। वास्तव में जो साहित्य या कलाकृति अनुभूत और अद्वितीय नहीं होता, वह रोमांचप्रधान और अतिभावुक, 'सेंसुअस' और 'सेंटीमेंटल' होता है। इन दोनों प्रकार की कृतियों में केवल सतही संवेदना और अधकचरा अधभोगा सत्य ही होता है जो बिना सार्थकता के केवल भावनाओं को उत्तेजित कर पाता है और हमारे ऐंद्रिय सुख के लक्ष्य को ही प्राप्त कर पाता है। ऐसी कृति में कलात्मक पक्ष के स्थान पर ऐंद्रिय मोह का पक्ष ही अवधान का केंद्र बन जाता है जिससे वह अश्लील लगने लगती है। ऐसे साहित्य का विवेचन और मूल्यांकन कठिन तो है ही, एक प्रक्रिया के रूप में वह सर्वथा निषेधात्मक भी है, जिससे कला या साहित्य का शुभ नहीं होने वाला है। रोमांचकारी साहित्य का अभिभावक है मनोरंजनवादी पाठक तो अतिभावुकतावादी साहित्य के प्रश्रयदाता हैं वे पाठक जो इससे एक नशे का काम लेना चाहते हैं। पहला फ़ार्मूले पर चलता है तो दूसरा असंतुलित रेचन पर। एक क्षणिक सुख देता है, दूसरा विकृत असंतुलन।

आज की यथार्थवादी दृष्टि की सापेक्षता में देखने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि यदि हमें अपने परिवेश और जीवन के यथार्थ का चित्रण करना है तो फिर उसकी अभिव्यक्ति मात्र शब्दाडंबर और मिथ्या वाक्स्फीति से संभव नहीं हो सकती और जब हम मात्र शब्दाडंबर बिंब-विधान और इसी प्रकार के अन्य रूपों को छोड़ कर आगे बढ़ने की चेष्टा करेंगे तो निश्चय ही केवल थोथी कुहरिल भाषा और चित्रण-शैली से काम नहीं चल पायगा। आज के कथा-साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग हो रहा है वह यद्यपि अधिक सटीक और यथार्थवादी नहीं है, फिर भी उसमें अधिक यथार्थवादी होने की चेष्टा है। छायावादी प्रवृत्ति की कहानियाँ 'आकाशदीप' से ले कर 'रोज़' तक यथार्थवादी भाषा से वंचित हैं। उनकी मानसिक पृष्ठभूमि में जीवन का मांसल तथ्य परोक्ष में रहता है। छायावादी साहित्यकार जिस कल्पना को झीने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्नलोक के तंतुओं से जोड़ता था, वह अपने झिलमिलेपन के कारण केवल नशे की दशा का बोध दे पाता था। उसमें अश्लील होने का प्रश्न उठता ही नहीं क्योंकि यदि 'आकाशदीप' की कथा की भाँति दो मानवीय आत्माएँ मिलती भी हैं तो वे अशरीरवादी हो कर प्रकट होती हैं और सुरसुराहट मात्र का वातावरण पैदा कर के चली जाती हैं। उनको हम कल्पना में अनुभव कर सकते हैं किंतु देख नहीं सकते। ऐसा लगता है कि चंपा और बीजगुप्त एक दूसरे को छूते ही नहीं। इतनी बातें वे करते हैं, फिर भी जैसे उनमें मीलों का फ़ासला है।

आज की नयी कहानी यद्यपि भावुकता में शायद उतनी ही अयथार्थवादी है, काल्पनिक है, और इसलिए सार्थक नहीं हो पाती, फिर भी उसमें यह विशेषता है कि उसके पात्र वायवीय नहीं लगते। ऐसा लगता है कि वे हमारे परिवेश में जीते-जागते प्राणी हैं। उन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और शायद पहचान भी सकते हैं।

प्रेमचंद की विषय-कल्पना में सन्निहित आदर्शवाद के कारण उनकी कहानियों में श्लील और अश्लील का प्रश्न नहीं उठता। विजय और सोफ़िया जैसे पात्र 'रंगभूमि' जैसे उपन्यास में यदि आ भी गये हैं तो वे प्रेमचंद के आदर्शवादी दर्शन के माध्यम बन कर रह जाते हैं। प्रेमचंद शायद 'नॉन-सेक्स' के विश्वासी थे। उनके प्रायः सभी पात्र हृदय, मस्तिष्क और आँख (जिससे वे सपने देखते हैं) तो रखते हैं किंतु उनके पास इन सबके साथ वह मांसलता नहीं है जिससे आदमी होने की गंध मिल सके। छायावाद युग के अन्य लेखकों में कम-ओ-बेश यही परंपरा मिलती है।

जैनेंद्र यद्यपि इनसे भिन्न हैं और यद्यपि वे इस मांसलता के निकट जाते भी हैं, किंतु उनकी अनिश्चय की धारणा पात्रों को केवल एक मनोवैज्ञानिक रहस्यवाद का बाना पहना कर वहीं उन्हें दफ़न कर देती है।

अज्ञेय की स्थिति थोड़ी भिन्न अवश्य है किंतु उनकी शिशुवत भावना भुवन और रेखा को केवल जिज्ञासा की प्रतिमा बना कर अतिवादी भावुकता के रेगिस्तान में भटका देती है।

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में भी समस्याओं से अधिक भावुकता ही ज़ोर मारती है और चित्रलेखा भावातिरेक में दर्शन ही बोलती है। उसके प्रति शेष पुरुष चरित्रों की आसक्ति भावुकता के कारण 'लोलुपता' बन गयी है।

छायावाद का यह शिशुसुलभ अतिभावुक मन जीवन के किसी भी सत्य का साक्षात्कार सीधे नहीं कर पाया। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचंद से ले कर भगवतीचरण वर्मा तक ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में बहस तो बहुत किया है पर जीवन को दर्शाने की चेष्टा ही नहीं की है। यशपाल ने इससे मुक्ति पाने की चेष्टा की है किंतु उनके पैरों में भी एक मतवाद की बेड़ी ऐसी पड़ी रहती है कि वह अधिक आगे नहीं बढ़ पाते।

: ४ :

आज का कहानी-लेखक शायद अधिक जागरूक है। शायद आज हमारे सामने वर्तमान युग ने बहुत-सी औपचारिकता नष्ट हो गयी है। इसीलिए आज जो वस्तुसत्य हमारे सामने है वह हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः नंगा और निरावरण दीख पड़ता है। किंतु क्या मात्र नंगे और निरावरण होने से कोई भी वस्तुसत्य अश्लील हो सकता है ? मैं समझता हूँ, आज का जीवन, उसका अनुभूतिपरक बोध और आज की मानसिक स्थिति एक निश्चित परिप्रेक्ष्य का समर्थक न हो कर एक काल में कई कालों और एक दिन में अनेक दिनों के सम्मिश्रण से हमें एक नयी प्रकार की संवेदना देती है। एक घटना अपने ही मात्र तक सीमित नहीं रहती। उसमें कई अन्य घटनाओं का अंतर और बाह्य साक्ष्य रहता है। ठीक इसी प्रकार एक अनुभूति की पृष्ठभूमि में अनेक छोटी-छोटी अनुभूतियाँ भी सन्निविष्ट होती हैं जो व्यक्त की ओट से झाँकती हुई दीख पड़ती हैं। इसलिए आज की कला भी एक के साथ अनेक घटनाओं के साक्ष्य से विकसित होती है। आज की मानसिक स्थिति में जितना भी जीवन का अनुभूत है, वह एक प्रवाहशील 'पैनेल' की पृष्ठभूमि में व्यक्त हो रहा है। यह 'पैनेल' उतना निरावरण नहीं है जितना कि वह अकेली अनुभूति जिसे हम इस प्रवाहशील 'पैनेल' के बिना देखने से समझते हैं। यदि आज का अनुभूत सत्य हम इस 'पैनेल' से पृथक कर के देखेंगे तो निश्चय ही वह संदर्भच्युत होने के नाते अश्लील, विच्छिन्न और संदर्भहीन लगेगा। किंतु इसके विपरीत यदि हम उसे संदर्भ के साथ देखेंगे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि आज की संपूर्ण संवेदना एक विभीषिका और संक्रांति के संदर्भ में व्यक्त हो रही है और उसमें जो कुछ भी निरावरण हो कर प्रस्तुत हो रहा है वह इतना नग्न नहीं है। वस्तुतः जब हम उसे उस प्रवाहशील 'पैनेल' से अलग कर के देखते हैं तभी वह नग्न लगने लगता है। यह नग्नता जितनी संदर्भहीनता के कारण लगती है, उतनी ही संस्कारहीनता के कारण भी।

तो क्या आज का कहानी-लेखक अपने युग की संपूर्ण संक्रांतिग्रस्त संवेदना का साक्षी है ? और यदि है तो क्या वह पूर्ण तटस्थता के साथ उन्हें अभिव्यक्ति दे पाता है ? आज का अभिभावक-वर्ग जब एक स्वर से इन कहानियों पर अश्लील, रोमांचकारी और अतिभावुकतावादी होने का आरोप लगाता है तो इस आरोप को हम यह कह कर नहीं टाल सकते कि आज का कहानी-लेखक जो कुछ लिख रहा है वह उसका भोगा हुआ, झेला हुआ और नितांत जटिलता से पूर्ण है और इसीलिए उस को समझने के लिए एक कहानी को बार-बार पढ़ना चाहिए या, बस, उसे पढ़ लेना चाहिए। और इसके अतिरिक्त कोई जिज्ञासा नहीं प्रकट करनी चाहिए। आज का मूल प्रश्न यह है कि कमलेश्वर की 'एक अश्लील कहानी' हमें क्यों अश्लील नहीं लगती और मार्कंडेय की 'सूर्या' कहानी में जुगुप्सा अश्लील लगती है? अश्क की 'पलँग' कहानी क्यों हमें अश्लील नहीं लगती और 'झाग' या 'बेबसी' कहानियाँ क्यों अश्लील लगती हैं ? 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' में भ्रूण-हत्या का वर्णन तक जुगुप्सा नहीं उत्पन्न करता किंतु मोहन राकेश या कृष्णा सोबती की कई कहानियों में अश्लीलता लगती है।

और तब पुनः हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : जिन कहानियों में जीवन के अनुभूत सत्यों के साथ लेखक उस प्रवाहशील 'पैनेल' की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर सका है, वे हमें अच्छी लगती हैं, किंतु जहाँ वह उस विस्तृत प्रवाहशील 'पैनेल' से अपने ठहरे हुए क्षण के मुक्त सत्य को संबद्ध नहीं कर पाता, वहाँ हमें वह नग्नता और अनावृतता, एकांगी, निरर्थक और झूठी लगती है।

दूसरी एक बात और है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कलाकार अपने सामर्थ्य के बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विषय-वस्तु अपना लेता है। उस विषय-वस्तु की ऊँचाई और गहराई के अनुपात में उसका व्यक्तित्व अपर्याप्त ढंग से अपूर्ण होता है। ऐसी स्थिति में उसकी अक्षमता ही उसके कृतित्व में झलकने लगती है। परिणामतः उसकी अक्षमता ही कृत्रिम रूप ले कर जुगुप्साकारी, अश्लील बन जाती है।

यह सच है कि आज के कलाकार के पास अतीत का गौरव और उसका नितांत आदर्श-मय मोह नहीं है, किंतु यह भी सत्य है कि आज के विकसित यथार्थ को असंपृक्त हो कर देखने के स्थान पर या तो वह उसके मोह में पड़ जाता है या उसके चकाचौंध में अपने विवेक की दृष्टि खो देता है। दोनों ही स्थितियों में वह कला के पक्ष का उतना सजीव समर्थन नहीं कर पाता। आज के नये कहानी-लेखकों में आज के यथार्थ के प्रति मोह अधिक है। उसकी सार्थकता के प्रति विवेक-शील होने की अपेक्षा वह एक प्रकार की अस्वीकृतिपूर्ण अनिवार्यता को ओढ़ लेता है। अमरकांत की प्रसिद्ध कहानी 'हत्यारे' इसी कमी का शिकार है। वे 'बीटनिक कल्ट' के लड़के, जो सहसा किसी अर्धवेश्या का भोग कर के बिना भुगतान किये भागते हैं, वैसे नहीं हैं जैसा कि अमरकांत ने दर्शित किया है। उनके इस कठोरपन के पीछे एक इतिहास और संस्कार का भग्नावशेष है। अमरकांत ने जिस जीवन को प्रस्तुत किया है, वह प्रवाहशील पैनेल के संदर्भ से टूटा होने के कारण अधूरा है और इसीलिए उसको पढ़ कर एक प्रकार की जुगुप्सा-सी जगती है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह केवल एक रेगिस्तान से खींच कर लाये गये पात्र हैं, पागल हैं, लापरवाह, ग़ैरज़िम्मेदार और व्यभिचारी है। यदि मात्र इतना ही कहना था तो फिर अमरकांत को उस कहानी को लिखने की आवश्यकता क्या थी? और अगर उसकी आवश्यकता थी तो लेखक ने उसके संपूर्ण सत्य को उद्घाटित करना क्यों आवश्यक नहीं समझा? यदि वह उनके सामर्थ्य में नहीं था तो फिर उन्होंने उस विषय को अपनी कथा का सूत्र क्यों बनाया?

ठीक इसी प्रकार उषा प्रियंवदा की प्रसिद्ध कहानी 'वापसी' है जिसमें लेखिका की दृष्टि उसी प्रेमचंदकालीन युग के विघटित आदर्श की याद दिला देती है। उषा प्रियंवदा इस संपूर्ण वातावरण में आज के जीवन का विपर्यय ही दिखला पाती है, उसके मूल्यों की ओर वे इंगित नहीं कर पातीं। यह कहानी भी ठीक उसी प्रकार अधूरी है जैसे प्रेमचंद की कहानी।

शिवानी की 'लाटी' कहानी में वही पुरानी रोमानी थीस की गूँज मिलती है। रोमानी दृष्टि से शिवानी की यह कहानी अच्छी कही जा सकती है किंतु वही पुराने त्रिकोण के फ़ार्मूले पर आधारित होते हुए भी यह किस अर्थ में नयी है, यह कहना कठिन है।

मोहन राकेश की 'आर्द्रा' या 'मिस पाल' कहानी को लीजिए। ये दोनों कहानियाँ नयी कहानी मानी जाती हैं, किंतु इन दोनों में वही रोमानी दृष्टि, वही रोमांचवादी शैली और एक टूटती हुई जीवन-पद्धति के प्रति वही व्यामोह है जो हमें प्रायः किसी भी कहानी में मिल जाता है। मोहन राकेश की भावुकता मूलतः आधुनिकता-विरोधी है। 'आर्द्रा' कहानी में उनकी सहानुभूति उस कम्यूनिस्ट पुत्र के प्रति अधिक तीव्रता से व्यक्त हुई है जो मद्रास में रहता है किंतु उसी माँ के उस पुत्र के प्रति नहीं जो पंजाब में एक गज़ेटेड अफ़सर है। उसकी अपनी सीमाएँ और मर्यादाएँ हैं। माँ की सत्रहवीं सदी की ममता के प्रति लेखक की भावुकता तो दीखती है किंतु उस भाई के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति उसकी सहानुभूति नहीं है जो एक अफ़सर होने के बावजूद माँ के प्रति बिना भावुक हुए श्रद्धालु है।

फिर यह नयी कहानी नयी कहाँ है? इसके नयी न होने का एक मात्र कारण है टूटते हुए जीवन के प्रतिमानों के प्रति अति भावुक हो जाना। इस भावुकता के कारण ही जो कुछ नयी कहानी में नये के नाम पर आ रहा है वह मात्र नयी विषय-वस्तु के कारण नया माना जाने लगा है। बिना नयी जीवन-पद्धति के विकसित यथार्थ को उस प्रवाहशील पैनेल के देखे नयी विषय-वस्तु ले लेने से ही कोई भी बात नहीं बन पाती। इन कहानियों को पढ़ कर ऐसा नहीं लगता कि हमें जीवन की कोई नयी दृष्टि मिल रही है।

: ५ :

जहाँ तक कलात्मक उपलब्धि का प्रश्न है, तथाकथित नयापन उतना ही अनावश्यक आग्रह है जितना की श्लील या अश्लील। वास्तव में जो कुछ कलाकार का भुक्त सत्य है, वह यदि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में अपने आंतरिक गठन की मर्यादा से संपन्न हो कर व्यक्त होता है तो वह चाहे जो हो, वह सुंदर और श्लील होगा, सार्थक और संवेदनशील होगा, मूल्यवान और उपलब्धि-पूर्ण होगा। प्रत्येक सफल संगठन उपलब्धि है। असफल संयोजन कृत्रिमता है। उपलब्धि ही श्लील है और कृत्रिमता, अश्लील।

आज के बदलते संदर्भों में एक प्रकार का व्यापक संघर्ष भी चल रहा है—संघर्ष है परंपरा और अपरंपरा का, संघर्ष है स्थापित और विकसित का, संघर्ष है भावुकता और विवेक का, संघर्ष है गति और अगति का, काल और काल-निरपेक्ष का, दिक-सापेक्ष और शाश्वत मूल्य का। आज छायावादी, आदर्शवादी, हृदयवादी प्रतिमान कहीं पीछे छूट गये हैं। सारे वातावरण से आवरण हटा देने के बाद प्रायः दो प्रकार की भावस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। एक तो भ्रमोद्घाटन की और दूसरा एक प्रकार के कृत्रिम व्यामोह की। दोनों ही सामान्य से भिन्न स्थितियाँ होती हैं। हमारा आज का युग इन दोनों के बीच का पिसता हुआ युग है। इसलिए इसमें बहुत-सी कृतियाँ ऐसी आ रही हैं जिन्हें ऊपर से देखने पर नया कहा जा सकता है किंतु ज़रा गहराई से देखने पर वे उतनी नयी नहीं लगतीं। ठीक उसी प्रकार आज के कृतित्व में असामान्य स्थिति से उपजी हुई जो कृत्रिमता अश्लीलता बन कर व्यक्त हो रही है वह वस्तुतः सौंदर्यात्मक गठन के अभाव से उपजा हुआ भ्रम है।

नया या श्लील को यदि हम बाह्य आवरण के माध्यम से देखेंगे तो निश्चय ही ग़लतियाँ करेंगे। नया और श्लील हमारी मानसिक स्थिति है और एक प्रकार की मानसिक वृत्ति की परिचायक है। किसी रचना के प्रभाव को जब तक हम उसके पीछे अंतर्निहित मानसिक वृत्ति और स्थिति से संबद्ध नहीं करेंगे, तब तक हम उसकी सार्थकता का मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे। यथार्थ को जो लोग एकांगी दृष्टि से देखते हैं वे सदैव किसी भी सार्थक क्षण के यथार्थ को भोगने से कतराते हैं। इसी प्रकार के लोग जब किसी भी कृति के भुक्त क्षणों के अनुभूत सत्य को सापेक्ष रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में नहीं स्वीकार कर पाते तो वे किसी भी कृति को सतही आधार पर देख कर अपना निर्णय देते हैं।

क्षण के यथार्थ की सत्ता ही इसमें है कि वह अपनी तीव्रता में एक प्रकार की कलाप्र अनिवार्यता भी ग्रहण करे और उसे चेतन विवेकपूर्ण ढंग से उपलब्धि बना सके। 'नया' भी वह हो सकता है और श्लील-अश्लील के भ्रमजाल से भी उसे तभी मुक्ति मिल सकती है।

सरयू कुटीर, मधवा
इलाहाबा

●●

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से
नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के
अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर विचार-युक्त सामग्री
प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु० मात्र।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बॉ० ८२, अजमेर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी

चट्टान

●●

अमरकांत

सामने की धूल-भरी सड़क से एक आदमी जा रहा था। इसके पहले भी मैंने उसको दो या तीन बार देखा होगा। वह पूरब से सड़क की दायीं पटरी से आता था और साइकिल-मिस्त्री महरज्जव की दुकान के पास पहुँचते ही सड़क को पार कर बायीं पटरी पकड़ लेता था। उसके शरीर पर एक ही क़िस्म की पोशाक़ होती . . .ढीला-ढाला पैजामा, तमाखू के रंग का लंबा कुर्ता, सिर पर गांधी टोपी, पैरों में पंप जूते। उम्र उसकी पचास वर्ष से अधिक न होगी, लेकिन चलता था वह सत्तर वर्ष के बूढ़े की तरह। वह दृष्टि से जल्दी ओझल होता ही न था और इससे तबीयत खीझ जाती। किसी दाना चुगते कबूतर या मुर्गी की तरह वह क़दम रखने के पूर्व सिर उठा कर आगे देखता और क़दम रखते समय सिर नीचे झुका लेता। उसका चेहरा साँवला, नाक लंबी और आँखें छोटी-छोटी थीं।

"इनको जानते हो ?"—सुरेंद्र ने पूछा।

"नहीं तो . . ."—मैं हँस पड़ा।

"यार, यह भी एक विचित्र हस्ती हैं। मुझे तो कभी-कभी इनपर बहुत दया आती है। इनकी कहानी सुनोगे ?"

"सुना सकते हो !"—मैंने उदासीनतापूर्वक उत्तर दिया।

सुरेंद्र सहसा गंभीर हो गया। उसका मुँह खुल गया था और होंठ लटक कर हिल रहे थे। वह मुख्य बात या कहानी आरंभ करने के पूर्व इसी तरह सिर नीचा कर के अपने होंठों को फड़फड़ाता था, जैसे अपने कथन को रूप और आकार देना चाहता हो। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें बाहर निकल कर चमकने लगी थीं। हम उसीके बरामदे में बैठे थे। देर से रमी खेलते-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेलते हम थक गये थे और एक कप चाय का इंतजार करते हुए सामने सड़क के मुसाफ़िरों और सवारियों को आते-जाते देख कर अपने दिमाग़ को आराम दे रहे थे। कई वर्ष पहले एक स्थानीय बारात में उससे मेरी प्रथम मुलाक़ात हुई थी, जिसने धीरे-धीरे मैत्री का रूप धारण कर लिया। निस्संदेह उसमें बहुत-सी ख़ूबियाँ थीं। उसको गाँजा, भाँग, शराब, रमी-फ़लाश वग़ैरह से काफ़ी प्रेम था। वह गोश्त-मछली बहुत बढ़िया बनाता, हाथ अच्छा देखता और फर्राटे से अंग्रेज़ी बोलता। वेदांत, हठयोग, बौद्धधर्म, सिनेमा, कला, संगीत, समाजवाद और साम्राज्यवाद पर वह समान अधिकार से बोल सकता था। ऐसे प्रतिभाशाली मित्र पर मुझको अक्सर गर्व होता।

"भाई, इंसान की ज़िंदगी विचित्र है,"—सुरेंद्र ने रहस्यमय ढंग से मुस्करा कर कहना आरंभ किया : "जो कहानी मैं तुमको सुनाने जा रहा हूँ उसका एक-एक अक्षर सच्चा है। मुझे सब कुछ मालूम है, या यह कहना उचित होगा कि मैंने दिलचस्पी ले कर और कोशिश कर के एक-एक बात का पता लगाया था। हाँ, मैं यह कहना चाहता था कि इस दुनिया में सारे दुख की जड़ है स्त्री...।"

वह सहसा चुप हो गया और अपनी दायीं हथेली को दिलचस्पी से देखने लगा। गर्मी का मौसम था और दिन के चार बजे थे, परंतु आकाश बादलों से घिर जाने के कारण ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। इसी समय नौकर ने भीतर से चाय ला कर हमारे हाथ में पकड़ा दी। कुछ देर तक हम चुपचाप चाय सुड़कते रहे।

सुरेंद्र ने दो-तीन चटखारे लेने के बाद अपनी बात जारी की : "इनका नाम है मनोहरलाल शर्मा। यह मेरे ही गाँव के रहने वाले हैं और मेरे ही पट्टीदार होते हैं। मुझसे अधिक बड़े नहीं... समझो दस या बारह साल। गाँव पर इनके पचीस बीघा खेत हैं, सात आठ बीघा बारी-बगीचा है, दो जोड़ी बैल हैं। इनके पिता लंबे, तगड़े और दस कोस में सबसे अच्छे लठैत थे। ख़ैर, मनोहरलाल जी ने अपने कुटुंब की परंपरा के विपरीत स्कूल में शिक्षा ग्रहण की। वे इसी शहर में पढ़ते थे। बड़े ही चुप्पा। किसी से मिलते-जुलते नहीं थे। वे केवल अपनी किताबों से ही मतलब रखते। नवें दर्जे में जब वे पहुँचे तो उनकी यह धारणा हो गयी कि बिना डिक्शनरी रटे वे हाई स्कूल पास ही नहीं कर सकते, इसलिए उन्होंने अपनी पाठ्य पुस्तकों के अलावा अंग्रेज़ी की कैंब्रिज डिक्शनरी शुरू से आख़ीर तक रट डाली। तुम इसकी कल्पना कर सकते हो? लड़के इनको 'डिक्शनरी बाबू' कहते थे। भाई, सच कहता हूँ कि उनको देख कर मुझे बहुत डर लगता था, यद्यपि वे मेरी ओर देखते भी नहीं थे। वे कभी हँसते भी नहीं थे...मुस्कराहट की एक क्षीण रेखा भी नहीं। किसी सभा-समारोह या तर-त्यौहार में वे कभी किसी कारणवश जाते भी तो घंटों चुपचाप बैठे रहते। लोग ठहाके लगाते और उनके चेहरे की एक लकीर भी न हिलती। अपना-अपना स्वभाव होता है। ख़ैर, दो वर्ष फ़ेल होने के बाद उन्होंने हाई स्कूल पास कर लिया। आगे पढ़ने की उनकी इच्छा नहीं थी और वे कचहरी में नक़लनवीस हो गये। अब वे मेरे ही मकान से सटा एक मकान किराये पर ले कर रहने लगे।"

"शादी नहीं हुई थी उनकी?"—मुझे महसूस हुआ कि सुरेंद्र व्यर्थ में ही अनावश्यक विस्तार में जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उसीपर आ रहा हूँ। नौकरी करने के दो या तीन वर्ष बाद उनकी शादी हुई थी। उनकी स्त्री का नाम था नीलिमा। वह गोरी तो बहुत नहीं थी, लेकिन उसका चेहरा बहुत सुंदर था और शरीर भी। जवानी के साँचे ने उसकी देह को उभार दिया था और अत्यधिक कोमल भी बना दिया था। पीपल के पत्ते की तरह वह चंचल थी। परंतु उसकी बड़ी-बड़ी स्वच्छ आँखों में अबूझ निर्दोषता और पवित्रता थी। हँसना और गाना उसको बहुत प्रिय था। वह एक शिक्षित और सुसंस्कृत कुटुंब की बेटी थी और उसके पिता ने उसको पढ़ाने-लिखाने के साथ संगीत की शिक्षा भी दिलवायी थी। उसको अपने मैके से एक हारमोनियम भी मिला था और जब मनोहरलाल दफ़्तर चले जाते तो वह अलाप छेड़ देती। उसका स्वर तेज़ परंतु मीठा था, जो हवा में गूँजने लगता। कैसा उत्साह था उसमें। मोहल्ले में किसी को लड़का होता, किसी के यहाँ शादी होती, कोई समारोह या त्योहार पड़ता तो वह इतनी खुश हो जाती जैसे उसी के यहाँ यह सब होने वाला हो। वह बार-बार अपने दरवाज़े या खिड़की पर आ कर खड़ी होती और दिन-रात गुनगुनाती रहती। उदार भी वह बहुत थी। किसी बात का उसको घमंड नहीं था। जब वह कोई अच्छी चीज़ खाने को बनाती तो पड़ोसियों के यहाँ ज़रूर भेजवाती। पड़ोस के बच्चे जब उसके घर जाते तो वह उनको बहुत प्यार करती। उनको कुछ न कुछ खाने को देती, किसी की नाक पोंछ देती, किसी का मुँह धुलाती और किसी को अपने पास बिठा कर पढ़ाने लगती। और हँसने का तो पूछो नहीं। हँसी के बिना तो वह ज़िंदा रह ही नहीं सकती थी। समझो, हर बात पर उसको हँसी आ जाती। कोई भी आता तो वह उससे हिलमिल जाती, उससे मज़ाक की बातें करती और खूब हँसती। यहाँ तक कि वह गदहों और बंदरों को देख कर भी खिलखिलाने लगती।"

सुरेंद्र चुप हो कर सामने खोया-खोया देखता रहा। आकाश में बादल दो-एक जगह फट गये थे और तेज़ धूप निकल आयी थी। सड़क से एक भारी ट्रक गुज़र रही थी, जिससे धूल चारों ओर भाप की तरह उड़ने लगी। आरंभ में मैं उदासीन अवश्य था, लेकिन अब मुझको कहानी में कुछ दिलचस्पी आने लगी। सहसा उसने एक लंबी जम्हाई ली और अपनी अँगुलियों को पटपटाया। फिर मुस्कराने लगा, जैसे उसको ऐसा क़िस्सा सुनाने का गर्व हो।

वह कह रहा था : "मनोहरलाल शर्मा का स्वभाव तो तुम जानते ही हो। एक बार उनको अपनी योग्यता पर संदेह हुआ था तो उन्होंने कैंब्रिज डिक्शनरी रट डाली थी। इस बार उनको अपनी पत्नी की हँसी पर संदेह हुआ। निस्संदेह वे अपनी पत्नी से पूर्ण समर्पण और वफ़ादारी की आशा करते थे, जैसा कि सभी मर्द चाहते हैं। इसीलिए वे चाहते थे कि नीलिमा उन्हीं की तरह किसी से मिले-जुले नहीं, खूब गंभीर रहे, ज़रा भी हँसे नहीं, गप-सड़ाका न करे। विशेष रूप से उनको यह समझ ही में नहीं आता था कि नीलिमा क्यों हँसती है। फिर सब हँसें तो हँसें, नीलिमा क्यों हँसे? जिस स्त्री का पति नहीं हँसता है, अगर वह स्त्री हँसती है तो ज़रूर कोई खास बात है। वह हँसी उनके प्रभुत्व को चुनौती देती। नीलिमा पहले अपने पति के संदेह को समझ नहीं पायी। इसीलिए जब मनोहरलाल उसकी आदतों की आलोचना करते तो उसके दिल को चोट न पहुँचती।

"शहर में नीलिमा के कुछ रिश्तेदार रहते थे। एक दिन वह अपने पति के साथ एक रिश्तेदार के यहाँ गयी। सभी लोग बाहर के बरामदे में बैठे बातें कर रहे थे कि एक बौना मदारी दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंदरों को ले कर दरवाज़े पर आया। वह मदारी इतना नाटा और गोल-मटोल था कि वह भी बंदरों का बड़ा भाई लगता था। सभी हँसने लगे। केवल मनोहरलाल जी गंभीर थे। नीलिमा तक खिलखिलाती रही, लेकिन जब उसकी दृष्टि सहसा अपने पति के चेहरे पर पड़ी तो उसके चेहरे पर आतंक और भय की एक छाया काँपने लगी। मनोहरलाल का चेहरा एकदम कठोर हो गया था। वह जल्दी ही वहाँ से उठ कर चले आये, लेकिन अपने घर के अंदर पहुँचते ही गरजने-तड़पने लगे। वे बार-बार पूछते : "तुम क्यों हँसती हो? तुम ख़ांदान को कलंकित करने पर तुली हुई हो। तुम्हारे दिल में ज़रूर कोई खोट है. . .।" उन्होंने नीलिमा के आचरण पर लांछन लगाया। नीलिमा ज़मीन पर बैठ कर आँचल में मुँह छिपा कर सिसकती रही।

"दूसरे दिन से ही नीलिमा की ज़िंदगी एकदम बदल गयी। उसने सोचा कि पति के बिना स्त्री के जीवन का क्या महत्व। जैसा मर्द चाहे वैसा ही स्त्री को करना चाहिए। उसकी माँ ने उसको यही शिक्षा दी थी। वह गाना और हँसना कैसे छोड़ सकती है? यह सोच कर वह काँप गयी। लेकिन उसने गाना, हँसना और पड़ोसियों के यहाँ आना-जाना छोड़ ही दिया। कभी-कभी वह रिश्तेदारों के यहाँ जाती तो एकदम गंभीर रहती। सभी बहुत आश्चर्य करते, लेकिन पूछने पर भी वह कुछ नहीं बताती। वह यह सोच कर अपने मन को संतोष देती कि पुराने ज़माने की स्त्रियाँ अपने पतियों की सुख-सुविधा और इच्छा के लिए अपने जीवन को क़ुर्बान कर देती थीं। स्त्रीजाति तो तुच्छ होती ही है। उस पर अगर क़ाबू न किया जाय तो वह बिगड़ जाय। उसकी भलाई के लिए ही उसके पति उस पर ऐसा नियंत्रण रखते हैं।"

नौकर चाय के कप ले कर चला गया और कुछ देर बाद पान दे गया। पान मुँह में डाल कर हम कुछ देर तक चबाते रहे। धूप फिर ग़ायब हो गयी थी और पूरब में बादल जम कर काले हो रहे थे। हवा में ठंडक बढ़ गयी थी, जैसे कहीं वर्षा हो रही हो। सुरेंद्र ने बाहर जा कर पान को थूका, फिर वापस आ कर बैठते ही कथा पुनः आरंभ कर दी।

"दो वर्ष निकल गये। इसी अरसे में नीलिमा के चेहरे में अद्‌भुत परिवर्तन हो गया था। उसके कपोल बासी सेबों की तरह मुरझा गये थे और उसकी आँखों के नीचे काले-काले गड़हे पड़ गये थे। वह काफ़ी दुबली भी हो गयी थी। इतनी शोख़ और हँसमुख लड़की कैसे ऐसी हो गयी? वह दिन भर घर में बंद रहती। पहले दिन भर उसके घर में मोहल्ले के बच्चे इकट्ठे रहते, लेकिन अब लड़के उससे भागते थे। और मनोहरलाल? उनको अब भी संतोष नहीं हुआ था, बल्कि उनका संदेह और बढ़ गया था। वह सोचते कि उनकी अनुपस्थिति में नीलिमा हँसती है। वह घर आने पर खोद-खोद कर पूछते कि वह दिन भर क्या करती रही। कभी-कभी वह अचानक दोपहर में कचहरी से घर लौट आते, सिर्फ़ यह देखने के लिए कि नीलिमा किसी के साथ हँस-बोल तो नहीं रही है। देखते ही देखते वह घर एक चमन से क़ब्रिस्तान बन गया था।"

सुरेंद्र सहसा फिर चुप हो गया। वह नीचे देख रहा था और उसकी आँखें दुख से विकल हो गयी थीं। मैं चौंक कर उसको देख रहा था। क्या सचमुच वह सच्चा क़िस्सा सुना रहा है या यह उसके उर्वर दिमाग़ की उपज है? परंतु उसके स्वभाव को मैं कुछ कुछ जानता हूँ। जब वह झूठ बोलता है तो बात-बेबात पर हँसता है और हाथ पर हाथ मारता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हाँ, मैं यह बताना भूल गया था कि मनोहरलाल के यहाँ एक गाय थी और उसकी देख-भाल के लिए गाँव का एक नौकर था। उसका नाम था हरिया। उसकी उम्र पचास से कम न होगी। वैसे वह काला और तगड़ा था, पर वह गोरू की तरह सीधा भी था। वह घुटने तक उटंग धोती, गाढ़े का एक मटमैला कुर्ता तथा चमरौधा जूते पहना करता था। उसकी अधपकी मूंछें बड़ी-बड़ी थीं और झाड़ू की तरह फरकती थीं। वह बहुत ही ईमानदार था। इतना शरीफ़ कि किसी से नज़र नहीं मिलाता। मनोहरलाल जैसा व्यक्ति भी उस पर अगाध विश्वास करता था। मोहल्ले के हम लोग भी उससे बहुत ख़ुश रहते थे क्योंकि वह मौक़ा पड़ने पर हम लोगों का भी काम कर देता था।

"एक रविवार की बात है। शाम का वक़्त था। उस दिन हरिया ने अपने कुर्ते और धोती में साबुन लगाया था और हजामत भी बनवायी थी। मनोहरलाल बाहर ओसारे में बैठे कोई किताब पढ़ रहे थे। इतने में हरिया भीतर से बाहर आया। वह साफ़ किया हुआ कुर्ता पहने था। उसकी मूंछें सदा की तरह फरक रही थीं और उसकी आँखें सज्जनता और अदब के भार से नीचे झुकी थीं।

" 'सरकार, तरकारी के लिए पैसा...।'—हरिया ने कहा।

"मनोहरलाल ने उसकी ओर नज़र घुमायी और एक हल्की-सी उत्सुकता की लहर उनके चेहरे पर दौड़ गयी। उन्होंने उसको ऊपर से नीचे निहारने के लिए उसके छँटे हुए सिर के बालों से आरंभ कर उसके चेहरे को ग़ौर से देखा। फिर उनकी दृष्टि उसके लंबे गले से होते हुए उसके कुर्ते पर चली गयी और छाती के पास एक जगह आ कर सहसा रुक गयी। एक क्षण तो वह विमूढ़-से कुछ सोचते रहे, फिर उनके मुख की रेखाएँ तन गयीं...यहाँ तक कि कुछ ही देर बाद उनका चेहरा एकदम विकृत हो गया। हरिया की छाती के मध्य में कुर्ते पर सिंदूर की एक छोटी लकीर बनी थी। उसने कुर्ता दिन में धोया था, यह लकीर कहाँ से आ गयी? सहसा उनको नीलिमा की याद आयी। जब वह शाम को बाहर आ रहा था तो नीलिमा चोटी कर के माँग में सिंदूर भर रही थी। मनोहरलाल जी अपनी उत्तेजना छिपाने के लिए उठ कर तेज़ी से टहलने लगे। फिर फ़ौरन घर के अंदर जा कर नीलिमा को ग़ौर से देखने लगे। वह गंभीर थी, लेकिन उनको लगा कि वह हँस रही है। रात में उनको नींद नहीं आयी। वे कभी टहलने लगते और कभी चारपाई पर लेट कर आकाश को निहारने लगते। दूसरे दिन सबेरे ही उन्होंने हरिया को अपने पास बुलाया।

" 'आज हम गाँव चलेंगे। वहाँ लेखपाल बहुत गड़बड़ करता है...उससे कुछ ज़रूरी बातें करनी हैं। कुछ चारा-वारा भी वहाँ से लाना है...।'

"हरिया बहुत ख़ुश हुआ, क्योंकि साल में सिर्फ़ एक बार ही उसको घर जाने की छुट्टी मिलती। अपने परिवार में पहुँच कर वह बहुत ख़ुश होता था। वह अपनी पत्नी मनराजन के लिए लाल चुनरी और बच्चों के लिए पाव भर मीठा ले जाता था। वह जल्दी-जल्दी बाज़ार गया और कुछ सामान ख़रीद कर उछलता हुआ आ पहुँचा।

"वे लोग गाँव चले गये, लेकिन दूसरे दिन जब मनोहरलाल वापस लौटे तो हरिया उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ नहीं था। नीलिमा ने जब पूछा तो मनोहरलाल ने बहुत अफ़सोस प्रकट किया तथा यह बताया कि जब वे जंगल के पास से हो कर जा रहे थे तो हरिया मैदान होने के लिए पोखरे की ओर गया। वह डेढ़-दो सौ गज़ आगे बढ़ा होगा कि जंगल से एक बाघ निकल कर उस पर झपटा। इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे गाँव का रास्ता बड़ा बीहड़ है। स्टेशन से उतर कर पैदल ही गाँव जाना पड़ता है और बीच रास्ते में एक ऐसा जंगल पड़ता है जिसमें ख़ूँख़्वार जानवर भी रहते हैं। यह क़िस्सा सुन कर नीलिमा का चेहरा भय और आतंक से काला पड़ गया। वह कुछ देर तक सिसक-सिसक कर रोती रही।

"सहसा मनोहरलाल गरज कर बोले : 'रो क्यों रही हो? हरिया के लिए बहुत पीड़ा हो रही है? मुझे सब कुछ मालूम है। लेकिन तुमको मालूम होना चाहिए कि मैंने हरिया को मार कर जंगल के पोखरे में फेंक दिया। समझ में आया तुम्हें? तुम समझती हो कि मुझे तुम्हारा रहस्य मालूम नहीं है? अब तुम अपने पाप की आग में जलो। बस मैं तुमको जलते हुए देखना चाहता हूँ। कितने दिनों से तुम लोगों में यह सब चल रहा था? अब तुम झूठ बोलने की कोशिश मत करना। मेरे पास हर बात का सबूत है। हरिया खूब सजा-धजा था और उसके कुर्ते पर तुम्हारी पवित्र माँग के सिंदूर का निशान था। सच सच बताना, तुमने कितनी बार उसके पहलू को गरमाया है?'

" 'हे भगवान!'—नीलिमा चीख़ कर ज़मीन पर लोट कर जलविहीन मछली की तरह छटपटाने लगी। वह बिलख-बिलख कर रो रही थी और रोते ही रोते कुछ बुदबुदा रही थी। उसकी बातों को समझना कठिन नहीं था। वह कह रही थी कि मनोहरलाल को भयंकर ग़लतफ़हमी हुई है। वह गंगा के जल की तरह पवित्र था। वह नीलिमा को अपनी बेटी की तरह मानता था। उसने भूसाघर में एक खाँची में भूसा भरा। उसको उठा कर वह गाय के नाद के पास ले जाना चाहता था, परंतु वह खाँची उससे नहीं उठी तो उसने नीलिमा को पुकारा : 'बहू जी, ज़रा हाथ लगा दीजिए।' नीलिमा चूल्हा जलाने जा रही थी, इसलिए वह जल्दी-जल्दी आयी और खँचोली पर झुक गयी। उधर हरिया भी जल्दी में झुका। इसी जल्दबाज़ी में नीलिमा का सिर हरिया के कुर्ते में लग गया। उसकी नज़र हरिया के कुर्ते पर गयी थी और इससे उसको बहुत लज्जा भी आयी थी, और इसी लज्जा की वजह से वह कुछ न कह कर जल्दी जल्दी आँगन में चली गयी। उसनें कल्पना भी नहीं की थी कि कोई इस तरह भी उसके बारे में सोचेगा।"

सुरेंद्र चुप हो गया। वह मुस्करा रहा था, लेकिन उसकी आँखें करुणा में डूबी थीं। मैं इंतज़ार कर रहा था कि वह आगे सुनाता है, लेकिन वह चुप ही रहा। शाम तेज़ी से उतर रही थी और कुछ बूँदा-बाँदी भी होने लगी थी। हवा की तेज़ी ख़त्म हो गयी थी और आकाश में बादल घने हो कर काले पड़ गये थे।

"फिर क्या हुआ?"—मैंने अंत में पूछा।

"होता क्या?"—सुरेंद्र ने चौंक कर कहा : "वही हुआ जो होता है। जीवन उसी तरह बीतने लगा। हरिया के बारे में मनोहरलाल की कहानी पर सभी ने विश्वास कर लिया। परंतु मनोहरलाल को नीलिमा पर विश्वास न हुआ। वे चट्टान की तरह दृढ़ थे कि नीलिमा अपने अपराध को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छिपाने के लिए झूठ बोल रही है। वे नीलिमा को तिल-तिल जलाना चाहते थे। वे रोज़ उस पर व्यंग्य-बाण छोड़ते। और नीलिमा ? वह दिन पर दिन दुवली होती जा रही थी। दो वर्ष वह और ज़िंदा रही। फिर सर्दी की एक रात में वह मर गयी। ख़ैर, इसमें किसका कितना दोष है, इसके संवंध में मैं कुछ कह नहीं सकता। और चाहे जो हो, लेकिन मैं स्त्रीजाति पर विश्वास नहीं कर सकता। जो स्त्री अपने मर्द को संतुष्ट नहीं कर सकती वह स्त्री कैसी ? स्त्री तो आख़िर स्त्री है. . .।"

वह बग़ल में पड़े ताश को उठा कर जल्दी-जल्दी फेंटने लगा।

—२०१५ करेलाबाग, इलाहाबाद

●●

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले युगप्रभात में हिंदी-अहिंदी-भाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारा-वाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में युग-प्रभात जनप्रिय होता जा रहा है।

वार्षिक चंदा – छह रुपया

मैनेजर 'युगप्रभात'
कालिकट, केरल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नीसवीं शताब्दी की गद्य-भाषा : समस्याएँ एवं युग-विभाजन

● ●

विजयकुमार शुक्ल

स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी को संवैधानिक सम्मान मिला, निश्चय ही साहित्यिक दृष्टि से हिंदी एवं अहिंदीभाषियों को प्रेरणा मिली कि उसे हर दिशा में समृद्ध बनाया जाय। वैचारिक दृष्टि से १९४९ के बाद नयी चिंतन-धाराएँ हिंदी साहित्य के तटों को स्पर्श करने लगीं। गद्य एवं पद्य दोनों में सशक्त रचनाएँ लिखी गयीं। इतनी संख्या में लिखी गयीं कि सभी विधाएँ अपनी उपलब्धियों में कहीं भी पीछे नहीं। भाषा में भी अनेक आंदोलन हुए और हो रहे हैं। इस दृष्टि से आधुनिक काल को हम कब तक घसीटेंगे, यह प्रश्न है। भारतेंदुयुगीन, द्विवेदीयुगीन एवं छायावादी प्रवृत्तियाँ अब आधुनिकता का बोध नहीं दे पा रही हैं। मेरा विचार है कि चूँकि १९४९ इसके बाद ही आधुनिकता का बोध बौद्धिक स्तर पर हम सभी वस्तुतः कर पाये हैं, इसलिए इसके पूर्व के साहित्य का एक नया नामकरण कर के तथा इसके बाद से आधुनिक काल का नये सिरे से अध्ययन शुरू करना चाहिए।

सन् १९४९ में समाप्य आधुनिक काल को, जिसका आरंभ संवत १९०० (सन् १८४२) से आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है, भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से संविभाजित तथा अभिहित किया जाय। खड़ी बोली-साहित्य निश्चय ही उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी का एक सशक्त माध्यम बना और स्वातंत्र्य-आंदोलन के संदर्भ में इसका योगदान रहा। खड़ी-बोली का इतिहास अपने विकास-क्रम में भारतीय-चेतना एवं स्वतंत्रता का इतिहास है। गद्य खड़ीबोली की वह भूमि है जिस पर विचार-धाराओं को अनेक युग-संदर्भों में जीवन मिलता रहा है। इसलिए मेरे अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार सन १८०३ (संवत १८६०) से १९४९ तक के समय को 'खड़ीबोली भाषा एवं साहित्य का काल' कहना चाहिए। १९४९ के बाद के साहित्य को आधुनिक काल के अंतर्गत रख कर चलना ठीक होगा।

'खड़ीबोली भाषा एवं साहित्य का काल' के अंतर्गत उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ीबोली-गद्य के विकास की क्या विभिन्न अवस्थाएँ थीं और साहित्य-उपलब्धियों में युग-प्रवृत्तियाँ किन-किन रूपों में विकसित हुईं, यहाँ यही अध्ययन का विषय है।

सन १९४९ के बाद हिंदी भाषा के स्वरूप के संबंध में लगभग अभी तक वैचारिक विवाद हो रहे हैं। सभी विवाद राजनीतिक अभिव्यक्ति पाने के कारण और भी विवादग्रस्त बन गये हैं। हिंदी के अभीष्ट स्वरूप के लिए 'सरल' के स्थान पर यदि 'सामान्य' शब्द का प्रयोग किया जाय तो ठीक है। मेरा ऐसा मत है कि राजनीतिक स्तर पर हिंदी भाषा के स्वरूप के संबंध में पिछले १५ वर्षों से जो विवाद छिड़े हैं, उनका सहज निराकरण हो सकता है यदि हम १९वीं शताब्दी के हिंदी गद्य-भाषा के स्वरूप-विकास को देखें और समझें कि इस प्रकार का विवाद साहित्यिक एवं सामाजिक स्तर पर पूरी १९वीं शताब्दी में किया जा चुका है। अंततोगत्वा निष्कर्ष यही निकलता है कि खड़ीबोली हिंदी भाषा 'सामान्य' हो, लोकप्रचलित शब्दों से संपन्न इसका कोश हो, जीवन, समाज, राष्ट्र की चेतना इसमें स्पंदित हो। इसलिए इसे किसी सीमा-विशेष में परिमित न कर के औदार्यपूर्ण बनाने में ही कल्याण है। हम यह भी देखें कि जब-जब विस्तृत या व्यापक भावना से तटस्थ हो कर, सामान्य से विशिष्ट हो कर विकसित होने की चेष्टाएँ हुई हैं, तब-तब कठिनाइयाँ सामने आयी हैं। अगर 'विशिष्ट' के खोजी उदार होते तो 'उर्दू' न पनपती। उसी प्रकार 'सामान्य' के विरोधी रूढ़ि में आश्वस्त हो कर आज अंग्रेज़ी का महत्व बनाये हुए हैं।

मेरा विचार है कि १९वीं शताब्दी सामान्य गद्य-भाषा के विकास के लिए संघर्ष का इतिहास है। मेरे कथन का यह आशय न समझा जाय कि मैं किसी सत्य को झुठलाने के लिए कह रहा हूँ। नहीं, बल्कि इतिहास-सत्य के परिप्रेक्ष्य में हिंदी खड़ीबोली की वास्तविकता से परिचित कराने के लिए उसके समर्थकों को पथ-बोध कराना चाहता हूँ। मेरे 'सामान्य' का आशय है ऐसी प्रवृत्ति से संपन्न भाषा जिसमें पूर्वग्रह-रहित हो कर सशक्त अभिव्यक्ति के लिए प्रचलित विदेशी शब्दों को भी स्वीकार किया जाता हो। हिंदी में जब ज्ञान-विज्ञान को भी अभिव्यक्ति देनी है तो उसे प्रचलित शब्दों से (भले ही विदेशी हों) हीन कर के दरिद्र क्यों बनाया जाय? फ़ारसी-अरबी के प्रचलित शब्दों के अभाव में हम एक-तिहाई गूँगे हो जायँगे, अंग्रेज़ी के प्रचलित जीवनोपयोगी शब्दों को छोड़ कर नये शब्द गढ़ें और उन्हें नये अर्थ-प्राणों से सुसंपन्न बनाएँ तो क्यों? यह तो दिल्ली छोड़ कर तुग़लकाबाद जाने की बात होगी। हम विदेशी पारिभाषिक शब्दों को सहज स्वीकृति दे कर क्यों न कोश-वृद्धि करें और अपनी भाषा को नयी परिस्थिति के साँचे में ढालें।

आचार्य शुक्ल के 'आधुनिक-काल' का आरंभ संवत १९०० (सन १८४३) से होता है। इस बीच अध्ययन की समस्या है कि क्या संवत १९०० से 'आधुनिक-काल' की प्रवृत्तियों का जन्म हो जाता है? सन १८०३ में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, प्रथम प्राचार्य डॉ० गिल-

५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिस्ट थे। सन १८०३ के पश्चात ही गद्य-भाषा के स्वरूप को सुस्थिर करने का प्रयास हुआ। इसके पूर्व गद्य का जो भी स्वरूप था, वह या तो ब्रजबोली-प्रभावित था या अन्य बोलियों से प्रभावित। वैसे रामप्रसाद निरंजनी ने सन १७४१ में 'भाषा-योग-वाशिष्ट' नामक ग्रंथ से गद्य-स्वरूप संबंधी प्रस्तावित आधार दे दिया था। उनकी भाषा में खड़ीबोली का एक स्थिर संस्कार दिखता है।

इस प्रकार निरंजनी जी के स्तुत्य प्रयास को खड़ीबोली-गद्य के विकास-संदर्भ में रखना ही होगा। ईसाई-धर्म प्रचारकों को गद्य-भाषा को स्थिर रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई ताकि वे उस भाषा में अपने धर्म-साहित्य को प्रस्तुत करें और प्रचार-मूल्यों की वृद्धि में संलग्न हों।

जान गिलक्रिस्ट के संरक्षण में श्री लल्लू लाल (सन १७६१-१८२४) ने 'प्रेमसागर' और श्री सदल मिश्र (सन १८६८ के लगभग से १८४८ के लगभग) ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इंशाअल्ला ख़ाँ एवं मुंशी सदासुखलाल (सन १७४६-१८२४) ने स्वतंत्र रूप से गद्य-स्वरूप-निर्धारण में व्यावहारिक योगदान किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार इन चार लेखकों का लेखन-समय सन १८०३ के आसपास है। इनकी रचनाओं के संबंध में भी व्यावहारिक अध्ययन करना आवश्यक है ताकि भाषा-प्रयोग की दिशाओं का परिचय मिल सके। इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' नामक कथा-पुस्तक का लेखन-कार्य संपन्न किया। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इंशा ने विभिन्न तीन प्रकार के शब्दों से तटस्थ रहने की चेष्टा की है: (१) बाहर की बोली—अरबी-फ़ारसी-तुर्की; (२) गँवारी—ब्रजभाषा, अवधी आदि; तथा (३) भाषापन—संस्कृत के शब्दों का मेल।

आचार्य शुक्ल की सम्मति में यह तथ्य सही है कि वे एक सामान्य भाषा के विकास में विश्वास रखते थे। सामान्य के आशय से यह समझ लेना होगा कि इंशा को संस्कृत का मेल उतना ही रुचिकर नहीं जितना फ़ारसी, अरबी, तुर्की के शब्दों का। साथ ही वे बोली विशेष के ग्रामीणत्व प्रभाव से मुक्ति की आकांक्षा रखते थे। सामान्य में सरल का प्रश्न नहीं है, बल्कि जन-जीवन में प्रचलित एवं अभिव्यक्ति की दुरूहता से युक्त भाषा को प्राणान्वित करने में ही उनका विश्वास परिलक्षित होता है। इस प्रकार उनका प्रयोग 'ठेठ हिंदी' कहा गया और खड़ीबोली के अपने गुण-तत्व को विकसित होने देने में यह 'प्रयोग' विशेष सहायक सिद्ध हुआ। उनका मंतव्य स्पष्ट है: **"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए जिसमें हिंदी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।"** इस विचार-संदर्भ से अनुप्रेरित हो कर इंशा ने जीवन की निकटता का अनुबोध कराने वाले मुहावरों के वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित किया। परिणाम-स्वरूप भावाभिव्यंजन में तीव्रता आयी।

'नियाज़' रूप में भी परिचित मुँशी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' का अनुवाद-कार्य संपन्न किया। चूँकि यह ग्रंथ मूल रूप में धर्म-ग्रंथ है, इसलिए इसमें सामान्यता का बोध नहीं आ पाया है। शिष्ट बोलचाल की भाषा को स्वीकृति दे कर वे संस्कृत के तत्सम प्रभाव से मुक्त न हो पाये।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान में श्री सदल मिश्र ने अपनी सेवाएँ अर्पित करते हुए 'नासिकेतोपाख्यान' का लेखन-कार्य संपन्न किया था। इस कृति में 'ब्रजभाषा' का प्रभाव मिलता है, ब्रज के बोली-शब्द-प्रयोग उपलब्ध होते हैं। साथ ही पूर्वी प्रभाव भी है। फ़ोर्ट विलियम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालेज की प्रेरणा से प्रतिफलित 'प्रेमसागर' के लेखक श्री लल्लूलाल की भाषा में 'पंडिताऊपन' और ब्रजबोली का प्रभाव-पुट उपलब्ध होता है, विदेशी प्रचलित शब्द से बच निकलने की कोशिश है उनमें। सामान्य भाषा के विकास के लिए उनमें रुचि-विपर्यय है।

आचार्य शुक्ल को भाषा यदि प्रिय लगी तो मुंशी सदासुखलाल की और सदल मिश्र की। वे कहते हैं: **"व्यवहार-उपयोगी भाषा इन्हीं की ठहरती है।"** इसी संदर्भ में कह गये हैं: **"मुंशी सदासुखलाल की 'साधु-भाषा' अधिक महत्व की है। मुंशी सदासुखलाल ने लेखनी भी चारों में पहले उठायी। अतः गद्य का प्रवर्तन करने वालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।"** मुंशी जी जब 'नियाज़' रूप में भी जाने जाते थे तो स्पष्ट है कि हिंदी एवं उर्दू को उन्होंने पृथक दृष्टियों से देख कर हिंदी गद्य में फ़ारसी-प्रभाव से बचने की चेष्टा जानबूझ कर के ही की। आचार्य शुक्ल ने उनकी 'साधु-भाषा' में संभवतः भक्तिकालीन परंपरा के दर्शन किये जिस कारण से ही उन्हें उनकी भाषा प्रभावित कर सकी।

उक्त चार लेखकों के प्रयत्न-संदर्भ में भाषा-प्रयोग के विभिन्न प्रस्तावित रूप सामने आये। इसी समय ईसाई मिशनरियों ने भी गद्य-स्वरूप के निर्धारण में प्रयत्न किये, जैसे इंजील, न्यू टेस्टामेंट आदि के हिंदी गद्य में अनुवाद जिनमें मुंशी सदासुखलाल एवं श्री लल्लू लाल की भाषा को आदर्श माना गया। इनके अतिरिक्त मिशनरियों में फ़्लैंडर (Karl Gottlieb Pflander), डॉ० मर्डोख (Dr. Merdoch) आदि ने अनेक मोटी-छोटी धर्म-प्रचार की पुस्तिकाएँ प्रकाशित करायीं। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के कथनानुसार **"संवत् १८९५ (सन १८१८) में जब ईसाइयों की धर्मपुस्तक का अनुवाद हिंदी भाषा में हुआ तब देखा गया कि उसमें विशुद्ध हिंदी भाषा का ही उपयोग हुआ है। इस समय ऐसी अनेक रचनाएँ तैयार हुईं जिनमें साधारणतः ग्रामीण शब्दों को तो स्थान मिला परंतु अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त नहीं हुए। 'तक' के स्थान पर 'लौं', 'वक़्त' के स्थान पर 'जून' का ही व्यवहार हुआ"। (—हिंदी गद्य-शैली का विकास, पृष्ठ २५)।** डॉ० शर्मा के कथन से स्पष्ट है कि इस समय धर्म-प्रचारक पादरियों से 'सामान्य' भाषा के विकास में विशेष सहयोग नहीं मिला। लेकिन खड़ीबोली गद्य एक नये साँचे में ढल रहा था इनके माध्यम से।

राजा राममोहन राय (सन १८३३-९० ई०) ने उपनिषद् और वेदांत के संदर्भ में ब्रह्म-समाज की स्थापना की। उनका वेदांत के सूत्रों का भाष्य हिंदी गद्य में प्रकाशित हुआ। सन १८२९ में 'बंगदूत' नामक पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें बँगला का पुट मिलता है। सन १८२६ (३० मई) में पंडित युगुलकिशोर शुक्ल ने 'उदंत मार्तंड' नामक प्रथम पत्र प्रकाशित किया। शुक्ल जी ने सन १८५०-५१ में 'साम्यदंत मार्तंड' नामक द्वितीय पत्र भी प्रकाशित किया था। इस पत्र में खड़ीबोली को 'मध्यदेशी भाषा' नाम दिया है। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' (सन १८२३-९५) ने 'बनारस-अखबार' सन १८५० (अनेक विद्वानों के अनुसार सन १९४५) में प्रकाशित कराया। सितारेहिंद जी की भाषा में फ़ारसी का ऐसा प्रभाव मिलता है जो इंशा के अनुरूप नहीं है क्योंकि इन्होंने फ़ारसी शब्दों को ज्यों का त्यों स्वीकार किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि गद्य के स्वरूप को हिंदी एवं उर्दू के दो परस्पर पृथक् भाषा-रूपों में तथा सांप्रदायिक आधारों पर देखने की चेष्टा हुई। सितारेहिंद फ़ारसी प्रभाव को स्वाभाविक मानते थे, यद्यपि बहुत बाद में वे कुछ 'उर्दू' के पक्षपाती हो गये, क्योंकि उन्हें राजाश्रय मिल गया था। तब तक वैसे राजा लक्ष्मणसिंह का संस्कृत के तत्सम शब्दों का आग्रह कहीं हठवादी रूप में नहीं दिखता, क्योंकि रघुवंश आदि की भाषा में दुरूहता नहीं है, बल्कि लालित्य के संदर्भ में भाषा 'सामान्य' है।

इसी संदर्भ में सितारेहिंद की भी स्थितियों को और स्पष्ट कर देना उचित होगा। गद्य-भाषा के स्वरूप का आंदोलन सितारेहिंद द्वारा प्रवर्तित हुआ था, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम फ़ारसी-प्रभाव-जैसी बात उठा कर विवाद को खड़ा किया था। वे फ़ारसी-प्रभावित गद्य की बात चलाते हुए बाद में 'उर्दू' के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति दे बैठे। डॉ० वार्ष्णेय का यह कथन द्रष्टव्य है: **"राजा साहब को हिंदी इतनी गँवारू भाषा जँची कि उसका गँवरपन दूर करने के लिए वे अरबी-फ़ारसी शब्दावली की ओर अधिकाधिक झुकते गये। देवनागरी लिपि को छोड़ कर उनकी भाषा हिंदी न रह कर उर्दू हो गयी। उसे 'फ़ैशनेबुल' बनाते हुए वे यहाँ तक कह बैठे कि: 'उर्दू इज़ बिकमिंग अवर मदर टंग'। वे उर्दू के महत्व को इसीलिए स्वीकार करते हैं कि वह कोर्ट की भाषा है। वे अंग्रेज़ शासकों के भक्त थे और उनका दृष्टिकोण शासकों की रुचि पर अवलंबित था। 'मानव-धर्म-सार' की भूमिका में वे अपने इस प्रकार के मत को स्पष्ट कर देते हैं: 'जब मैं सरिश्तै तालीम का इंस्पेक्टर हुआ हुक्म पाया कि लड़कों को उनकी ड्यूटी अर्थात् उनको क्या करना चाहिए सिखलाओ। मैंने यह पुस्तक अपने अफ़सरों के सामने रखी ख़फ़ा हुए फ़रमाने लगे कि अब क्या गवर्नमेंट तुमको तुम्हारी मजहबी किताबें भी अपना रुपया ख़र्च करके पढ़ावेगी।' "** इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने शासकीय परवशतावश अपने स्वतंत्र चिंतन की अनुदृष्टियों को राजकीय मानों पर ही रख कर सीमित बना दिया। हो सकता है कि उनके इस समर्थन से 'उर्दू' को विशेष बल मिला हो, लेकिन जहाँ तक हिंदी के अंतर्गत सामान्य गद्यभाषा के विकास का प्रश्न है, उनकी आरंभ की विचार-दृष्टि ही किंचित रूप में सहयोग कर सकी थी। उनके मत-वैभिन्य को प्रकट करने के लिए श्री तारामोहन मैत्र ने 'सुधाकर' नामक पत्र प्रकाशित किया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि 'सितारेहिंद' की सम्मतियों से असहमति प्रकट की गयी। उन्होंने 'इतिहास-तिमिरनाशक' (सन १८२६, भाग १, भूमिका) में लिखा है: **"हमारी अदालती भाषा उर्दू है और सभी राष्ट्र सदा ही अदालती भाषा को उसके युग की सबसे 'फ़ैशनेबुल' भाषा मानते रहे हैं। भला हो या बुरा, पर उर्दू सारे पश्चिमोत्तर प्रांतवासियों की बहुत-कुछ मातृभाषा बनती जा रही है।"** राजा लक्ष्मणसिंह ने संभवतः उन्हीं के उर्दू-संबंधी इन विचारों के संदर्भ में अपने मत को और भी स्पष्ट किया: **"हमारे मन में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू मुसलमान और फ़ारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है।"**

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिंदी और उर्दू को सांप्रदायिक रूप में देखा गया और आगे क्रमशः लिपि-भेद के अतिरिक्त दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व बनता गया, यद्यपि व्याकरण दोनों का एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' एवं राजा लक्ष्मणसिंह दोनों ने अपने युग को प्रभावित किया। सितारेहिंद का हिंदी पर पड़ा हुआ प्रभाव 'सामान्य' के साथ ही घुला-मिला है। राजा लक्ष्मण-सिंह ने भी सन १८६१ में 'प्रजाहितैषी' नामक पत्र प्रकाशित किया।

गद्य-स्वरूप-निर्माण की यह स्थिति भारतेंदु-पूर्व थी। अब प्रश्न उठाना पुनः उचित होगा कि : क्या आचार्य शुक्ल के अनुसार आधुनिक काल सन १८४३ से ही स्वीकार किया जाय ? मेरा विचार है कि ऐसा करने पर सन १८०३ से शुरू हुए इस प्रयत्न के साथ न्याय नहीं हो पायगा। यह सच है कि ७ वर्ष की ही आयु में भारतेंदु जी ने अपनी पहली कविता की रचना की थी और उसे अपने पिता को दिखाया था। किंतु भारतेंदु-युग का आरंभ न तो इस रचना के लेखन से मानना उचित है और न उनके जन्मकाल से जैसा कतिपय विद्वानों ने किया है। वे ३५ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। अतः आनुपातिक रूप में १३ वर्ष की आयु को उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के युग-प्रवर्तन-क्षम परिपाक का काल मान लिया जाय तो भारतेंदु-युग का आरंभ सन १८६३ से स्वीकार किया जाना चाहिए। अब समस्या यह है कि सन १८०३ से भारतेंदु-युग के आरंभ सन १८६३ तक के बीच हुए गद्य-स्वरूप-निर्धारण संबंधी आंदोलन की उपेक्षा कैसे की जाय ? आचार्य शुक्ल ने अपने आधुनिक काल को सन १८४३ (संवत १९००) से स्वीकार कर के ४० वर्ष रीतिकाल के खाते में डाल दिये हैं। इसका परिणाम यह होगा कि अध्येताओं को आधुनिक काल के अध्ययन के संदर्भ में गद्य की उचित एवं सम्मत ऐतिहासिक पीठिका के संबंध में भ्रम होगा।

स्पष्ट किया जा चुका है कि फ़ोर्ट विलियम कालेज की संस्थापना खड़ीबोली-गद्य के विकास में एक ऐतिहासिक घटना है। यह भी स्पष्ट है कि सन १८०३ से ६३ के बीच ब्रजभाषा में कोई ऐसा असाधारण या उल्लेख्य रीति-कवि भी नहीं हुआ जिसके कारण हम 'रीतिकाल' को सन १८४३ (अर्थात संवत १९००) तक घसीटें। मेरा मत है कि आधुनिक काल का आरंभ सन १८०३ (अर्थात संवत १८६०) से स्वीकार किया जाय तथा सन १८६३ (अर्थात संवत १९२०) तक के समय को 'खड़ी-बोली भाषा एवं साहित्य-निर्माण-काल' के अंतर्गत 'गद्य-भाषा-निर्माण-युग' कहा जाय।

आचार्य शुक्ल ने भारतेंदु का रचना-काल १७ वर्ष (जब से भारतेंदु-युग माना है, आशय है सन १८६९ से) स्वीकार किया है। ३५ वर्ष की उपलब्ध आयु में मात्र १७ वर्ष का रचना-समय असंतुलित है, जैसा कहा जा चुका है। उन्होंने 'भारतेंदु-युग' सन १८९७ तक माना है। मेरा कहना है, १८९७ तक 'भारतेंदु-युग' को खींचना उचित नहीं, क्योंकि भारतेंदु जी की मृत्यु सन १८८५ में हुई और उसके बाद प्रकाशित ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी उपन्यास उनकी युग-प्रवृति से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार 'भारतेंदु-युग' सन १८६३ से १८९३ तक रखा जा सकता है।

भारतेंदु-युग सर्वथा 'साहित्यिक युग' है। ब्रजभाषा के माध्यम से परंपरा-बोध का परि-चय भी मिलता है, वैसे खड़ीबोली के पद्य एवं गद्य का साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। खड़ीबोली पद्य-धारा उतनी विकसित नहीं हुई जितनी गद्य के प्रति लोगों में विकास के लिए रुचि थी। पत्र-पत्रिकाएँ पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुईं। उनमें प्रमुख हैं प्रयाग से प्रकाशित एवं पंडित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित 'हिंदी प्रदीप' (सन १८७७), मिर्ज़ापुर से प्रकाशित एवं उपाध्याय बदरीनारायण 'प्रेमघन' द्वारा संपादित 'आनंद-कादंबनी' (सन १८८१), कानपुर से प्रकाशित एवं पंडित प्रतापनारायण मिश्र द्वारा संपादित 'ब्राह्मण' (सन १८८३), वाराणसी (तब बनारस) से प्रकाशित एवं भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित 'भारतेंदु मैगज़ीन' बाद में 'चंद्रिका' (१८७३), दिल्ली से प्रकाशित एवं लाला श्रीनिवासदास द्वारा संपादित 'सदादर्श' (सन १८७४), इंगलैंड एवं बाद में कालाकाँकर से प्रकाशित तथा राजा रामपाल सिंह द्वारा संपादित 'हिंदुस्थान' (सन १८८३)।

पत्रिकाओं का गद्य-भाषा के विकास-संदर्भ में तथा साहित्य-संदर्भ में मूल्यवान योगदान है। भारतेंदु स्वयं में एक ऐसे केंद्रीय व्यक्ति बने जिसके चारों ओर साहित्य की अनेक विधाओं ने जन्म लिया और विकसित हुई। जैसा कहा जा चुका है, भारतेंदु-युग वस्तुतः साहित्य-सर्जन का युग है। यह इस बात का द्योतक मात्र है कि गद्य-भाषा के स्वरूप में स्थिरता है और भाषा साहित्य जनने में समर्थ है। गत ६० वर्षों के अथक प्रयत्नों में यह परिलक्षित हुआ कि गद्य अभि- व्यंजना का सशक्ततर माध्यम बनने में समर्थ है। 'सितारेहिंद' का हिंदी गद्य से फ़ारसी अनुकरण प्रयत्न उर्दू के विकास के लिए उपलब्धि बनी और इस ओर लाभ यह हुआ कि हिंदी गद्य संस्कृत के दायरे से खिंच कर बाहर आ जाने पर हमेशा 'सामान्य' की ओर गतिशील हुआ। भारतेंदु ने स्वयं सांप्रदायिक प्रभाव के घेरे में उसे घेरने का प्रयत्न किया। लेकिन पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं बालकृष्ण भट्ट ने उनके अनुकरण पर विश्वास रख कर भी अपना मौलिक पथ आविष्कृत किया। रचनाकार भाषा-क्षेत्र में स्वतंत्रचेता होता है, वह पूर्वग्रह से पीड़ित हो कर अभिव्यक्ति को कमज़ोर नहीं बनाना चाहता है, यह मिश्र ज़ी एवं भट्ट जी ने सिद्ध किया है। एक ओर भारतेंदु का गद्य निश्चय ही उनके मौलिक एवं अनूदित नाटकों में संस्कृत की ओर विशेष झुकाव रखता है, लेकिन 'सामान्य' भाषा भी उनमें विकसित हुई है, इससे अस्वीकृति नहीं है। साहि- त्यिक दृष्टि से भी उनके नाटक मूल्यवान हैं। भारतेंदु के जीवन-काल में जिन अन्य अनेक लेखकों का आविर्भाव हुआ, वे भारतेंदु की प्रतिभा की धुरी के चारों ओर ही गतिशील हुए। भारतेंदु उनके प्रेरणा-स्रोत रहे।

"गद्य के विकास में प्रायः निबंध-रचना नहीं हुआ करती। जब गद्य की शक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है तभी निबंधों की रचना भी संभव होती है। निबंध गद्य की प्रौढ़ता का प्रतीक है।" (—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिंदी साहित्य, पृष्ठ १४८) इस कथन में सत्य नहीं है, क्योंकि सन १८०३ से आरंभ हुई गद्य-भाषा अभी अपने तारुण्यावस्था में नहीं थी, फिर भी निबंध-रचना विश्वास और चेतना का प्रतीक बन कर लोगों को अस्तित्व के संबंध में आश्वस्त कर सकी। हरिश्चंद्र के अतिरिक्त अंबिकादत्त व्यास, प्रेमघन, जगमोहनसिंह आदि ने भी निबंध लिखे, लेकिन विशेष उल्लेखनीय हैं पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं पं० बालकृष्ण भट्ट। दोनों क्रमशः 'ब्राह्मण' एवं 'हिंदी-प्रदीप' के संपादक थे। निबंधों में ऐसे जीवनगत विषय चुने जो वस्तुतः दार्शनिक कथ्य से पूर्ण होने के साथ ही भाषा-संस्कार में योगदान कर सके। दोनों अपनी परंपरा की भिन्नता को स्वयं में समन्वित कर के बढ़े। राजा लक्ष्मणसिंह की मान्यता ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें कहीं खास अरुचि नहीं; सितारेहिंद के फ़ारसी प्रभाव में विश्वास रख कर भी रुचि-प्रदर्शन नहीं; भारतेंदु-प्रभाव से मुक्त हो कर भी अभिव्यक्ति में कहीं अपने को अप्रभावित-सा दिखाने का आग्रह नहीं। दोनों ने कुल मिला कर भारतेंदु का प्रभाव भी स्वीकार किया है। पर कहीं भी पूर्वग्रही नहीं हैं। उन्होंने व्यंग्य-परिहास से पूर्ण जीवन-विषयों को जन-रुचि की अनुकूल भाषा में देने का कार्य किया है। इसका लाभ भारतेंदु-युग को संपूर्ण रूप से मिला।

गद्य की जनसाधारण-ग्राह्य सरलता को पूर्ण ध्यान में रख कर ही भारतेंदु-युग में ईसाई-प्रचारकों ने पुस्तकों का प्रकाशन किया। इन धर्म-प्रचारक कृतियों का मात्र भाषा-दृष्टि से ही हिंदी-गद्य के विकास में मूल्य है।

भारतेंदु-युग में उपन्यास भी प्रकाशित हुए। उपन्यास निश्चय ही अपने सृजन में भाषा को जीवन देने में समर्थ विधा है। परंपरा में 'रानी केतकी की कहानी', 'राजा भोज का सपना', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि भाषा के प्रस्तावित रूप में मूल्य रख चुके थे। लाला श्रीनिवासदास-कृत 'परीक्षा-गुरु' का प्रथम संस्करण तो नहीं, किंतु संवत १९४१ वि० (सन १८८४) में प्रकाशित दूसरा संस्करण देखने में आ चुका है। अपने उपन्यास की भाषा को लोकप्रिय एवं जन-रुचि की दृष्टि से बोलचाल-प्रधान रखा है। उन्होंने 'परीक्षागुरु' में लिखा है: **"संस्कृत अथवा फ़ारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनायी हुई भाषा के बदले (मैंने अपने इस उपन्यास में) दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी है। अलबत्ता जहाँ विद्या-विषय आ गया है, वहाँ विवश हो कर कुछ संस्कृत आदि (भाषाओं के कुछ शब्द) लेने पड़े हैं।"** विभिन्न भाषाओं के शब्द-प्रयोगों में वे अत्यधिक उदार थे जिसका परिणाम था कि उनके पात्रों के समस्त संवाद उनके व्यक्तित्व के अनुकूल बन पड़े हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट-कृत 'सौ जान एक सुजान' एवं 'नूतन ब्रह्मचारी' भी उपन्यास के आरंभिक नमूने हैं। 'सामान्य' गद्य-भाषा के स्वरूप-प्रतिपादन के उदाहरण पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के दो उपन्यास हैं।

"१८९६ में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सन १८६५-१९४७) ने भाषा के नमूने की दृष्टि से 'ठेठ हिंदी का ठाठ' नामक उपन्यास लिखा। इसमें औपन्यासिक कौशल नहीं है। भाषा की दृष्टि से भी हम उसे सफल नहीं कह सकते। वास्तव में लेखकों का ध्यान विषयों की अनेकरूपता की ओर अधिक गया, भाषा की ओर नहीं। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि गद्य में कहावतों और मुहावरों का जितना प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी में होता था उतना बीसवीं शताब्दी में नहीं होता।" (—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, अ० हिं० सा०, पृष्ठ २१७।)

"उसमें जिस ठेठ भाषा का प्रयोग हुआ कि वह वस्तुतः ग्राम्य जीवन के उपयुक्त है। कहीं-कहीं सारी भाव-व्यंजना ही मुहावरों में हुई है। ऐसे स्थानों पर भाषा गठित और भाव-व्यंजना आकर्षक है।" (—डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, हिंदी गद्य-शैली का विकास, पृष्ठ ९२)

उपर्युक्त प्रथम कथन के संदर्भ में यह कहा गया है कि हरिऔध जी की उक्त दोनों उपन्यास-कृतियों में उपन्यास का शिल्पगत विकास नहीं है। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' नाम से ही भाषा संबंधी आग्रह स्पष्ट है। 'अधखिला फूल' भी 'ठेठ हिंदी' अर्थात सामान्य गद्य-भाषा के वैशिष्ट्य के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा गया है। इससे असहमति प्रकट करना असंगत न होगा कि बीसवीं शताब्दी की गद्य-भाषा में मुहावरे या कहावत का स्थान नहीं था। यह कहा जा सकता है कि हरिऔध जी ने कहावतों व मुहावरों के साँचे में वस्तु को टालने का उचित से अधिक प्रयास है। मैं डॉ० शर्मा के वक्तव्य से सहमत हूँ। हरिऔध जी के उक्त दोनों उपन्यास 'ठेठ हिंदी' की 'रीति-औपन्यासिक रचनाएँ' हैं। यह उस युग की भाषा-माँग का प्रतीक है जिसमें कुतूहल-प्रधान ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी उपन्यास लिखे जा रहे थे। देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्याप्रसाद खत्री आदि के उक्त प्रवृत्ति के उपन्यास साहित्यिक गौरव से वंचित रहे, लेकिन गद्य-भाषा को चमत्कारिक एवं वैचिश्यपूर्ण बनाने के गौरव से वंचित तो नहीं किये जा सकते। वस्तुतः ऐयारी, तिलस्मी एवं जासूसी उपन्यास गद्य-भाषा की अविकसित अवस्था में भारतेंदु-युगीन साहित्यिक बलात्कार की प्रतिक्रिया की देन हैं। चलती हुई भाषा में 'सामान्य' स्तर की भाषा का स्वरूप इन्हीं उपन्यासकारों द्वारा निर्धारित हुआ। अपनी सामान्य भाषा के ही कारण इन्हें बहुत बड़ी संख्या में पाठकों का समूह मिला। विषय तो प्रधान रूप से रुचि-उत्पादक था ही, लेकिन इनकी भाषा की नीति भी प्रचार-प्रसार में सहायक हुई। जन-जीवन की भाषा को इन लेखकों ने समझा, इन्हीं की भाषा-नीति के परिणाम-स्वरूप बाबू प्रेमचंद को आगे उर्दू से हिंदी में आने की प्रेरणा मिली होगी। भाषा के अभिव्यक्ति-पक्ष की समस्या इनके माध्यम से ही सुलझी। वे मात्र जीवन-सत्य से तटस्थ थे, लेकिन भाषा की दृष्टि से इन्होंने जीवन में व्यवहृत अभिव्यक्ति-माध्यम को गंभीरता से समझा था।

शब्द-प्रयोग की समस्त स्थितियों से सुपरिचित ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी उपन्यासों के लेखकों ने ही वस्तुतः हिंदी के गद्य के स्वरूप को एक स्थिर रूप प्रदान किया। पूर्वग्रह से रहित होकर फ़ारसी, अरबी एवं यदाकदा अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग कर सहज ही भाषा के कोश की अभिवृद्धि की। यदि कहा जाय कि वे हिंदी-ग़द्य भाषा के जीवन-पोषक हैं तो अनुचित न होगा।

भारतेंदु-युग के प्रायः समस्त रचनाकारों ने नाट्य-कृतियों का लेखन-कार्य संपन्न किया है। उनकी भाषागत रुचियों का स्वरूप नाटकों द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि नाटकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र के अतिरिक्त किसी की प्रतिभा विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। लाला श्रीनिवासदास ने 'सीता-स्वयंबर' नामक नाटक लिखा लेकिन उनकी प्रतिभा भाषा के क्षेत्र में 'परीक्षा-गुरु' द्वारा ही प्रकाशित हुई। 'सीता-स्वयंवर' के संदर्भ में प्रेमघन जी द्वारा संपादित 'आनंद-कादंबिनी' में प्रकाशित समीक्षा का ऐतिहासिक मूल्य है क्योंकि 'आलोचना' का श्रीगणेश यहीं से होता है। प्रकाशित साहित्य पर पुस्तक-परिचय के अंतर्गत प्रस्तुत टिप्पणियाँ ही आलोचना का आरंभिक रूप हैं। यहाँ अनावश्यक विस्तार से बचने के लिए कहना यथेष्ट होगा कि गद्य-भाषा के विकास में वस्तुतः नाटकों का महत्व मात्र भारतेंदु हरिश्चंद्र की भाषा से ही है। गद्य-भाषा-निर्माण में समालोचना का कोई स्थान नहीं है, मात्र मौलिक या अनूदित रचनाओं का ही मूल्य है।

द्विवेदी-युग के आरंभ (सन १९१३, जब हरिऔध जी का 'प्रियप्रवास' प्रकाशित हुआ) से पूर्व और भारतेंदु-युग की समाप्ति अर्थात सन १८९३ के बाद के बीस वर्षों में लिखे गये ऐयारी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिलस्मी, डाकेजनी एवं जासूसी उपन्यासों के लिए 'काल्पनिक-कथा-युग' कहना उचित होगा। यदि इस युग-संदर्भ की रचनाओं को पृथक नहीं देखा जाता तो भारतेंदु-युग एवं द्विवेदी-युग की साहित्यिक पवित्रता नष्ट होगी।

उपर्युक्त उपलब्ध संदर्भों से स्पष्ट है कि १९वीं शताब्दी में पद्य के प्रति उतनी रुचि नहीं थी जितनी वैचारिक संदर्भों में गद्य के विकास के लिए। जैसा आरंभ में कह आया हूँ, गद्य-भाषा के लिए 'सामान्य' का आग्रह ही रहा, जहाँ कहीं सांप्रदायिक संकीर्णताएँ आयीं वहीं भाषा में प्रगति रुकी और भाषा को अपनी स्वाभाविक सामान्य स्थिति पर घूम-फिर कर रचनाकारों ने ला खड़ा किया।

—हिंदी विभाग,
हितकारिणी सिटी कालेज,
जबलपुर।

एक ही जगह फोकस डाल सकने वाले बड़े मुँह की टार्च प्राप्त करने का एक मात्र केन्द्र—

JANTA

जीप फ्लैशलाइट इण्डस्ट्रीज लि०

सर्वश्रेष्ठ फ्लैशलाइट जिसमें एक ही जगह फोकस डालने की व्यवस्था भी है। १५ वर्ष के लम्बे अनुभव और खोज के बाद ८०० फुट का रेंज दिया जा सका है। काले नीले, हरे, सफेद और क्रीम रंगों के सर्वोत्तम अलमुनियम के बने केस।

माडल ८०३— काले, नीले, हरे, सफेद और क्रीम रंगों में प्राप्य।

एक बार खरीदिए....
जीवन भर बरतिए।

माडल ८०२—लहरदार सतहवाले केस।

जीप फ्लैशलाइट इण्डस्ट्रीज लि० २८, साउथ रोड, इलाहाबाद।

STERLING-GF-1436

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृश्य-साम्य

• •

चारों ओर
काँटेदार फ़ेंसिग
और
पेड़-पौधों से घिरी हुई
एक गोल और छोटी-सी पहाड़ी यहाँ भी है।
अक्सर मैं उधर से गुजरता हूँ।

चाँदनी रातों में पहाड़ी पर,
जब सफ़ेद पत्थर चमकते हैं,
तो मुझको अनायास
तुम्हारी वह बड़ी-सी गोल कोठी याद आती है
और मैं मन ही मन
उसकी बंद खिड़कियों में दिपते प्रकाश से
इनकी तुलना करता हूँ।

यों--
यह कोई साम्य नहीं है,
लेकिन फिर भी कितना साम्य है
कि इसमें भी मेरे लिए,
ऊपर पहुँचने का कोई सरल रास्ता नहीं है,
किंतु--बार-बार
ऊपर चढ़ पाने के लिए मन ललचता है;
इसमें भी
एक बड़ी भीनी-सी गंध
और गहरी-सी पीड़ा है,
लगता है
यहाँ भी है फूलों से लदी हुई कोई लतर,
जिस तक--
मेरा अभागा हाथ नहीं पहुँचता है।

• •

दुष्यंत कुमार
सहायक संचालक, भाषा-विभाग,
भोपाल (म० प्र०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रकार : व्यक्तित्व का ह्रास

●●

हेरम्ब मिश्र

वर्तमान समाज की नैतिकता, जिसे अनैतिकता ही कहना ठीक होगा, हर व्यक्ति के मन-मस्तिष्क को छू कर उसे विकृत कर रही है। फिर भला पत्रकार ही, जो प्रचार-यंत्र का 'परिचालक' बन कर पैसा पाता है, उसके संसर्ग से अप्रभावित कैसे रह सकता है? कौन ऐसा समझदार आदमी है जो यह महसूस नहीं कर रहा है कि उसके पारिवारिक और सामाजिक संबंधों में वणिक-संबंध की प्रधानता होती जा रही है? मातृत्व हो या भ्रातृत्व, अपत्य-स्नेह हो या दांपत्य-स्नेह, सभीपर व्यावसायिक सभ्यता की काली घटा धीरे-धीरे छा रही। इसी काली घटा के बीच बादलों की रगड़ से पैदा होने वाली बिजली की तरह एक क्षण के लिए कौंध कर पत्रकार का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वह अंधकार को दूर करने का ढोंग रच कर आता है, किंतु अंधकार की भयंकरता से डर कर खुद भाग जाता है। यही है उसका जीवन और इसीमें है उसके व्यक्तित्व के पतन की कहानी। व्यक्तित्व के पतन की बात आज पहले-पहल नहीं उठ रही है। बहुत पहले से इसकी चेतावनी मिलती आ रही है।

वही व्यक्ति, जो अपने में अंतर्निहित मानवीय विचारों के उच्चतम स्तर तक पहुँच चुका होगा, किसी भी राजनीतिक प्रणाली, समाज या राष्ट्रीय सीमा में अपने को लौह-पुरुष बनाये रख सकता है, स्वतंत्रता के लिए लड़ सकता है, न्याय पर आधारित समाज की रचना कर सकता है और अपने देश की प्रतिष्ठा तथा प्रभाव बढ़ा सकता है। किंतु वह उच्चतम स्तर तक तभी पहुँच सकता है जब वह वर्तमान आर्थिक संबंधों के युग में अपने को एक पण्य वस्तु बनने से बचा सके और काग़ज़ की कोठरी में रहते हुए बेदाग़ रख सके। अपने को बुद्धिवादी अथवा बुद्धजीवी मानने वाला पत्रकार भी अगर यह देखने में असमर्थ है कि आज मनुष्य की व्यक्तिगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्यता किस तरह विनिमय-मूल्य में बदलती जा रही है और आदमी-आदमी के बीच धन के अलावा और कोई 'संबंध-बंधन' नहीं रह गया है, तो यह कहना पड़ेगा कि वह अपने 'बुद्धिवाद' के बारे में कितना भ्रमित है। अपने व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन करने के लिए उसे यह समझना होगा कि क्या यह बात सत्य नहीं है कि सारे समाज में 'नफ़ा-नुकसान' और 'नक़द लेन-देन' से जो संबंध व्याप्त हो गया है उससे वह अछूता नहीं है ? इस प्रश्न का सही उत्तर पा लेने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि औरों की तरह वह भी अर्थ तथा अर्थवत्ता का दास बनता जा रहा है और उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठाने वाली सारी बातें---उदात्त विचार, निर्मल भावनाएँ, अंतःस्थल से निकलने वाली अनुभूतियाँ और सर्वहितकर आकांक्षाए—अर्थ में विलीन हो रही हैं। वह दिन दूर नहीं जब बुद्धिवादी अपनी बुद्धि खो कर भी यह मानने को बाध्य हो जायगा कि व्यक्ति ने तो अपना व्यक्तित्व खो दिया है, किंतु एक निर्जीव वस्तु 'पूंजी' ने व्यक्तित्व ग्रहण कर लिया है।

आज बुद्धिवाद के प्रवाह में बहते हुए पत्रकार और लेखक को अपनी, अपने आसपास की और सारे समाज की वास्तविक स्थिति को देख कर किसी एकांत क्षण में यह भी सोचना होगा कि क्या व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास और किसी काम में अपनी व्यक्तिगत पेशक़दमी का सुख प्राप्त कर सकता है और धन की सत्ता से समाज को मुक्त किये बिना उसकी योग्यता, प्रतिभा तथा व्यक्तित्व का विकास संभव है ? इस अर्थ प्रधान समाज में भी जिन पत्रकारों और लेखकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकार सुरक्षित दिखलायी देते हैं, उनके जीवन में भी ऐसे अवसर बराबर आते रहते हैं जब वे अपने किसी अधिकारी की नौकरशाही प्रवृत्ति या अहं के सामने, प्रकाशक की व्यावसायिक इच्छा के सामने तथा अपने निजी लोभ के सामने अपने को विकता पाते हैं। ऐसे ही अवसरों पर वे वास्तविकता को देख सकते हैं और कुछ आत्मपरीक्षण कर सकते हैं। किंतु बाहरी प्रभावों के कारण वे अपनी ही किसी एक धुन में ऐसा मस्त हो जाते हैं कि अपने को ठीक से देख नहीं पाते। कैसी है यह बुद्धिवाद की विडंबना !

व्यक्तित्व के संबंध में हम यदि इतना ही मान कर रह जाते हैं कि मनुष्य का रूपरंग, डीलडौल, उसकी योग्यता तथा प्रतिभा ही उसके व्यक्तित्व के अंग हैं तो यह व्यक्तित्व की निरी अधूरी परिभाषा होगी। वास्तव में व्यक्तित्व की पूर्णता तो है पूर्ण मानव बनने में, अर्थात् मानवीय गुणों को ग्रहण करने में। किंतु क्या इस 'पूर्ण मानव' को व्यावसायिक संबंधों ने आच्छन्न नहीं कर रखा है ? हम बात तो करते हैं विश्वबंधुत्व की, देशभक्ति की, विश्वप्रेम, देशप्रेम और न जाने कितनी तरह के प्रेम की, किंतु क्या हमने अपने परिवारों में ही बढ़ रहे वणिक-संबंधों की कलहपरायणता को और मुक़दमेबाज़ी जैसी बातों को देख कर कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है ? यदि हमने यह प्रयास नहीं किया है तो विश्वबंधुत्व, राष्ट्रप्रेम आदि की बातें व्यर्थ हैं। और इसीलिए व्यक्तित्व की पूर्णता की भी बात हमारे लिए एक ऐसा प्रश्न बन कर रह जाती है जिसका कोई संतोषजनक उत्तर अभी तक नहीं मिल सका है।

किंतु इसी स्थिति में एक ऐसा भी पत्रकार हुआ है जिससे शासकवर्ग के एक नेता को संधि करनी पड़ी थी। उस महान पत्रकार का नाम बार्नेस है। आज से सवा सौ वर्ष पहले की बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जब लॉर्ड चांसलर लॉर्ड लिंडहर्स्ट ने सरकार के लिए 'टाइम्स' के इस संपादक की मैत्री को आवश्यक समझ कर उसके साथ एक मध्यस्थ द्वारा समझौता-वार्ता चलायी थी। अपनी शक्ति के प्रति जागरूक इस पत्रकारशिरोमणि ने 'अस्पष्ट घोषणा' के स्थान पर एक 'लिखित आश्वासन' की माँग की। इस पर वेलिंगटन के ड्यूक ने एक नोट और लिंडहर्स्ट ने एक पत्र लिखा जिन्हें संतोषजनक मान कर संपादक ने स्वीकार किया। इन दोनों पत्रों में यह स्वीकार किया गया था कि रिफ़ॉर्म बिल (सुधार विधेयक) विधि-संहिता से नहीं हटाया जायगा। इस 'संधि' पर अंतिम स्वीकृति के लिए बार्नेस को एक दावत में ससम्मान आमंत्रित किया गया और वहीं उसपर अंतिम स्वीकृति प्राप्त हुई। मंत्रियों पर घुटने टेक देने का आरोप लगाया गया। किंतु एक संपादक ने तो अपनी सत्ता स्वीकार करवा ही ली। 'टाइम्स' के संपादक की यह परंपरा भी रही है कि वे राज से कोई सम्मान (पदवी या उपाधि) ग्रहण नहीं करते थे। ये ही कारण हैं जिनसे उनका व्यक्तित्व ऊँचा माना जाता रहा।

लोग पूछ सकते हैं कि बार्नेस का व्यक्तित्व इतना ऊँचा अपने से हो गया था या 'पत्र के संचालकों द्वारा दी गयी स्वतंत्रता' ने ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था। इसका उत्तर 'टाइम्स' के इतिहास में ही मिल जायगा। उसमें एक स्थान पर लिखा गया है : **"जब तक 'टाइम्स' के संपादकीय आसन पर बार्नेस की नियुक्ति नहीं हुई थी तब तक संपादन-कार्य को राजनीतिक व्यक्तियों तथा दलों से पूर्णतः मुक्त रखने के सिद्धांत की आशा नहीं पैदा हुई थी। घोर संघर्ष के बाद आदर्श से ही यह सिद्धांत ठोस बना।"** बार्नेस की सिद्धांतनिष्ठा और उनके पत्रकार-व्यक्तित्व पर ब्रिटेन के पत्रकार-समाज को—भले ही आज वह स्वयं व्यक्तित्वहीन हो रहा हो—बड़ा गर्व है। ब्रिटेन ही क्यों, समस्त विश्व ऐसे पत्रकारों पर गर्व करेगा। अगर यह भी मान लिया जाय कि बार्नेस के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने में पत्र-संचालकों का भी योगदान था तो इससे उनके व्यक्तित्व में कोई कमी नहीं आ जाती।

व्यक्तित्व के निर्माण में आदर्शवाद का स्थान सबसे ऊँचा है। इसी प्रकार आदर्शवाद के निर्माण में व्यक्तित्व की सहज महानता की आवश्यकता होती है। हम यों कह सकते हैं कि व्यक्तित्व के निर्माण में आदर्शवाद का और आदर्शवाद के निर्माण में व्यक्तित्व का परस्पर योगदान होता है। 'मैंचेस्टर गार्जियन' के संपादक और संचालक सी० पी० स्कॉट ने जन-सेवा के सर्वोच्च आदर्श से ही अपने पत्र को सारे संसार में विख्यात किया था। आज भी लोग उनका नाम बड़े आदर के साथ लेते हैं। अपने व्यक्तित्व के बल पर ही उन्होंने यह घोषणा की थी कि हमारे इस पेशे में किसी व्यक्ति का आना उसके लिए सबसे अधिक गौरव की बात है। अपने व्यक्तित्व से ही अनेक पत्रकारों ने पत्रकारिता के पेशे को इतना महान और सम्मानित बनाया था कि उसमें प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति किसी समय ताल ठोक कर कह सकता था कि हममें वह योग्यता है जिसके आधार पर हम उन सारी भावनाओं को एक सूत्र में पिरो सकते हैं जिनसे लोकमत का निर्माण होता है।

ब्रिटेन में पत्रकारिता के स्वर्णयुग में बार्नेस की परंपरा में अनेक नाम आते हैं—जैसे, 'मैंचेस्टर गार्जियन' के संपादक सी० पी० स्कॉट, डब्ल्यू० टी० स्टीड, डेंफ़ो, जूनियस, लैंब, कॉबेट,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कॉलरिज आदि। इन सबने पत्रकारिता को ऐसा महान पेशा बनाया था जिसमें राजनीतिज्ञ विचारकों और साहित्य-महारथियों ने पूर्ण योगदान किया। डीलेन को तो उन्नीसवीं शताब्दी का एक निर्माता कहा जाता है। जेम्स मैकडोनल्ड की दृष्टि में पत्रकार का नाम ही एक बहुत बड़ी उपाधि थी। पत्रकार के व्यक्तित्व की ऊँचाई उनके इन शब्दों में प्रकट होती है: **"पत्रकारिता को मैं रणभूमि से भी कुछ अधिक बड़ी चीज समझता हूँ, यह कोई पेशा नहीं, बल्कि पेशे से कोई ऊँची चीज है। यह एक जीवन है जिसमें मैंने अपने को स्वेच्छापूर्वक समर्पित किया।"** अतः इन बातों से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो पेशा इतना गौरव प्रदान करने वाला हो उसमें प्रविष्ट व्यक्ति का व्यक्तित्व अगर औसत दर्जे से भी कुछ ऊँचा न हो तो उसे पत्रकार कहलाने का क्या अधिकार, और वह अपने पेशे की महानता को कैसे चरितार्थ कर सकता है?

डब्ल्यू० टी० स्टीड को अपने पेशे की महानता पर इतना गर्व था और उन्होंने सचमुच इस महानता के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को इतना ऊँचा उठा लिया था कि उन्हें अपने बारे में यह कहते ज़रा भी संकोच नहीं हुआ कि जीवित व्यक्तियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति मैं हूँ। कितना आत्मविश्वास है इस वाक्य में? वास्तव में इसमें संपूर्ण आदर्शवादी पत्रकार-वर्ग का व्यक्तित्व बोल रहा है। उन्होंने यह बात उस समय कही थी जब वे हॉलोवे जेल में बंद थे। जॉन मार्ले एक दिन उनसे मुलाक़ात करने जेल में गये हुए थे। उनसे बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा: **"आज सुबह जब मैं जेल के आँगन में व्यायाम कर रहा था, मैंने अपने से पूछा, 'आज जीवित व्यक्तियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति कौन है?' मुझे केवल यही उत्तर मिला कि इस जेल का 'यह' बंदी।"** वास्तव में स्टीड ऐसे ही व्यक्ति थे। तभी तो जे० एल० गारविन ने उनके बारे में कहा था कि मैं स्टीड को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का एकमात्र व्यक्ति और नयी पत्रकारिता का नेता मानता हूँ। स्टीड की ही तरह डेनियल डेफ़ो और बिल्क्रीज़ ने भी अपने आदर्श और पत्रकार-चरित्र के लिए जेलयात्रा की थी—उस देश में रह कर जहाँ लोगों का जीवन साधारणतः स्वतंत्रतापूर्वक और आराम से चलता माना गया है। स्वदेश में रह कर सम्राट के भी भाषण की आलोचना करने का साहस करने वाले पहले व्यक्ति बिल्क्रीज़ ही बताये जाते हैं। अपनी सरकार के साथ वे बहुत दिनों तक संघर्ष करते रहे और इसी वजह से उनका अधिकांश जीवन जेल में बीता था।

जो व्यक्ति पत्रकारिता की सेवा में अपनी जान की बाज़ी लगा देने के लिए बराबर तैयार रहा हो, उसके व्यक्तित्व और चरित्र की उज्वलता पर किसे संदेह हो सकता है? जिसे अपने प्राण का मोह न हो, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह पैसे के लोभ में ही काम करता होगा। स्टीड ने ६० वर्ष से अधिक की उम्र में भी पत्रकारिता की सेवा में जिस उत्साह और साहस का परिचय दिया था वह पत्रकारिता के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रिंस ऑफ़ वेल्स जब भारत से स्वदेश लौट रहे थे, सम्राट एडवर्ड ने यह आदेश दे रखा था कि युद्धपोत 'इंडॉमिटेबल' के पास, जिसमें प्रिंस ऑफ़ वेल्स लौट रहे थे, कोई न पहुँचने पाये और उसके चारों ओर घेरा डाल दिया जाय। यह आदेश मुख्यतः पत्रकारों को रोकने के विचार से दिया गया था। जहाज़ रात में पहुँचने वाला था। स्टीड ने प्रतिबंध के बावजूद प्रिंस ऑफ़ वेल्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक पहुँचने का निश्चय कर लिया। उन्होंने घेरे के बाहर समुद्र की उत्ताल तरंगों पर अपनी एक छोटी-सी नाव छोड़ दी, जो लहरों के थपेड़े बर्दाश्त करती हुई अंत में 'इंडॉमिटेबल' से भिड़ ही तो गयी। स्टीड जहाज़ से लटकी एक ३० फ़ुट लंबी रस्सी की सीढ़ी से जहाज़ पर चढ़ गये और वहाँ पहुँचते ही उन्होंने जहाज़ के एक अफ़सर से बातचीत शुरू कर दी और उसी से उन्हें प्रिंस ऑफ़ वेल्स की भारत-यात्रा के संबंध में बहुत-सी बातें मालूम हो गयीं। अफ़सर बेचारा क्या जानता था कि यह व्यक्ति अभी-अभी समुद्र में से आया है। उसने तो यही समझा कि यह अनुमति ले कर जहाज़ में सवार व्यक्तियों में से ही एक है। दूसरे दिन 'डेली मेल' में जब स्टीड द्वारा प्राप्त समाचार प्रकाशित हुआ तो लोग चकित रह गये।

भारत को भी अपने कतिपय पत्रकारों की महानता, त्याग, तपस्या और आचरण से निर्मित उनके व्यक्तित्व पर गर्व है। गणेशशंकर विद्यार्थी की शहादत से कौन नहीं परिचित है? व्यक्तित्व की महानता, बुद्धि की व्यापकता और कुशाग्रता, दूरदर्शिता, आदर्शप्रियता, उदारता आदि गुणों से विभूषित पत्रकारों का यहाँ अकाल कभी नहीं रहा। स्वतंत्रता-संग्राम में तो ऐसे पत्रकारों के दर्शन होते रहे; किंतु आज हमें अपने सामने ऐसा कोई पत्रकार नहीं दिखलायी देता जिसके नाम की छाप इस युग पर दिखलायी देती हो। आज के पत्रकारों में जो लोग किसी समय पत्रकार के रूप में प्रिय थे, आज शासक के रूप में अप्रिय हो रहे हैं। उनकी जो कुछ त्याग-तपस्या थी, व्यर्थ हो रही है। ये लोग अगर शासक न बन कर पत्रकार ही बने रहते तो शायद उनका वह व्यक्तित्व सुरक्षित रहता जिसकी कभी पूजा होती थी।

व्यक्तित्व के विकास के संबंध में सी० पी० स्कॉट का यह कथन भी ध्यान में रखना होगा कि : "**दृढ़ता न केवल नैतिक होनी चाहिये, बल्कि उसके पीछे बौद्धिक दृढ़ता भी आवश्यक है।**" बुद्धि का साथ छोड़ कर नैतिकता अकेले दूर तक चलने में असमर्थ भी हो सकती है। अगर हम अपने अध्ययन, मनन और चिंतन में अपनी बुद्धि का परिमार्जन नहीं करते तो हो सकता है कि राजनीतिज्ञों या राजनीतिक जुआड़ियों के मतमतांतर और प्रचार के शिकार ही बने रहें और उन्हींसे 'प्रेरणा' और 'ज्ञान' लेते रहें। बौद्धिक दृढ़ता के अभाव में अक्सर हम ऐसे काम कर बैठते हैं जिन पर बाद में पछताना पड़ता है। हृदय और मन को कलुषित करने वाली तुच्छ बातें—जैसे बात-बात में चुग़लखोरी, छिद्रान्वेषण, अत्यल्प स्वार्थ के लिए अपने सहकर्मी का अहितचिंतन, उसकी किसी अयोग्यता का अनावश्यक प्रचार और उसकी किसी विशेषता पर मौन-धारण या उसमें भी मीन-मेख निकालने की आदत आदि—बुद्धि की अपरिपक्वता, चंचलता और दुर्बलता का ही परिणाम मानी जायगी। किंतु आज, जब पत्रकारिता भी एक व्यवसाय बन गयी है, पत्र-संचालक को पत्रकार की बौद्धिक दृढ़ता में दिलचस्पी क्या हो सकती है? मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों और नैतिक पतन की पूजा में जब उसकी सिद्धि छिपी हो तो वह 'सत्य शिव सुंदर' का पुजारी क्यों बनना चाहेगा? हृदय और मन को कलुषित करने वाली बातों से अगर उसका 'भला' होता है तो वह इनका अनादर कैसे कर सकता है? वह तो इनका स्वागत ही करेगा। उसका औद्योगिक दृष्टिकोण यह रहता है कि तुच्छ बातों से पत्रकारों के बीच मनोमालिन्य और कलह बना रहे ताकि वे एकता की बात न सोच सकें और अपने आर्थिक हितों के लिए किसी संघर्ष में सफल न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकें। कितनी संकीर्णता है उनकी इस 'बुद्धिमत्ता' में। काश वे अपने व्यावसायिक हित में ही यह समझ सकते कि पत्रकारिता भी अगर एक व्यवसाय है, तो उसका स्वरूप अन्य व्यवसायों से भिन्न है। पत्रकारों के आपसी कलह की वजह से पत्र का रूप बिगड़ता ही जाता है और अंत में ऐसी स्थिति आ जाती है कि लोग उस पत्र की ओर देखना भी नहीं चाहते। अनेक पत्रों का पतन इसी तरह हुआ है और हो रहा है। तब भला बताइए, औद्योगिक दृष्टिकोण से क्या लाभ ? हिंदुस्तान के इस तरह के पत्र-संचालकों को समझना चाहिए कि लार्ड नॉर्थक्लिफ़ भी एक पत्र-संचालक थे और उनका उद्देश्य भी व्यवसायवाद ही था, किंतु उन्होंने इस तरह की नीति नहीं अपनायी, क्योंकि आदर्श की दृष्टि न सही, टेकनीक और बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से उन्हें अपने पत्रों को सुंदर बनाना था।

● आर्थिक स्थिति और व्यक्तित्व

हमारा वर्तमान समाज अर्थ-प्रधान है। यहाँ व्यक्ति की क़ीमत और हैसियत धन से ही नापी-तौली जाती है। थोड़ी देर के लिए हमें बहलाने और प्रफुल्ल करने के लिए देश के नेता भले ही यह कहते फिरें कि व्यक्ति की हैसियत धन से नहीं नापी-तौली जाती, किंतु सत्य यही है कि आज व्यक्ति का मान धन से ही है। प्राचीन काल में जिस तरह आश्रमवासी ऋषि के राजदरबार में राजा सम्मान करता था, उसी तरह आज किसी निर्धन विद्वान के पहुँचने पर किसी मंत्री से क्या यह अपेक्षा की जा सकती है ? जिनके चरणों में बैठ कर हमारे कतिपय मंत्रियों ने पत्रकारिता और लेखन-कला सीखी है, क्या वे भी उनके 'दरबार' में इसके दशमांश सम्मान की भी आशा कर सकते हैं ? डेढ़ दो सौ रुपल्ली पाने वाले पत्रकार के साथ तो आदर और शिष्टता से बात भी नहीं की जायगी। पत्रकार का पेशा कितना ही 'नोबुल' क्यों न माना जाता हो, अगर आपकी आर्थिक स्थिति 'नोबुल' न हो तो समाज में क्या, अड़ोस-पड़ोस में भी आपकी पूछ न होगी। अपनी आर्थिक दुरवस्था से दबे साधारण पत्रकार का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा स्वयं अपने कार्यालय में मालिकों या अधिकारियों द्वारा ही किस तरह कुचली जाती है, इसकी कहानी बड़ी दुखद है, और लंबी भी। अनेक आदर्शवादी पत्रकारों को प्रायः कड़वी घूंट पी कर रह जाना पड़ता है। अगर उन्हें अपने साथियों का बल हो, समाज से कुछ सहायता मिलने का भरोसा हो और अपने पत्रकार-समाज के बीच आदर्शवादी और स्वाभिमानी व्यक्तियों की संख्या निरंतर घटती न दिखती हो तो वे अधिकारियों को समुचित जवाब दे सकते हैं। किंतु जब वे देखते हैं कि सारा समाज ही विगलित हो रहा है और सभी पत्रकार 'बहुत व्यावहारिक' होते जा रहे हैं तो वे भी परास्त हो कर अपने लिए यही सिद्धांत निर्धारित करने को बाध्य हो जाते हैं कि **"चाकरी ना करी और करी तो फिर 'ना' ना करी।"**

अधिकांश पत्रकारों की आर्थिक स्थिति ही उन्हें 'भेंट-मुलाक़ात' और 'संपर्क' बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। यह 'भेंट-मुलाक़ात' और 'संपर्क' होता तो है पत्रकारिता के एक आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग के नाम पर, किंतु वास्तव में यह हो जाता है व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि और कृपार्जन का एक साधन। पत्रकार का यह आर्थिक अभाव और उस अभाव से निर्मित हो गयी प्रवृत्ति ही बाद में चल कर उसकी मजबूरी बन जाती है। पत्रकारिता में भेंट-मुलाक़ात और संपर्क की बात आती है सामाजिक अध्ययन और समाचार-संग्रह के लिए, किंतु यहाँ तो उसका उपयोग पत्रकार अपने व्यक्तिगत हित के लिए ही करता है। स्वार्थ के लिए दरवाज़े पर दौड़ता है तो स्वभावतः अपनी प्रतिष्ठा का सौदा करता है। घोर आर्थिक संकट में रहते हुए भी पत्रकार शायद ऐसा न करते, किंतु अपने चारों ओर ऊपर से ले कर नीचे तक ऐसा ही होता देख कर और इसे कुछ-कुछ 'युग-धर्म'-सा समझ कर अगर वे ऐसा करते हैं तो बहुत स्वाभाविक है। जब चारों ओर का वातावरण ही ऐसा हो, अकेला पत्रकार अपने को कैसे बचा सकता है और अपने व्यक्तित्व की रक्षा कैसे कर सकता है? आज तो सारा समाज काजल की कोठरी-सा बन गया है। भला उसमें किसे दाग़ नहीं लग सकता?

आज के पत्रकारों के बारे में एक प्राध्यापक ने अपने एक पत्रकार मित्र को लिखे गये एक पत्र में कहा था : **"पत्रकारों ने अपने को बड़ा सस्ता बना लिया है। कोई छोटा-मोटा बनिया हो या अफ़सर, अगर उसने फ़ोन पर ही चाय-पान के लिए निमंत्रित कर दिया तो आप उसके घर पर हाजिर हो जायँगे। निमंत्रण न मिलने पर भी आपके कुछ भाई इन बनियों और अफ़सरों के 'दरबार' में पहुँचे रहते हैं। उनसे जो कुछ स्वार्थ सध जाय वही बहुत है। सच पूछो तो किसी भी जानकार और समझदार आदमी के मन में तुम लोगों के प्रति आदर की भावना नहीं रह गयी है। अगर कुछ रह गया है तो थोड़ा-सा भय। किंतु यह भय भी तभी तक जब तक तुम किसी पत्र में हो। पत्र से हटा दिये जाने के बाद कोई नहीं पूछता। जिस तरह पुलिस के प्रति मन में आदर का भाव न रहते हुए भी लोग उसे छेड़ना या अप्रसन्न करना ठीक नहीं समझते, उसी तरह तुम लोगों को छेड़ना या अप्रसन्न करना ख़तरनाक समझा जाता है। जो लोग पैसे से जबर्दस्त हैं वे तो पत्रकारों को ठेंगे पर रखते हैं, क्योंकि उनका सीधा संबंध पत्र के मालिकों या व्यवस्थापकों से होता है। मैं तो समझता हूँ कि आज किसी पत्रकार का यह सोचना कि उसका दर्जा समाज में कुछ ऊँचा है, आत्म-प्रवंचना मात्र है। ख़ैर, अभी तुम लोग इतना संतोष कर सकते हो कि जो लोग तुम्हारी अंदरूनी बातें नहीं जानते या जिनका तुम्हारे कार्यों से सीधा संबंध नहीं है, वे अब भी तुम लोगों को कुछ इज्ज़त की नज़र से देखते हैं और तुम्हारे पेशे को 'नोबुल' समझ कर उससे ईर्ष्या करते हैं। किंतु कब तक?"**

अपने लंबे पत्र में उक्त प्राध्यापक ने आगे लिखा है: **"तुम लोग कहाँ हो, ज़रा सोचो तो। क्या तुम इससे इनकार कर सकते हो कि तुम्हारे कुछ बंधुओं को संतुष्ट रखने के लिए पुलिस वाले भी जब-तब कुछ 'पत्रपुष्प' चढ़ाते रहते हैं? यह स्थिति कहाँ ले जायगी। एक बात और। आज तो पत्रकारों में मंत्रियों के कृपापात्र बनने की भी होड़ लगी रहती है। ज़रा बताओ तो, तुममें से कितने लोग ऐसे हैं जो इस मंत्री या उस मंत्री के कृपापात्र बनने की होड़ में नहीं लगे हैं। जो किसी मंत्री के कृपापात्र नहीं बन पाते वे किसी संसद-सदस्य या विधानसभा-सदस्य का ही पल्ला पकड़ने की कोशिश में लग जाते हैं। उन बेचारों को 'अभागे' या 'मूर्ख' ही समझो जो किसी विधानसभा-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदस्य को भी नहीं पकड़ पाते। उनके भाग्य में तो रोना ही बदा है। लेकिन यह पत्रकारिता का थोड़ा-बहुत भाग्य ही है जो ऐसे 'अभागे' या 'मूर्ख' हैं।"

मंत्री, संसद-सदस्य या विधायक की तो बात छोड़ दीजिए। हम नगर के हर बड़े आदमी या बड़े अफ़सर के पीछे सेवक की तरह लगे रहने में गर्व का अनुभव करते हैं। और ऐसा हम करते हैं पत्रकारिता के 'जन-संपर्क-सिद्धांत' के नाम पर। पत्रकारिता का 'जन-संपर्क-सिद्धांत' एक बहुत बड़ी चीज़ है जो आज बहुत छोटी और सस्ती होती जा रही है। भाव उसका उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है। आज ऐसे पेशेवर पत्रकार बहुत दिखलायी देंगे जो जन-संपर्क बढ़ाने में माहिर हैं। जन-संपर्क का मतलब अगर यही है कि हर छोटे-बड़े नेता और हर छोटे-बड़े अधिकारी के नगर में आने पर उसके स्वागत के लिए माला ले कर स्टेशन पर पहुँचे रहना चाहिए और जब वह नगर से जाय तो उसे विदाई देनी चाहिए या उसकी प्रशस्ति में कालम डेढ़ कालम कुछ लिख देना चाहिए, तो अनेक पत्रकारों को अपनी यह दुर्बलता स्वीकार करने में प्रसन्नता ही होगी कि उन्होंने यह नहीं समझा है कि जन-संपर्क का जो सिद्धांत पत्रकारिता में निहित है उसका अर्थ यही होता है। किसी ज़िलाधीश, शहर-कोतवाल या प्रशासक के नगर में दो-चार वर्ष रह लेने के बाद उसकी स्तुति में कुछ लिखने का मतलब तो समझ में आता है, किंतु किसी के आते ही उसके बारे में स्वयं पूरी जानकारी प्राप्त किये बिना कालम डेढ़ कालम घसीट देना समझ में नहीं आता। अधिकांश टुट-पूंजिये पत्र तो ऐसा अवश्य करते हैं। हो सकता है कि इसका कुछ विशेष अर्थ हो। कुछ बड़े सरकारी अधिकारी जब स्थानांतरित होते हैं तो वे अपने साथ अभिनंदनपत्र या अखबारों में अपनी प्रशंसा में प्रकाशित सामग्री लेते आते हैं और धीरे से कुछ 'विशेष' पत्रकारों को थमा देते हैं। इसी सामग्री के आधार पर नवागंतुक की स्तुति लिख दी जाती है। यह है अपने 'फ़ोर्थ एस्टेट' के कुछ चुने हुए 'नेताओं' का हाल।

इसपर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि किसी बड़े आदमी या अधिकारी को निकट से देख कर, उसे परख कर, उसके कार्यों का सही मूल्यांकन करने के बाद उसकी प्रशंसा में कुछ लिख दिया जाय। किंतु अगर हर आने-जाने वाले व्यक्ति की प्रशंसा ही होने लगे तो फिर आलोचना किसकी की जाय? आने-जाने वाले प्रमुख व्यक्तियों और अधिकारियों का संक्षिप्त परिचय और चित्र देना तो ठीक है, किंतु परिचय के नाम पर यों ही स्तुति करना ठीक नहीं कहा जायगा। हम मानते हैं कि पत्रकार के लिए जन-संपर्क का महत्व कम नहीं है। किंतु यह 'जन-संपर्क' लोगों की खामखाह प्रशंसा कर के या परिचय बढ़ा कर अपना भी कुछ नाम कमाने या काम निकालने का साधन नहीं होना चाहिए। अगर इसे कुछ कमाने का ही साधन बनाना है तो ज्ञान कमाने का ही साधन बनाया जाय। समाज में किस तरह के लोग हैं, उनके क्या विचार हैं, उनके विचार किस तरह बदल रहे हैं, उनकी क्या आकांक्षाएँ और क्या आवश्यकताएँ हैं, उनके सोचने-समझने के क्या ढंग हैं और विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं की उनके विभाग पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है—इन सारी बातों को जानना या जानने की कोशिश करना ही जन-संपर्क का वास्तविक उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य से प्रेरित जन-संपर्क न केवल पत्रकार का मान बढ़ाता है बल्कि उसके किताबी ज्ञान में चार चाँद लगा देता है। वास्तव में जन-संपर्क से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न होने वाले ज्ञान के बिना पत्रकार का किताबी ज्ञान अधूरा रहता है और उसका विवेचन, उसकी समीक्षा और उसका विश्लेषण प्रायः ग़लत सिद्ध होता है। किंतु जन-संपर्क का मतलब केवल कुछ ख़ास लोगों से संपर्क रखना नहीं होता।

● राजनीतिक दलों से लगाव

पत्रकार राजनीतिक दलों के प्रभाव से मुक्त रह कर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करने में और विफल हो रहा है। पत्रों में कुछ लोग तो राजनीतिक दलों द्वारा भेजे हुए होते हैं और कुछ ने अपना काम निकालने के उद्देश्य से स्वयं राजनीतिक दलों में संबंध क़ायम कर लिया है। विचित्र बात तो यह है कि ये सबके सब अपने को दलमुक्त 'पोज़' करते रहते हैं। एक बात और, इन दल-भक्तों की दलभक्ति भी कुछ ठोस नहीं होती। स्वार्थवश अक्सर रंग बदलते रहते हैं। इसके अलावा ये जिसे अपना दल समझते हैं उसके पूरे इतिहास, सिद्धांत और साहित्य से भी पूरी तरह परिचित नहीं होते। अगर यही हो, तो भी पत्र को कुछ लाभ पहुँच सकता है। पत्र में अपने दल के विषय में कुछ लिखे जाने पर अपनी नीति और सिद्धांत के बारे में वे संपादक को बता सकते हैं कि कहाँ क्या कहा गया है। इससे पत्र में ऐसी कोई ग़लत बात नहीं आ सकती जिससे पत्र का परिहास हो। किंतु अपने दल के बारे में ऐसी जानकारी रखने वाले बहुत कम मिलेंगे। अधिकांश की दलनिष्ठा तो बालू की भीत की तरह होती है, जिसे ज़रा-सी ठेस लगी कि ढह गयी। बहुतों की दलभक्ति तो मिनटों में बदलती है और केवल तुच्छ कारण से। यदि एक ही पत्र के दो प्रजासमाजवादी या दो कांग्रेसी या दो और किसी दल के सदस्यों में से एक की पदवृद्धि हो गयी तो बस इतने से ही दोस्ती भी गयी और दलनिष्ठा भी। एक झटके में वही दल बुरा हो गया जिसकी वे कल तक प्रशंसा करते थे। अगर ऐसा नहीं भी हुआ तो इसका कारण अख़बार के बाहर दल के नेताओं से संपर्क बनाये रखने का मोह ही होता है। हाँ, अगर किसी दूसरे दल में पूछ हो गयी और नेतागीरी का मौक़ा मिल गया तो फिर क्या है। पुरानी पार्टी का अंदर भी विरोध और बाहर भी विरोध। ऐसे लोगों से ऊँचे व्यक्तित्व की आशा कैसे की जा सकती है? इनकी यह दशा ही इनके काम का परिचय दे देती है। ऐसे लोग क्या समाचार-संपादन में भी न्याय कर सकते हैं? मस्तिष्क पर बैठी दलनिष्ठा या विचार-अस्थिरता पत्रकार को न तो दृष्टि दे सकती है और न समाचार-मूल्यांकन की समझ। विचार-अभिव्यक्ति में न सही, समाचार-संपादन में ही तटस्थता दिखला कर पत्रकार अपने को कुछ ऊपर उठा सकता है और अध्ययनशील न होने पर भी अपने को किसी दलभक्त की अपेक्षा अधिक योग्य समाचार-संपादक सिद्ध कर सकता है।

कभी-कभी तो इन दलभक्तों की वजह से पत्र का संपादकीय विभाग एक राजनीतिक जंतुशाला-सा मालूम पड़ने लगता है। कभी अखाड़े का-सा दृश्य भी देखने को मिल जाता है। अनेक पत्रों में तो कटुता, कलह और तनाव के अनेक कारणों में से एक कारण यह राजनीतिक संघर्ष भी है। ऐसे वातावरण में शांतिप्रिय और योग्य व्यक्ति का शांति से रहना कठिन हो जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है या अंत में उसमें भी ऐसी तुच्छता पैदा हो जाती है जो एक बुद्धिजीवी के रूप में उसे अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं करने देती।

● *अध्ययन और मनन का अभाव*

मनुष्य का बाह्य व्यक्तित्व यदि उसके रूपरंग, डीलडौल, चाल-ढाल, वेशभूषा आदि से आकर्षक माना जाता है तो उसके आंतरिक व्यक्तित्व का आकर्षण उसकी बातचीत, व्यवहार, शिक्षा-संस्कार, अध्ययनशीलता और मननशीलता में ही देखने को मिलेगा। मनुष्य का आभ्यंतरिक व्यक्तित्व उसके बाह्य व्यक्तित्व से भिन्न चीज़ है और उसकी ऊँचाई तक बाह्य व्यक्तित्व नहीं पहुँच सकता, हालाँकि कुछ ख़ास स्थानों पर उसे ही प्राथमिकता दी जाती है। वस्तुतः मनुष्य का आभ्यंतरिक व्यक्तित्व ही उसका वास्तविक व्यक्तित्व माना जाना चाहिए। आभ्यंतरिक व्यक्तित्व की श्रेष्ठता और प्रभावकारिता तभी सिद्ध होती है जब उसमें कुछ जन्मजात गुण और प्रतिभा के अलावा अध्ययन और मनन से उत्पन्न बुद्धि की व्यापकता और हृदय की विशालता के भी दर्शन हों।

अतः अपना व्यक्तित्व सर्वांग सुंदर बनाने के लिए पत्रकार को अध्ययन, मनन और चिंतन की नितांत आवश्यकता होती है। इन तीनों में से किसी को भी नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि किसी एक का भी अभाव व्यक्तित्व की पूर्णता में बाधक हो सकता है। अगर किसी ने किताबें तो बहुत पढ़ी हैं और उन्हें रट भी लिया है, किंतु उनपर मनन और चिंतन नहीं किया है तो उसकी तुलना धोबी के गधे से या 'रट्टू' तोते से ही की जायगी। केवल अध्ययन से जानकारी मात्र होती है, मन और बुद्धि का परिमार्जन तो मनन और चिंतन से ही होता है। अध्ययनशील व्यक्ति उद्धरणपटु हो सकता है, किंतु किसी विषय का सही विश्लेषण करने में और ठोस निष्कर्ष पर पहुँचने में मनन और चिंतन ही सहायक होते हैं। कोई व्यक्ति यदि केवल अध्ययन करता है, मनन और चिंतन नहीं, तो वह किसी भी विषय की भावी संभावनाओं का पूर्वानुमान नहीं कर सकता, भविष्यवाणी नहीं कर सकता। इसके अलावा एक बात और, वह यह कि पत्रकार का अध्ययन एकांगी नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ अगर उसने मार्क्सवाद के सारे ग्रंथ रट लिये हैं, किंतु मार्क्सवाद-विरोधी साहित्य का भी अध्ययन नहीं किया है तो वह निश्चय ही ग़लतियाँ करेगा। और इसी तरह यदि किसी ने मार्क्सवाद-विरोधी साहित्य तो ख़ूब पढ़ा है, किंतु मार्क्सवाद के बारे में कुछ नहीं या बहुत कम जानता है तो वह भी समझने और समझाने में भयंकर भूल करता जायगा। ऐसे लोग भूल ही नहीं करते, अपने को उपहास्य भी बना लेते हैं।

किंतु यहाँ तो अध्ययन सोलहो आने ग़ायब है। हम जिस पत्र का संपादन करते हैं उसीको पूरा-पूरा पढ़ लें तो बड़ी बात है। एक ओर अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, दूसरी ओर हमारी शक्ति और साधन बिलकुल सीमित। अध्ययनशीलता के अभाव में हमारे विचारों में जो संकीर्णता आ गयी है या आती जा रही है उसके कारण हम अपने को छोटा बनाते जा रहे हैं और उन तुच्छ बातों को टालने में असमर्थ हो रहे हैं जो हमारे व्यक्तित्व का ह्रास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती हैं और अपने ही सहकर्मियों के बीच असहिष्णुता, छिद्रान्वेषण, चुग़लखोरी, पारस्परिक द्वेष, कलहपरायणता, डाह, अल्पज्ञान का मिथ्या अभिमान एवं प्रदर्शन आदि की प्रवृत्ति को बढ़ा कर हमारी योग्यता, प्रतिभा और कार्यकुशलता को कुंठित कर रही है, अर्थात् हमें महान नहीं बनने दे रही हैं।

कितनी विचित्र बात है कि कुछ लोग अपने स्पष्ट दोषों को न देख कर दूसरों के अपने से कहीं छोटे दोषों को हज़ार नेत्रों से देखते हैं। अगर किसी का कोई गुट बन गया है तो वह अपने गुट के किसी सदस्य के उन दोषों को नहीं देखेगा जिनके लिए वह अपने किसी विरोधी की शिकायत करता है। अगर किसी तटस्थ व्यक्ति ने कभी उसकी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया तो वह 'इन्सान की कमज़ोरी' या इसी तरह कुछ और बात कह कर टाल देगा। इतना ही नहीं, उस तटस्थ व्यक्ति को अपने विरोधी का ही समर्थक मान बैठेगा। हम जिसे सहकर्मी और साथी कहते हैं उसकी पदवृद्धि या वेतनवृद्धि देख कर हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगे तो इसे क्या कहा जायगा? इन्सान की स्वाभाविक कमज़ोरी? नहीं, उससे भी कुछ बुरी चीज़। अगर उसने किसी के हक़ को कुचल कर किसी घृणित उपाय से अपनी वेतनवृद्धि करायी है तो उसके प्रतिद्वंद्वी का दुखी होना ठीक माना जायगा। ऐसी ही जाने कितनी बातें हैं जिनसे हमारे मस्तिष्क, मन और हृदय की गहराई नापी जा सकती है। अखबार में स्वयं अधिक से अधिक 'कटिंग' भरना, किंतु दूसरों के ऐसा कुछ करने पर संपादक तक शिकायत पहुँचाना, स्वयं देर में आना किंतु दूसरे के देर से आने की शिकायत करना, यह दिखाने के लिए कि अमुक व्यक्ति कम लिखता है, उसका लिखा हुआ 'मैटर' दबा देना, किसी को किसी की नज़र में गिराने का निरंतर प्रयत्न करते रहना, पद-लोलुपता या दूसरी किसी आकांक्षा से शत्रु के शत्रु को मित्र बनाने की राजनीति खेलना, कल तक के परम मित्र को बात की बात में शत्रु समझ लेना और इसी तरह कल के शत्रु को गुटबंदी के प्रयास में मित्र बना लेना आदि ऐसे कुकृत्य हैं जो हमारे संपादन-कार्य पर तो बुरा असर डालते ही हैं, साथ ही इनसे आत्मा भी कलुषित होती है और हम अपने कार्यालय में चपरासी तक की नज़रों में गिर जाते हैं। हमारा यह चरित्र बाहर भी प्रकट हो ही जाता है।

अपने ऐसे आपसी संबंधों को देख कर हम यह शिकायत कर के ही संतोष कर लेते हैं कि हमारे बीच ऐसी स्थिति पैदा करने की ज़िम्मेदारी संचालकों पर ही है, क्योंकि वे पत्रकारों के बीच एकता और सद्भावना का होना अपने आर्थिक हित के विरुद्ध समझते हैं। ऐसी शिकायत करना ग़लत तो नहीं कहा जा सकता, किंतु प्रश्न यह है कि जब हम समझते हैं कि इसकी ज़िम्मेदारी उनपर है तो अपने संबंध सुधारने का प्रयास क्यों नहीं करते और हम कैसे हैं जो उनके इशारे पर नाचते रहते हैं। ज़रूर हमने कोई बहुत बड़ा तत्व खो दिया है। पत्रों के इस वातावरण से कुछ ही लोगों का लाभ होता है, किंतु ये लोग भी अंत में दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंके गये दिखलायी देते हैं। फिर भी हम आपस में सद्भावना की आवश्यकता क्यों नहीं समझते? इस सद्भावना से पत्रकार का ही नहीं, पत्र और पत्रसंचालकों का भी लाभ होगा। किंतु हिंदुस्तान के पत्रसंचालकों को यह बुद्धि प्राप्त नहीं हुई है। ब्रिटेन के नॉर्थक्लिफ़ भी एक पत्रसंचालक ही तो थे और जहाँ तक आदर्श का संबंध है, उन्होंने नयी पत्रकारिता के नाम पर आदर्श से दूर ही रहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिश की, किंतु पत्र में सद्भावना का वातावरण बनाये रखने, पत्रकारों का यथोचित सम्मान करने और उनके प्रति शिष्टता और सौजन्य का व्यवहार करने, उनकी आवश्यकताओं को समझने और केवल चाटुकारिता से अयोग्य को योग्य मान लेने की प्रवृत्ति से बचने की पूरी कोशिश की। तभी तो कम से कम टेकनीक और बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से उनके पत्र काफ़ी आकर्षक बने रहे और उनकी प्रतियाँ आज भी ३० लाख तक की संख्या में बिक रही हैं। वास्तव में बात यह भी तो थी कि वे व्यवसायी ही नहीं, पत्रकार भी थे और पत्रकारिता और व्यवसाय दोनों के बीच संतुलन रखना जानते थे।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे पत्रकार-व्यक्तित्व और पत्रकार-चरित्र के ह्रास की बात काफ़ी स्पष्ट हो जाती है। भला ऐसे व्यक्तित्व और चरित्र को ले कर कोई पत्रकार अपने को लोकगुरु, लोकनायक और लोकप्रतिनिधि कैसे कह सकता है और कैसे बना सकता है? ऐसे चरित्र और व्यक्तित्व के पास भला आदर्शवादिता, उदारता, बुद्धि की व्यापकता, कार्य में दृढ़ता आदि गुण फटक सकते हैं? पर ख़ैर, बहुत रो चुके। सर्वोत्तम तो यही होता कि यहाँ जो छोटी-छोटी बातें लायी गयी हैं, उन्हें लाया ही न जाता। किंतु यह सोच कर कि ये शायद हमारे लिए चोट-चिकित्सा का काम कर जायँ, इन्हें लिखने की आवश्यकता महसूस हुई और लिख दिया गया। अपनी और अपने पेशे की निंदा करना भला किसे अच्छा लगेगा, किंतु इससे अगर अपना कुछ हित होता दिखायी दे तो ऐसा करना अनुचित नहीं माना जायगा। जब हम सत्तारूढ़ दल की विभिन्न राजनेताओं और दलों की, सामाजिक व्यवस्थाओं की, अफ़सरों से ले कर मामूली कर्मचारियों तक की आलोचना और निंदा करने में नहीं चूकते, तो फिर अपने दोषों को भी क्यों न देखें? अपना दोषदर्शन कर के और फिर अपने को सुधार कर ही हम दूसरों की आलोचना के वास्तविक अधिकारी हो सकते हैं। हमारा परम हित अपने प्रकृत स्वरूप को प्राप्त करने में ही है। इसे प्राप्त किये बिना हमारा पत्रकार-जीवन कोई जीवन नहीं कहा जायगा। किंतु यह जीवन हमें तभी मिल सकता है जब हम अपनी संकीर्णता और क्षुद्र स्वार्थ से बाहर आ जायें। हम जो दूसरों की स्वतंत्रता के लिए 'विकल' होते रहते हैं, पहले स्वयं तो हर तरह से स्वतंत्र होने की आवश्यकता महसूस करें। यदि हमने ऐसा कर लिया तो निश्चय ही हमारी प्रतिष्ठा, हमारा व्यक्तित्व और हमारा आसन हमें मिल जायगा और हम कालांतर में यह भी सिद्ध कर सकेंगे कि हाँ हम हैं लोकगुरु।

—संपादकीय विभाग, दैनिक भारत,
लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

●●

शलभ

चिरायँध की दिशा

रातों को कभी-कभी जागता है श्मशान !
श्मशान : चिटकता, चिरायँध से भरा, धुँधुवाता !
कुत्ते फोड़ते हैं हड्डियाँ,
सियार तोड़ते हैं खोपड़ियाँ,
ढेर सारी आँखें छिटक कर यहाँ-वहाँ हो जाती हैं !
समझौता न हो पाने के कारण
छिड़ता है सियार और कुत्तों में युद्ध !
बिखर जाती हैं अधपकी अँतड़ियाँ !
हवा, समय से फ़ायदा उठा कर
मुट्ठियों में सड़ाँध भर कर भागती है !

बस्तियों तक पहुँचती है सन्नाटे की टूटन !
और. . .और विधवाएँ सोचती हैं चक्की पीसने की बात !
अहिवातिनों को याद आता है चौका-बासन !
कुमारियों के इर्द-गिर्द क़हक़हा उछालते हैं
सपनों के राजकुँवर !
बड़ों-बूढ़ों को चाहिए हुक़्क़ा-चिलम-आग !
खेतों पर जाते बैलों की घंटियाँ बजती हैं।
सुबह का होना निश्चित जान
कटोरों में दुबके गिद्ध अनुमानते हैं चिरायँध की दिशा !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंद कमरे में

बंद कमरे में
टिकाये आँख छत तर
पागलों की तरह कब तक फिरूँ ?

एक लंबी अवधि बीती चाँदनी औ धूप के क्षण जिये !
बाजरे के खेत में उतरे किलहँटों को उड़ाये और गाली दिये !
कब तलक
निज को चपेटूँ हाथ धो कर
कहाँ तक ख़ुद में भला उतरूँ ?

एक मुद्दत हुई खिड़की खोल कर बाहर निहारे और गाये हुए !
मुँह-अँधेरे निकल कर घर से बग़ीचे में पहुँच कर आम लाये हुए !
गये मेलों के
दिवस——आये बहुर कर
समझ में आता नहीं क्या करूँ ?

एक अरसा हुआ, बचपन के पुराने दोस्तों मिले——मिल कर, हँसे !
बात कुछ भी नहीं, यों ही भाभियों से मात खा कर कहे 'अच्छा फँसे !'
लपलपाती
नहीं कोई छड़ी ऊपर
हाय, माँ तुम नहीं ! किससे डरूँ ?

—परंपरा-कार्यालय,
९ बी० विश्वनाथ मोतीलाल लेन,
कलकत्ता-१२ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी

बुरूंश का फूल

●●

बटरोही

आँगन के एक कोने से दूसरे कोने टहलता ख़ड़कसिंह, बीरसिंह की बारात की प्रतीक्षा कर रहा था। यों तो बारात को सुबह ही आ जाना चाहिए था। चौखुरी गाँव कौन दूर है? एक पनार नदी का उतार-चढ़ाव है—मुश्किल से चार-छह घड़ी का रास्ता। दाहिने कोने में आ कर बार-बार वह अपने माथे पर तिरछी हथेली रख कर नीचे दीख रही कुबड़ी पगडंडी को देखता। पर उधर कोई भी निशान न पा फिर दूसरे कोने में चला जाता।

सुबह से खड़कसिंह लगभग दस चिलम तंबाक़ू पी चुका था। रात को देर तक काम होने से वह सुबह धूप आने के काफ़ी देर बाद तक सोया रहा था। उठ कर जब उसने पहली चिलम भरी थी, तो सोचा था, बाराती उठ कर चाय और दो-दो चिलम तंबाक़ू पी चुके होंगे। रात भर का ख़ुमार—एक चिलम से होता ही क्या है? जब तक दो-दो चिलम न पियो, साला अमल ही नहीं मिटता। और तीसरी चिलम पीते-पीते खड़कसिंह सोचने लगा, बारात तैयार हो गयी होगी। चौखुरी गाँव उसके आँगन से धुँधला दीखता था—एक छोड़ दूसरी चोटी पर ही तो गाँव था। गाँव से उठता धुँआ बादल की हल्की टुकड़ी की भाँति दीख रहा था।

बारात की सारी घरेलू ज़िम्मेवारी खड़कसिंह पर ही थी। खाने वालों को खाने पर लगा, वह फिर ऊपर आँगन पर ही आ गया था। उस कुहराम-भरे वातावरण में उससे रहा नहीं गया। बाहरी आँखों से वह बारात की प्रतीक्षा कर रहा था, पर भीतर ही भीतर कुछ और ही कचोट रहा था।

"गुड़—गुड़ड़्ड़ड़्ड़्, अख थू। ह हो ठाकुर, अब पहले जैसी जसुली नहीं है। ईश्वर कसम कहता हूँ, घर रख लो।"—हरबल्लभ ने कहा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"चलो हो, हरबल्लभ ज्यू, बामण हो कर ऐसी बातें करते हो। एक बार थूक कर चाटने वाले हम नहीं हैं।"

हरवल्लभ और खड़कसिंह बाहर ख़ूबानी के पेड़ तले बैठे थे। ख़ूबानी में छोटे-छोटे सफ़ेद फूल उग आये थे। वैसाख लग गया था। पार द्योपड़ का जंगल और उसमें उगे बुरूंश के फूल साफ़ दीख रहे थे। लाल-लाल फूलों को देख कर एक अजीब-सी सिहरन खड़कसिंह के मन में जागती। न चाहते हुए भी वह चिलम का धुँआ उड़ाते हुए उस ओर देख डालता। कितनी सुखद रात्रि थी वह, जब खड़कसिंह जसुली को ब्याह लाया था। दोतल्ले पर ही वह सिमटी-सी दहेज का बिस्तरा लगाये बैठी थी। खड़कसिंह जाते-जाते मुस्कराया था। "शरम-वरम सब ब्याह के सात फेरों में ही समाप्त हो जाती है, वे। अब ये पुराने जमाने की औरतों के जैसे नखरे दिखाना छोड़।"

जसुली ने थोड़ा-सा सिर उठाया था। बुरूंश के एक लाल फूल-जैसा ही मुँह ऊपर उठा। खड़कसिंह देखता ही रह गया। वह उसकी बग़ल में जा बैठा। झुकी पलकों में गहरा उन्माद भरा था। खड़कसिंह को आज जीवन में पहली बार एक अजीब महक का आभास हो रहा था। बैठे-बैठे उसे याद आया, हरवल्लभ त्याड़ज्यू ने ही शादी ठहराने के दिन कहा था: "ऐसी-वैसी छोरी थोड़ी लाऊँगा रे खड़कुवा तेरे लिए। पूरे सरग की परी है, समझे!"

खड़कसिंह ने तब मज़ाक में कहा था: "तब तो मैं शादी नहीं करूँगा हो त्याड़ज्यू। अभी से सरग की परी के साथ मैंने स्वर्ग नहीं जाना है।"

उस दिन उसे त्याड़ज्यू की बात बड़ी उपहासपूर्ण लगी थी। लेकिन आज उसे उन्हीं शब्दों से ईर्ष्या हो रही थी। जसुली सचमुच स्वर्ग की परी थी। तिल के ढेर दानों की तरह मुलायम उसके बाल, मोरनौली की गोल डिग्गी की तरह युगल आँखें, रक्ताभ बुरूंश जैसे कपोल, केले के गाब जैसी सुडौल गरदन और मखमली ब्लाउज़ से झाँकता हुआ महकते गुलाब की भांति अछूता और सुगठित वक्ष....। खड़कसिंह अपने को सचमुच स्वर्ग में समझ रहा था। जसुली के एक-एक अंग पर हाथ लगाते हुए उसे एक नयी अनुभूति का आभास हो रहा था। उसे पता ही न चला, कब रात समाप्त हुई थी और कब ये शैतान चिड़ियाँ बाहर ख़ूबानी के पेड़ पर किच-किच करने लगी थीं।

एक, दो, तीन, चार और पाँच! सचमुच पाँच दिन खड़कसिंह स्वर्ग में ही रहा। पर पाँचवे दिन अचानक ऊपर के गाँव से लौटते हुए खड़कसिंह को लगा जैसे वह स्वर्ग से धम्म से ज़मीन पर गिर पड़ा हो—जसुली भाग गयी थी।

एक अपार क्रोध-मिश्रित दुख ने खड़कसिंह को जकड़ लिया। "गऊ जैसी उस छोरी को हो क्या गया? वह तो ऐसी थी ही नहीं! लेकिन बेशरम बनने में लगता ही क्या है? तिरिया चरित्तर है, कौन जाने क्या सोच कर आयी थी। बेशरम को अगर जाना ही था तो मुझसे पूछती। मैं उसे कब मना करता?"—सोचता-सोचता खड़कसिंह खेत के दाहिने किनारे तक गया। दूर तक टेढ़ी पगडंडी को देखता रहा, पर उसका कहीं भी पता न था। झट से उसने अपना नया कुर्ता पहना और सीढ़ी उतरने लगा। पर खेत से नीचे वह न जा सका। "साली को गरज होगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो खुद आयेगी। आज ले भी आया तो क्या हुआ? क्या पता क्या सोच कर गयी है? मैं उसे बाँध तो रखूँगा नहीं।" खड़कसिंह फिर खेत के दूसरे किनारे तक गया। द्योपड़ के जंगल में फूले हुए बुरूंश साफ़ दीख रहे थे। खड़कसिंह को लगा जैसे उसने जसुली के सिर में कुल्हाड़ी मार दी हो और चारों ओर लाल-लाल खून बिखर गया हो। वह काफ़ी देर तक इधर-उधर भटकता रहा और अंत में ठाकुरी जोश ने उसे रोक ही लिया।

चार-पाँच दिन बाद एक दिन जब खड़कसिंह मकान के बगल में ही क्यारी बना रहा था, तभी उसका ससुर आ पहुँचा। कंधे में एक पोटली के सिवाय और कुछ नहीं था। आते ही न तो खड़कसिंह ने उससे पाँयलागो की और न उसने इसकी अपेक्षा ही की। पोटली आँगन के एक कोने में रख कर वह गिड़गिड़ाया: "माफ़ करना हो जमाई। जसुली के मन को उस दिन न जाने क्या हो गया था! नयी-नयी लड़की, इतना बड़ा सूना घर, मन लगता भी तो कैसे? हमारे भरे घर की आदी थी, घर का निश्वास लग गया होगा। सत्रहवाँ ही तो लगा है, सूझ-बूझ कुछ ठहरी नहीं, घर का काम-धाम बचपन में किया नहीं। क्या बताऊँ....

खड़कसिंह चुपचाप मिट्टी तोड़ रहा था।

"नयी जवानी में होता ही यही है। बचपन में कोई जिम्मेवरी थी नहीं, अब इतना बड़ा कारोबार, सम्हालती भी तो कैसे? तुमने कोई ज्यादा मतलब रखा नहीं होगा। दोनों नये-नये ठहरे, ऐसा ही होता है। अच्छा आज उसे घर ले आओ, अब कभी ऐसी शिकायत नहीं होगी।"

खड़कसिंह सिर झुकाये गोड़ता ही रहा।

"जो भी है, जसुली अब तुम्हारी घरवाली है। उसके साथ तुमने सात फेरे किये हैं। इन्सान गलती कहाँ नहीं करता? फिर वह तो अभी बच्ची है। सत्रह बरस कोई बहुत अधिक नहीं होते।"

और अचानक एक उफान-सा खड़कसिंह के गले से निकल पड़ा। "हाँ-हाँ बच्ची है। पाँच उँगलियाँ उसके मुँह में नहीं जातीं। पपीते-जैसी छाती निकल आयी है, और अभी बच्ची है। जाना ही था तो मुझसे पूछा नहीं जा सकता था? बदचलन के कोई क्या सींग होते हैं?"

उसके ससुर नीम के रस का घूँट-सा पी कर भी चुप रहा। स्वार्थ सिद्ध करना था, अधिक नरम हो कर बोला: "तुम समझते क्यों नहीं जमाई। गलती इनसान से ही तो होती है। पहली गलती तो किसी खूनी को भी माफ होती है। जरा-जरा-सी बात का इतना ख्याल रखते हो!"

खड़कसिंह एक दम उठ खड़ा हुआ। उसके अंदर का ठाकुर जाग उठा। "मैंने कह दिया, मैं उसे नहीं लाऊँगा। तुम्हें भी पहुँचाने की जरूरत नहीं। एक बार जो गलती कर सकता है, वह दूसरी भी जरूर करेगा। तुम्हें ही मुबारक हो तुम्हारी लड़की।" कहने को तो खड़कसिंह कह गया, लेकिन पहली तीन-चार रातों की मीठी याद अभी तक उसके मन में छायी थी। आवेश में वह केवल इतना ही कह पाया था।

उसका ससुर भावुक प्रकृति का व्यक्ति था। जमाई की बातें उसे लग गयीं। जितना उसे कहना था, प्रायः सभी कुछ कह दिया था। फिर वह भी ठाकुर ही था। नसें फड़क उठीं, आँखें आग बरसाने लगीं। फिर भी उसे गुस्सा दबाना पड़ा। बोला: "अच्छा, मैं जाता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कहने आया था। जसुली ने यह काम किसी बुरे विचार से नहीं किया था, सब बचपने की वजह से है। मैं तुम्हारा इंतजार करूँगा। उसे लेने जरूर आना।"

ससुर चला गया। खड़कसिंह काफ़ी देर तक खूबानी के पेड़ तले बैठा सोचता रहा। कभी सोचता, उसे ले आना चाहिए। बच्ची ही तो है। शरीर के बढ़ने से क्या होता है, जब तक विचार ही नहीं बढ़े! दो-एक साल में सभी कुछ समझने लगेगी। लेकिन फिर सोचता, औरत जात का क्या ठिकाना? सूरत गढ़ते समय तो भगवान ने उसे भोला ही बनाया है, लेकिन इसी भोलेपन के अंदर तमाम बुरे विचार और कुवृत्तियाँ छिपी हुई होती हैं। बड़े लोगों ने झूठ थोड़े ही कहा है कि तिरिया चरित्तर का भेद तो भगवान तक नहीं जानते।

शाम ढलते ही वह नीचे गाँव की तरफ़ घूमने चला गया। वह कुछ भी निश्चित नहीं कर पाया। लोगों से पूछना भी उसने उचित नहीं समझा। मुँह-सामने तो सभी यही कहेंगे कि घर रख लो। लेकिन घर लाने पर सभी पीठ-पीछे दस गालियाँ देंगे। बीच की बारवली (कतार) के गणेश कका बकरी मारने की तैयारी कर रहे थे। बकरी के आगे घास डाली थी। जीतसिंह बगल ही में गरदन कटते ही ताज़ा खून पीने के लिए खड़े थे। गणेश कका लंबी खुकरी को पीठ पीछे छिपाये खड़े-खड़े मौक़ा देख रहे थे। ज्यों ही बकरी घास में मुँह डाले, वह छन्न से काट डालें।

'ख्याच्च' वार हुआ। बकरी की गरदन गज़ भर दूर पड़ी। जीतसिंह लपक कर खून पीने लगे। खड़कसिंह ने झट मुँह मोड़ लिया और उसकी दृष्टि पार जंगल के बुरूंश के फूलों पर जा पड़ी। एक मनहूस विचार उसके मस्तिष्क से जा टकराया। एक गहरी टीस का आभास उसे हुआ और वह वहाँ से चला गया। वही खड़कसिंह, जो कल तक कई बकरियाँ मार चुका था, आज इससे उसे घृणा-सी हो गयी थी।

घर आ कर फिर वह काफ़ी देर तक सोचता रहा। बुरूंश जैसी जसुली के सेब के दानों जैसे. . . .पर एक बात मन पर तीर-जैसा मारे रही कि क्यों वह बिना पूछे चली गयी। इस न पूछने का अर्थ ही क्या हो सकता है? रात को सोये-सोये अनायास ही उसे याद आया, उस दिन एक भीनी गुलाब की खुशबू के बीच उसने एक अछूती और अनदेखी कली को तोड़ डाला था— उस खूबसूरत और पुष्ट कली को। अब उस पराग का क्या होगा? काफ़ी देर तक वह इसके बारे में सोचता रहा। पर दूसरे दिन उसका शैतान ही बलशाली निकला। तीसरे दिन फिर उसका साला आया था। खड़कसिंह सोचने लगा, अगर अच्छी ही होती तो साले इतनी खुशामद क्यों करते। ज़रूर कुछ खोट होगा।

सात साल बीत गये। न तो खड़कसिंह जसुली को लेने गया और न उसे बच्चा होने का समाचार ही मिला।

"गुड़-गुड़ड़ड़ड़, अख थू, ह हो ठाकुर। जसुली अब पहले जैसी नहीं है। ईश्वर कसम कहता हूँ, घर रख लो।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"चलो हो हरवल्लभ ज्यू, बामण हो कर ऐसी बातें करते हो! एक बार थूक कर चाटने वाले हम नहीं हैं।"

खड़कसिंह ने दूर तक देखा——शायद बारात आ रही थी। पनार से काफ़ी ऊपर ढालान में कुछ आते हुए दीख रहा था।

आज भी खड़कसिंह के मन से जसुली की वह बुरूंश-से कपोलों की सूरत नहीं हटी थी। इन सात सालों में उसके मन में कई विचार आये थे। कई बार वह तैयार हो कर काफ़ी दूर तक चला भी गया था। लेकिन कभी एक हठ और कभी चरित्र का संदेह उसे रोक लेता था, जाने नहीं देता था, वह लौट आता था।

खड़कसिंह नीचे गया। खाना पक गया है या नहीं, यह भी देखना था। पत्तलों का इंतज़ाम करना था। धूप प्रायः काफ़ी आ चुकी थी। पीपल के बड़े से पेड़ के नीचे खाने की व्यवस्था करवायी और तब तक बाजे की आवाज़ कानों में पड़ने लगी।

गाँव की सभी औरतें इकट्ठी होने लगीं। शकुन-गीत गाये जाने लगे। बारात गाँव में प्रवेश कर चुकी थी। बीरसिंह घोड़े पर आ रहा था। आज उसका चेहरा कल की भाँति सुस्त होने पर भी एक अजीब मादकता से भरा हुआ था। पालकी में लाल मलमली कपड़े से ढँकी दुल्हन आ रही थी। पालकी बुरूंश के फूलों से सजी हुई थी। खड़कसिंह ज़्यादा देर उस ओर न देख सका। वह खाने-पीने की सामग्री जुटाने में लग गया। रह-रह कर एक याद उसके मन से टकराने लगी।

बीरसिंह घोड़े से उतरा। उतरते ही सबसे पहले उसने खड़कसिंह के पाँव छुए, खड़कसिंह ने बड़े स्नेह से आशीर्वाद दिया। पर एक ईर्ष्या का भाव, न चाह कर भी उसके चेहरे पर आ गया।

खड़कसिंह पत्तल लेने भीतर गया। तमाम औरतें दरवाज़ा घेरे खड़ी थीं। उसने उन्हें हटने के लिए कहा। बग़ल ही में औरतें बीरसिंह की दुल्हन को देख रही थीं। "बिलकुल सरग की परी है, ली। बीरसिंह के तो भाग जग गये।" एक आवाज़ उसके कानों से टकरायी।

खड़कसिंह को पत्तल लाते-लाते याद आया——एक दिन हरवल्लभ ने उससे भी कहा था—कुछ ऐसा ही। बुरूंश के फूल-जैसी जसुली, मोसौली की डिग्गी-जैसी युगल आँखें, केले के गाब-जैसी सुडौल गरदन और मख़मली ब्लाउज़ से झाँकता हुआ महकते गुलाब सा....

"खड़कदा, खाने का इंतज़ाम हो गया हो तो बारातियों को खिला दो!"

"खड़कसिंह, पानी के लिए आदमी भेज दो।"

"खड़की कका, घी कम पड़ गया है, भीतर से घी मँगवाओ।"

थोड़ा बहुत खाना खा कर और सब ठीक-ठाक करा वह घर गया। साँझ ढल रही थी। सूर्य पश्चिम में प्रायः अपनी हल्की-सी लालिमा से कुछ पीला पड़ चुका था। ख़ूबानी के पेड़ तले वह चिलम गुड़गुड़ाता रहा।

"हे हो ठाकुर, अब पहले जैसी जसुली नहीं है। ईश्वर कसम कहता हूँ, घर रख लो।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैं तुम्हारा इंतजार करूँगा हो जमाई। उसे लेने जरूर आना।"

"रक्ताभ बुरूंश जैसे कपोल, मखमली ब्लाउज से झाँकता हुआ सुवासित गुलाब-वक्ष...."

गुड़-गुड़ड़ड़ड़ड़ और चिलम का धुँआ।

"चुप हो हरबल्लभ ज्यू, बामण हो कर ऐसी बातें करते हो। एक बार थूक कर चाटने वाले हम नहीं हैं।"

"इन्सान गलती कब नहीं करता। फिर वह तो अभी बच्ची है। सत्रह बरस को बहुत अधिक नहीं होते।"

"जो एक बार गलती कर सकता है, वह दूसरी भी जरूर करेगा।"

"पूरी सरग की परी है, ली। बीरसिंह के तो भाग जाग गये।"

खड़कसिह ने नीचे की ओर देखा—कुबड़ी पगडंडी बल खाती हुई पनार में फि... रही थी।

और खड़कसिह रात को चंद्रमा के प्रकाश के बीच अपने ससुर के मकान की सीढ़ि... चढ़ रहा था।

—३२ बड़ाबाजार
मल्लीताल, नैनीताल

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहवर्ती साहित्य

गुजराती

गुजराती भाषा और साहित्य

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

गुजराती गुजरात प्रदेश की भाषा का नाम है। यदि गुजरातीभाषी भूमिखंड की दृष्टि से गुजरात की भौगोलिक सीमाएँ निश्चित की जायँ तो उत्तर में सिरोही और मारवाड़ तक उसकी पहुँच होगी तथा कच्छ भी सम्मिलित हो जायगा। दक्षिणी सीमा थाना ज़िले और सालसट तथा बंबई टापू तक मानी जायगी, जहाँ गुजराती अन्य भाषाभाषियों के साथ समान जीवन बिताते हैं। पूर्वी सीमा सह्याद्रि से आरंभ हो कर पालनपुर के पूर्वी भाग को छूती है और पालसट की पहाड़ियों के समानांतर आगे बढ़ती है। पूर्व में और आगे चल कर वह भीली बोली और जयपुरी तथा मारवाड़ी तक से नाता जोड़ती दिखायी देती है।

इस प्रदेश का नाम 'गुजरात' क्यों पड़ा, इस विषय पर अनेक मत हैं। किंतु ऐतिहासिक शोधों के आधार पर यह स्पष्ट है कि चालुक्यों के राज्यकाल से ही वर्तमान गुजरात प्रदेश का नाम 'गुजरात' पड़ा।

भाषा, लिपि और ध्वनियाँ—गुजराती भाषा के लिए केवल 'गुजराती' शब्द का ही प्रयोग होता है। 'गुजराती' शब्द का प्रयोग गुजराती के रससिद्ध कवि प्रेमानंद (सन १६४९-१७१४) ने अपने काव्य-ग्रंथ 'दशमस्कंध' में किया। इसके बाद सन १७३१ में जर्मनी के, मुख्यतया बर्लिन के, एक लायब्रेरियन ला कोझ ने अपने एक लेख में गुजराती भाषा का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त और किसी ने गुजराती भाषा के लिए 'गुजराती' शब्द का प्रयोग नहीं किया। हाँ, एकाध ने उसे 'भाषा' कहा है तो अन्य उसे 'प्राकृत पदबंध', 'प्राकृत वाणी' आदि नाम देते हैं। नरसिंह महता उसे 'अपभ्रष्ट गिरा' और भालण 'गुर्जर भाषा' बताते हैं। स्व० नरसिंह राव ने अपभ्रंश और गुजराती के बीच की भाषा को 'गौर्जर अपभ्रंश' कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुजराती भाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। सन १००० ईसवी से आज तक उसका विकास सुस्पष्ट होता आया है। अपभ्रंश के बाद गुजराती के गौर्जर अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और अर्वाचीन गुजराती——ये तीन रूप मिलते हैं, जिनके नमूने भी मिल जाते हैं।

गुजराती भाषा के विकास का काल-विभाजन अनेक विद्वानों ने किया है जिनमें ५० वर्षों के आगे-पीछे के अतिरिक्त कोई उल्लेख्य भेद नहीं है। निष्कर्षत: ११वीं शताब्दी से गौर्जर अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और फिर अर्वाचीन गुजराती——यों गुजराती विकसित हुई है।

गुजराती बोलने वालों की संख्या लगभग २ करोड़ है। इसकी लिपि देवनागरी का ही एक रूप है। शिरोरेखाहीनता और कुछ अक्षरों के परिवर्तित रूप——मात्र इस भिन्नता के अतिरिक्त उसमें तथा देवनागरी में कोई अंतर नहीं। गुजराती में चंद्रबिंदु (ँ) लिखा तो नहीं जाता पर बोलने में उसका ध्यान हिंदी की ही भाँति रखा जाता है। दूसरी बात फ़ारसी अक्षरों के नीचे बिंदी रखने की है। हिंदी में जैसे यह प्रथा है कि 'ड' और 'ढ' के नीचे बिंदी लगा कर 'ड़' और 'ढ़' लिखते हैं, वैसे गुजराती में नहीं। गुजराती में पूर्ण विराम का चिन्ह हिंदी की भाँति खड़ी पाई नहीं वरन अंग्रेज़ी की भाँति (.) है। गुजराती में मात्राएँ तो हिंदी की ही भाँति लगायी जाती हैं, किंतु प्रत्यय शब्द के साथ जुड़ते हैं। गुजराती में संस्कृत की भाँति तीन लिंग होते हैं। नपुंसक लिंग को नान्येतर जाति कहते हैं। सामान्यतया ओकारांत शब्द पुंल्लिग, इकारांत स्त्रीलिंग और उकारांत नपुंसकलिंग के होते हैं। गुजराती में वचन दो ही हैं। 'ओ' लगाने से बहुवचन हो जाता है। इनके अतिरिक्त हिंदी और गुजराती में केवल नामों को छोड़ कर संज्ञा, विशेषण, क्रिया, कृदंत, काल, अव्यय आदि सब समान हैं।

साहित्य का काल-विभाजन——गुजराती भाषा की भाँति साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन भी कई प्रकार से किया गया है। गुजराती साहित्य के इतिहास के अध्येताओं ने इसका प्राय: समानतः विभाजन किया है। विभाजन भाषा के विकास के काल-विभाजन के ही समानांतर है। इसके अनुसार गुजराती साहित्य के इतिहास में तीन मोड़ दिखायी देते हैं: (१) हेमचंद्र-युग और रास युग वाला मोड़, जिसमें अपभ्रंश और गौर्जर अपभ्रंश की प्रधानता है; (२) भक्तियुग का मोड़, जिसमें नरसी महता और मीराँ को प्रवर्तक माना जाय तो उसका विस्तार प्रेमानंद और दयाराम तक दिखायी देता है; और (३) जागरण-युग का मोड़, जिसमें आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाओं का विकास हुआ है। संक्षेप में हम गुजराती साहित्य के इतिहास को तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं: (१) आदि काल (सन १००० से १५०० तक); (२) मध्य काल (सन १५०० से १८५० तक); तथा (३) आधुनिक काल (सन १८५० से आज तक)।

आदि और मध्य काल——आदि काल में एक ओर अपभ्रंश की रचनाएँ मिलती हैं तो दूसरी ओर अपभ्रंश-प्रभावित गुजराती की। अपभ्रंश के रचनाकारों में हेमचंद्र सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने व्याकरण, शब्दकोश, छंदशास्त्र, काव्यशास्त्र, महाकाव्य, जीवनचरित, योगशास्त्र आदि सभी विषयों पर तो लेखनी चलायी ही, प्रबंधकाव्य और रास भी लिखे। अपभ्रंश के अन्य लेखकों में धनपाल, सोमयुग और वस्तुपाल प्रमुख हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपभ्रंश-प्रभावित गुजराती के लेखकों में शालिभद्र सूरि, जिनपद्म सूरि, विनयभद्र, विजयसेन सूरि, राजशेखर आदि तथा जैनेतर कवि आसाहत, श्रीधर व्यास, अब्दुर्रहमान आदि प्रमुख हैं। इस युग की सब से बड़ी विशेषता गद्य-रचना है।

मध्य काल का प्रारंभ नरसी महता से माना जाता है। उन्होंने 'शामलशाह का विवाह', 'राससहस्र पदी', 'सुदामाचरित', 'हारमाला', 'हुंडी' आदि अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ गुजराती को दीं। ये महाकवि सूर की भाँति संयोग और वियोग का वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। मीराँ की कृष्ण-भक्ति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। वे हिंदी की ही भाँति गुजराती में भी लोकप्रिय हैं। भालण ने सर्वप्रथम आख्यान-काव्य लिखने की पहल की। संस्कृत के इस प्रकांड पंडित ने गुजराती में 'कादंबरी' लिख कर बाणभट्ट की आत्मा को उतार दिया। उनके अनुकरण पर आधुनिक काल तक आख्यान-काव्य लिखे जाते रहे हैं। पद्मनाभ, नाकर, उद्धव, विष्णुदास आदि अन्य कवि भालण की परंपरा में आते हैं।

इस युग में अखो कबीर की भाँति अपनी वेदांती वाणी के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके छप्पे गुजरात के घर-घर में कहावतों की तरह कहे जाते हैं।

प्रेमानंद ने आख्यानों में नवरस का समावेश कर गुजराती साहित्य का भंडार भरा है। लोकप्रियता में प्रेमानंद को कोई कवि नहीं पा सकता। शामल ने लोककथाओं को ले कर काव्य-रचना की और बड़ी सफलता पायी। दयाराम मध्य काल के अंतिम कवि हैं। वे शृंगार रस के कवि थे और गरबी साहित्य के एकच्छत्र सम्राट थे। विचारधारा से वे पुष्टिमार्गी थे। मध्य काल के प्रारंभ में नरसी महता, मध्य में प्रेमानंद और अंत में दयाराम—तीनों को कभी नहीं भुलाया जा सकता।

संक्रमण-काल और नवयुग—गुजराती साहित्य का मध्य काल दयाराम की मृत्यु के साथ (सन १८५२ में) समाप्त हो जाता है। यह वह समय है, जब सर्वत्र अंग्रेज़ों के पैर जम गये थे और अंग्रेज़ी शिक्षा का सूत्रपात हो गया था। अन्य प्रदेशों की भाँति गुजरातीभाषी प्रदेश में भी धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्रांति और सुधार की आवाज़ हर क्षेत्र में गूँजने लगती है। दुर्गाराम और उनके साथी सूरत में मानवधर्म संस्था (सन १८४४) की, भोलानाथ दिवेटिया और रणछोड़लाल अहमदाबाद में धर्म सभा (सन १८५८) की और नर्मद बंबई में तत्वबोधक सभा (सन १८६०) की नींव डालते हैं। बंबई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय भी इसी समय (सन १८५७) में खुलते हैं। आर्य समाज, थियोसोफ़िकल सोसायटी, राममोहनराय, रामकृष्ण परमहंस आदि की हलचलें भी इसी समय बढ़ती हैं। डाक-तार, मुद्रण यंत्र, पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाश में आती हैं और गद्य जन्म लेता है। विचार-स्वातंत्र्य की आँधी में अंधविश्वास उड़ने लगते हैं। सारांशतः गुजराती में क्रांति की प्रेरक शक्तियाँ वही होती हैं, जो हिंदी में रहती हैं। अंतर केवल यह है कि एक तो गुजराती में वादों का घटाटोप नहीं उठता; दूसरे गांधीवादी विचारधारा का पवित्रतावादी साहित्य उसकी विशेषता बन जाता है।

आधुनिक काल को चार युगों में बाँटा जा सकता है: (१) **सुधारक-युग**—(सन १८५० से १८८७ तक); (२) **पंडित-युग**—(सन १८८७ से १९२० तक); (३) **गांधी-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग--(सन १९२० से १९४० तक); तथा (४) **अध्ययन-युग**--(सन १९४० से आज तक)।

सुधारक-युग के प्रवर्तक हैं अर्वाचीनों में आद्य वीर नर्मद। सूरत-निवासी इस नागर ब्राह्मण ने अंग्रेज़ी शिक्षा भी पायी थी। सन १८५८ में इन्होंने नौकरी छोड़ कर केवल मसिजीवी होने का व्रत लिया था। इन्हें गुजराती का भारतेंदु कहा जा सकता है। इन्होंने समाज और साहित्य की हर दिशा में क्रांति की और प्रत्येक विद्या में सफलतापूर्वक लिखा।

नर्मद के समकालीन थे कवीश्वर दलपत राम। फ़ार्बस साहब ने गुजराती भाषा के विकास के लिए गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी (गुजरात विद्या सभा) की नींव इन्हीं की प्रेरणा से डाली। इनकी कविता में सुधार की भावना प्रबल है। गुजराती के सर्वप्रथम आलोचक नवल राय पंड्या भी इसी युग में हुए। गुजराती के प्रथम उपन्यास लेखक नंदशंकर, तुलजाशंकर महता, प्रार्थना समाज के संस्थापक भोलानाथ साराभाई, सुधारक महीपतराम नीलकंठ आदि भी इसी युग की देन हैं।

पंडित-युग का प्रारंभ सन १८८७ में 'सरस्वती चंद्र' के प्रथम भाग के प्रकाशन से होता है। उस उपन्यास के लेखक अनेक भाषाओं के प्रकांड पंडित, श्री गोवर्धन राम सन १९०५ में प्रथम गुजराती साहित्य परिषद के अध्यक्ष हुए। इन्होंने हज़ारों रुपये की वकालत छोड़ कर चालीस वर्ष की आयु में साहित्य-सेवा का व्रत लिया और गुजराती को समृद्ध बनाया।

मणिलाल नभुभाई, नरसिंह राव दिवेटिया, रमण भाई, नीलकंठ, आनंदशंकर ध्रुव, केशव हर्षद ध्रुव, कवि कांत, कलापी और बलवंत राय क० ठाकोर आदि महान साहित्यकार इसी युग की देन हैं।

गुजराती के रवींद्रनाथ ठाकुर, न्हानालाल को पंडित युग और गांधी युग के बीच की कड़ी मान सकते हैं। उनके रास और गीत गुजराती की अमूल्य निधि हैं। वे आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। हमारी सम्मति में उनमें एक साथ हिंदी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और निराला की विशेषताएँ समाहित हैं।

गांधी-युग पर गांधी जी के व्यक्तित्व और सिद्धांतों की छाप है। उनकी प्रेरणा से सर्वश्री काका कालेलकर, किशोरलाल मश्रूवाला, रामनारायण पाठक, महादेव देसाई, नरहरि भाई पारिख आदि उच्च कोटि के चिंतक-विचारक और अध्यापक-आलोचक पैदा हुए, जिन्होंने पवित्रतावादी साहित्य की सृष्टि की।

इसी युग में राजनीतिक दृष्टि से गांधी के अनुयायी किंतु साहित्यिक दृष्टि से स्वतंत्र पथ के पथिक श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों और निबंधों से गुजरात की अस्थिरता को जगाया। मुंशी जी का वर्चस्व आज तक विद्यमान है।

उसके पश्चात **अद्यतन युग** में तो गुजराती में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबंध, हास्य आदि प्रत्येक विधा का स्वतंत्र विकास होना प्रारंभ हो गया। कवियों में सर्वश्री उमाशंकर जोशी, सुंदरम् स्नेह रश्मि, पूजालाल, प्रह्लाद पारेख आदि की कृतियाँ मूल्यवान हैं तो उपन्यास के क्षेत्र में रमणलाल देसाई, गुणवंत राय आचार्य, चुन्नीलाल शाह आदि ने महत्वपूर्ण रचनाएँ दी हैं। कहानी-लेखकों में धूमकेतु जैसे उच्च कोटि के लेखक हैं तो ज्योतींद्र दवे जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हास्य-काव्यकारों ने भी गुजराती की श्रीवद्धि की है। लोकसाहित्य-मर्मज्ञ झवेरचंद्र मेघाणी तो गुजराती साहित्य के गौरव ही माने जाते हैं। नाटककारों में चंद्रवदन मेहता और धनसुखलाल मेहता के नाम अविस्मरणीय हैं। आलोचकों और निबंधकारों में सर्वश्री रामनारायण पाठक, काका कालेलकर, विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, उमाशंकर जोशी, विजय राय वैद्य, अनंतराम रावल, विश्वनाथ भट्ट, विनोदिनी नीलकंठ, औलिया जोशी, मस्त फकीर आदि दर्जनों उच्च कोटि के साहित्यस्रष्टा उल्लेखनीय हैं। इनमें श्री उमाशंकर जोशी तो उस युग के सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा और स्रष्टा कहे जा सकते हैं।

अद्यतन युग में पन्नालाल पटेल, पीतांबर पटेल, ईश्वर पेटलीकर, चुन्नीलाल मड़िया और गुलाबदास ब्रोकर जैसे कथाकार, राजेंद्रलाल शाह, जयंत पाठक और पिनाकिन ठाकोर जैसे कवि, जयंति दलाल, पुष्कर चंदर वाकर जैसे नाट्यस्रष्टा, सुरेश जोशी जैसे आधुनिक विचारक गुजराती साहित्य को आगे बढ़ाने वालों में उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त के० का० शास्त्री, सुखलाल, मुनि जिन विजय, डोलर राय भाकड़, भोगीलाल साँडेसरा, हरवल्लभ भापाणी आदि का अनुसंधानकार्य भी महत्वपूर्ण है।

यदि हिंदी साहित्य के इतिहास से हम गुजराती के इतिहास की तुलना करें तो अद्भुत साम्य दिखायी देगा। प्राचीन काल में तो ब्रजभाषा से गुजराती बड़ी प्रभावित रही है। यहाँ तक कि और आगे चल कर भी ब्रजभाषा में कविता करने की योग्यता को गुजराती का कवि होने का प्रमाणपत्र माना जाता था। गुजराती के अनेक वैष्णव कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की है। हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि गोविंद गिलाभाई सौराष्ट्र के थे। कहते हैं कि भुज (कच्छ) में ब्रजभाषा की बहुत बड़ी पाठशाला थी जहाँ काव्यशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। गुजराती में हिंदी की भाँति रीतिकाल नहीं है पर वैसे शृंगाररस की कमी नहीं। आधुनिक काल में अरविंदवादी लेखक और कवि गुजराती में बहुत हैं, जब कि हिंदी में अकेले पंत जी हैं। वादों से विरक्ति गुजराती की विशेषता है, यह पहले कहा ही जा चुका है।

गुज़रातीभाषी दयानंद और महात्मा गांधी ने राष्ट्रभाषा हिंदी की बहुत बड़ी सेवा की है और आज भी अधिकांश गुजराती लेखक हिंदी से हार्दिक प्रेम रखते हैं।

—हिंदी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक साहित्य में रूप और आत्मा

● ●

गुलाबदास ब्रोकर

गद्य या पद्य में लिखित समस्त रूपों को अपने में समाहित करने वाला पदार्थ काव्य—कवि की अनुभूति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। यह अनुभूति बहुधा प्रातिभ ज्ञानसंपन्न होती है।

इस अनुभूति के समग्र मर्म को पूर्णरूपेण संप्रेषित करने और अर्थवत्ता प्रदान करने वाली भावना को उसके अशेष रूप में अभिव्यक्त करने में साधारण रूप में प्रयुक्त और साधारण अर्थ-व्यंजक दैनिक व्यवहार के शब्द सफल नहीं हो सकते। फिर भी काव्य एक ऐसी कला है, जिसके एकमात्र उपादान शब्द ही होते हैं। इसलिए संपूर्ण अभिव्यक्ति की उपलब्धि के लिए उन शब्दों को उनके साधारण अर्थ से ऊपर ले जाना चाहिए और उनमें से कुछ अनूठा और अनुपम अर्थ निकालना चाहिए। यदि शब्दों का उपयोग अर्थ-संप्रेषण के निमित्त तो न किया गया हो पर उन्हें ऐसा रूप प्रदान किया गया हो, जिससे वे किसी भावना के वाहक हो सकें तो वे उक्त प्रकार का अनूठा और अनुपम अर्थ दे सकते हैं।

रूप प्रदान करने की यह प्रक्रिया यदि पूर्ण और सफल होगी तो उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न पदार्थ किसी एक अनुभूति में साकार हुई भावना को अपने में समाहित कर लेगा। इस पदार्थ को 'रूप' कहना चाहिए क्योंकि यह रूपायित करने की प्रवृत्ति का परिणाम होता है। यह 'रूप' शरीर के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'रूप' शब्द का समानार्थी नहीं है। यह तो किसी साधक द्वारा समाधि की अवस्था में अपने अंतर में साक्षात्कृत सौंदर्य की लीला है, परियों जैसी एक सुंदर झलक है। सदैव दृष्टिगोचर न होने पर भी उसका हृदय से साक्षात्कार किया जा सकता है और अनुभव की वस्तु तो वह होती ही है। इस प्रकार अगोचर होने पर भी उसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। उसकी दृष्टिगोचरता सौंदर्य के आविष्कार के निमित्त—मात्र अपने लिए ही नहीं होती वरन् अपने अंतर में निहित अनुभूति के मर्म के उद्घाटन के निमित्त और भावना के वहन एवं संप्रेषण की क्षमता उत्पन्न करने के निमित्त होती है। इसीलिए क्लाइव बेल ने उसे 'सार्थक रूप' कहा है और लेंगरे उसे संशोधित कर के 'अभिव्यंजक रूप' की संज्ञा देता है।

संपूर्ण और अद्भुत प्रतीत होने वाले 'अधिव्यंजक रूपों' की सृष्टि करने के इसी सामर्थ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण काव्य अनादि काल से कोटि-कोटि भावनाओं को कोटि-कोटि धूप-छाँही रूपों में व्यक्त कर चुका है। इस शक्ति के अभाव में उसके लिए यह कार्य कर सकना संभव न होता। वस्तुतः इसी शक्ति के द्वारा काव्य ने अपना एक विश्व निर्मित कर लिया है—स्वतः पूर्ण, स्वाधीन और मानव के अंतर्जगत को अपने में समाहित एवं अभिव्यक्त करने वाला विश्व।

इस प्रकार रूप काव्य का प्रधान समझा जाने वाला और प्राणभूत कहा जा सकने वाला तत्व है। यह सिद्धांत बिना किसी विरोध की आशंका के स्थिर किया जा सकता है कि रूप के बिना काव्य की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती।

परंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह 'रूप' अभिव्यंजक होता है। वह अनुभूति में मूर्त हुई किसी भावना को अभिव्यक्त करता होता है। जब कवि काव्य-सर्जन-रत होता है तब वह अपनी ऐसी ही अनुभूति को मूर्त करने का प्रयत्न करता है। तो फिर यह 'अनुभूति' क्या है, जिसे रूपायित करने की चेष्टा कवि करता है?

यह 'अनुभूति' शब्द भी जब काव्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में प्रयुक्त होता है तब 'कुछ व्यावहारिक' और 'कुछ बाह्य' जैसे अपने सामान्य अर्थ के महदंश को छोड़ देता है। मात्र अकेली बुद्धि द्वारा ही नहीं वरन अपनी समग्र चेतना द्वारा—बुद्धि, भावना, उमंग आदि के समान प्रत्येक वस्तु को अपने में समाहित कर लेने वाली समग्र चेतना द्वारा—कवि जिस वस्तु को प्रातिभ ज्ञान के बल पर आत्मसात करता है उसे व्यक्त करने के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि इस अनुभूति को कोई सार्थकता प्राप्त करनी हो तो उसे अपूर्व होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि उसे अपनी संपूर्ण व्यापकता में चमक उठना चाहिए और जिन वस्तुओं का उसके साथ घनिष्ठ और व्यापक संबंध न हो उनमें से किसी भी वस्तु से उसे मलिन नहीं होना चाहिए।

यह अनुभूति, पूरी की पूरी, काव्य की आत्मा कही जाती है। अपने निजी सामर्थ्य के कारण यह भी किसी रचनात्मक कृति के लिए, काव्य से संबद्ध किसी भी अन्य तत्व के समान ही, महत्वपूर्ण है। कारण, काव्यात्मक सृष्टि की संपन्नता अथवा विपन्नता रूपायित होने वाली अनुभूति की संपन्नता अथवा विपन्नता पर निर्भर होती है। सर्जित अभिव्यंजक रूप का सारा ढाँचा जिस आधारशिला पर खड़ा रहता है वह आधारशिला है यह आत्मा।

अन्य सभी मनुष्यों की भाँति कवि भी दैनिक व्यवहार के जगत में घूमता-फिरता है, उससे ग्रहण करता है, उसकी वस्तुओं के बारे में कल्पनाएँ करता है, उसके दृश्यों एवं ध्वनि-समूहों प्रभ को मन के कोने में सँजो कर रखता है, उसमें घटित घटनाओं की अपने ऊपर होने वाली प्रतिक्रिया का मूल्यांकन करता है और बुद्धिमान, समझदार एवं कल्पनाशील मनुष्यों-जैसा ही व्यवहार करता है। कभी उसमें बुद्धि, समझदारी और कल्पनाशीलता के अंश अधिक मात्रा में होते हैं, कभी कम। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इन सारी दशाओं में उसकी काव्य-सर्जन की शक्ति सुषुप्तावस्था में होती है।

लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई एक विशिष्ट घटना, कोई एक विशिष्ट दृश्य या ध्वनि, उसके द्वारा गृहीत कोई प्रभाव या कोई विशिष्ट कल्पनाचित्र कवि की चेतना के अंतराल में स्थिर हो जाता है। तब वह विशिष्ट वस्तु कवि के निकट उतनी सामान्य नहीं रहती जितनी कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह दूसरों के लिए होती है। अपने अंतर्जगत में हुई विशिष्ट प्रस्थापना द्वारा कवि उस वस्तु के चारों ओर से समग्रत: देखने ही नहीं लगता वरन् उसके भीतर और उसे भेद कर दूर-दूर तक की बहुत कुछ देख लेता है। जिस प्रातिभ ज्ञान के वरदान से अन्य मनुष्य वंचित रहते हैं उसके बल पर कवि उस विशिष्ट वस्तु द्वारा सत्य के मर्म तक पहुँच कर उसका दर्शन कर लेता है। जब ऐसा होता है तब वह सामान्य दृश्य या ध्वनि या प्रभाव या कल्पनाचित्र अपनी समानता खो देता है, वह बन जाता है एक अनुभूति—जो मात्र कवि की और अकेले कवि की होती है और जिसे वह और अकेला वह ही अभिव्यक्ति दे सकता है।

इस अनुभूति के आसपास एक पूरा संसार—अद्‌भुत रूप के परिवेश में सुसज्जित एक अभिनव संसार—गुँथ जाता है और उसमें से एक 'जादुई खिड़की' खुल जाती है। इस संसार के अनावश्यक वेष्टनों का अस्तित्व नहीं होता, इसलिए यह वस्तु कवि-चित्त में स्वतः रूपायित हो कर अपने सामान्य वेष्टनों से पृथक निखर उठती है और उसके निमित्त कवि की कल्पना जो नये वेष्टन तैयार करती है उसे वेष्टित होने योग्य हो जाती है। इस प्रकार जीवन में जो रूप-रहित होता है अथवा जिसे संपूर्ण रूप प्राप्त नहीं होता, उसे स्वीकारात्मकता अथवा अस्वीकारात्मकता की प्रक्रिया द्वारा कवि के दर्शन को मूर्त कर के अपने में समाने वाली और जिन मनुष्यों के पास देखने को आँखें, सुनने को कान तथा अनुभव करने को हृदय है, उन तक उस दर्शन को संक्रमित कर दे जाने वाली एक व्यापकता प्राप्त हो जाती है। अनुभूति के पीछे रहने वाला दर्शन का यह तत्व—सत्य को स्वीकार करने वाला यह तत्व—उसे अर्थवत्ता प्रदान करता है और जब वह अनुभूति रूप ग्रहण करती है तब काव्य बन जाती है। सार्थक अनुभूति और उसे मूर्तता प्रदान करने वाला रूप—जो अपने में व्याप्त अनुभूति की सार्थकता या अभिव्यंजकता के कारण स्वयं भी सार्थक या अभिव्यंजक हो उठता है—परस्पर पूरक-से ये दोनों पदार्थ एक अपूर्व एकाकारिता, एक अपूर्व संपृक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस संपृक्ति को प्राप्त कर एक हो जाने वाले पदार्थ को हम कलाकृति कहते हैं, सर्जन कहते हैं। उसका रूप उसके अनुकूल न हो तो वह कलाकृति उसके कारण उतनी ही निचले स्तर की होगी। दूसरी ओर जिस अनुभूति को रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है वह यदि सार्थक न हो तो इसके फलस्वरूप जो रूप प्रकाश में आता है वह सामान्य सृष्टि भर रह जाता है। कवि के व्यक्तित्व द्वारा, दृश्य जगत के परे की वास्तविकता को देखने, व्यक्त कर सकने और सहृदय की अंतश्चेतना को विस्तृत बनाये रखने की उसकी गहरी दृष्टि द्वारा तथा वास्तविकता के भिन्न-भिन्न स्तरों को, उनके अधिकाधिक यथार्थ परिवेश में, नाना रूपों में आत्मसात करने के उसके सामर्थ्य द्वारा अनुभूति को जो सार्थकता प्राप्त होती है वही अनुभूति को रूप प्रदान करने की क्रिया को भी सार्थक बनाती है। इसीलिए कहा जाता है कि काव्यकृति 'कलात्मक मर्म' लिए होती है। जो लोग केवल रूप के पक्षपाती हैं और कहते हैं कि सार्थकता के इस अर्थ में भी आत्मा तो रूप की रचना में सहायक होने वाला एक 'पदार्थ' मात्र है तथा केवल रूप ही काव्य है, वे भी इस बात से तो सहमत हैं कि अभिव्यंजक रूप में ही 'कलात्मक मर्म' निहित होता है। इसे कहने का एक ढंग ही समझिए अन्यथा मुझे लगता है कि ऊपर जो कुछ कहा है उससे, सार रूप में, उनके कहने का अर्थ बहुत भिन्न नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य के उपादान शब्द हैं और शब्दों के उपादान उनके अर्थ। यद्यपि काव्य में प्रयुक्त शब्दों का सामान्य अर्थ अमुक अंश में नष्ट हो जाता है और कुछ असामान्य-जैसा उसमें से बाहर निकल आता है तथापि इस विशिष्ट उपादान द्वारा काव्य को एक ओर जैसे बल मिलता है वैसे ही दूसरी ओर उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक कला को अपने प्रयुक्त उपादान से बल भी मिलता है और उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ता है। काव्य के प्रसंग में भी यही सत्य है। यही कारण है कि भारत के सौंदर्यशास्त्रियों ने काव्यकला को शब्द और अर्थ से निर्मित कला कहा है। लेकिन वे जानते थे कि काव्य में न तो 'शब्द' ही मात्र सीधा-सादा शब्द रहता है और न 'अर्थ' ही सीधा-सादा अर्थ। इसके विपरीत काव्य में तो रसनिष्पत्ति के लिए इन दोनों का एक-दूसरे में संपृक्त होना अनिवार्य है—इतना अधिक संयुक्त कि एक को दूसरे से अलग कर के न देखा जा सके। उनकी इसी संयुक्तता के लिए ही कालिदास ने एक प्रतीक की योजना की थी। यह प्रतीक है अर्धनारीश्वर के रूप में एक पदार्थ के सदृश संयुक्त बन जाने वाले पार्वती और परमेश्वर का। प्राचीन रसाचार्यों के द्वारा प्रयुक्त शब्द और अर्थ के शब्दयुग्म के स्थान पर हम रूप और आत्मा शब्दयुग्म का प्रयोग कर के कहें तो कहा जा सकता है कि जब किसी सर्जनात्मक कृति में रूप और आत्मा एक दूसरे में इतने अधिक ओतप्रोत हो जायँ कि एक को दूसरे से अलग कर के न देखा जा सके तब समझना चाहिए कि काव्य को पूर्णता प्राप्त हुई। ऐसा काव्य संसार को केवल आह्लाद और माधुर्य ही नहीं प्रत्युत प्रकाश और चेतना की सजगता का प्रसाद भी देता है।

—अनु० : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

कहानी

सुख-दुख के साथी

• •

पन्नालाल पटेल

"कोई अंधी को पाई-पैसा दो माई-बाप!"—फ़ुटपाथ के किनारे बैठी एक औरत आवाज़ लगा रही थी। "माई-बाप, कोई लूले-लँगड़े पर दया करो मालिक!"—बग़ल से एक दोनों पैरों से लँगड़े की आवाज़ भी आयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न जाने सत्यानासी कहाँ से आ मरता है! जहाँ जाती हूँ, वहाँ पीछे ही पीछे लगा फिरता है।"—बड़बड़ाती हुई वह अंधी औरत उठी और दीवार को पथप्रदर्शक बना कर चलने लगी।

"ओ, बैठ-बैठ! मैं जाता हूँ।"—उस अपाहिज ने घिसटते हुए कहा।

"सड़क क्या तेरे बाप की है?"—कहने के स्थान पर इस प्रकार कहने वाले इस आदमी को देख कर उस औरत को मज़ाक-सा लगा और वह बोल उठी : "अगर जाना ही था तो नाशपीटे यहाँ आया क्यों था?"

"न, न, सच कहता हूँ, बैठ।"—लँगड़े ने कहा और हँसते हुए बोला : "जिसका पहले ही नाश हो चुका है, उसका नाश होने की बात क्यों कहती है?" तभी सड़क से गुज़रते हुए एक धर्मात्मा मनुष्य को देख कर अपने अन्नपूर्णा-जैसे कटोरे को आगे बढ़ाता हुआ वह कहने लगा : "कोई लँगड़े को दो माई-बाप!"

"अंधी को पाई-पैसा दो माई-बाप!"—कह कर उस औरत ने भी झट से पीठ फेर कर अपना कटोरा आगे कर दिया। उस सेठ ने लँगड़े के कटोरे में पाई डाल दी। खनखनाहट सुन कर वह औरत फिर रिरियाने लगी। दाता को जाता देख कर लँगड़े ने सिफ़ारिश की : "इस अंधी को भी देते जाओ मालिक!"

दाता को दया आयी और उसने पीछे मुड़ कर जेब से पाई निकालते हुए पूछा : "क्या यह तेरी औरत है?"

"हआँ माई-बाप!"—लँगड़े के मुँह से निकल गया और उस औरत के कुछ कहने से पहले ही उसके कटोरे में कुछ आ पड़ा। उसके शब्द मुँह में ही रह गये। गुस्सा हवा हो गया।

दाता के जाने के बाद लँगड़े ने दूर-दूर तक नज़र फेंक कर अभी तक खड़ी हुई औरत से फिर कहा : "ले बैठ, मैं जाता हूँ।"

औरत बैठ गयी और लँगड़े के खिसकने की आवाज़ आते ही बोली : "बैठ न, तू भी। तू मेरी तक़दीर थोड़े ही ले लेगा।"

"लेकिन तूने फिर मेरे नाश की बात कही तो?"

"तू तो कहता था कि तेरे नाश होने को कुछ है ही नहीं।"—औरत ने सहज प्रसन्नता अनुभव करते हुए कहा और फिर उस दाता की याद कर के मुँह बनाती हुई बोली : "उस दाता से जो कहता था वह फिर से तो कह।"

"अरी पगली, ऐसा कहने से ही तो पाई मिली! इसमें तेरा क्या बिगड़ गया?"

औरत ने उसकी ओर सिर्फ़ गर्दन घुमायी। लँगड़े ने उसकी नाचती हुई पलकों से भाँप लिया कि इस अंधी की आँखों में मोहिनी है।

उसने अपना काम शुरू किया : "अंधी पर कोई दया करो माई-बाप! कोई पाई पैसा..."

"क्यों अपना मुँह दुखाती है? कोई आता होगा तो मैं कुछ न कहूँगा। तू ही बोलना।"

औरत को भी यह बात अच्छी लगी। फिर भी रोज़ाना की आदत के मुताबिक़ उसके मुँह से वही बात निकल जाती थी और जब वह लँगड़ा बोलता था तब वह और भी ज़ोर से बोल उठती थी। ऐसे करते-करते अँधेरा हो गया। वह औरत उठ कर चलने लगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कहाँ जायगी ? क्या तेरा कहीं ठौर-ठिकाना है ?"—लँगड़े ने पूछा।

"तुझे इससे मतलब ? जहाँ मुझे जाना होगा, चली जाऊँगी। फिर भिखारी का ठौर-ठिकाना भी क्या ?"—वह चलते-चलते बोली। जवाब की आशा भी व्यर्थ गयी।

लँगड़ा कुछ न बोला। वह भी हाल ही में दो-चार दिन से खोजे हुए घर की ओर खिसकने लगा। दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही लँगड़ा उस स्थान पर आ बैठा और उस औरत की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ देर बाद दूर पर वह औरत आती दिखायी दी। लँगड़ा दूने ज़ोर से बोला : "कोई दया करो मालिक ! कोई लँगड़े को पाई-पैसा . . . !"

वह औरत भी उससे कुछ दूर बैठ कर दाताओं की दया की याचना करने लगी : "भगवान तुम्हारा भला करे मालिक ! कोई . . ."

दोपहर होने पर जब ग्राहकों का आना-जाना कम हुआ तो लँगड़े ने उस औरत की ओर सरकते हुए पूछा : "कितने पैसे आये ?"

"एक आना और दो पाई। तेरे कितने हुए ?"—औरत ने पूछा।

"मेरे तो एक आने में भी दो पाई की कमी है।"—इस बीच लँगड़ा बिलकुल पास आ गया था। कुछ देर चुप्पी रही।

"तेरा नाम क्या है ?"—लँगड़े ने पूछा।

"तुझे क्या करना है ?—अपना नाम बता न ?"

"मेरा नाम तो चमन . . .।"

"तो मेरा नाम जमनी है।"—कह कर जमनी ने उसकी ओर मुँह फेरा।

चमन ने जमनी के मुँह पर हास्य देख कर साहसपूर्वक कहा : "जमनी की बजाय चमनी नाम रख।"

"अपना ही जमन रख न !"

इतने में ही चमन ने दो-चार ग्राहक जैसे आदमियों को देख कर बोलना शुरू किया : "लँगड़े को कोई. . ."

"अंधी को कोई . . ."—जमनी ने भी बोलना शुरू किया।

दोपहर होने पर दोनों ने दो-दो पैसे के चने ले कर ठेले वाले की कमाई करायी।

संध्या होने पर दोनों ने फिर हिसाब-किताब किया। उसके बाद चमन ने जाने की तैयारी कर के चलते-चलते पूछा : "कल ग्यारस है। भद्दर काली माता पर चलेगी ?"

"तू यहीं आ जाना ! फिर हम दोनों चलेंगे।"

"अच्छा !"—कह कर जमनी चलने लगी।

दोनों की उम्र ज़्यादा नहीं थी। यही कोई अठाईस-तीस के आसपास होंगे। लेकिन भूख की मार ने उनके अंग जर्जर कर दिये थे।

फिर दिन निकला और लँगड़ा उसी सड़क पर आ कर जमनी की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ देर बाद जमनी भी आ पहुँची।

"देख, मेरे पीछे-पीछे चली आ।"—कह कर चमन सरकने लगा। जिस रास्ते को पार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में उसे रोज़ काफ़ी देर लगती थी उसे आज वह तेज़ी से पार कर रहा था। यही क्यों, आज तो उसे अपनी चाल पर नियंत्रण भी रखना पड़ा। रास्ते में उतार-चढ़ाव आता तो चमन जमनी को सावधान करता : "देख, ढाल है, यहाँ चढ़ाई है।" जब कोई मोटर या घोड़ागाड़ी सड़क पार करती दिखायी देती तो भी बोल उठता : "जमनी, ठहर जा, मोटर आ रही है।" और ऐसे करते-करते दोनों ने गंतव्य पर पहुँच कर माता के आँगन में धूनी रमायी : "माई-बाप कोई...!"

शाम होने को आयी तो दोनों उठे। आज उनमें अच्छी कमाई का जोश था और जमनी में तो और भी अधिक।

"वह जगह आ जाय तो मुझे बता देना, अच्छा ?"––जमनी ने कहा।

बिजली के लट्टू अपने अंतर को जला-जला कर सड़कों को जगमगाने लगे तो चमन को सड़कों के आसपास घिरे अंधकार से रात का भान हुआ। वातावरण को बोलता हुआ सुन कर जमनी ने भी माना कि रात हो गयी।

जमनी के हृदय में हलकी-हलकी धड़कन थी। चमन उसे कहीं अन्यत्र तो नहीं ले जा रहा ? वह सबेरे पार किये हुए रास्ते का अनुमान कर क्षण-क्षण हाथ को दीवार की ओर बढ़ाती और निश्चय कर के यह देख लेती कि वह दीवार आयी है या नहीं।

"यह तेरी जगह आ गयी जमनी ! तू रोज़ इसी रास्ते से आती थी न ?"

"हआँ, ठीक यही जगह है।"––जमनी ठहर गयी और उसने दीवार को अँगुली से ही छू कर कहा : "हआँ, ठीक यही जगह है।" साथ ही अपने दिमाग़ में रोज़ के रास्ते का नक्शा भी बना रही। फिर इस माता के रास्ते का नक्शा बनाने का भी न्यूनाधिक प्रयत्न करने लगी। तभी चमन की आवाज़ आयी : "जमनी, तू कहाँ पड़ी रहेगी ? तेरे पास अच्छी जगह न हो तो मैंने एक बहुत अच्छा ठिकाना खोज निकाला है। वहाँ न तो किसी भिखारी का गुज़र है और न पुलिस वाले ही तंग करते हैं।" जमनी को चुप रहते देख कर उसने फिर पूछा : "अच्छा तो बोल, चल रही है ?"

फ़ुटपाथ की दीवार से सटे पेड़ के दो मोटे तने, उनके बीच सोने भर की जगह और कुछ दूर पानी का नल––जमनी को अपने इस घर और कपड़ों की याद आयी। फिर याद आये वे कुत्ते जो अपने जागते रहने का प्रमाण देने के लिए सारी रात भूँकते रहते थे। उसे जाना अच्छा न लगा। "नहीं, मेरे पास अच्छी जगह है।"

"तो तू जाने, वैसे यह जगह अच्छी थी।"––चमन ने उदास हो कर कहा और फिर घिसटना शुरू कर के बोला : "तो जा !"

जमनी चमन की उदासी समझ गयी। उसे भी आज दोनों पैरों से लँगड़े और आवाज़ से अनुमानित चमन को छोड़ कर आना अच्छा नहीं लग रहा था। अंत में अपने रास्ते जाती जमनी ने चमन से पूछा : "कल आयेगा न ?"

"तूने फिर गाली दी तो ?"

"ऐसा न कह। मैंने तुझे कब गाली दी है ?"––उसके मुँह पर झूठा रोष था।

"अच्छा, जा।"––चमन ने हँसते हुए कहा। इसके बाद यह सोच कर कि किसी ने उसका घर न दबा लिया हो, वह हाथों से छलाँगें लगाता हुआ सरकने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके बाद से जमनी और चमन इसी सड़क पर बैठते और अवकाश के क्षणों में बातचीत भी करते। एक दिन जमनी आवाज़ लगा रही थी : "माई-बाप कोई. . ."—तभी कटोरे में कोई चीज़ खड़की। जमनी ने हाथ से टटोला और पाई-पैसे के बदले कंकड़ी हाथ में आते ही बगल में बैठे चमन को कंकड़ी मारते हुए बोली : "शैतान कहीं का।" और चमन को दूसरी ओर खिलखिला कर हँसते हुए सुन कर बोली : "अब आना मेरे पास।" चमन की हँसी नहीं रुक रही थी। आज जमनी का अक्षयपात्र रूठ गया था। शाम होने तक केवल चार पाइयाँ ही मिली थीं। धोती के छोर की तिजोरी में बँधे चार आनों में से खाना पड़ेगा, यह ध्यान आते ही वह उदास हो गयी। चमन को भी आज केवल एक पैसा ही मिला था। लेकिन उसे अपने बचाये हुए दो रुपयों की गर्मी थी।

"ले चल, वक्त हो गया। चलना नहीं है क्या ?"—चमन ने पूछा।

"बैठ न, कोई दाता आ गया तो।"—जमनी बोली।

चमन जमनी की उदासी का कारण समझ गया।

इतने में ही जमनी के कानों में बूटों की आवाज़ पड़ी। "कोई अंधी को दो माई-बाप।" और कटोरे में कुछ गिरा हुआ सुन कर बोली : "जीते रहो मालिक ! भगवान तुम्हारा वंश बढ़ावे।" और कटोरे में से पैसा हाथ में आते ही उसका मुख उल्लसित दिखायी देने लगा।

"जमनी, वंश कैसे बढ़ेगा ? किसी के औरत ही न हो तो उससे यों कह कि उसे औरत मिले।"—कह कर चमन हँसने लगा।

जमनी समझ गयी। वह जूतों की आवाज़ तो सीधे जाने वाले आदमी की थी। मान चाहे न मान, यह कारस्तानी चमन की है। ऐसा सोच कर वह बोली : "ले अपना पैसा।"

"पैसे क्या करूँ ? मुझे तो ऐसा आशीर्वाद चाहिए जिससे औरत मिले।"

"वह भी मिलेगी। ले।"—जमनी ने चमन की ओर पैसा रखा हाथ ज्यों का त्यों बढ़ा कर कहा।

"दान में दिया हुआ वापस नहीं लिया जाता।"

"उहुँ, तुझे लेना ही पड़ेगा।"

"एक बात माने तो लूँ।"—चमन ने सहज ही पास खिसकते हुए कहा।

सारी दुनिया पर अंधकार का आवरण छा गया था पर इन दोनों में से एक को भी उसका ध्यान नहीं था।

"क्या ?"—जमनी ने प्रतीक्षासूचक आवाज़ में पूछा।

"आज तू मेरे घर मेहमान रहे तो !"—चमन ने छाती पर हाथ रख कर कहा।

जमनी सोच में पड़ गयी और कुछ देर बाद बोली : "तो तू ही मेरे साथ चल न !"

"ऐसी जगह वहाँ न होगी जमनी। यहाँ से बहुत दूर नहीं। इन हवेलियों से कुछ ही दूर खुले में एक नीम है। वहाँ किसी का गुज़र नहीं।" और कुछ देर चुप रह कर फिर बोला : "आज, अच्छा न लगे तो कल मत चलना।"

"तो ले, चल।"—कह कर जमनी उठी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमन का हृदय ऐसे नाचने लगा जैसे भक्त के घर भगवान पधार रहे हों।

"ठहर, कुछ पकौड़े ले लें। तू यहीं खड़ी रहना। मैं अभी आया।"—हाथों से छाती भरते हुए चमन ने कहा और पास के होटल से एक सेर पकौड़े ले, उन्हें कंधे पर पड़े कपड़े में बाँध तुरत वापस आ गया।

"ले, चल।"—चमन आगे होता हुआ बोला। उसके पीछे आवाज़ की लकड़ी पकड़े जमनी चली।

चमन का घर आ गया। उसका घर ऐसी नीम के नीचे था जिसे धरती माता ने अपने अंतर का अमृत पिला कर पाला था और प्रकृति ने जिसे छोटी-छोटी पत्तियों से छाया था। वायु जिसे सदैव हँसाती खिलाती रहती थी और रोग जिससे दूर भागता था। चारों ओर मैदान का खुला आँगन था। सदैव नीचे पड़ी और बिछी रहने वाली धूल की शय्या पर ठहरते हुए चमन ने जमनी से कहा : "बैठ।"

फिर पकौड़े खोल कर दोनों खाने लगे। जमनी की भूख आज कहीं भाग गयी थी लेकिन पकौड़ों के स्वाद ने उसे कुछ तीव्र कर दिया था। उसने हाथ फेरते हुए पूछा : "तू खा रहा है कि नहीं?"

"खा रहा हूँ न !"—जमनी के हाथ का स्पर्श हो सके, ऐसे पकौड़ा लेते हुए चमन ने कहा। उसे तो ऐसा लग रहा था जैसे उसकी जन्म-जन्म की भूख भाग गयी हो।

कुछ देर बाद जमनी बोली : "शैतान। पकौड़े तो ज्यों के त्यों रखे लगते हैं।" और चमन के "नहीं, नहीं, खा रहा हूँ न !" कहते हुए सुन कर कहा : "खा मेरी क़सम !" लेकिन जब चमन कुछ न बोला तो "ऐसे नहीं, आधा-आधा हिस्सा करें" कह कर दोनों हाथों से पकौड़े के टुकड़े कर के अपने हिस्से पर हाथ रख कर खाने लगी।

"तूने तो कम लिया है।"

"मुझे ज्यादा नहीं खाना।"—जमनी ने कहा।

खा चुकने के बाद चमन जमनी को कुछ दूर नल पर ले गया। दोनों पानी पी कर वापस आये और लेटे-लेटे बड़ी रात तक बातें करते हुए सो गये।

इसके बाद से तो जमनी और चमन साथ ही माँगने जाते, साथ ही खाते और साथ ही रहते सहते। चौमासा शुरू हो गया था। चमन को घर बदलने की ज़रूरत मालूम हुई। "तू बैठ, मैं कोई अच्छी जगह देख आऊँ।"—कह कर चमन दोनों हाथों के बीच शरीर को झुलाता हुआ निकल पड़ा।

"देख, कहीं बहुत दूर न जाना, थक जायगा। झटपट वापस आ जाना।"—जमनी ने कहा और फिर ग्राहकों की दया की याचना करने लगी।

बड़ी देर के बाद चमन घर खोज कर लौटा और उसके कुछ देर बाद गगन के आगनों को क्षितिज के जबड़े में अदृश्य होते देख कर दोनों उठे।

कुछ दूर चलने पर 'लॉज' देख कर चमन के मुँह में पानी आ गया। "जमनी, दो पैसे मेरे पास हैं। यदि एक आना दे देती तो दाल-भात ले आता। बड़े दिनों के बाद आज मन कर रहा है।"

साथ रहने के बाद से दोनों की लक्ष्मी जमनी की धोती के छोर में ही रहती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तो ले ले न ! किसने मना किया है ? लेकिन लायगा किसमें ?"

"मैंने एक सकोरा इस होटल के पीछे नाले के मोखे में छिपा रखा है। जब तू नहीं थी तब किसी-किसी दिन वहाँ खा आता था।"

"लेकिन तू लायगा कैसे ? ले, चल, मैं भी चलती हूँ ?"—जमनी बोली।

चमन ने होटल के पास पहुँच कर फ़ुटपाथ के किनारे के नीचे पानी जाने वाले मोखे में से सकोरा निकाला और एक लड़के से कहा : "भाई, छह पैसे का दाल-भात दो न !"

कुछ देर में लड़का दाल-भात देने आया।

"साग नहीं लाये, भाई साहब ?"—चमन ने ख़ाली दाल-भात देख कर पूछा।

"लेना हो तो ले नहीं तो अपना रास्ता नाप। साली भिखारी की जाति का चटोरापन तो देखो।"—गद्दी पर बैठा मालिक बोला।

चमन ने कटोरा आगे कर दिया।

"अरे, पैसे ले लिये ?"—मालिक ने पूछा।

लड़के ने पहले पैसे रखवाये। फिर दाल-भात कटोरे में डाल कर और पैसे ले कर चलता बना। चमन और जमनी की रेंगती हुई गाड़ी भी चलने लगी।

"पड़ने दे, दाल-भात में बढ़ती होगी। कहीं गिर-गिरा जायगी।"—चमन ने वर्षा की बूंदों से सकोरे को बचाने के लिए अपना आँचल सकोरे पर तानता हुआ जमनी से कहा।

एक दीवार पर नाग के फन की तरह झुके हुए वृक्ष के नीचे ठहरते हुए चमन बोला : "बैठ जा। देख, यहाँ केवल छींटे ही आ रहे हैं।"

"बड़ी अच्छी जगह खोजी है। यह तो बिलकुल सूखी है।"—जमनी ने बैठते हुए कहा।

"मैंने तो पिछला चौमासा यहीं बिताया था।"—चमन ने कहा। फिर जमनी के कंधे को हिलाते हुए बोला : "लेकिन उस वक्त जमनी नहीं थी। रात तो जैसे खाने को दौड़ती थी।" उसके बाद दोनों बीच में कटोरा रख कर खाने लगे।

"तू दीवार की तरफ़ सो रह।"—चमन ने कहा।

"नहीं, उधर तू सो।"

और यों बड़ी खींच-तान के बाद जमनी दीवार की ओर सोयी। उसकी बगल में चमन सोया।

ऐसे करते-करते दीवाली के दिन आ गये। चमन जमनी को उस जगह छोड़ कर, दोनों हाथों के घोड़े पर चढ़ कर सारे मंदिरों में घूम कर, सुखी लोगों की दया से पाई-पैसा प्राप्त कर और मिठाई ले कर शाम को मुकाम पर आ पहुँचता और उसे जमनी के आगे रख देता।

"तू खा न !"—जमनी कहती।

"मैं तो खा चुका हूँ, तू खा।"—कह कर चमन इनकार करता।

"नहीं, खा चुका हो तो भी खा—लेकिन मैं ऐसे अकेली तो खाऊँगी नहीं।"—और यों जब चमन को खाना ही पड़ता तब जमनी पलकें नचा कर कहती : "मैं तुझे जानती न होऊँ तभी न ! लेकिन कल से तू मत जाना। कहीं घूमने ही घूमने में मोटर के नीचे आ जायगा। भाड़ में गया यह खाना। जीभ के लिए तो जितने स्वाद किये जायँ, उतने ही थोड़े हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ये दो दिन हैं, फिर चार-चार आना कहाँ से मिलेंगे और कहाँ मिलेगा ऐसा खाना ?"

"न मिले मरा। थोड़ा मिलेगा तो भी गुज़र कर लेंगे।"

दीवाली भी बीत गयी। एक दिन सर्दी की तेज़ी देख कर चमन ने बग़ल में सोती जमनी से पूछा : "जमनी, कितने पैसे हैं ?"

"दो रुपये और आठ आने की पूँजी है। कुछ पाइयाँ भी हैं। क्यों पूछ रहे हो ?"

"कल हाट में से एक घाँघरी-फरिया ले आऊँ।"—और फिर जमनी के शरीर पर दृष्टि डाल कर बोला : "देख न अपने कपड़े, निकाले तो एक छन्ना भी साबुत न निकले।"

"तो तेरे ही कौन-से साबुत हैं।"—और एक करवट से लेटे हुए चमन के शरीर पर हाथ फेरते हुए बोली : "ये . . .ये जैसे-तैसे गाँठ बाँध कर तो हिलगा रखे हैं।"

"मेरी बात तो ठीक है।"

"नहीं, लाना हो तो दोनों को लाना नहीं तो मैं नहीं पहनूँगी, समझा !"—जमनी ने कहा।

सर्दी कड़ाके की होने के कारण जमनी और चमन दिन निकलने से पहले ही रोज़ की जगह पर आ बैठे थे। शरीर ऐसे काँप रहा था जैसे देवी आ गयी हो। मुँह से आवाज़ निकल रही थी : "कोई दयालु दया करो मालिक !" लेकिन दयालु को क्या पड़ी थी, जो इस समय जेब से अपना हाथ बाहर निकालता।

अख़बार वाले तेज़ी से ठंड को हँफाते हुए पुकार लगा रहे थे : "स्थान-स्थान पर हिमपात! पाले से फ़सल चौपट।"

"आज तो बहुत ठंड है। गुदड़ी लपेट रखी है फिर भी कलेजा काँप रहा है।"—चमन ने बजती हुई दाँती से कहा।

"तो यहाँ मुझसे सट कर बैठ जा न।"

"नहीं रे नहीं, कोई पाई-पैसा देने वाला होगा तो भी न देगा !"—चमन ने हँसते हुए कहा।

"तो कहीं धूप में जा कर बैठ। अब तो धूप निकल आयी होगी।"—जमनी ने कहा और खुद ओढ़ी हुई चार सेर रुई की गुदड़ी उतारते हुए बोली : "ले, यह गुदड़ी लेता जा।"

"अरे नहीं, तू अपने ही पास रहने दे। मैं उस धूप में जा कर बैठता हूँ।"—कह कर चमन धीरे-धीरे सरकने लगा। आज हाथ भी नहीं उठ रहा था।

दोपहर होने को आया पर चमन की ठंड नहीं गयी। जमनी को आशंका हुई कि कहीं बुख़ार तो नहीं आ गया।" वह चमन के शरीर को छू कर बोली : "हाय ! हाय !! क्या ठंड ठंड चिल्ला रहा है, शरीर तो बुख़ार से जल रहा है !"

"यह तो यों ही।"—चमन ने जमनी के मुँह का रंग उड़ता हुआ देख कर कहा।

"यों ही क्या तेरा सर ! ले इस गुदड़ी को ओढ़ कर सो जा।"

इस बार चमन से इनकार न किया जा सका। इनकार करना उसे उचित भी न जान पड़ा। वह दोनों गुदड़ियों को ओढ़ कर दीवार के सहारे काँपता हुआ लंबा हो गया।

जमनी ने बीच में दो-तीन बार पूछा : "पानी-वानी पीना है ? सोडा ला दूँ ।"—आदि आदि। इसके बाद रोज़ के वक़्त से पहले ही चमन को आगे कर मुकाम पर आ पहुँची।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमन को ऐसा बुखार चढ़ा था कि उसके शरीर पर तिल रख दो तो वह भी भुन जाय। जमनी ने उसे दीवार के सहारे सुला कर दोनों गुदड़ियाँ उढ़ा दीं और खुद उसके पास सारी रात बैठी हुई उसे दिलासा देती रही।

"जमनी, वक़्त हो गया। तू जा।"—सवेरा होते ही चमन ने कहा।

"तुझे इस हालत में छोड़ कर?"—जमनी ने पूछा।

"तू जा जमनी। मैं तो यहीं सोता रहूँगा। मुझे कुछ नहीं होने का। मेरा तो ठीक है पर तू क्या खायगी? कल की भूखी है, उठ।"—कह कर चमन ने उसे धकेला।

अगर गुदड़ियों और कपड़ों में पैसे ख़र्च न कर दिये होते तो जमनी न जाती। और पेट को कोई शर्म तो है नहीं। फिर वह बैठी भी रहे तो क्या? कुछ दवा-दारू और सेंक ही करना था लेकिन फिर भी उसका मन वहाँ से हिलने को न होता था। अंत में जब चमन कहता ही गया तब "देख, सर और मुँह ढँक कर सो रहना और प्यास लगे तो सिरहाने रखे पानी भरे कटोरे से पानी पी लेना" का निर्देश दे कर जमनी उठी और रोज़ की जगह पर जा कर भिक्षा की नौकरी पर तैनात हो गयी। जी तो चमन में रखा था पर जीभ रोज़ के रास्ते पर चल रही थी: "अंधी पर कोई दया करो माई-बाप!" उसका मन न तो किसी की चाल सुनने में था और न किसी की बातचीत की परख करने में।

कुछ ही देर हुई होगी कि उसके कानों में आवाज़ आयी: "ओ अंधी! उठ यहाँ से।" जमनी की समझ में नहीं आया कि कौन किससे कह रहा है। वह तो बोलती ही गयी: "दयालु कोई..." लेकिन इस बार वाक्य पूरा न हो सका। "साली मानती नहीं। उठ यहाँ से।" सामने से आवाज़ आयी। जमनी समझ गयी कि पुलिस का सिपाही है। "साहब, अंधी हूँ। माँग कर खाती हूँ। क्यों..."

"अरे उठ! जा, और किसी जगह बैठना। क्या मालूम नहीं कि इधर से गवर्नर साहब निकलने वाले हैं? उठ नहीं तो अभी देता हूँ।"

जमनी उठी और अपने घर की ओर चली। तभी फिर आवाज़ आयी: "ओ! उधर कहाँ जाती है? उस तरफ़ जा!"

"साऽब...!"

"सुनती नहीं और साऽब-साऽब करती है?"—जमादार बिगड़ा और हाथ पकड़ कर उसे दूसरी ओर को मोड़ कर बोला: "जा, इस तरफ़ हो कर जल्दी निकल जा।"

जमनी को विवश हो कर दूसरी दिशा में जाना पड़ा। कुछ ही दूर गयी होगी कि दूसरी आवाज़ आयी: "ओ! निकल जल्दी।" जमनी का जी चमन में था। अंधे पैर अनजान मार्ग पर आगे ही आगे बढ़ते जा रहे थे। आवाज़ प्रति क्षण बदल रही थी पर वाक्य वही था: "ए, चल, जल्दी निकल।" तभी दूसरी आवाज़ सुनायी दी: "बेचारी अंधी है, कहाँ जायगी?" यह सुन कर कलेजा पूरी तरह ठंडा भी न हुआ था कि उसने सुना: "अरे मियाँ, गवर्नर साहब के आने का वक़्त हो गया है।" और फिर उसी को लक्ष्य करती आवाज़ आयी: "चल, चल, जल्दी चल!"

जमनी कहीं छिपने का विचार कर हाथ के सहारे दीवार को टटोलने लगी। इतने में ही एक गली-जैसी लगती जगह को पा कर वह सीधी उसी में चली कि उसे सुनायी दिया: "ए, कहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है ? बाहर जा।" लाचार हो कर उसने फिर उसी टूटी हुई दीवार का किनारा खोजा और उसके सहारे चलने लगी। आवाजें अब भी आ रही थीं : "चल, जल्दी चल।" जमनी की समझ में नहीं आ रहा था कि 'गवंडर' ऐसा कैसा आदमी है कि जिसके लिए जगह-जगह सिपाही खड़े हैं। और उसे उनसे मतलब भी क्या था ? वह जैसे-जैसे आगे बढ़ती, उसे चमन की याद आती। मन में चिंता घर कर गयी थी : "उसकी भी यही दशा होगी तो वह कहाँ जायगा ? कैसे जायगा ?" तभी दीवार ने दग़ा दे दिया। जमनी को विश्वास था कि धरती दग़ा न देगी। वह अंदाज़ से सीधे चलने लगी कि आवाज़ आयी : "ए, उधर दायें हाथ की गली में मुड़ जा !" वह गली में मुड़ी और काफ़ी दूर चली गयी तब भी आवाज़ आती रही : "उधर मत बैठना, और आगे जा।" और इस प्रकार जमनी ऐसे चलने लगी जैसे किसी गहरी गुफ़ा में जा रही हो।

जब कुछ देर तक आवाज़ सुनायी नहीं दी तो उसने संतोष की साँस ली और चमन की अपनी ही जैसी दशा की कल्पना कर आँसू बहाने लगी। अच्छा यही था कि देखने का मार्ग बंद था, आँसू बहाने का मार्ग बंद न था।

जमनी की कल्पना असत्य न थी। जमनी के जाने के बाद कोई राक्षसी हाथ चमन को झँझोड़ता हुआ कहने लगा : "उठ, ए उल्लू, अभी तक सो रहा है ?"

चमन ने आँखें खोलीं तो देखा कि पुलिस के सिपाही के पैर उससे टकरा रहे हैं। वह उठ ही रहा था कि सिपाही का पैर फिर उठा : "चल उठ, क्या देखता है ? उठा यह सब।"

"साऽब, बुख़ार आ गया है। यहाँ बैठा तो रहने . . .।"

"अबे चल, बैठा रहने दे के बच्चे। बुख़ार है तो जा अस्पताल में। चल, उठ जल्दी।"

चमन ने पुलिस के सिपाही की ठोकरों का स्वाद अनेक बार चखा था। उसने चलने की तैयारी की। वह ठंड से काँप रहा था। उसके रोम-रोम में बुख़ार की अँगीठी दहक रही थी। हाथ के पंजे में तिनका तक उठाने की शक्ति न थी। गुदड़ी और कटोरा तक, जो उसकी समस्त पूँजी थे, छोड़ जाने का मन हुआ लेकिन सिपाही महाशय क्या उस शोभा को भी रहने दे सकते थे ?

"चल, कितनी देर कर दी ? उठा सब।"

चमन ने कंधे पर गुदड़ियाँ लादीं और 'हे राम !' कह कर सोचा : "लाओ, जमनी की ओर चलूँ। कुछ दूर से बुला कर उससे सब कहूँगा।" और जैसे ही वह उस ओर खिसका कि सिपाही बोला : "ए, उधर कहाँ जाता है। इस रास्ते से तो अभी गवर्नर साऽब निकलने को हैं। इधर जा, और उस गली में मुड़ जा।"

चमन पीछे मुड़ा और चींटी की तरह चलने लगा। उस जमादार की आवाज़ प्रति क्षण ढकेल रही थी : "चल, जल्दी निकल जा।" अंत में गली में मुड़ते ही एक पानी के नल के पत्थर की ओट में छिप गया। वह इस बुरी तरह हाँफ रहा था कि पूरी साँस भी नहीं ले पा रहा था। लगा, जैसे बुख़ार घोड़े पर चढ़ कर आया हो। अंग-प्रत्यंग पेड़ की पत्तियों की तरह काँप रहा था। आँखों की चमक गहरे उतरने लगी थी। जी जमनी में ही पड़ा था। जीभ के स्थान पर हृदय रटने लगा : "जमनी ! जमनी ! !" थोड़ी देर बाद ठंड कम हुई। हृदय ने एक-दो पछाड़ें खायीं : "जमनी !" और बुख़ार चेतना को ले कर पलायन कर गया ! शरीर लकड़ी जैसा पड़ा रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिन सर पर चढ़ आया होगा कि जमनी ने बूटों की आवाज़ करने वाले से पूछा : "मालिक ! गवंडर साञ्ब गये क्या ?" उस व्यक्ति को सहज आश्चर्य लगा परंतु पूछने की फ़ुर्सत नहीं थी : "हाँ, निकल गये।"

जमनी झटपट उठी और गिरती-पड़ती चलने लगी—जिधर से आयी थी उधर ही। ठिकाने पर पहुँच कर उसने चैन की साँस लेते हुए कहा : "चिंता नहीं, अब तो पहुँच ही जाऊँगी।" और काँपते हृदय से लंबे डग भरती हुई घर की ओर चली। हृदय क्षण-क्षण शंकित होता : "चमन वहाँ होगा या नहीं ?" मन सांत्वना देता : "होगा न तो कहाँ गया होगा ? कहीं ऐसे बुख़ार वाले आदमी को भी न निकाल दिया हो ! निकाल भी दिया होगा तो कहीं इधर-उधर ही होगा।" ऐसे करते-करते वह घर—सोने की जगह—आ गयी। जमनी ने पुकारा : "चमना ! ओ चमना ! !' फिर हाथों से दस-दस हाथ धरती खूँद डाली। लेकिन चमना वहाँ हो तब न। उसने ज़ोर से आवाज़ लगायी : "चमना ! ओ चमना ! !" जवाब न मिला तो जी घबरा उठा। उसे आँखों का अभाव जितना आज खला उतना शायद ही कभी खला हो। गला रुँध गया। आँखें भर आयीं। कुछ और आगे जा कर उसने फिर बड़ी कठिनाई से आवाज़ दी : "चमना !" एक-दो रास्तागीरों की आवाज़ सुनी : "पगली लगती है।" जमनी ने उनसे पूछा : "मालिक ! क्या इधर कहीं चमना को देखा है ? पैरों से लँगड़ा है। ओ मालिक !" जाने वाले ने उत्तर दिया : "नहीं।" जमनी का हृदय टूट गया। उसने चलना जारी रख कर नितांत करुण स्वर में फिर पुकारा : "चमना ! कहाँ गया, ओ चमना ?"

"अरे, क्या चिल्लाती है कभी से ? किसकुँ ढूढ़ती है ?"—एक संतरे बेचने वाले मुसलमान ने पूछा।

"तुमने उस दोनों पैरों से लँगड़े को कहीं देखा है ? उसे बुख़ार आ रहा था। कौन जाने कहाँ . . ."

"अरे हाँ, उसके पास दो गुदड़ियाँ थीं न ? एक कटोरा था और दोनों पैरों से लँगड़ा था !"

"हाँ, हाँ, मालिक वही ! वह कहाँ है मालिक ? मुझ अंधी को . . ."

"अरे, उसकुँ तो अभी म्युनिसपलिटी की गाड़ी में डाल कर ले गये। थानेदार साञ्ब भी अभी गये हैं। उस नल के पास मरा हुआ पड़ा था।" उस मुसलमान ने कहा।

"हैं ! चमन मर गया ! ऐं मालिक ! क्या यह सच है ?"—जमनी बैठती हुई फटे मुँह से पूछने लगी और फिर पलकों की पाड़ के नीचें से धुआँधार बहते आँसुओं के साथ मंद पड़ती आवाज़ में "चमना। तू . . . मर . . . ग . . . ! !" कहते-कहते लुढ़क गयी।

मियाँ ने संतरे की टोकरी अपने कंधे पर रखी और "ये साली बला मैंने क्यों मोल ली ? मर गयी तो मेरे गले पड़ेगी। न लेना न देना ख़्वामख़्वा . . ."—बड़बड़ाता हुआ चल दिया।

—अनु० : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामस्वरूप चतुर्वेदी

'अपने-अपने अजनबी' : एक परिचित अजनबी

अज्ञेय का उपन्यास। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। सन् १९६१। मूल्य : ४·००।

'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का अब तक प्रकाशित अंतिम उपन्यास है। लेखक के अपने कृतित्व के संदर्भ में भी इस रचना का विशिष्ट महत्व है, क्योंकि इस स्थल पर रचनाकार की कला एक मोड़ लेने की कोशिश करती है। 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' का पाठक 'अपने-अपने अजनबी' में कुछ ऐसा पाता है, जो अप्रत्याशित है। अज्ञेय की यह रचना उसे कई स्तरों पर परिचित और अजनबी एक साथ लगती है। लेखक द्वारा एक विशिष्ट क्षेत्र की संवेदना का आख्यान यदि उसके लिए परिचित है, तो भाषा-प्रयोग की दृष्टि से उसे उपन्यास में बहुत-कुछ अजनबी और अटपटा लगता है। यदि रचना-दृष्टि के सूक्ष्म और अधिक महत्वपूर्ण स्तर तक पैठ कर देखा जाए तो 'अपने-अपने अजनबी' में व्यक्त जीवन-दृष्टि उसके लिए कुछ-कुछ परिचित है, क्योंकि उसके बारे में उसने कुछ सुना और पढ़ा है, पर एक सीमा तक ही शायद वह उसकी अनुभूति का अंश है। यहाँ आ कर पाठक स्वयं अपने भीतर विचार और अनुभूति के बीच पार्थक्य का अनुभव करने लगता है। पूर्व और पश्चिम की टकराहट के दौर में एक संवेदनशील रचनाकार की संभवतः यही नियति हो! परिचित और अजनबी एक साथ।

विषय और वस्तु दोनों दृष्टियों से 'अपने-अपने अजनबी' मृत्यु से साक्षात्कार का आख्यान है। रचनाकार की दृष्टि में मृत्यु जीवन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि जीवन को रसमयता और अर्थवत्ता (इस संदर्भ में सर्जनात्मकता का उल्लेख और जोड़ा जा सकता है) वही देती है— **"साँस की बाधा ही जीवन-बोध है, क्योंकि उसी में हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र लालसा से हम जीवन को चिपट रहे हैं। इस प्रकार डर ही समय की चरम माप है—प्राणों का डर..." (पृ० ८१)**। यह स्मरणीय है कि ये वाक्य प्रत्यक्षतः उपन्यासकार के हैं, किसी पात्र के नहीं, पर हमें इस अंतर को समझना होगा कि मृत्यु को प्रेम और अर्थवत्ता का प्रेरक तत्व मानना एक बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और मृत्यु की चिंता में डूबना दूसरी बात है। मृत्यु के घटित होने से जीवन की सार्थकता है, पर मृत्यु के प्रति सजगता जीवन की सार्थकता को कम करेगी, बढ़ाएगी तो नहीं ही।

आधुनिक लेखक पूर्व और पश्चिम के तनाव के बीच लिखता है। जैसी तीव्र उसकी संवेदनशीलता है, वैसा ही गहरा उसके व्यक्तित्व पर दबाव है। वर्तमान शताब्दी के आरंभिक दशकों में पूर्व-पश्चिम की समस्या अधिकतर विचारों और स्थूल रीति-रिवाजों के क्षेत्र में थी; अब यह टकराहट आंतरिक संस्कारों और संवेदना के सूक्ष्म क्षेत्रों तक पहुँच गयी है। यह स्थिति निश्चय ही रचनाकार के लिए एक विषम चुनौती है, क्योंकि अब प्रश्न वास्तविक चुनाव का है, कोरे सामंजस्य और समन्वयवादी दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता।

समकालीन साहित्य में पूर्व और पश्चिम की टकराहट का साक्ष्य अज्ञेय के कृतित्व ने आरंभ से प्रस्तुत किया है। पश्चिम का दबाव लेखक के उपन्यासों में अधिक है, काव्य का रूप मूलतः तद्भव, ठेठ और भारतीय है। यह बात रचनाकार की समानांतर कृतियों की तुलना से काफ़ी स्पष्ट होती है। उदाहरण के लिए 'आँगन के पार द्वार' और 'अपने-अपने अजनबी' को लिया जा सकता है। काव्य-संकलन के प्रतीक और बिंब, और तदनुरूप उसकी संवेदना, अनिवार्यतः भारतीय जीवन से गृहीत है। पिछले संकलनों की तुलना में यहाँ पश्चिम का प्रभाव भारतीय उन्मेष में घुल-मिल गया है। दूसरी ओर 'अपने-अपने अजनबी' है। इसका विषय पश्चिम के जीवन से संबद्ध है, यह गौण बात है। पर रचना की वस्तु को प्रस्तुत करने में भी अंततः पश्चिम की ही दृष्टि प्रधान हो जाती है। उपन्यास के अंतिम अंश में पश्चिम की एक मृत्यु को पूर्व का चरित्र जगन्नाथन—एक अजनबी साक्षी—मानों सार्थकता प्रदान करता है। पर रचना में पश्चिम की दृष्टि परिभाषित है, जब कि पूर्व के प्रतिनिधि जगन्नाथन की दृष्टि का आख्यान नहीं हुआ। इस प्रकार अंत के बावजूद प्रधानता पश्चिम की ही दृष्टि की बनी रहती है, भले ही एक सीझे हुए रूप में।

अस्तित्ववाद की जीवन-दृष्टि समसामयिक यूरोपीय साहित्य में बड़ी तेज़ी से विकसित हुई है। पिछले प्रायः एक दशक से इसकी चर्चा हमारे देश में भी होने लगी है। यहाँ हम पूर्व और पश्चिम के मूल्यों के बीच अवरोध की स्थिति का एक अच्छा उदाहरण पाते हैं। भारतीय पद्धति में मृत्यु को इतना, अस्तित्ववाद-जैसा, असाधारण महत्व कभी नहीं मिला, शायद इसलिए कि हम जीवन को एक प्रवहमान और अनंत धारा के रूप में मानते रहे हैं। हमारी काल-दृष्टि वृत्तात्मक है—इसलिए जीवन का आत्यंतिक महत्व नहीं है—और फिर मृत्यु भी उतनी ही कम महत्वपूर्ण है। पश्चिम की काल-दृष्टि रेखात्मक है—इसलिए जीवन की अवधि का आत्यंतिक महत्व है—और उस अनुपात में मृत्यु का त्रास भी उतना ही अधिक है।

यूरोप में अस्तित्ववादी विचारधारा विकसित होने के दो मुख्य कारण थे। एक तो दो महायुद्धों की विभीषिका और दूसरे बिखरती हुई परिवार की व्यवस्था। एक के माध्यम से यूरोप ने मृत्यु की आकस्मिकता और उसके समय की अनिश्चयता को देखा और भोगा। युद्धों की विभीषिका ने दार्शनिक स्तर के मृत्यु-त्रास को व्यावहारिक रूप में सिद्ध कर दिया। पूर्व के साहित्य और दर्शन अधिकतर मृत्यु की निश्चितता के विषय में निश्चिंत और आश्वस्त थे, गीता और उमर ख़ैयाम से ले कर रवींद्रनाथ तक। गीता में मृत्यु जीर्ण वस्त्रों का परिवर्तन है, ग़ालिब ने समझाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था : **"मौत का एक दिन मुअय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती।"** रवींद्रनाथ ने तो इस प्रसंग में बड़ा घरेलू और मार्मिक भाव-चित्र प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में मृत्यु का रूप माँ का शिशु को एक स्तन से हटा कर दूसरे स्तन तक दूध पिलाने के लिए ले जाना है। और फिर मृत्यु को उत्सव के रूप में स्वीकार करने वाला वह दोहा : **"मरनौ भलौ विदेस को जहाँ न अपनौ कोय। माटी खाँय जनावरा महा महोच्छव होय।"** पर पश्चिम ने एक जीवन की मृत्यु को ध्रुव सत्य के रूप में देखने के बाद उसकी नितांत आकस्मिकता को जब समझा तो स्पष्ट ही मृत्यु का चरम भय और जीवन की अनर्थकता या विसंगति जैसे वहाँ के सारे चिंतन में व्याप्त हो गयी। दूसरी ओर टूटती हुई परिवार-व्यवस्था ने यूरोप के व्यक्ति को पहले से अधिक एकाकी बनाया, जिससे भय की कुंठा और गहरी हुई। मृत्यु जितनी निश्चित है उतना ही उसका समय अनिश्चित है, तानाशाही, फ़ासिस्टों और सर्वसत्तावादी पद्धतियों और दो महायुद्धों के बीच यूरोप ने इस तथ्य का गहरा और लंबे समय तक अनुभव किया। पिछली पीढ़ी के यूरोपीय लेखकों ने उन स्थितियों की दुर्दम विभीषिका का चित्रण किया था। अब समसामयिक रचनाकारों ने उन घटनाओं के यूरोपीय मानस पर पड़े संघात का सूक्ष्म अंकन किया है। इस तरह शिल्प के क्षेत्र में जो मुख्य और केंद्रीय स्थिति वहाँ अतियथार्थवाद की रही, चिंतन और रचनात्मकता के संदर्भ में वैसी ही आधारभूत स्थिति अस्तित्ववाद की हो गयी।

इतनी तीव्रता और उत्कटता के साथ जब अस्तित्ववाद आधुनिक भारतीय लेखक से टकराता है तो उसके सामने उलझन की स्थिति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। पर मूल प्रश्न यह है कि यूरोप के लिए अस्तित्ववाद चाहे जितना संगत और ऐतिहासिक हो, हमारी अपनी परिस्थितियों में वह कहाँ आता है? हमारा देश यूरोप नहीं है, और न यूरोप-जैसी परिस्थितियों को हमने भोगा है। अतः उन ऐतिहासिक परिस्थितियों के अभाव में उनसे उत्पन्न चिंतन-धारा हमारे रचनात्मक व्यक्तित्व का अंग कैसे बन सकती है? हम अस्तित्ववादी चिंतन और उसकी सहगामिनी सर्जनात्मकता को एक सीमा तक समझ सकते हैं, पर उसे अपने अनुभव-क्षेत्र का अंग नहीं बना सकते।

अस्तित्ववादी विचारणा के कुछ प्रतिमानों का अपनी दृष्टि से उपयोग करने का यत्न अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' में किया है। सच तो यह है कि अपनी परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से बड़ी और अधिक संगत दृष्टि विकसित कर के ही हम अस्तित्ववाद के मूल्यों का उपयोग और समायोजन कर सकते हैं। यह ठीक है कि 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववादी उपन्यास नहीं है—किसी भी आत्मविश्वासी लेखक के लिए वह इष्ट भी क्यों होगा?—उसमें अस्तित्ववाद का उपयोग करने की चेष्टा है। इसी बिंदु पर उसकी शक्ति और कमज़ोरी दोनों देखी जा सकती हैं। और यत्न की उत्कटता तो अपनी जगह है ही।

यों लेखक के पिछले दो उपन्यासों की तुलना में 'अपने-अपने अजनबी' कहीं अधिक उपन्यास है—इस माने में कि उसमें एक रचना-दृष्टि विकसित हुई है—और वह भी क्लैसिकल ढंग के विस्तार और वर्णन के बीच से नहीं, वरन् आधुनिक उपन्यास के सूक्ष्म विधान के माध्यम से। उपन्यास का विधान लेखक का अपना है, पर है एकदम ढला हुआ। उसके माध्यम से जो कुछ उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहना है वह अनायास ही ऊपर उभरता है। पिछले उपन्यासों में जो 'व्यक्तित्व की खोज' आरंभ हुई थी—'अपने-अपने अजनबी' में उसकी एक ढंग की निष्पत्ति है, जो शायद फिर आगे की खोज के लिए प्रेरणा दे।

लेखक की अपनी रचना-दृष्टि की मुख्य उपपत्ति (जो उसकी अकाल्पनिक गद्य रचनाओं में प्रत्यक्षतः अधिक स्पष्ट ढंग से व्यक्त हुई है) मानी जा सकती है—मृत्यु के माध्यम से जीवन की सार्थकता का सिद्ध होना। स्वयं उपन्यासकार के अतिरिक्त (पृ० ८१) पहले खंड की बुढ़िया सेल्मा भी इसका आख्यान करती है : **"बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें. . .इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एक मात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है।"** (पृ० ५३–५४)। बुढ़िया यह भी अनुभव करती है कि **"भगवान के सिवा मेरे पास कुछ नहीं है ओढ़ने को!"** (पृ० ४३)। पर लेखक की यह उपपत्ति किसी एक पात्र के कथन से नहीं, पूरे उपन्यास के रचना-विधान द्वारा स्थापित होनी चाहिए थी। नश्वरता ही जीवन को रसमय, परिपूर्ण और सार्थक बनाती है, यह दृष्टि पश्चिम के अस्तित्ववाद की नहीं है—वहाँ तो मृत्यु जीवन को अनर्थक और विसंगत करती है—पर संपूर्ण रचना में सेल्मा और योके, सेल्मा और यान, योके और जगन्नाथन के अंतस्संबंधों और संघात में से उक्त दृष्टि उभरती नहीं। सेल्मा की देह से छूटने वाली 'मृत्यु-गंध' पूरे उपन्यास में इस तरह व्याप्त हो जाती है कि अंत तक मृत्यु के त्रास से उबरने का कोई रूप सामने नहीं आ पाता। युद्ध के आतंक से ग्रस्त शहर में योके की आत्महत्या, जो उसने मौत और ईश्वर से प्रतिशोध लेने के लिए की है, आस्था का तो खंडन करती ही है—कुल मिला कर ईश्वर को माफ़ कर देने के बावजूद दयनीय ही बनी रहती है। जगन्नाथन की उपस्थिति, नाम की व्यंजना के साथ भी, मौत को, या कि मौत के माध्यम से जीवन को, कोई संगति नहीं दे पाती। और जो मृत्यु का त्रास स्थापित होता है, वह न भारतीय दृष्टि के अनुकूल है, न उसमें कुछ नया और सार्थक जोड़ पाता है। हाँ, एक गहरे पर तीखे अनुभव की प्रतीति बराबर होती है। दृष्टि संबंधी इस विभ्रम का कारण शायद उपन्यास का अंतिम अंश है, जिसका विधान बहुत संतोषजनक नहीं है। यहाँ घटना की तीव्रता और नाटकीय गति उसकी वास्तविक व्यंजना को आच्छादित कर लेती हैं। प्रथम दो खंडों का विधान जिस आयासहीनता और कुशलता से हुआ है उससे लेखक की दृष्टि बराबर विवृत होती रहती है। पर अंतिम खंड, जिसमें सारे कथानक की निष्पत्ति होनी थी, उलझे हुए और अस्पष्ट होने के कारण रचना-दृष्टि को ठीक-ठीक उभरने नहीं देता। मरती हुई योके द्वारा संकेतित 'अजनबी' और 'अच्छे' का अंतर भी वहाँ प्रकट नहीं हो पाता। फिर पूरे उपन्यास में अस्तित्ववादी शब्दावली, जैसे स्वतंत्रता, वरण, विसंगत, मृत्यु का डर आदि का आख्यान भ्रम को और बढ़ाता है। और तब मन में संदेह उठता है कि रचना में कथानक तो पश्चिम का है—जिसमें कुछ अवांछनीय नहीं है—पर शायद दृष्टि भी पश्चिम की ही स्थापित हुई है, जिसकी हमारे लिए कोई बहुत संगति नहीं बन पाती।

सेल्मा और योके के दृष्टि-बिंदुओं में अंतर योके की डायरी के निम्न उल्लेख से मिलता है : **"और ठीक यहीं पर फ़र्क है। वह जानती है और जान कर मरती हुई भी जिये जा रही है। और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मारना चाह रही हूँ. . ."** (पृ० ३८)। पर यहाँ प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता है कि इन दोनों दृष्टियों का अंतर कोई मौलिक प्रकार का है या कि केवल एक बुढ़िया और एक जवान लड़की के देखने के ढंग का अंतर है। अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि से टकराने पर जो एक अधिक सार्थक दृष्टि विकसित होनी चाहिए, वह न सेल्मा में मिलती है और न जगन्नाथन में। इन्हें आप चाहें भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधि मानें या परंपरित आस्थावान यूरोपीय दृष्टि का प्रतीक समझें, इनके माध्यम से योके के जीवन और मृत्यु में कोई संगति या सार्थकता उत्पन्न नहीं हो पाती। और उपन्यास में मुख्य समस्या योके की है, जो 'मृत्यु गंध' और 'मृत्यु की प्रतीक्षा' से त्रस्त है। पहले खंड में कुछ बड़े गहरे और तीखे वर्णन योके की मनःस्थिति के दिये गये हैं, उनसे व्यंजित होता है कि रचना के केंद्र में वह है। उसकी डायरी के सेल्मा से संबद्ध कुछ अंश उद्धृत हैं:

उसे देखते-देखते मेरा मन होता है कि जोर से चीखूँ कि जलती हुई लकड़ी उठा कर उसकी कलाइयों पर दे मारूँ, जिससे उसका आग को असीसने का दुस्साहस करने वाला हाथ नीचे गिर जाय—एकाएक जिसके सदमे से उसकी हृदय गति बंद हो जाय। (पृ० ४०)

उसके स्वर में जो चिड़चिड़ापन था, उफ़! उससे मुझे कितनी तृप्ति मिली। तो बुढ़िया का कवच भी नीरंध नहीं है, कहीं उसमें भी टूट है—कहीं-न-कहीं वह भी मृत्यु से डरेगी और रिरिया कर कहेगी कि नहीं, मैं मरना नहीं चाहती! एक प्रबल, दुर्दमनीय उल्लास, एक विजय का गर्व मेरे भीतर उमड़ आया। (पृ० ४२)

यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि अपने मृत पति यान के व्यक्तित्व से समृद्ध और परिपूर्ण हुई सेल्मा जो मृत्यु से नहीं डरती, और अपने प्रेमी से वियुक्त योके जो मृत्यु-त्रास से ग्रस्त है—इन दोनों के बीच का अंतर दृष्टिगत है या मात्र परिस्थितिगत! कैंसर की बीमार, पिछली पीढ़ी की आस्थावान एक ग्रामीण बुढ़िया यदि मृत्यु के प्रति आश्वस्त है तो यह उचित ही लगता है। दूसरी ओर एक जवान लड़की, जिसकी सारी संभाव्य उम्र अभी आगे पड़ी है, बर्फ़ से दबे मकान में किसी भी समय मर सकने वाली इस बुढ़िया के साथ बंद हो गयी है—तो इसके लिए मृत्यु का त्रास उतना ही स्वाभाविक है। यहाँ सेल्मा और योके की प्रतिक्रियाओं का अंतर दृष्टि संबंधी कम, परिस्थितिगत अधिक जान पड़ता है। फिर अंत तक अर्ध-विक्षिप्त योके की आत्महत्या मृत्यु के डर को कम नहीं कर पाती। सेल्मा की मृत्यु होने पर योके ने सोचा था : **"ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है—उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जायगा...क्या यही रहस्य था जिसका कुछ आभास सेल्मा को मिला था—कि वरण की स्वतंत्रता नहीं है लेकिन रचना फिर भी संभव है और उससे ही मुक्ति है?"** (पृ० ११२)। पर कठिनाई यह है कि अस्तित्ववादी त्रास और अनर्थकता के विरोध में प्रस्तावित यह दृष्टि उपन्यास की पूरी प्रक्रिया में स्थापित नहीं हो पाती। ज़िंदगी को ही कैंसर मानने वाली रचना की केंद्रीय पात्र योके अंत में आत्महत्या कर लेती है, यह समझ कर कि **"मैंने चुन लिया। मैंने स्वतंत्रता को चुन लिया।"** (पृ० १२३)। पर मृत्यु की बेबसी और आत्महत्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चुनाव में भी कोई दृष्टि संबंधी मौलिक अंतर नहीं उभरता। 'उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है', यह महत्वपूर्ण उपपत्ति अप्रमाणित ही रह जाती है।

मृत्यु से साक्षात्कार की वस्तु को ले कर बँगला के प्रसिद्ध कथा-शिल्पी ताराशंकर बाबू ने भी अपने उपन्यास 'आरोग्य निकेतन' की रचना की है। इस एक स्थिति को छोड़ देने पर 'अपने-अपने अजनबी' और 'आरोग्य निकेतन' में तुलना अथवा समानता के कोई और तत्व नहीं हैं। दोनों उपन्यास शैली, भाषिक प्रयोग, वस्तु के संदर्भ आदि दृष्टि से एक दूसरे से बहुत दूर हैं। ताराशंकर बाबू की रचना बहुत-कुछ क्लैसिकल पद्धति का अनुसरण करती है, अज्ञेय की संवेदना और शिल्प काफ़ी आधुनिक हैं। पर मुख्य बात यह है कि 'आरोग्य निकेतन' की वस्तु—विषय से यहाँ अभिप्राय नहीं है—भारतीय संदर्भ और दृष्टि की व्याख्या करती है, और कुछ जोड़ती है। अज्ञेय का यत्न अपने ढंग से शायद अधिक महत्वाकांक्षी है। वे भी भारतीय दृष्टि और संदर्भ को समृद्ध करना चाहते हैं—विशेषतः पश्चिम की तुलना में। पर पश्चिम के दबाव के कारण उनकी दृष्टि कुछ आक्रांत हो जाती है। यह ठीक है कि निरी सफलता या असफलता यत्न के महत्व को जाँचने का एक मात्र आधार नहीं हो सकती। और इस दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' समकालीन भारतीय सर्जन के क्षेत्र में एक बेजोड़ कृति है, इसमें कोई संदेह नहीं! हाँ, 'आरोग्य निकेतन' संवेदनात्मक स्तर पर मृत्यु-भय को कम करता है,एक दावा जो अज्ञेय के उपन्यास के बारे में नहीं किया जा सकता, यद्यपि दोनों की समस्या बहुत-कुछ एक जैसी है।

स्वयं अज्ञेय के अपने सृजन और चिंतन के विकास-क्रम में 'आँगन के पार द्वार' की समानांतर कृति के रूप में 'अपने-अपने अजनबी' आस्था और आस्तिकता के प्रति लेखक का कुछ झुकाव प्रतिफलित करता है। यह ज़रूर है कि इसके साक्ष्य काव्य में जितने स्पष्ट हैं उतने उपन्यास में नहीं। अज्ञेय की आरंभिक काव्य-रचनाओं में आस्तिकता का कुछ भावुक-सा रूप दिखायी देता है। उसके बाद फिर वैसा ही तीखा विद्रोह का भाव है, कविताओं में भी और उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' में भी। इधर पिछले दो काव्य-संकलनों—'अरी ओ करुणा प्रभामय' और 'आँगन के पार द्वार' तथा उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में लेखक की आस्था का रूप निखरता और थिराता दिखायी देता है। इसी काल के यात्रा-संस्मरण 'एक बूँद सहसा उछली' से भी इस स्थिति की पुष्टि होती है। इस बार लगता है लेखक की आस्था अधिक गहरी और अनिवार्यतः सर्जनात्मक शक्ति से जुड़ी हुई है—ऐसी आस्था जो रचना को प्रेरणा देती है, और रचना में ही तो मुक्ति है। ईश्वर का प्रमाण उसकी रचना की विराटता ही है, जो आगे के सर्जनात्मक संचरण को संभव बनाती है। लेखक की आस्था के इस नवीन आयाम के पीछे उसकी यूरोप-यात्रा—विशेषतः इटली के 'पिएर क्वे वीर' मठ में निवास—का भी सूक्ष्म प्रभाव देखा जा सकता है। 'अपने-अपने अजनबी' में ईसाई आस्था और सहिष्णुता का रूप वर्णन के स्तर पर तो है ही, सर्जन के स्तर पर भी झलकता जान पड़ता है—एक प्रेरक शक्ति के रूप में लेखक की निजी आस्था को और गहरा करता हुआ!

शिल्प के स्तर पर काफ़ी गठित होने पर भी विधान (स्ट्रक्चर) की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' कुछ कमज़ोर पड़ता है, या कि पूरी तरह संतोषजनक नहीं हो पाता। इसका मुख्य कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि उपन्यास के कथानक में बहुत असाधारण परिस्थितियाँ चुनी गयी हैं। यह ठीक है कि पहले दोनों खंडों की आधारभूत घटनाएँ वास्तविक हैं। एक की सूचना लेखक को यूरोप में एक स्वीडी मित्र से मिली——बर्फ़ से दब जाने वाली घटना जो उसे अस्तित्ववादी क्षण का स्मरण दिलाती है (द्र० 'एक बूँद सहसा उछली', पृ० २५८)——और दूसरे वृत्तांत का कुछ आधार लखनऊ के एक लेखक-मित्र ने प्रदान किया। पर दोनों ही घटनाएँ संभाव्य उतनी नहीं जितनी कि संभव हैं। इस तरह की असाधारण या अतिनाटकीय परिस्थितियों का लेखक द्वारा चुना जाना उसकी विधायक शक्ति की कमज़ोरी का सूचक लगता है। यहाँ फिर 'आरोग्य निकेतन' का स्मरण हो आता है, जहाँ सामान्य दैनंदिन जीवन के बीच में मृत्यु से साक्षात्कार की समस्या को उठाया गया है। 'अपने-अपने अजनबी' का लेखक 'एकांत मृत्यु' की असाधारण परिस्थितियों को ले कर उपन्यास की वस्तु का अनुभव-क्षेत्र विशेषीकृत और सीमित कर लेता है। उपन्यास की सफलता तब अधिक थी यदि लेखक असाधारण परिस्थितियों में मृत्यु के साधारण अनुभव के स्थान पर साधारण परिस्थितियों में ही मृत्यु के साधारण अनुभव को पुनःसर्जित करता, भले ही इससे शिल्प और विधान के स्तर पर उसकी कठिनाई कुछ और बढ़ जाती। असाधारण विषय से वस्तु का निर्माण आसान है साधारण विषय से वस्तु निर्मित करने की तुलना में। 'अपने-अपने अजनबी' में कहीं-कहीं भाषा के अतिसहज——या कहिए कृत्रिम——लगने का भी यही कारण है कि उपन्यास के तीनों तत्त्व असाधारण विषय, 'मृत्यु से साक्षात्कार' की साधारण तथा अनावृत वस्तु, और अतिसहज भाषा में कभी-कभी मेल नहीं खाता।

सर्जनात्मक भाषा-प्रयोग की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' का अध्ययन अपने आप में एक महत्वपूर्ण विषय है। पूरे उपन्यास की भाषा एकदम सादी और निराग्रह है। मृत्यु का साक्षात्कार जैसा रंगहीन और निरावरण हो सकता है, वैसी ही लेखक के वर्णन की भाषा है। खास तौर से अज्ञेय के पिछले उपन्यासों की तुलना में 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा बिलकुल बदली हुई है——सतरँग मानो शुभ्र प्रकाश में समो जाएँ। 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' की भाषा में आभिजात्य और तत्समता के गुण, जो अपने विशिष्ट ढंग से प्रसिद्ध रहे हैं, 'अपने-अपने अजनबी' में सर्वतः लुप्त हो जाते हैं। यहाँ भाषा का मूलतः ठेठ, सहज और तद्भव रूप सहज उभरता है, जिसका प्रयोग लेखक अपनी कविता में करता रहा है। काव्य-भाषा के इस रूप में एक खड़खड़ापन है, जो सामान्यतः बोलचाल की साधारण भाषा का गुण माना जाता है।

इस स्तर की भाषा स्वीकार करने पर लेखक के सामने समस्या आती है कि मान्य और साहित्य में स्वीकृत शब्दों की बनी-बनायी सर्जनात्मकता के स्थान पर अपने ढंग से कैसे सर्जनात्मकता और गहराई उत्पन्न की जाए! यहाँ पर निश्चय ही गद्य-भाषा की प्रकृति में कविता-भाषा के कुछ गुण घुलाने होंगे——तभी वर्णन में वांछित शक्ति आ सकती है, जो गद्य का अपना स्वभाव है। 'अपने-अपने अजनबी' का गद्य 'नदी के द्वीप' की तरह शब्दों के समूचे अर्थ का उपयोग न करके उन्हें ऐसे उन्मुक्त रूप में प्रयुक्त करता है, जिससे अर्थ का वांछित और आंशिक स्तर ही विकसित हो सके। इस प्रकार गद्य की सामान्य सर्जनात्मकता और कविता की अधिकतम संभव सर्जनात्मकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बीच की स्थिति 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में मिलती है। कविता-भाषा की पद्धति का यह आंशिक उपयोग ही सामान्य और सरल शब्द-समूह का सर्जनात्मक प्रयोग संभव बनाता है, और खड़खड़े शब्दों को साहित्य के स्तर पर उठा लेता है। कविता और गद्य-भाषा का यह अंतः-संपर्क काव्य-भाषा में एक नयी ऊर्जा उत्पन्न करने में योग्य सिद्ध हुआ है।

'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में सहजता और सर्जनात्मकता का एक विशेष दिशा में आदर्श सामंजस्य अज्ञेय की प्रयोग-शक्ति और रचनात्मक उत्कंठा को साबित करता है। 'नदी के द्वीप' के बहुशिलिपित गद्य का लेखक यहाँ मानो अनायास ही प्रायश्चित्त की मुद्रा में है—एक तथ्य जो सब से अधिक उसके सर्जनात्मक विकास का द्योतक है। बोलचाल की भाषा के आधार पर विकसित काव्य-भाषा सूक्ष्म से सूक्ष्म, अनपहचानी और अधपहचानी मनःस्थितियों को अंकित करने में पूर्णतः समर्थ है, यह 'अपने-अपने अजनबी' में एकबारगी देखा जा सकता है। इस प्रसंग में कुछ उद्धरण देना उपयुक्त होगा :

क्यों उसे तकलीफ़ होती देख कर मुझे संतोष होता है ? लेकिन तकलीफ़ तो शायद उसे बराबर रहती है——क्यों उसे तकलीफ़ से टूटते हुए देख कर मुझे तसल्ली होती है ? कितना कमीना है यह संतोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देख कर होता है——क्या यह एक अत्यंत विकृत ढंग की जिजीविषा नहीं है ! (पृ० ४७)

बर्फ़ के नीचे दब कर मर जाना भी मर जाना है। लेकिन वह दब कर मरना तो है—उसमें कार्य और कारण की संगति तो है ! लेकिन यह बिना दबे, बिना बर्फ़ को छुए भी अहेतुक मर जाना ——यह मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करता है। और हम मरने पर भी अनुभव का खंडन सहने को तैयार नहीं हैं। (पृ० ६३)

समय नापने के कई तरीक़े हैं,एक घड़ी का है, जो शायद सब से घटिया तरीक़ा है, क्योंकि उसका अनुभव से कम से कम संबंध है। दूसरा तरीक़ा दिन और रात का, सूर्योदय और सूर्यास्त का, प्रकाश और अँधेरे का और इनसे बँधी हुई अपनी भूख-प्यास, निद्रा-स्फूर्ति का है। यह यंत्र के समय को नहीं, अनुभव के समय को नापने का तरीक़ा है; इसलिए कुछ अधिक सच्चा और यथार्थ है।

फिर एक तरीक़ा है, घरघराते पानी में बहते हुए भँवरों को गिन कर और उनके ताल पर बहती हुई साँसों को गिन कर समय को नापने का तरीक़ा। यह और भी गहरे अनुभव का तरीक़ा है, क्योंकि यह समय के अनुभव को जीवन के अनुभव के निकटतर लाता है। (पृ० ८०)

लेकिन दृश्य उसकी आँखों के आगे थोड़े ही था जो परदा खींचने से हट जाता ! वह जिधर मुड़ी उधर भी वही दृश्य था——क्योंकि वह उसकी आँखों के सामने नहीं, आँखों के भीतर था। (पृ० ८९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काले, गोरे और भूरे चेहरे, काले, लाल, पीले, भूरे, गेहुएँ, सुनहले और धौले बाल, रँगे-पुते और रूखे-खुड्ढे चेहरे। चुन्नटदार, इस्तरी किये हुए और सलवट पड़े कपड़े, चमकीले और कीच सने, चरमराते या फटफटाते या घिसटते हुए जूते। और चेहरों में, आँखों में, कपड़ों में, सिर से पैर तक हर अंग की क्रिया में निर्मम जीवैषणा का भाव--मानों वह दूकान सौदे-सुलुफ़ या रसद की दूकान नहीं है बल्कि मानों जीवन की ही दूकान है। (पृ० ११८)

अनायास ही चुने हुए इन उद्धरणों से यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि इस बार अज्ञेय की निगाह अपने ढंग से 'जीवन की ही दूकान' पर है। और उसका ब्यौरा देने में उन्होंने जीवन और मृत्यु दोनों का इस्तेमाल किया है, पर मृत्यु का शायद कुछ अधिक। प्राय: ठोस और जड़ हुए शब्दों को यथावश्यक तरल ढंग से प्रयुक्त कर के लेखक ने जिस गद्य का निर्माण किया है, वह 'जीवन की दूकान' का वर्णन करने में विभिन्न छाया-स्तरों पर सक्षम साबित होता है। गद्य का यह रूप भाषा की संवेदन और सर्जन शक्ति को निश्चय ही समृद्ध बनाएगा।

किंतु 'जीवन की दूकान' का वर्णन आसान नहीं है, इसे भी लेखक ने खूब समझा है। इस दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय की उपन्यास-यात्रा की एक मंज़िल लगता है, चरम निष्पत्ति नहीं! वह उपलब्धि से भी अधिक संभावना है, मात्र लेखक की आगामी कृतियों के संदर्भ में नहीं, स्वयं अपने संदर्भ में भी! और यहीं शायद उसकी सबसे बड़ी सार्थकता निहित है। 'अपने-अपने अजनबी' का वर्ग उन रचनाओं का है, जो संवेदना और भाषिक सर्जनात्मकता की गहराई के कारण अनेक छाया-स्तरों पर अपना अर्थ विवृत करती रहती हैं, देश और काल दोनों के विस्तार में। अर्थ के संचरण के लिए उनमें एक आत्म-संभव शक्ति विकसित हो जाती है।

--१६७ ए एलनगंज,
इलाहाबाद।

गोष्ठी-प्रसंग

विवेचना में 'अपने अपने अजनबी'

श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में सोमवार ३१ जुलाई, १९६४ को 'विवेचना' की गोष्ठी में डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अज्ञेय के नवीनतम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' पर विवेचनात्मक निबंध पढ़ कर विचार-विनिमय का प्रवर्तन किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार-विनिमय में क्रम से श्री बालकृष्ण राव, श्री गंगाप्रसाद पांडेय, श्री सुरेंद्रपाल सिंह, डाक्टर जगदीश गुप्त, श्री मलयज, श्री घनश्याम पंकज, श्री विजयदेव नारायण साही, श्री उपेंद्रनाथ अश्क, श्री विश्वंभर मानव, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा तथा डॉक्टर रघुवंश ने भाग लिया।

निबंध-पाठ के तुरंत बाद अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव ने पहले बोलने के लिए सभा से अनुमति ले कर पठित निबंध और उपन्यास पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि समीक्षात्मक के दो निबंध प्रकार कहे जा सकते हैं, एक जो समीक्ष्य विषय के गंभीर विद्यार्थी के लिए होते हैं और दूसरे जो मूलतः आस्वादनपरक होने के कारण सामान्य पाठक के लिए होते हैं। डॉक्टर चतुर्वेदी का निबंध पहले वर्ग का है।

'अपने-अपने अजनबी' के संबंध में श्री बालकृष्ण राव ने कहा कि अज्ञेय की यह आधुनिक समझी जाने वाली उपन्यास-रचना साहित्य की उस परिपाटी से साम्य रखती है जिसमें केवल बौद्धिक विलास और पांडित्य-प्रदर्शन मिलता है: कथानक और भाषा, दोनों स्तरों पर यह उपन्यास कृत्रिम और असहज है। संपूर्ण रचना-विधान और लेखन में आयास स्पष्ट दीखता है, मानो अज्ञेय ने जैनेंद्र की क़लम माँग ली हो। उपन्यास के अंतिम अंश की संगति पूर्व के दोनों खंडों से नहीं बैठती। अंतिम अंश को पढ़ कर मालूम होता है कि उपन्यासकार ने कथा की परिसमाप्ति में जल्दबाज़ी की है। उपन्यास के संपूर्ण निहित वातावरण और यत्र-तत्र अंग्रेज़ी मुहावरों के तद्वत हिंदी अनुवाद देख कर लगता है कि हिंदी भाषा में लिखित यह एक ऐसा उपन्यास है जो यूरोप की किसी भाषा में लिखा जाने से रह गया। पुस्तक पढ़ते हुए बार-बार लगता है कि अज्ञेय किसी अलिखित यूरोपीय उपन्यास का अनुवाद कर रहे हैं।

सहज ही प्रश्न उठता है कि आखिर अज्ञेय चाहते क्या हैं। 'नदी के द्वीप' के सर्जक को यदि 'मृत्युभय' और 'अकेलेपन' पर अपनी प्रतिक्रियाएँ ही व्यक्त करनी थीं तो वह बहुत आसानी के साथ अपने देश से ही कथानक चुन सकता था। सांप्रदायिक दंगों के बीच किसी मुसलमान का हिंदू मुहल्ले के हिंदू परिवार में आश्रय लेना कोई अनोखी घटना नहीं कही जायगी। पर इस स्थिति में पड़े आश्रित मुसलमान का मृत्युभय और अकेलापन तथा उस आश्रयदाता हिंदू परिवार की मनःस्थिति, 'अपने-अपने अजनबी' जैसे उपन्यास की रचना के लिए प्रेरक विषय-वस्तु हो सकते थे और उस विषय-वस्तु के साथ भारतीय पाठक तादात्म्य भी स्थापित कर सकता था। पर अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' की रचना में न केवल पश्चिमी दृष्टि अपनायी है बल्कि ईसाई पर्वों और संतों का उल्लेख कर के अपने प्रतीकात्मक पात्रों को मांसलता और विशिष्टता देने का निरर्थक प्रयत्न किया है। पात्र न प्रतीकात्मक मात्र हैं न ठोस और विश्वसनीय, न मांसल हैं न वायवी। सब कुछ ले-दे कर वही कह सकते हैं कि 'अपने-अपने अजनबी' एक अजीब-ओ-ग़रीब चीज़ है, जाने क्या है, क्यों है। कथानक हमें कहीं भी स्पर्श नहीं करता।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी के इस मत का खंडन किया कि 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववादी उपन्यास नहीं है। उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि इस उपन्यास में यास्पर्स का चिंतनशील शुद्ध अस्तित्ववाद नहीं है, लेकिन इसमें सार्त्र के विकृत अस्तित्ववाद का प्रतिपादन अवश्य हुआ है। अज्ञेय ने उस विकृत अस्तित्ववाद को इस उपन्यास में स्वीकार किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो अनास्था, कुंठा, अहमन्यता और अनेक प्रकार की नकारात्मक वृत्तियों को बढ़ावा देता है लेकिन इन प्रवृत्तियों की संगति हमारे जीवन से कदापि नहीं बैठ सकती। 'मृत्यु' हमारे लिए नयी बात नहीं है। इस संबंध में उपनिषद और गीता से ले कर वर्तमान समय तक खूब मीमांसा हुई है। उपन्यास की परिकल्पना पूर्णतः अभारतीय है। इस कारण सर्वथा असफल है।

श्री सुरेंद्रपाल सिंह ने कहा कि मैंने तो इसे 'लाइट रीडिंग' समझ कर उठाया था पर यह बड़ा गरिष्ठ निकला। एक गंभीर पाठक के लिए भी इसमें दिमाग़ी कसरत से अधिक कुछ नहीं मिलता। लेकिन वह भी अरोचक है। इससे अच्छा राइडर हैगर्ट का 'शी' उपन्यास है जिसके कथानक में एक स्थान पर मृत्युभय और अकेलेपन की स्थिति आती है। किंतु उसमें वर्णन भी रोचक है और दिमाग़ी कसरत भी नहीं है। 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा यों दीखने में सहज लगती है, लेकिन उपन्यास पढ़ते समय कोई ख़ास अर्थ नहीं निकलता।

डॉक्टर जगदीश गुप्त ने कहा कि 'अपने-अपने अजनबी' में 'अजनबी' की दो अवधारणाएँ हैं। वास्तव में हमें देखना यह चाहिए कि अज्ञेय ने जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की हैं उनकी सीमाएँ क्या हैं। जगन्नाथन के संदर्भ में स्पष्ट कहा गया है कि वह अजनबी नहीं, अच्छा आदमी है। अतः समस्या यह है कि हम 'अजनबी' और 'अच्छे' में भेद कैसे करें। वास्तव में इसमें दो दृष्टियों का संघर्ष है। हम देखते हैं कि जगन्नाथन का कथन या आचरण बुरे अवसरों पर वैसा नहीं है जैसा बुरे लोगों से अपेक्षित है। वह 'अच्छा' आचरण करता है। यही भारतीय दृष्टि है। 'वरण' के संबंध में जो उत्तर यास्पर्स से नहीं मिला उसे देने की कोशिश इस उपन्यास में की गयी है। अज्ञेय का 'अस्तित्ववाद' ईसाई आस्था के समीप है। वैसे उसके मूल में भारतीय दृष्टि भी है, किंतु वह जगन्नाथन के 'अच्छे' आचरण के बावजूद उभर कर प्रस्तुत नहीं हो सकी है। वास्तव में इस उपन्यास में अनुभव की शक्ति नहीं है। ऐसा लगता है कि अपरिपक्वता के कारण लेखक ने अपनी बौद्धिक अभिव्यक्ति के लिए एक रूपक-कथा का सहारा लिया है। इसी कारण वह प्रभावहीन है। ऐसी स्थिति में उपन्यास का अनुवाद-जैसा प्रतीत होना स्वाभाविक ही है।

श्री मलयज ने कहा कि उपन्यास में मृत्यु की समस्या का ठीक समाधान नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। यह ठीक है कि यह 'अस्तित्ववादी' उपन्यास नहीं है, किंतु साथ ही यही आपत्ति भी है कि क्यों नहीं है। उपन्यास में निहित यह अस्पष्टता ही उसे कृत्रिम बना देती है। वैसे रामस्वरूप जी ने उपन्यास की भाषा को रचनात्मक दृष्टि से सफल माना है, लेकिन वास्तविकता यह है कि वैचारिक अस्पष्टता के कारण प्रत्येक स्तर से संतुलन बिगड़ गया है। इसी कारण भाषा भी जटिल हो गयी है।

श्री घनश्याम पंकज ने कहा कि अज्ञेय ने असाधारण परिवेश में साधारण कथानक को लिया है। लेखक को इतनी स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए। लेकिन यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस कृति में अज्ञेय का अस्तित्ववादी दर्शन अपरिपक्व स्थिति में है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास में मूल स्थिति 'वरण की स्वतत्रंता' को न समझ कर उसका भाष्य दिया गया है। भाषा विकृत काव्य-भाषा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री विजयदेव नारायण साही ने कहा कि 'अपने-अपने अजनबी' तृतीय कोटि का उपन्यास है। श्री उपेंद्रनाथ अश्क ने कहा कि अज्ञेय एक प्रतिभाशाली कलाकार हैं। अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने जिन उपन्यासों की रचना की है उनमें कला का निखार है और साथ ही विषयवस्तु के अनुरूप भाषा भी है। उदाहरण के लिए 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' को लिया जा सकता है। लेकिन 'अपने-अपने अजनबी' पढ़ कर नहीं मालूम पड़ता कि इसमें लेखक की अनुभूति है। इसी कारण न तो यह दिल को छूता है और न दिमाग को झकझोरता ही है। मौत को सामने देख कर हर-एक की अलग-अलग प्रतिक्रिया होती है। अज्ञेय ने इस उपन्यास में जो प्रतिक्रिया दिखायी है वह ऊपर से लादी हुई जान पड़ती है। वैसे यह उपन्यास यूरोपीय सभ्यता पर व्यंग्य अवश्य करता है।

श्री विश्वंभर मानव ने 'अपने-अपने अजनबी' को एक महत्वपूर्ण लेखक की महत्वपूर्ण कृति के रूप में स्वीकार करते हुए कहा कि यह कहना ग़लत होगा कि यह वैराग्य और निराशा का उपन्यास है। वस्तुतः यह आस्था का उपन्यास है। 'शेखर : एक जीवनी' चिर-विद्रोही की कहानी है; 'नदी के द्वीप' जीवन के प्रति आस्था की कहानी है। उसे रोमांस की कहानी नहीं समझना चाहिए। अज्ञेय मूलतः आस्था वाले लेखक हैं। 'अपने-अपने अजनबी' में सेलमा कैंसर की रोगिणी है लेकिन उसकी ईसाइयत में आस्था है। योके आस्थाहीन है। उसका संसार से विरोध का संबंध है और उसके विरोध और घृणा को समाप्त करने के लिए जगन्नाथन को लाया जाता है। इस उपन्यास के संबंध में यह भी कहना ग़लत है कि यह अनुभूति पर आश्रित उपन्यास नहीं है। अज्ञेय वस्तुतः चिंतन के कलाकार हैं और जो कलाकार चिंतक होता है वह अपने अनुभवों को चिंतन के रूप में ही रखता है। उपन्यास की घटनाएँ कल्पित नहीं वरन् अनुभूत हैं। यह उपन्यास 'मृत्यु के साक्षात्कार' का उपन्यास नहीं है बल्कि यूरोप के जीवन पर, जहाँ आत्मीयता की भारी कमी है, गहरा व्यंग्य है।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने सभा से अनुरोध किया कि उपन्यास की रचना जिस संकल्प को ले कर हुई है और उपन्यास में जो सीमा निर्धारित की गयी है उसी के अंतर्गत अपने विचारों को सीमित रखें। उन्होंने कहा कि इस उपन्यास को भारतीय-अभारतीय सीमाओं में बाँध कर नहीं देखना चाहिए। वैसे यह सत्य है कि मृत्यु और जीवन के बीच अद्वितीय अनुभूति की स्थिति की जो अभिव्यक्ति इस उपन्यास में अपेक्षित थी वह नहीं है। अंग्रेज़ी साहित्य में मृत्यु के साक्षात्कार पर कई अच्छे उपन्यास हैं, किंतु मृत्यु के उस साक्षात्कार को अनुभूति की गहराई से व्यक्त करने में अज्ञेय असफल रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञेय ने सारी आस्था को ले कर, पराजय की सीमा पर रख दिया है और वह भी एक संकुचित दायरे में। अज्ञेय के इस उपन्यास में जीवन की व्यापकता की कमी है। एक प्रकार की संकीर्णता आ गयी है, जबकि इसी विषय पर यूरोप के अन्य उपन्यासकारों ने सीमाएँ तोड़ी हैं। कामू का नाम उल्लेखनीय है। अज्ञेय वैसा नहीं कर सके हैं। अंततः उपन्यास असफल है।

डॉक्टर रघुवंश ने डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि उपन्यास की मूल समस्या मृत्यु है। इस प्रसंग में कथानक को सहज या असहज समझना या चिंतन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से विकृत होने का आरोप लगाना कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता, क्योंकि इन आरोपों से लेखक का समाधान नहीं होता। वस्तुतः लेखक की अपनी दृष्टि होती है। जीवन के प्रति उसका लगाव अपने ढंग से होता है। 'अपने-अपने अजनबी' में मूलतः क्रिश्चियन आस्था है और उसी के समानांतर भारतीय जीवन दृष्टि भी है। इस प्रकार दो विचारधाराओं की इसमें टकराहट नहीं, स्पर्श है। योके और सेल्मा इसके उदाहरण हैं। यूरोप की सारी अस्तित्ववादी दृष्टि के अंतराल में अज्ञेय ने ईसाई आस्था को दिखाने का प्रयास किया है, किंतु यह कहना ग़लत होगा कि अज्ञेय का दृष्टिकोण दार्शनिक है। लेखक की पूरी की पूरी दृष्टि सर्जनात्मक है। श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना आवश्यक है कि 'मृत्यु के वरण' को अज्ञेय ने जहाँ सर्जनात्मकता देनी चाही है वहाँ बिखराव उत्पन्न हो गया है। सेल्मा की मृत्यु के बाद अनुभूति का स्तर गहरा है, लेकिन यह कहना कठिन है कि सर्जनात्मक दृष्टि से पूरे उपन्यास में संगति है। मृत्यु के साक्षात्कार का, उपन्यास के पिछले भाग से कोई विशेष संबंध नहीं है। इसी कारण परिणति दुर्बल है। यह कहना ग़लत है कि केवल जीवन से जीवन-दृष्टि विकसित होती है। आस्था की दृष्टि जीवन-दर्शन को भी प्रभावित करती है। उपन्यास में युवती और वृद्धा की स्थितियों का ही अंतर नहीं है वरन् जीवन-दर्शन का भी अंतर है। किंतु लेखक ने उसमें टकराव नहीं उत्पन्न होने दिया है अपितु दोनों का स्पर्श कराते हुए चला है।

निबंध-लेखक श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि 'अपने-अपने अजनबी' में मृत्यु केंद्रबिंदु है लेकिन अज्ञेय की दृष्टि जीवन को निरर्थक मानने की नहीं है। यहाँ वे अस्तित्ववादी दर्शन से अलग हो जाते हैं। वे 'रचना' को जीवन की अर्थवत्ता मानते हैं और इस दृष्टि को उपन्यास में परिपक्वता के साथ रखा गया है। श्री चतुर्वेदी ने कहा कि श्री बालकृष्ण राव के तर्क और निबंध में दिये गये तर्क मूलतः एक ही हैं किंतु निष्पत्तियाँ अलग-अलग हैं। उपन्यास को देशी-विदेशी दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। रचनाकार की ही दृष्टि से देखना उचित है। वस्तुतः जो बात उपन्यास में कही गयी है वही महत्वपूर्ण है, दायरे के बाहर की बातें नहीं। अज्ञेय परस्पर विरोधों के बीच अपनी बात कहना चाहते हैं। उनकी प्रस्तावित परिकल्पना पश्चिम की दृष्टि से भिन्न है। किसी भी परिवेश या स्थान का कथानक ले कर अपनी बात कही जा सकती है। श्री गंगाप्रसाद पांडेय को उत्तर देते हुए श्री चतुर्वेदी ने कहा कि दर्शन और साहित्य में बहुत बड़ा अंतर है। दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं। वास्तव में किसी दर्शन से प्रभावित होने और उसके उपयोग करने में बड़ा अंतर होता है। अज्ञेय ने 'अस्तित्ववाद' के प्रतिमानों का उपयोग भर किया है, उससे वे प्रभावित नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'कामायनी' को लिया जा सकता है। उसकी रचना दर्शन को ले कर नहीं है, वरन् 'दर्शन' का उसमें उपयोग किया गया है। वैसे यह कहना ठीक है कि उपन्यास में 'अच्छेपन' और 'अजनबीपन' को भली-भाँति व्यक्त नहीं किया जा सका है। अंतिम हिस्सा कमज़ोर है। उस भाग में 'अच्छेपन' का बोध नहीं मिलता। और इस प्रकार अज्ञेय अपनी बात पूरी स्पष्टता के साथ नहीं कह सके हैं। लेकिन इस पूरे उपन्यास के रचना-शिल्प में, कथ्य में, जो 'ध्वनित' होता है वही इस उपन्यास को सार्थकता देता है।

—विवेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षाएँ

•

अर्धशती

बालकृष्ण राव का कविता-संग्रह। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। सन् १९६४। मूल्य: ३·००।

श्री बालकृष्ण राव का सहपाठी होने का मुझे गौरव प्राप्त है। स्नातक-पूर्व छात्र-जीवन में, लगभग बत्तीस वर्ष बीते, मैंने उन्हें ब्रजभाषा-काव्यप्रेमी रसिकसमाजी के रूप में देखा था और फिर उनकी आरंभिक काव्यकृतियों से भी परिचय हुआ, जो यति-गति-शुद्ध छंदोबद्ध रचनाएँ होती थीं। छायावाद के युग में लिखी गयी वे रचनाएँ द्विवेदीयुगीन कविता की अनुहार लिये हुई थीं। मनुहार अपने युग के भावुक कवि की थी। बरस पर बरस बीते और श्री बालकृष्ण राव के जीवन में बहुत से चढ़ाव-उतार और उतार-चढ़ाव आये, जिनसे प्रभावित उनकी मनीषा में निखार, विविध कार्यसंपादन में दाक्ष्य, विचारों में पकाव और ज्ञान में गौरव आया। बुद्धि उनकी पूर्ववत कुशाग्र रही। हृदय का भाव-स्पंदन बना रहा। सुलझी हुई स्पष्ट अभिव्यक्ति की उनकी क्षमता में त्रुटि नहीं आयी। अभिव्यक्ति अधिक सूक्ष्मस्पर्शिनी बनती गयी। जीवन की अर्धशती पार कर चुके हैं। और अब वह रूढ़िमुक्त नयी कविता के प्रतिनिधि कवि हैं।

जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव के बाद भी श्री बालकृष्ण राव का हँसमुख खिलाड़ी का भाव अब भी बना हुआ है, जो अप्रत्याशित अज्ञात का स्वागत करने को सदैव प्रस्तुत रहता है। आधुनिक काव्य-शैली की कुंठा उनका दम नहीं घोट पाती या शायद घुटन में भी अविहित अविज्ञात––(कौन जाने! ––कहता-सा)––सामने खड़ा मुस्कराता है:

झुक रही है भूमि बायीं ओर, फिर भी
कौन जाने,
नियति की आँखें बचा कर
आज धारा दाहिने बह जाय।
आज ही निःशेष हों सारे सँजोये स्वप्न
दिन की सिद्धियों में,
कौन जाने
शेष फिर भी
एक नूतन स्वप्न की संभावना रह जाय!

ऊपर की पंक्तियों में अभिव्यक्त भाव-बोध में घनघोर अनास्था, तीव्र आक्रोश और शव की-सी ऐंठन वाला अधुनातन काव्यबोध नहीं है। है किमाश्चर्यम् जैसे किसी आधुनिक यक्ष-प्रश्न का व्यंजनापूर्ण उत्तर।

नूतन स्वप्न की संभावनाओं से सजीव कवि-मानस में नूतन सौंदर्यबोध शब्द-माध्यम से मुक्ति के हेतु लालायित है। और सधे हुए अभ्यस्त हाथों में है कला का कौशल:

अपने सधे हुए, अभ्यस्त करों से
कलाकार ने
कर प्रहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस अनगढ़ पत्थर के टुकड़े पर
बार-बार
जो तोड़ दिया था,
पृथक किया था जिसे
शिला को खंड-खंड कर,
आच्छादन था वह,
ओढ़ जिसे
युग-युग से सोती रही कला,
अभिशप्त अहल्या-सी।

अभिशप्त अहल्या-सी कला मुक्त हो जाती है और मन को मुग्ध करती हुई मुस्करा उठती है:

हो गयी मुक्त, कर परित्याग
पत्थर के अनगिन टुकड़ों का,
जो रहे बिखरते गिर-गिर कर
ज्यों-ज्यों वह मूर्ति निखरती जाती थी।
तर गयी कला--
व्यवधान न कोई रहा शेष,
छू गयी उँगलियों से जैसे ही मुक्त वायु,
वह मुग्ध-मना मुसकरा उठी।

पुरानी रूढ़ि-रीति, कविसमय, शब्दबाहुल्य इत्यादि मैटर से सौंदर्यचेतना की ऊर्जा-तरंग का मुक्त होना अभिनंदनीय है। मुक्तात्मा बन सकने के हेतु, यवन दार्शनिक प्लॉटिनस ने युगों पहले ऐसा ही आदेश दिया था: **"अंतर्मुख हो कर अपने आप को देखो। यदि अपने भीतर आत्मा का सौंदर्य न दिखे, तो वैसा ही करो, जैसा कि कलासाधक मूर्तिकार करता है--वह अपनी रचना को सुंदर बना कर ही छोड़ता है। कहीं से वह कुछ छाँटता है तो कहीं वह खुरदुरे को चिकनाता है कि अंततः अंतर्निहित सौंदर्य मूर्त रूप में विक[illegible] हो कर ही रहे। इसी प्रकार अपने स्थूल[illegible] को भी छाँट दो, अपने अनगढ़ ऊबड़-खाब[illegible] को रेत दो। अंधकार के निगड़ में जो विज[illegible] पड़ा है, अथक साधना से उसे मुक्त और ज्यो[illegible] युक्त कर दो।"** यवन साधक से भिन्न आज [illegible] कवि की साधना मात्र वैयक्तिक नहीं है। [illegible] और भी अभिनंदनीय है। पर मन में [illegible] उठती है कि कलामुक्ति या कलासिद्धि से [illegible] में कहीं दंभ की भावना जड़ न जमाने लगे [illegible] शापमुक्त अहल्या कहीं रहस्यमयी मुस्कान वा[illegible] मॉना लिसा न बन जाय।

श्री बालकृष्ण राव का काव्य दंभोद्[illegible] नहीं है। और न ही उनकी मौलिक कवि[illegible] पारजात्य मॉना लिसा बनती है। हारने [illegible] तैयार और जीतने की आशा न त्यागने वा[illegible] खिलाड़ी की भाँति वे आवेशहीन भाव-संपत्ति [illegible] धनी हैं। खेल के नियमों का उल्लंघन वे न[illegible] करते, जैसे कि रौंटमानी पर उतारू नौसिखि[illegible] करते और खीझते-खिसियाते हैं।

अच्छा खिलाड़ी स्वावलंबी तो होता है पर इकलखुट्टा नहीं होता। उसका भा[illegible] स्वभाव संलग्न सहभागी सहभोगी जैसा हो[illegible] है। 'अर्धशती' की संगृहीत कविताएँ इस[illegible] साक्षी हैं:

मनाना चाहता है आज ही?
--तो मना ले
त्योहार का दिन
आज ही होगा!

खिलाड़ी में तत्परता पूरी है, पर अधै[illegible] नहीं है:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ न कहोगे ?
नहीं, कुछ तो कहोगे ही,
मेरे मूक मन! मेरे आत्मसीम कवि!
ऊँचे, अकेले हिमशिखरों पर
रहोगे समाधिमग्न
तपःपूत होने तक——
फिर तो
पिघल कर बहोगे ही . . .
कुछ तो कहोगे ही!

एक और अनेक का नाता कवि ने अच्छी तरह से समझ लिया है :

एक ने ही पूछा था, जिज्ञासा सब की थी——
निःस्वर कुतूहल के
कोटि-कोटि बिंदुओं से
आकंठ भरा
एक जीर्ण घट भग्न हुआ,
युग-युग के संशय का मौन
आज भग्न हुआ
मुखर प्रश्न-प्लावन में!
उत्तर की एक को,
अपेक्षा है सबको समाधान की।

व्यक्ति और क्षण देहांतर, देशांतर-कालांतर में व्याप्त-विविधायित ऊर्जा-तरंग में ऐसे परिपाक-विंदु हैं, जो अनुभूति का संग्रह और प्रसारण करते हैं। अपने आप को अत्याधुनिक समझने वाले कवि इन व्यष्टियों को समष्टि से छिन्न-भिन्न मानते हैं। किंतु श्री बालकृष्ण राव इतने नये और अनुत्तरदायी नहीं बन सके। इनके आवर्तमुक्त छंद खुल कर चलते हैं, पर यह मुक्त छंद भी विलयमुक्त और लययुक्त हैं। कविता में अर्थ और भाव का सहयोग है। विराम-चिह्न व्यवस्था और विन्यास के सजग प्रहरी हैं। हेतु जागृत है। अपनी अभिव्यक्ति में 'अर्धशती' का कवि निरंकुश नहीं बन पाता। शब्दानुशासन इस कविता का स्वाभाविक गुण है।

भीड़ से बच कर चलने वाले कवियों में 'अर्धशती' के कवि की भी गिनती की जायगी। और शायद न भी की जाय, क्योंकि राव साहब सुथरे, सुलझे हुए और सार्थक कवि-कारीगर हैं। अपनी छियालीस मौलिक और चार अनूदित रचनाओं में 'अर्धशती' का कवि समान रूप से व्यवस्थित, दक्ष और ज़िम्मेदार है।

——नरेन्द्र शर्मा,
चीफ़ प्रोड्यूसर,
विविध भारती, आकाशवाणी भवन,
नयी दिल्ली।

कथा-सूर्य की नयी यात्रा

हिमांशु श्रीवास्तव की 'औपन्यासिक रचना'। हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। सन १९६४। मूल्य : ३·००।

'कथा-सूर्य की नयी यात्रा' के संबंध में लेखक का 'पूर्व-कथन' इस प्रकार है : **'यह एक साहित्यिक व्यंग्य-प्रधान औपन्यासिक रचना है। . . . मैंने व्यंग्य की क़लम मात्र व्यंग्य के लिए नहीं उठायी। जो कुछ लिखा है, शुभ-संकल्प से, रचनात्मक समन्वय के लिए।"** प्रस्तुत कृति पंद्रह अध्यायों में विभक्त है। आदि से अंत तक प्रतिपाद्य एक ही है; इस नाते इन अध्यायों में संगति है; अन्यथा वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी रख सकते हैं, रखते हैं। प्रस्तुत कृति व्यंग्यप्रधान अवश्य है, पर उपन्यास नहीं। अध्यायों का स्वरूप वार्ता अथवा लेख जैसा है। यद्यपि रचना में कथातत्व निहित है, तथापि उसका कथा-सौष्ठव उपन्यास के समकक्ष नहीं है। मात्र एक प्रतिपाद्य अथवा कथातत्व के होने से कोई रचना उपन्यास नहीं कहला सकती। यह अवश्य है, प्रस्तुत रचना को 'व्यंग्यप्रधान उपन्यास' का लेबल लगा कर अच्छी ख़ासी संख्या में बेचा जा सकता है। हो सकता है, इस व्यावसायिक पहलू को देख कर ही 'कथा-सूर्य की नयी यात्रा' के साहित्य-रूप को उपन्यास नाम से अभिहित किया गया हो। पर, ऐसा कर के लेखक ने स्वयं अपने प्रति न्याय नहीं किया है। हिमांशु श्रीवास्तव प्रतिभा-शाली कथाकार हैं। उन्होंने प्रस्तुत रचना द्वारा हिंदी को अभिनव साहित्य-रूप प्रदान किया है। स्व० प्रेमचंद के माध्यम से हिंदी साहित्यकारों, हिंदी संस्थाओं तथा हिंदी फ़िल्मों की विकृतियों एवं यथार्थ स्थितियों को जिस कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है वह अत्यधिक रोचक और सशक्त है। इसमें संदेह नहीं, प्रस्तुत कृति की विषयसामग्री सामान्य पाठक के मतलब की नहीं है; पर जो हिंदी साहित्य की गतिविधियों से परिचित हैं उनका इससे अवश्य मनोरंजन होगा। हिमांशु जी का व्यंग्य कहीं उन्हें हँसायेगा, कहीं सोचने-विचारने की सामग्री देगा, कहीं कचोटेगा तथा कहीं उन्हें विचलित कर देगा। हिंदी कवि अथवा लेखक की अधो-गति का ही चित्रण इसमें नहीं है, प्रत्युत उसकी विषम आर्थिक विपन्नावस्था के करुण चित्र भी इसमें अंकित हैं।

'कथा-सूर्य' शब्द प्रेमचंद के लिए प्रयुक्त हुआ है। कल्पना यह की गयी है कि प्रेमचंद स्वर्ग से उतर कर हिंदुस्तान की यात्रा करते हैं—अपने सूक्ष्म वायवी रूप में। वे अनेक साहित्य-साधकों, कवियों, फ़िल्म-लेखकों, साहित्यिक संस्थाओं के बीच पहुँचते हैं तथा उनकी वर्तमान दयनीय स्थिति का अवलोकन करते हैं। प्रेमचंद के माध्यम से लेखक ने हिंदी साहित्य, साहित्यकारों, संस्थाओं, फ़िल्मों आदि पर तीखे व्यंग्य किये हैं। लेखकों की यशलिप्सा, उनका पारस्परिक ईर्ष्या-भाव, पुरानी पीढ़ी के प्रति तथाकथित नये लेखकों की अश्रद्धा, उनका अधकचरा ज्ञान, मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के नाम पर लेखकों में पायी जाने वाली सस्ती प्रवृत्ति, कवियों की गोष्ठियों की बातचीत का निम्न स्तर, पुरस्कार-प्राप्ति के निकृष्ट हथकंडे, प्रकाशकों की शोषण-वृत्ति, विश्व-विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित पाठ्य पुस्तकों की शव-परीक्षा, प्रकाशकीय भ्रष्टाचार, आलोचना का भ्रष्ट स्वरूप, मात्र नवीनता के नाम पर अनर्गल-प्रलापी काव्य, लब्धप्रतिष्ठ लेखकों का स्वयं पैसा दे कर अपना अभिनंदन करवाना, अनुवाद-कार्य की अधोगति, फ़िल्मी लेखकों का धूर्त डायरेक्टर के इशारों पर नाचना आदि अनेक प्रसंग 'कथा-सूर्य की नयी यात्रा' में वर्णित हैं। ये सभी प्रसंग लेखक के विशाल अनुभव के परिचायक हैं। साहित्यिक जीवन के अनेक पहलुओं को उसने निकट से देखा, परखा और भोगा है। उसके कथनों एवं व्यंग्यों में वास्तविकता मुखर हो उठी है। वे ही बातें, जिन्हें हम प्रायः सुनते रहते हैं, हिमांशु जी की लेखनी से चमत्कृत हो उठी हैं तथा अपनी सार्थकता सिद्ध करती हैं। हो सकता है, कुछ प्रसंग नितांत सत्य घटनाओं पर आधारित हों।

'कथा-सूर्य की नयी यात्रा' की एक अन्य विशेषता उसके स्वाभाविक संवाद हैं। यात्रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मध्य अनेक पात्र आते-जाते रहते हैं। जिस वर्ग-विशेष के वे पात्र होते हैं, उसकी विशेषताओं का उद्घाटन वे अपने वार्तालाप से करते जाते हैं। लेखक ने अपनी ओर से पात्रों के बारे में कुछ नहीं कहा है। पात्रों के वार्तालाप को इस ढंग से रखा गया है कि वे स्वतः अपनी विरूपताओं, दुर्बलताओं, मंतव्यों, कार्य-विधियों को प्रकट कर देते हैं। प्रत्येक अध्याय अथवा घटना के लगभग अंत में प्रेमचंद का मत व्यक्त किया गया है, जो व्यंग्यपरक है। हमारे साहित्यिक जीवन की अनैतिकता पर 'कथा-सूर्य की नयी यात्रा' में यथार्थवादी दृष्टि से विचार किया गया है। शिल्प का नवीन परिधान तथा लेखक द्वारा कही गयी बातें विचारणीय हैं और इस नाते उनका यह कथन सही है: **"जो कुछ लिखा है, शुभ-संकल्प से, रचनात्मक समन्वय के लिए।"**

—महेंद्र भटनागर
गोपाल भवन, श्रीवाजी गंज, लश्कर।

धर्मचेता

हिमांशु श्रीवास्तव का सांस्कृतिक उपन्यास। हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। सन १९६४। मूल्य : १·००।

'धर्मचेता' हिमांशु जी का सांस्कृतिक उपन्यास है जो जेबी पुस्तिका के आकार में प्रकाशित हुआ है। यह रचना धर्माचरण की व्याख्या करती है। छब्बीस अध्यायों में उपन्यास का कथानक निबद्ध है। 'धर्मचेता' का औपन्यासिक रचना-तंत्र परंपरागत नहीं है। उसमें विशिष्ट कलात्मक सौंदर्य है। 'धर्मचेता' के कथ्य को उसकी कला ने प्रभावशाली बनाया है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक काफ़ी छोटा है। कलिंग राज्य के नरेश पद्मसंभव के धर्माचरण की स्वयं धर्मेंद्र परीक्षा लेते हैं। अनावृष्टि के कारण संपूर्ण कलिंग राज्य में अकाल पड़ जाता है। प्रजापालक कलिंग-नरेश हर संभव प्रयत्न करने के बाद अपने धर्माचरण में ही किसी अभाव और त्रुटि की आशंका करते हैं। निदान मंत्रिमंडल के परामर्श पर कुछ विप्रजन इंद्रप्रस्थ-नरेश महाराज ज्योतिदेव से कुरुधर्म का विवरण प्राप्त करने के लिए भेजे जाते हैं। ज्योतिदेव के निर्देश पर विप्रजन राजमाता सुकेशी, उनकी पुत्रवधू (पटरानी मयूरी), महाराज के छोटे भाई उपराज जयघोष, नगरसेठ प्रसेन, नगर के द्वारपाल आशु, खेतों की गिनती करने वाले 'देवल', उपराज के सारथी, द्रोणमापक और नगरसुंदरी किन्नरी से क्रमशः मिल कर कुरुधर्म के आचरण-पक्ष पर महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त करते हैं। कुरुधर्म के सूत्रों और उपर्युक्त पात्रों के जीवनानुभव की आत्मकथाओं को ले कर विप्रगण कलिंग लौट आते हैं। तभी धर्मेंद्र आकाशवाणी से कलिंग नरेश को आश्वस्त करते हैं और यह बताते हैं कि वे केवल परीक्षा ले रहे थे। और फिर अंत में भीषण वर्षा होती है।

उपन्यासकार ने उपरिलिखित वस्तु का संयोजन बड़े शिल्पगत कौशल से किया है। धर्म के गूढ़ रहस्यों को सरल और रोचक घटना-प्रसंगों के द्वारा उद्घाटित किया गया है। राजमाता सुकेशी से ले कर नगरसुंदरी किन्नरी तक के जीवनानुभवों के विवरण उपन्यास को अत्यधिक सरसता प्रदान करते हैं। प्रत्येक विवरण के अंत में धर्माचरण का अपूर्व सौंदर्य प्रस्फुटित होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देख कर पाठक आनंदित होता है। प्रस्तुतीकरण का यह विशिष्ट रूप 'धर्मचेता' को एक सफल औपन्यासिक कृति सिद्ध करता है। प्रासंगिक लघुकथाएँ आधिकारिक कथा को स्पष्ट करती चलती हैं। पात्रों में कलिंग-नरेश पद्मसंभव और महारानी मेघलेखा का चरित्रांकन ही द्रष्टव्य है। वस्तुतः 'धर्मचेता' चरित्रप्रधान उपन्यास नहीं है। लेखक का उद्देश्य संभवतः तत्कालीन सांस्कृतिक गरिमा को प्रभासित करना रहा है। वर्तमान अनास्थापूर्ण युग में 'धर्मचेता' के नैतिक मूल्यों की उपादेयता स्वयंसिद्ध है। संवाद और भाषा भी लेखक की प्रौढ़ साहित्य-साधना के परिचायक हैं।

—महेंद्र भटनागर

संस्कृति (भारतविद्या विशेषांक)

राजेंद्र द्विवेदी द्वारा संपादित त्रैमासिकी। वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय, नयी दिल्ली। मूल्य : वार्षिक : ४·००; एक प्रति : १·००।

राजधानी की गौरवमयी परंपरा की त्रैमासिकी 'संस्कृति' का भारतविद्या विशेषांक अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। सांस्कृतिक विचारों के प्रतिनिधि के रूप में यह प्रारंभ से ही साहित्य, संस्कृति और कला पर सुपाठ्य एवं सुरुचिपूर्ण सामग्री का प्रकाशन करती रही है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित प्रस्तुत विशेषांक के कुछ सुधी एवं विश्वविख्यात लेखकों में प्रो० हुमायून कबिर, के० एम० पणिक्कर, सी० पी० रामस्वामी अय्यर, के० ए० नीलकंठ शास्त्री, पी० सांबमूर्ति, डॉ० मोतीचंद्र, डब्ल्यू० नोले, चार्ल्स फ़ाबरी, ए० के० भट्टाचार्य आदि हैं। 'दृष्टिकोण' के अंतर्गत भारतविद्या संबंधी समस्याओं और आवश्यकताओं पर कुछ लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के अभिमत प्रकाशित किये गये हैं। 'चित्रकला का इतिहास' निश्चित रूप से डॉ० मोतीचंद्र की एक गवेषणात्मक कृति है। द्विजेंद्रनाथ शुक्ल ने 'प्राचीन भारतीय स्थापत्य' में स्थापत्य-कला की सर्वांगीण प्रकृतियों का खुल कर विवेचन किया है। विशेषांक के अनेक लेख मुख्यतः मूल अंग्रेजी से अनूदित कर के प्रस्तुत किये गये हैं। और ये अनुवाद बहुत दूर तक स्वाभाविक भी बन पड़े हैं। 'भारत में पुरातत्व और इतिहास' प्राचीन भारतविद्या के मर्मज्ञ डॉ० के० ए० नीलकंठ शास्त्री की महत्वपूर्ण रचना है। चार्ल्स फ़ाबरी और डब्ल्यू० नोले के विचार सचमुच प्रभावपूर्ण हैं और उनका उपस्थापन बहुत ही संतुलित है।

यह अंक प्राच्यविद्या पर अत्यंत मननीय सामग्रियों से पूर्ण है। इसमें दिये गये चित्रों के कुछ प्लेट विशेष महत्वपूर्ण हैं। फिर भी इन सारी विशेषताओं के बावजूद इस विशेषांक में प्रूफ़ की गहरी भूलें रह गयी हैं जिसका उदाहरण इस अंक की साहित्य-समीक्षा के पृष्ठ हैं। 'संस्कृति' जैसी गरिमामयी पत्रिका में इस प्रकार की असतर्कताएँ निश्चित रूप से शोभन नहीं दीखतीं।

—देवप्रकाश गुप्त

ग्राउंड काटेज, १८।३१७ लोदी रोड, नयी दिल्ली-३।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी जगत

प्रचार या व्यभिचार ?

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास। अर्थात्, एक हिंदी प्रचार सभा, जिससे यह बुनियादी अपेक्षा जुड़ी हुई है कि वह अपने संगठनात्मक कार्य तथा बैठकों, सम्मेलनों, समारोहों आदि का संचालन हिंदी के माध्यम से करे। हिंदी का शिक्षण किसी अहिंदीभाषी को उसीकी भाषा में देना एक बात है, और हिंदी-प्रचार का डंका पीटते हुए हर प्रकार के व्यवहार में एक ऐसी भाषा का प्रयोग करना जो हिंदी के आसन पर कुंडली मार कर बैठी हुई है, दूसरी बात। यदि कोई हिंदी प्रचार सभा इस दूसरी स्थिति में पायी जाय तो यह तो ठीक है कि अतिवाद और दुराग्रह से बचने के लिए उसके कर्णधारों की नीयत में खोट का संदेह न किया जाय, पर यह भी संभव न होगा कि उन्हें इतना अबोध मान लिया जाय कि वे अनजान में ही स्वयं अपने लक्ष्य को निरस्त करने में लगे हैं।

अब यदि हिंदी प्रचार का बीड़ा उठाना और अंग्रेज़ी को व्यवहार की भाषा के रूप में बरतना बदनीयती नहीं, और भूल-चूक या अनवधानता भी नहीं, तो क्या है ? पाखंड ?— यह आप खुद सोचें। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास, की ३० अप्रैल १९६४ से १ मई १९६४ तक धारवाड़ में हुई केंद्रीय सभा तथा चार प्रांतीय सभाओं की कार्यसमितियों की संयुक्त बैठक की कार्यवाही के विवरण की एक प्रति श्री बदरीविशाल पित्ती के एक पत्र के साथ प्राप्त हुई है। चार पृष्ठों का यह विवरण अंग्रेज़ी में है और इस पर पित्ती जी का पत्र इस प्रकार है :

प्रिय राव साहब,

हिंदी प्रचार का नाम ले कर हिंदी के साथ व्यभिचार करने वाली संस्थाओं का एक नमूना है दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा। प्रमाण संलग्न है। अपना काम अंग्रेज़ी में चलाने वाली यह संस्था इतनी बेशरम हो गयी है कि कुछ और कहना अपने लिए शरम की बात लगती है। बहरहाल स्थिति यह है।

आशा है, सानंद हैं।

आपका,
बदरीविशाल
संपादक 'कल्पना',
हैदराबाद।

ये अनुवाद, ये शीर्षक

वैसे तो राष्ट्रभाषा हिंदी के भावी रूप का जन्म हर हिंदी बोलने वाले की ज़बान पर हो रहा है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर उसके विवेकसम्मत वैज्ञानिक रूपायन का दायित्व हिंदी के लेखकों और पत्रकारों तथा दफ़्तरों के क़लम चलाने वाले कर्मचारियों पर ही पड़ता है। इनमें भी पत्रकार पर यह ज़िम्मेदारी सबसे अधिक है। इस ज़िम्मेदारी के निर्वाह के लिए बड़े पैमाने पर जिस प्रकार के समन्वय और सुयोजन की तथा कार्यगत परिस्थितियों की अपेक्षा है, उनके अभाव को नज़रअंदाज न कर सकने के कारण हम इस संदर्भ में हास्यास्पद स्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर क्लेश और परिताप का अनुभव करने को विवश हो जाते हैं। ऐसी क्लेशकर हास्यास्पद स्थितियाँ हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं— विशेषतः दैनिक समाचारपत्रों में—आये दिन देखने को मिलती हैं। नीचे कुछ समाचार पत्रों से शीर्षकों और अनुवादों के नमूने पेश किये जाते हैं :

१ : **"अब्दुल्ला का वक्तव्य दुर्भाग्यपूर्ण : नेहरू"**

—हिंदुस्तान, १५ अप्रेल १९६४।

यहाँ 'अनफ़ार्च्युनेट' का अनुवाद 'दुर्भाग्यपूर्ण' किया गया है। शायद 'दुखद' नहीं सूझा।

२ : **"फौजी चौकियाँ छोड़ने पर चीन से वार्ता संभव"**

—वहीं।

छोड़ने वाला कौन है—भारत या चीन ?

३ : **"विश्वशांति के लिए ख़ुशोव के योगदान की सराहना"**

—नवभारत टाइम्स, १९ अप्रेल १९६४।

अर्थात्, ख़ुशोव को योगदान की विश्वशांति के लिए सराहना ? या विश्वशांति में ख़ुशोव के योगदान की सराहना ?

४ : **"पूर्वी पाकिस्तान में जनमत संग्रह का सादिक का सुझाव"; "सामूहिक आव्रजन का श्री कामत का सुझाव, सरकारी नीति की आलोचना"; "बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'उर्मिला' की सीता"; "सूरदास के रामायण के पात्र"।**

—आज, १९ अप्रैल, १९६४।

यहाँ 'का', 'के', 'की' की झड़ी देखने लायक़ है।

५ : **"चीनियों के दमन से लद्दाखी मुसलमानों का तिब्बत से पलायन"**

—हिंदुस्तान, १९ अप्रैल १९६४।

दमन चीनियों का हुआ या चीनियों द्वारा हुआ ?

६ : **"प्राथमिक बालक प्यासे मरने को बाध्य"**

—वहीं।

'प्राथमिक'?—मतलब, प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ने वाला ? और बाध्य ?—मतलब विवश ?

७ : **"पश्चि० बंगाल में भयंकर खाद्य संकट पैदा होने की आशा"—भारत, ९ मई १९६४।**

'पश्चि०' 'पश्चिमी' का लघु रूप है। होगा ही। पर यह भली 'आशा' तो भला पैदा हुई कहीं।

८ : **'वर किल्ड'** का हिंदी-अनुवाद **'मारे गये'** सिर्फ़ अखबारों में ही नहीं, 'आकाशवाणी' पर हर जानलेवा दुर्घटना की ख़बर में सुन सकते हैं। 'आकाशवाणी' की भाषा में दीवाल गिरने से या नदी की बाढ़ से आदमी 'मरते' नहीं, 'मारे जाते' हैं।

९ : अनुवाद के दो ख़ूबसूरत नमूने :

(क) टु बुलीज फ़ेल आउट=दो साँड़ बाहर गिर पड़े। (ख) फ़ुली डेवेलप्ड टाइगर=पूर्ण विकसित शेर।

पर इन नमूनों और उदाहरणों के आधार पर हिंदी के रूपायन की भावी दिशा के बारे में सोचने लगना अप्रिय होने के कारण ही अवांछनीय होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ी का अध्यात्म

आज भाषा और शिक्षा के नाम पर भारत में जो धाँधली और भ्रांति है, उस पर गत २ मई के 'स्टेट्स्मैन' में प्रकाशित श्री माल्कम मगरिज से ली गयी एक भेंट से अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे ४० वर्ष पूर्व केरल में एक अध्यापक हो कर आये थे। फिर 'स्टेट्स्मैन' के संपादकीय विभाग में काम करने लगे। ४० वर्ष बाद भारत आने पर उन्हें कैसा लगा, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा : **"आज जब मैं अतीत पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे लगता है कि अंग्रेज़ी शिक्षा यहाँ कितनी विफल रही है। पागलों की तरह हम यह देखना ही भूल गये कि उसका परिणाम क्या हो रहा है। हम भारतीयों के दिमाग़ में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध के एकदम खोखले उदारवाद के बीज बो रहे थे। भारत के संपन्न वर्ग ने इसे अपनी परंपरा का अंग बना लिया, जब कि दूसरे इससे कहीं बढ़ चुके थे।"** आगे उन्होंने वर्तमान स्थिति को **"ब्रिटिश राज का ही प्रतिरूप"** बताते हुए उसके वाहक **"मौजूदा संपन्न वर्ग की समाप्ति"** का संदेश दिया है। उनके शब्दों में **"इससे कुछ गड़बड़ी शुरू होगी, पर फिर आपका देश हमारी आध्यात्मिक दासता से मुक्त हो जायगा।"**

जो लोग अंग्रेज़ी के गीत गाते नहीं थकते, जो अंग्रेज़ी शिक्षा के बरदानों को बढ़ा-चढ़ा कर आत्मप्रशंसा करते नहीं लजाते, उन्हें उपर्युक्त पंक्तियाँ ध्यान से पढ़नी चाहिए। हिंदी के पीछे जो भारत की अक्षुण्ण सांस्कृतिक परंपरा है, उसे अस्वीकार करना स्पष्टतया अंग्रेज़ी की इस मानसिक ग़ुलामी का ही परिचायक है।

स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी और डाक टिकट

इसी वर्ष की १५ मई को देश के विभिन्न भागों में आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जन्म-शताब्दी बड़े समारोहपूर्वक मनायी गयी थी। इस अवसर पर गण्यमान्य विद्वानों ने द्विवेदी जी की सेवाओं का स्मरण करते हुए उनके महत्व पर प्रकाश डाला था। आकाशवाणी से भी एक ख़ासा अच्छा कार्यक्रम प्रसारित किया गया था। हाँ, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने इस बात पर खेद भी प्रकट किया कि जब बहुत से सामान्य व्यक्तियों की स्मृति में भी डाक-टिकट जारी किये गये, तो द्विवेदी-जैसे युग-निर्माता को क्यों भुला दिया गया।

राजधानी में आयोजित सभा में 'दिनकर' जी ने बताया कि जब उन्होंने इस संबंध में डाक और तार-मंत्रालय को लिखा, तो उन्हें यह टका-सा जवाब दे दिया गया कि सूचना देर से मिलने के कारण समय पर ऐसा कर पाना संभव न था! काशी में हुई सभा में, जिसमें भारत-सरकार के शिक्षा उपमंत्री श्री भक्तदर्शन भी उपस्थित थे, बताया गया कि फ़िलेटेलिक सोसाइटी को इसके लिए मार्च में कहा गया था (अतएव अब यह टिकट अगले वर्ष जारी किया जायगा)। अगर हमारी सूचना ग़लत नहीं है, तो यह सवाल पूरे ढाई महीने पहले उठाया गया था और द्विवेदी जी का एक अच्छा-सा चित्र भी अधिकारियों के पास भेज दिया गया था। इस पर भी जो यह अकर्मण्यता दिखलायी गयी, उसके दो कारण हो सकते हैं : एक तो संबंधित अधिकारियों की अयोग्यता और लालफ़ीताशाही की कृपा, और दूसरे हिंदीसेवी होने के नाते द्विवेदी जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की, उनके कार्य की गुरुता और महत्व की उपेक्षा।

इस संदर्भ में यह कह देना आवश्यक है कि द्विवेदी जी कोरे लेखक या संपादक ही नहीं थे, उन्होंने मानव की मौलिक स्वतंत्रता और समाजवादी विचारों के प्रचार के लिए आज से आधी शताब्दी पूर्व जॉन स्टुअर्ट मिल के 'लिबर्टी' प्रबंध का अनुवाद किया था, जिसके कारण वे तत्कालीन अंग्रेज़ी अधिकारियों के कोप-भाजन हुए थे। स्वयं द्विवेदी जी ने संभवतः इसका कहीं उल्लेख तक नहीं किया। इसका उल्लेख सिर्फ़ खुफ़िया पुलिस द्वारा भारत-सरकार को भेजी जाने वाली प्रादेशिक डायरी में किया गया है।

आकाशवाणी और हिंदी

पिछले आम चुनाव के बाद से सूचना और प्रसारण मंत्रालय के तीन मंत्री और इससे दुगुने सचिव रह चुके हैं। पहले मंत्री श्री गोपाल रेड्डी ने स्वर्गीय नेहरू जी के एक सामान्य से संकेत को महादेश मान कर 'हिंदी के सरलीकरण' की जो अवांछनीय और अनुचित चेष्टा की, उसके दुष्परिणाम सामने आ चुके हैं। दूसरे मंत्री श्री सत्यनारायण सिंह हिंदी-संस्कृत के ज्ञाता थे और उनके पदारूढ़ होने से कुछ आशा बँधी थी, पर दुर्भाग्यवश उनका कार्य-काल बड़ा ही स्वल्प रहा। अब तीसरी मंत्री हुई हैं श्रीमती इंदिरा गांधी। गत ८ अगस्त के 'नवभारत टाइम्स' में छपे एक संवाद के अनुसार इंदिरा जी आकाशवाणी के कार्यक्रमों को जो नया रूप देने जा रही हैं, उनमें 'रेडियो की भाषा-संबंधी नीति को भी एक नया व्यावहारिक रूप देने' का उल्लेख है।

सुनने में यह बात बड़ी अच्छी लगती है। पर प्रश्न होता है कि क्या आकाशवाणी की हिंदी-संबंधी कोई सुनिश्चित नीति है? आकाशवाणी से हिंदी के अतिरिक्त भारत की १३ अन्य भाषाओं में ही नहीं, लगभग पौन दर्जन अन्य भाषाओं में भी कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। इन सब कार्यक्रमों में संबंधित भाषा के उसी रूप का प्रयोग होता है, जो उसके बोलने वालों में प्रचलित है तथा जिसमें उस भाषा के पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। अपवाद अगर कोई है, तो केवल हिंदी। जो हिंदी नहीं जानते, जिन्होंने नियमानुसार कभी हिंदी पढ़ी नहीं, वे न सिर्फ़ हिंदी के बारे में अनर्गल टीका-टिप्पणियाँ ही करते हैं, वरन उसे सुधारने और सरल बनाने की दिशा में कृत-संकल्प भी हो जाते हैं। हिंदी का जैसे कोई धनी-धोरी ही नहीं। जब उर्दू भाषा में स्वतंत्र कार्यक्रम प्रसारित होते हैं, तब हिंदी में उर्दू ठूँस कर उसे सरल बनाने का दुर्मुखतापूर्ण प्रयास क्यों? हमें आशंका है कि कहीं इंदिरा जी के मंत्रित्व-काल में भी श्री रेड्डी की तरह यह ग़लती दोहरायी न जाय। इस संबंध में उन्हें अपने विश्वास के हिंदी विद्वानों (सरकारी चाकर 'हिंदी-विशेषज्ञों' या 'सलाहकारों' नहीं) से परामर्श कर के ही कोई नीति निर्धारित करनी चाहिए। आकाशवाणी में हिंदी को भारत की १४ राष्ट्रीय भाषाओं में से केवल एक बना कर उसके राष्ट्रभाषा-रूप को दबाना आकाशवाणी या देश के लिए शुभ और कल्याणकारी नहीं होगा।

—सात्यकि

● ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिमत और प्रतिक्रियाएँ

● इतने अल्प समय में 'माध्यम' ने हिंदी मासिक साहित्य में सम्मान का स्थान बना लिया है। **—चंद्रगुप्त विद्यालंकार, संपादक, सारिका।**

● आपकी रूस यात्रा 'माध्यम' में पढ़ी। आपने यह उचित ही किया कि प्रत्येक स्थान पर हिंदी में ही भाषण दिये और हिंदी में ही वार्तालाप किया। 'माध्यम' खूब निकल रहा है, आज के साहित्य और साहित्यकार के चिंतन से पाठक का सहज परिचय हो जाता है और वह स्वयं सोचने-विचारने के लिए अनुप्रेरित होता है।

—विनयमोहन शर्मा,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

● 'माध्यम' बहुत अच्छा निकल रहा है। सबसे अच्छी बात यह है कि समीक्षा का काम इससे 'सीरियस' माना जाता है।

—हरिशंकर परसाई, जबलपुर।

● बड़ी प्रसन्नता हुई, अपनी कल्पना के अनुरूप हो 'माध्यम' की उच्च स्तरीय सुरुचिसंपन्नता तथा सामग्री-चयन-कलन की श्रेष्ठता देख कर।

—कृष्णचंद्र मिश्र,
जनकपुर धाम (नेपाल)।

● पत्रिका के तीसरे और चौथे अंक मुझे विशेष प्रभावशाली लगे हैं। लगता है, 'माध्यम' उत्तरोत्तर हमारे लिए अनिवार्य हो जायेगा। अंक तीन में ओमप्रकाश दीपक का लेख और चार में 'युद्ध और कविता' (श्रीराम वर्मा) प्रशंसनीय रचनाएँ हैं। **—ज्ञानरंजन, जबलपुर।**

● चिंतन तथा विचारप्रधान हिंदी मासिक पत्रिकाओं में 'माध्यम' का स्थान 'कनिष्ठका-धिष्ठित कालिदासः' है। 'रूस में अठारह दिन' काफ़ी दिलचस्प रहा इसलिए भी कि आपने अपनी यात्रा में हिंदी का ही प्रयोग किया है। **—हनुमच्छास्त्री, अलीगढ़।**

● 'माध्यम' बराबर मिल रहा है और यहाँ उसकी काफ़ी चर्चा है। चर्चा अच्छी है।

—शकुंत माथुर, जालंधर।

● हिंदी में साहित्यिक पत्रिका की कमी आपके माध्यम से दूर हो गयी। अगस्त मास के माध्यम में 'यह पथ बंधु था' उपन्यास की विवेचना श्री नेमिचंद्र जी ने खूब जम कर की है। श्री दुष्यंतकुमार एवं सच्चिदानंद सिन्हा की रचनाएँ खूब सशक्त हैं।

—प्रो० विजय बापट, ग्वालियर।

● 'माध्यम' का तीसरा अंक कल मिला : एक पारदर्शी स्फटिक की वेदी में खुलते सुवर्णिमा के नव-नवीन लोक।

—वीरेंद्रकुमार जैन, बंबई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

● 'माध्यम' के अंक देख कर संतुष्ट हुई। सुरुचि और सौष्ठव से संपन्न इस पत्रिका के उत्तरोत्तर विकास की संभावनाएँ स्पष्ट हैं।
—आशा रानी व्होरा, नयी दिल्ली।

● हिंदी साहित्य में उच्च साहित्यिक अभिरुचि निर्माण करने वाली यह मासिक पत्रिका निःसंदेह हिंदी साहित्य का गौरव है।
—पं० रचनलाल के० सोनग्रा, अहमदनगर।

● 'माध्यम' का स्तर, विषय संग्रह व सज-धज प्रशंसनीय है।
—एस० महालिंगम,
प्रधान मंत्री,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास।

● निश्चय ही 'माध्यम' की सामग्री अधिक विचारपूर्ण तथा विभिन्न साहित्यिक आयामों से संश्लिष्ट सुरुचिपूर्ण निकल रही है।
—जगदीश चतुर्वेदी, नयी दिल्ली।

● 'माध्यम' का अगस्त अंक देखने को मिला। सामग्री के चयन, संपादन एवं प्रस्तुतिकरण में सुरुचि का आभास मिलता है।
—सुरेश सिन्हा, नयी दिल्ली।

● 'माध्यम' के अंक मिलते रहे हैं। उत्कृष्टता का धरातल बना हुआ है। उच्च कोटि की पाठ्य सामग्री प्रत्येक अंक में उपलब्ध हो रही है।
—सिद्धनाथ कुमार, राँची।

● 'माध्यम' देखा। लगा, यह उस कमी को पूरा करेगा जो इतनी पत्रिकाओं के होते हुए भी खलती है।
—घनश्याम सेठी, श्रीनगर।

● मुझे यह जान कर बहुत प्रसन्नता हुई कि 'सहवर्ती साहित्य' स्तंभ के अंतर्गत ही आप अनुवादों को सीमित रखने का प्रयास कर रहे हैं। यह बहुत अच्छी बात है, अन्यथा हिंदी में घिसी-घिसायी रचनाओं के अनुवाद धड़ल्ले से छपते रहते हैं।
—कमल जोशी, जमशेदपुर।

● इस दुर्लभ प्रकाशन के लिए मुझ अकिंचन की अनेकानेक बधाइयाँ स्वीकार कीजिए।
—बृजमोहन शर्मा, इंदौर।

● 'माध्यम' के तीन अंक आज तक मुझे देखने को मिले जो सभी पसंद आये। प्रत्येक की सामग्री सुरुचिपूर्ण और संग्रहणीय है तथा पत्र का रूप क्रमशः निखरता सा जा रहा है।
—परशुराम चतुर्वेदी, बलिया।

● 'माध्यम' सचमुच बहुत बढ़िया जा रहा है।
—रमासिंह, जोधपुर।

● 'माध्यम' खूब चमक रहा है।
—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', पटना।

● बड़ी आशाएँ बँधती हैं इस पत्रिका से। इसका वैविध्य, गांभीर्य और ताजगी आकर्षक हैं। विशेषतया 'सहवर्ती साहित्य' और 'विवेचना' स्तंभ काफ़ी जानदार हैं। अगस्त अंक में उदयमान मिश्र की 'गीत' वाली टिप्पणी बहुत संतुलित है। वास्तव में गीतों को तुक, ताल और छंद के आधार पर पुरानी कह कर बहिष्कृत कर देना असाहित्यिक दृष्टि है। चेतना के आधार पर उनका मूल्यांकन होना चाहिए। शमशेर जी प्रायः अपने विचारों में अतिवादी और दो असंगत छोरों पर खड़े दिखे हैं।
—रामदरश मिश्र, नयी दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ति-स्वीकार

निम्नलिखित पुस्तकें 'माध्यम' में समीक्षार्थ प्राप्त हुईं :

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

(१) आधुनिक हिंदी कविता : सिद्धांत और समीक्षा
(२) अंतिम पत्र
(३) गोली
(४) ठकुरानी
(५) झिलमिलाते सितारे

ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी

(१) भाषाविज्ञान कोश
(२) हिंदी साहित्य कोश (भाग २)

पी०सी०द्वादशश्रेणी कं० (प्रा०) लि०, इलाहाबाद

(१) आधुनिक उर्दू काव्य-साहित्य

अपरा प्रकाशन, कलकत्ता

(१) टूटती इकाइयाँ
(२) एक आलोचक की नोटबुक

भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

(१) हम सब और वह
(२) बीजुरी काजल आँज रही
(३) एक बूंद सहसा उछली
(४) काठ की घंटियाँ
(५) महाश्रमण सुनें उनकी परंपराएँ सुनें
(६) खोयी हुई दिशाएँ
(७) हरी घाटी
(८) वीणापाणि के कंपाउंड में
(९) अर्धशती
(१०) मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ
(११) जैसे उनके दिन फिरे

हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

(१) बादलों के आरपार
(२) सात उपन्यास, सात कहानियाँ
(३) सीताराम
(४) मीठी लगन
(५) धर्मचेता
(६) गुलाब कुमारी
(७) झाँसी की रानी
(८) स्त्री-रोग-चिकित्सा
(९) रजतपट के प्रणय गीत
(१०) झाड़ फानूस
(११) कथा सूर्य की नयी यात्रा
(१२) प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी

चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी

(१) परिक्रमा
(२) चित्र और चिंतन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय विद्या भवन की हिन्दी पाक्षिक पत्रिका

भारती

[भवन की पत्रिका]

अब सर्वस्वीकृत रूप से हिन्दी की एकमात्र सांस्कृतिक पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी है। उसे पढ़ना आपके लिए अनिवार्य है; क्योंकि :

- 'भारती' भारतीय धर्म, अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, लोक-जीवन, संस्कृति और साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका होने के नाते, केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं है। उसमें भारत के सभी प्रदेशों और भाषाओं के प्रतिनिधि कवियों, कथाकारों और विचारकों की कृतियों का समावेश होता है।
- हमारी दृढ़ प्रतीति है, कि आज की मरणोन्मुख मानवता का परित्राण भारत माँ के हाथों ही होगा। विश्व-मानवता के आगामी विकास का नेतृत्व भारत ही करेगा। इसीसे **'भारती'** के पृष्ठों में संसार के सभी विभिन्न देशों के अग्रदूत चिन्ता-स्वामियों, सांस्कृतिक नेताओं, मानव हितैषियों और साहित्यकारों की शक्तिशाली आवाजों का संगम होता है।
- अवतारों, योगियों और महापुरुषों की प्रेरक जीवन कथाएँ; जाने-अनजाने सन्तों, भक्तों, मर्मियों के रोचक जीवन-वृत्त; अलौकिक अनुभवों और दैवी चमत्कारों की सच्ची घटनाओं से संबंधित लेख; मरणोत्तर जीवन, पूर्व जन्म-स्मृति और अगोचर लोकों से सम्पर्क संबंधी खोजपूर्ण लेख; विज्ञान की नवीनतम प्रगति और भावी मानवता के सर्वाङ्गीण विकास के सूचक लेख; तांत्रिक और यौगिक साधना पर वैज्ञानिक प्रकाश डालनेवाले लेख तथा धर्म और विज्ञान के समन्वय पर गहन चिन्तन और खोजपूर्ण लेख **'भारती'** के अपने विशेष आकर्षण हैं।
- **'भारती'** ऊँचे स्तर के पाठकों की बौद्धिक भूख तो तृप्त करती ही है, पर वह सबसे पहले सामान्य जन की पत्रिका है। ज्ञान-विज्ञान की ऊँची से ऊँची बात को वह सरल, सुबोध बना कर सामान्य जन तक पहुँचाती है। **'भारती'** की सामग्री एक बारगी ही रोचक, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होती है।
- **'भारती'** का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है।

१ प्रति का मूल्य ३० न. पै.

भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई – ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानोदय

आपके लिए एक आवश्यकता है :

- क्योंकि उसका प्रत्येक अंक सुरुचिपूर्ण साहित्य का भंडार है !
- क्योंकि वह नये युग की नयी निर्माण-चेतना का सरस प्रबुद्ध प्रतिनिधि है !
- क्योंकि उसका हर पृष्ठ आकर्षक, पठनीय, संग्रहणीय है !

और अब तो

ज्ञानोदय की इसी कड़ी का नवीन रूप आपके लिए एक अनिवार्यता होगा :

- क्योंकि उसका प्रत्येक अंक अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ आधुनिक भावबोध तथा कला-संचेतना का प्रतिनिधि है !
- क्योंकि देश-विदेश की नवीनतम रचनाएँ तथा ज्ञान-विज्ञान की दिशा-उपदिशा प्रत्येक अंक में संग्रहीत होती हैं !
- क्योंकि ज्ञानोदय समग्र साहित्य, बौद्धिक संतुष्टि, चर्चा-परिचर्चा और नवीनता का पर्याय है !

सितंबर १९६४ से

प्रत्येक साधारण अंक की विशेष सामग्री :

- **किसी एक की उलझन :** किसी विशेष उपन्यास पर आधारित नये लेखक की चार्जशीट और उपन्यासकार द्वारा समाधान !
- **अनुचिंतन :** जीवन की बौद्धिक प्रक्रिया पर विचारोत्तेजक लेख !
- **सापेक्ष डायरी :** नयी पीढ़ी का मौलिक चिंतन !
- **एक स्तंभ भर व्यंग्य !**
- **विदेशी साहित्य के ताज़े अनुवाद !**
- **नयी से नयी कविताएँ !**
- **पाँच से सात तक नयी कहानियाँ !**
- **धारावाहिक उपन्यास !**
- **समीक्षा !**
- **पत्र-प्रतिक्रिया !**

वार्षिक मूल्य १०·००; एक प्रति का १·००

संपादकीय कार्यालय :

ज्ञानोदय, ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता - २७

वितरण कार्यालय : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी - ५

सोल सेलिंग एजेन्ट्स : बेनेट कोलमैन एण्ड कंपनी, बंबई - १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

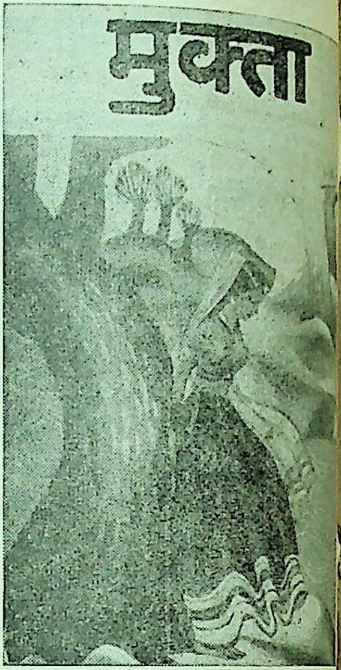

क्या आप

मुक्ता से

पूरी तरह परिचित हैं ?

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखाजोखा—जो हिंदी की किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य—जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठाएगा। ज्ञानविज्ञान के नये-नये विषयों पर बिल्कुल नयी सामग्री—जो आप को आधुनिक बनाए रखने में सबसे अधिक योग देगी।

सरिता सामाजिक पुर्ननिर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक मुक्ता राजनीति, कला व ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में

आज ही नमूने की प्रति के लिए निम्न पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झांसी रोड • नयी दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी पत्रकारिता का नवीन प्रकाश-पुंज

केन्द्र

साहित्य-समाज और संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक

संपादक : योगेंद्रकुमार लल्ला

प्रत्येक अंक में प्रस्तुत करता है :—

● श्रेष्ठ कहानियाँ ● हृदयस्पर्शी कविताएँ ● ज्ञानवर्धक तथा मनोरंजक लेख और प्रणय-प्रसंग ● मीठे करेले ● दुनिया न माने ● चिंतन-कक्ष ● इस दशक की विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि जैसे स्थायी स्तंभ।

मूल्य एक प्रति : ७५ पैसे ; एक वर्ष : आठ रुपये।
नमूने की प्रति के लिए ७५ पैसे के डाक-टिकट भेजें।

केन्द्र

५७ दरियागंज, दिल्ली–६

श्री मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर

की

मासिक मुख-पत्रिका

वार्षिक मूल्य ५) -- **वीणा** -- एक प्रति ५० पै.

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उत्तर प्रदेश की शिक्षा संस्थाओं के लिए स्वीकृत।

जो पिछले ३७ वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित हो कर हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा कर रही है। भारत की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इसका उच्च स्थान है।

साहित्य के विभिन्न अंगों पर तथ्यपूर्ण एवं गम्भीर प्रकाश डालने वाले लेख तथा परीक्षोपयोगी विषयों पर आलोचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित करना इसकी प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तमा (रत्न) तथा बी० ए० और एम० ए० के छात्रों के लिए इसके निबंध अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

"वीणा" का भारत में सर्वत्र प्रचार है!

ज्ञान-वृद्धि के लिए वीणा अनुपम साधन है!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मेलन के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य
१. प्रेमघन सर्वस्व भाग १, २	श्री दिनेशनारायण उपाध्याय	१० रु० प्रति
२. शिशुपाल वध (महाकाव्य)	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	८ रु०
३. मत्स्यपुराण	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	२० रु०
४. वायुपुराण	अनु० श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	१२ रु०
५. पुराणों में गंगा	सम्पा० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री	३.५० रु०
६. क्रान्तिकारी तुलसी	श्री नारायणसिंह वकील	१० रु०
७. मार्क्स और गांधी का साम्य दर्शन	श्री नारायणसिंह वकील	१५ रु०
८. मानक हिन्दी कोश [भाग १]	सम्पा० रामचन्द्र वर्मा	२५ रु०
९. मानक हिन्दी कोश [भाग २]	सम्पा० रामचन्द्र वर्मा	२५ रु०
१०. प्रत्यक्ष शारीर कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	८ रु०
११. जीव रसायन कोश	सम्पा० डा० ब्रजकिशोर मालवीय	६ रु०
१२. चिकित्सा विज्ञान कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	७.५० रु०
१३. भूतत्व विज्ञान कोश	सम्पा० एस० सी० सेनगुप्त	२.२० रु०
१४. साहित्य और कला	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	२.५० रु०
१५. रस और रसास्वादन	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	४.५० रु०
१६. हार	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	१० रु०
१७. आधुनिक कवि भाग ७	डा० हरिवंशराय बच्चन	३ रु०
१८. आधुनिक कवि भाग ८	स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी	३ रु०
१९. आधुनिक कवि भाग ९	श्री नरेन्द्र शर्मा	३ रु०
२०. गीताऽमृत	श्री शिवकुमार मिश्र 'मयूर'	३ रु०
२१. कवि कालिदास	स्व० श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी	१.२५ रु०
२२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१२ रु०
२३. पालि साहित्य का इतिहास	डा० भरतसिंह उपाध्याय	१५ रु०
२४. रसशास्त्र	श्री अत्रिदेव विद्यालंकार	७ रु०
२५. प्रबोध चंद्रोदय और उसकी हिन्दी परंपरा	डा० सरोज अग्रवाल	१० रु०
२६. सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी	सम्पा० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	४ रु०
२७. हिन्दी भाषा आन्दोलन	डा० सेठ गोविन्ददास	९ रु०
२८. कुतुबनकृत मृगावती	डा० शिवगोपाल मिश्र	६ रु०
२९. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास	डा० श्रीराम शर्मा	१२ रु०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी
भारत सरकार की ओर से

माध्यम

वर्ष १ : अंक ७
निमित्तमात्रं भव नवंबर १९६४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

लेख

भारतीय भाषाएँ : विकास की समस्याएँ और समाधान	३	भगीरथ मिश्र
सृजन-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद	१०	विश्वंभरनाथ उपाध्याय
हिंदी नवगीत	१६	वीरेंद्र मिश्र
अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना	२९	स्व० गजानन माधव मुक्तिबोध
दो स्मृति-संदर्भ	५२	रमेश गौड़; प्रभाकर माचवे
प्रचार या व्यभिचार ? : उत्तर	१०७	आर० शौरिराजन

कविताएँ

ढलती रात	८	अंचल
जरूरतों के नाम पर	९	कुँवर नारायण
दो कविताएँ	२०	श्याम सुंदर घोष
चार कविताएँ	२२	अवध नारायण मुद्गल

स्केच और कहानियाँ

आखिरी बुरक़ा	२४	अनंत
लखनऊ	३५	श्रीलाल शुक्ल
सुबह होने तक	४१	सुरेश सिनहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

का आठवाँ अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'सहवर्ती साहित्य' के अंतर्गत सिंधी की चुनी हुई रचनाओं के अनुवाद।
- अश्क के 'शहर में घूमता आईना' पर डॉ० बच्चन सिंह लिखित विस्तृत विवेचना।
- 'प्रत्यालोचन-पुनर्विचार' के अंतर्गत श्याम परमार और अमीक़ हनफ़ी की अत्यंत विचारोत्तेजक रचनाएँ।
- ज्योत्सना देवधर की कहानी।
- श्रीकांत वर्मा, कृष्णनंदन 'पीयूष' आदि की कविताएँ।
- गंगाप्रसाद पांडेय आदि के लेख।

सहवर्ती साहित्य

मलयालम साहित्य	५९	रवि वर्मा
विश्वदर्शन (कविता)	६३	जी० शंकर कुरुप
सेतु (कहानी)	६६	एस० के० पोट्टेकाट

विवेचना

एक साहित्यिक की डायरी	७९	नामवर सिंह
'विवेचना' में 'एक साहित्यिक की डायरी'	८७	विवेचक
एक इंच मुस्कान	९१	गंगाप्रसाद मिश्र
एक कंठ विषपायी	९६	मलयज

प्रतिपत्तिका

नयी कहानी : टिप्पणी	१०१	अशोक वाजपेयी

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

आवरण-चित्र : लक्ष्मीचंद्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय भाषाएँ
विकास की समस्याएँ और समाधान

●●

भगीरथ मिश्र

भारतीय भाषाओं के विकास के प्रसंग में सबसे प्रमुख और सबसे प्रथम समस्या उनकी स्थिति और पद की है। उनकी स्थिति अपने ही देश और प्रदेशों में एक दासी की स्थिति के समान है। देश के अधिकांश काम-काज में उनका प्रयोग होते हुए भी उनको वह पद प्राप्त नहीं है जो होना चाहिए। जिस प्रकार एक दासी घर का सारा काम-काज करती है और घर की सबसे अधिक जानकारी भी उसको रहती है, फिर भी उसका स्वामित्व किसी बात पर नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार की स्थिति आज हमारी भारतीय भाषाओं की अपने ही घर तथा प्रदेशों में है। यह एक अस्वाभाविक, निंदनीय और आश्चर्यजनक बात है कि भारत की इतनी समृद्ध और संपन्न भाषाओं के होते हुए भी शासन और स्वामित्व के सभी अधिकार एक विदेशी भाषा के हाथ में हैं। इस अशोभनीय वर्तमान स्थिति को बनाये रखने में दुहाई यह दी जाती है कि अभी भारतीय भाषाएँ विकसित नहीं हैं और उनका साहित्य संपन्न नहीं है; उनमें वैज्ञानिक साहित्य की बहुत बड़ी कमी है और पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है। यह बात ऐसी ही है जैसे हम किसी वृक्ष या पौधे की जड़ से मिट्टी निकालते जायें और उसे पानी भी न दें और यह कहें कि इसमें सुंदर फूल और पुष्ट फल नहीं लगते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय भाषाओं की मूल और प्रमुख समस्या उनकी स्थिति और पद की समस्या है।

भारत की १४-१५ भाषाओं में सत्व और जीवंत शक्ति है इसमें किसी को भी अविश्वास न होगा। इतने दिनों तक राजकीय शासन अधिकारियों और प्रतिष्ठा-प्राप्त बौद्धिकों द्वारा प्रायः उपेक्षित होने पर भी इन भाषाओं का विकास विविध दिशाओं में होता रहा है। ज्ञान और सामाजिक जीवन के जिन क्षेत्रों में इनका व्यवहार हुआ है उनसे संबंधित उत्तमोत्तम साहित्य की रचनाएँ इन भाषाओं में पायी जाती हैं। इनके साहित्य के इतिहासों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके लेखकों में रचनात्मक प्रतिभा, बौद्धिकता और मनीषिता की कमी नहीं है। उल्लिखित क्षेत्रों में उत्तमोत्तम, यहाँ तक कि विश्व-साहित्य के स्तर के, अनेक अद्वितीय ग्रंथ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वे भी न केवल आधुनिक युग से, वरन प्राचीन काल से हमें प्राप्त होते हैं। नितांत उपेक्षा और निराश्रयता के मध्य इन भाषाओं और उनके साहित्य का विकास कभी-कभी आश्चर्य में डाल देता है। काफ़ी समय तक, जब कि संस्कृत और प्राकृत का बोलबाला था, इन भाषाओं में पंडितों द्वारा ग्रंथ लिखना हेय समझा जाता था और जो इन भाषाओं में लिखते थे वे भी प्रायः उपेक्षित ही समझे जाते थे। इसलिए इन भाषाओं में लिखने वाले और जन-सामान्य तक अपने अनुभव और ज्ञान को पहुँचाने वाले विद्यापति, कबीर, तुकाराम जैसे कवियों और संतों को कहना पड़ा कि **'देशी भाषा सबको अच्छी लगती है', 'वह बहते नीर के समान है'** और **'अगर संस्कृत देवताओं की भाषा है तो मराठी भाषा क्या चोरों की भाषा है ?'** आदि-आदि। इन कथनों में इनका संस्कृत के प्रति कोई दुर्भाव या अश्रद्धा प्रकट नहीं है, वरन यही ध्वनित है कि ये भाषाएँ उपेक्षित थीं और कतिपय विद्वानों और अधिकारियों का वह उपेक्षा का भाव प्राचीन समय में भी था। यही कारण है कि 'पृथ्वीराज विजय' और 'शिवभारत' जैसे संस्कृत ग्रंथों में चंद और भूषण जैसे कवियों का उल्लेख नहीं मिलता और केशवदास जैसे संस्कृत के विद्वान को भी भाषा में ग्रंथ लिखते समय लज्जा का अनुभव हुआ। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास सरीखे अप्रतिम प्रतिभा-संपन्न और मनीषी भक्त कवि को यह लिखना पड़ा कि––**'भाषा भनिति भोरि मति मोरी।'**

फिर भी यह संतोष का विषय है कि विद्यापति, कबीर, नानक, नरसी, ज्ञानेश्वर, नामदेव, कंब, गोनबुद्धा, नरहरि, कृत्तिवास आदि ने सामयिक आवश्यकतावश भाषा में लिखना स्वीकार किया जब कि ये सभी कवि संस्कृत में निष्णात थे। इतना ही नहीं, आवश्यक और बहुसंख्यक संस्कृत ग्रंथों का भाषानुवाद भी ख़ूब हुआ। इस प्रकार, मध्ययुग की भारतीय जनता को उन्होंने संस्कृत के अगाध स्रोत से अपने अनुभव और प्रतिभा के माध्यम से साहित्य की सहस्रधारा प्रदान की। परंतु क्षोभ का विषय है कि आज हमारे विभिन्न विषयों के भारतीय विद्वान अपनी विद्वत्ता को प्रकट करने का एक मात्र माध्यम अंग्रेज़ी ही मानते हैं। विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि ज्ञान की विविध शाखाओं के भारतीय पंडित अगर पुराने संतों और कवियों की तरह यह निश्चित कर लें कि वे भारतीय भाषाओं में ग्रंथ-रचना करेंगे तो मेरा विश्वास है कि पाँच वर्षों में ही भारतीय भाषाओं में शास्त्रीय साहित्य की कमी दूर हो जायगी। यह विचारने की बात है कि विज्ञान और गणित जैसे उत्कृष्ट विषयों के उच्चतम ग्रंथ यदि विज्ञानी और गणितज्ञ न लिखेंगे तो क्या उनकी रचना इन भाषाओं के कवि और कहानीकार करेंगे ?

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि आज भी हम शासनाधिकारियों और अंग्रेज़ी में लिखने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों की ओर से भारतीय भाषाओं के प्रति घोर उपेक्षा की भावना प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, उपेक्षा रखते हुए भी यह लांछन लगाया जाता है कि इन भाषाओं में साहित्य की, विशेष रूप से वैज्ञानिक साहित्य की, कमी है।

इस समस्या का समाधान एक तो यह है कि हम पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह इन अंग्रेज़ीमोही भारतीय विद्वानों से प्रार्थना करें कि अंग्रेज़ी में लिखने के साथ-साथ ही वे अपनी रचनाओं को भारतीय भाषाओं में भी प्रस्तुत करने की कृपा करें, या उनको अनूदित कर के उपलब्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराने की अनुमति दें। यदि अपने-अपने विषयों के चार-छह विद्वान भी भारतीय भाषाओं में लिखना प्रारंभ कर देंगे तो वैज्ञानिक और तांत्रिक साहित्य की कमी नहीं रहेगी।

इस समस्या को हल करने का दूसरा उपाय यह है कि हम सरकार और जनता की सहायता से प्रमुख स्थानों पर विभिन्न विषयों के ग्रंथों का हिंदी तथा भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने के संस्थान स्थापित करें और उनमें अधिकारी विद्वानों द्वारा आवश्यक ग्रंथों के अनुवाद करा कर उन ग्रंथों को प्रकाशित करायें। इस संबंध में दो बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह है कि इस प्रकार से अनुवाद करने का कार्य देश भर के विभिन्न संस्थानों में होने वाले कार्य से योजनावद्ध और संबद्ध होना चाहिए और, अच्छा हो, यदि इसमें केंद्रीय शासन का निदेशन और साहाय्य प्राप्त हो। ऐसा करने से उच्च और उपयोगी ग्रंथों का देश की विभिन्न भाषाओं और राष्ट्रभाषा में अनुवाद शीघ्र और सुगमता से हो सकेगा और प्रत्येक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र के कार्य की जानकारी भी रहेगी।

दूसरी महत्वपूर्ण वात है पारिभाषिक शब्दावली की। इस विषय में विद्वानों और अधिकारियों में काफ़ी मतभेद है और यह भी एक तथ्य है कि विभिन्न स्थानों में पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण के कार्य चल रहे हैं और विभिन्न भाषाओं में अपनी-अपनी पारिभाषिक शब्दावली बनायी जा रही है। साथ ही, कुछ लोग अंग्रेज़ी शब्दावली के चालू रखने की बात भी कहते हैं। इस संबंध में अच्छा यही है कि हम मूलतः संस्कृत के आधार पर एक सार्वदेशीय पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करें और उसी का प्रयोग और प्रचलन विभिन्न भाषाओं के ग्रंथों में किया जाय। इस प्रसंग में सूचनार्थ निवेदन है कि केंद्रीय हिंदी-निदेशालय के तत्वावधान में इस प्रकार की शब्दावली का निर्माण किया जा चुका है जिसका उपयोग हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ग्रंथ-रचना के लिए किया जा सकता है। कुछ लोग उसका प्रयोग करने के स्थान पर उसमें दोष निकालते हैं। परंतु इस संबंध में मेरा नम्र सुझाव यही है कि प्रयोग होने पर ही दोष दूर किये जा सकते हैं। इस शब्दावली का प्रयोग किया जाय और जहाँ दोष दिखलायी दें उसके स्थान पर अधिक उपयुक्त शब्द खोजे और सुझाये जायँ।

इस प्रसंग में एक बहु-कथित शंका यह रखी जाती है कि विज्ञान बड़ी तेज़ी से उन्नति कर रहा है और यदि हम अंग्रेज़ी ग्रंथों का व्यवहार न करेंगे तो हम उस प्रगति से अपरिचित रह जायँगे और पिछड़ जायँगे। यहाँ मेरा सुझाव यह है कि यदि हमारे भारतीय भाषाओं के अनुवाद-संस्थान समुचित रीति से कार्य करते हैं तो इस आशंका की कोई गुंजाइश नहीं है। इन संस्थानों में हम न केवल अंग्रेज़ी के वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद करेंगे, वरन उच्च कोटि के और नवीन विज्ञान-संबंधी ग्रंथ अन्य विदेशी भाषाओं से अनूदित कर के अपना भंडार भरेंगे। क्योंकि अंग्रेज़ी के साथ-साथ रूसी, फ़्रांसीसी, जर्मन, चेक, जापानी आदि भाषाओं में भी वैज्ञानिक साहित्य का अमूल्य भंडार निरंतर बढ़ रहा है, अतएव हम इस योजना द्वारा विश्व की सभी भाषाओं में उपलब्ध वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान का पूर्ण उपयोग कर सकते हैं।

इस प्रसंग में वस्तुस्थिति कुछ भिन्न-सी है। उल्लिखित कतिपय आशंकाओं से ग्रस्त और कल्पित भयों से भयभीत हो कर हमारे उच्चतम शिक्षा-केंद्रों, विश्वविद्यालयों आदि में बहुमत भारतीय भाषाओं के शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग करने के विरुद्ध है। इस विरोध का कारण शासन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की योजनाबद्ध कार्यप्रणाली का अभाव और निर्भीक दृष्टिकोण की अस्पष्टता है। यदि विश्वविद्यालय वैकल्पिक रूप से ही उच्चतम शिक्षा का माध्यम हिंदी और भारतीय भाषाओं को स्वीकार कर लेते हैं तो चार-पाँच वर्षों के भीतर ही निश्चित रूप से विभिन्न ज्ञान-शाखाओं के ग्रंथों और अध्यापकों का अभाव दूर हो सकता है, और उसके बाद भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा अध्ययन और अध्यापन का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। पर यह कार्य बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। जिन विषयों और जिन कक्षाओं के लिए भारतीय भाषाओं को माध्यम रूप से स्वीकार किया गया है उनमें प्रचुर मात्रा में ग्रंथ उपलब्ध होने लगे हैं और धीरे-धीरे योग्य शिक्षक भी प्राप्त होने लगे हैं।

वास्तव में यह समस्या मुख्यत: साहित्य और समाजशास्त्रीय विषयों की उतनी नहीं है जितनी वैज्ञानिक और प्राविधिक विषयों की। इन क्षेत्रों में बँधी-बँधायी रूढ़ि को तोड़ना एक साहस का काम है और यही कारण है जिससे वैज्ञानिक और प्राविधिक विषयों के साहित्य पर उतने ग्रंथ नहीं मिलते जितने आवश्यक हैं। इस प्रसंग में भी मेरा अपना सुझाव है कि धीरे-धीरे प्राविधिक विषयों की शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से प्रदान करने का कार्य हिंदी-प्रचार-संस्थाओं को अपने हाथ में लेना चाहिए और हिंदी-प्रचार-संस्थाओं को धीरे-धीरे योग्य शिक्षकों के द्वारा, अवकाश के समय, इंजीनियरिंग, कारीगरी तथा प्राविधिक विषय सिखाने का प्रबंध करना चाहिए। इससे एक साथ तीन कार्य सिद्ध होंगे और देश की बेकारी दूर करने में भी सहायता मिलेगी। 'पहला कार्य तो यह होगा कि प्रात: और सायंकाल समय निकालने वाले लोग कुछ कला, प्रविधि और कारीगरी की बातें सीख लेंगे; दूसरा यह कि इन विषयों के भारतीय भाषाओं में पढ़ाने वाले कुशल और दक्ष शिक्षक भी हमें पर्याप्त संख्या में मिलने लगेंगे; और तीसरा कार्य यह होगा कि भारतीय भाषाओं में इन विषयों के ग्रंथ भी उपलब्ध होने लगेंगे। ऐसा करने से हिंदी तथा भारतीय भाषाओं की प्रचार-संस्थाएँ अपने कार्य का एक नया क्षेत्र प्राप्त करेंगी और इसके द्वारा शीघ्र ही जीविका-संबंधी समस्या का भी समाधान हो सकेगा। हिंदी और भारतीय भाषाओं की संस्थाओं के इस कार्य में सरकार तथा धनी-मानी सज्जनों को तथा कला, कारीगरी और प्राविधिक विषयों के शिक्षकों को समुचित रूप से हाथ बँटाना चाहिए और भरपूर सहायता करनी चाहिए।

भारतीय भाषाओं के विकास में बाधक एक दूसरा तत्व यह है कि उनका पठन-पाठन व्यापक, सहज और सानंद रूप से नहीं हो पाता। भारतीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरी भारतीय भाषाओं में लिखित ज्ञान को प्राप्त करें। बहुत से लोग अवकाश के समय ऐसा प्रयत्न भी करते हैं, पर उनके लिए बहुत बड़ी बाधा लिपियों की बहुलता है। अपने-अपने क्षेत्रों में सभी लिपियाँ प्रचलित रहें और जो सीख सकते हैं वे एक से अधिक लिपियाँ सीखें; यह गौरव और प्रसन्नता का विषय है। परंतु, यदि विभिन्न लिपियों में उपलब्ध विविध भारतीय भाषाओं का ज्ञान देवनागरी लिपि में भी उपलब्ध हो सके तो उस भाषा और साहित्य के सीखने में बड़ी सुगमता होगी। भारतीय भाषाओं के प्रचार की विभिन्न संस्थाएँ इस कार्य को यदि अपनायें तो बड़ा लाभ हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संबंध में एक शंका यह उठायी जाती है कि इससे विभिन्न भारतीय भाषाओं की लिपि और भाषा का विकास रुक जायगा। परंतु यह शंका निराधार है; क्योंकि हमारे देश में १४-१५ भाषाओं के बोलने वालों की संख्या काफी है। प्रायः एक-एक भाषा को बोलने वाले उतने लोग हैं जितने कि यूरोप के एक-एक देश में एक भाषा बोलने वाले लोग होंगे। अतः उन पर किसी प्रकार का दुष्परिणाम नहीं हो सकता; वरन इससे प्रत्येक भाषा के साहित्य की पारस्परिक संबंध से समृद्धि ही संभव है, और धीरे-धीरे हमारी आने वाली पीढ़ियाँ बहुभाषी बनती जायेंगी और भिन्नता की दीवारें टूटती जायँगी। परंतु उसके लिए हमें अभी से देवनागरी लिपि में समस्त भाषाओं के ज्ञान को सुलभ करने की योजना बनानी चाहिए।

भारतीय भाषाओं के सर्वांगीण विकास पर जब हम विचार करते हैं तब जिस पक्ष की कमी हमें प्रायः देखने को मिलती है वह उसका वैज्ञानिक और प्राविधिक पक्ष ही है, जिसके संबंध में हम अभी चर्चा कर चुके हैं। इसके साथ ही इनके ललित साहित्य-सर्जन की समस्याएँ भी हमारे सामने आती हैं। इस प्रसंग में हमें कोई विशेष असंतोष का अवसर नहीं है, क्योंकि जहाँ तक हिंदी साहित्य के सर्जन का प्रश्न है, उसके विभिन्न अंगों की प्रगति बड़ी तेज़ी से हो रही है––विशेष रूप से उसके कथा-साहित्य का विकास तो एक सराहनीय प्रगति कर रहा है। इस प्रसंग में जो समस्या प्रमुख रीति से हमारे सामने आती है वह है अश्लील और गंदे या निम्न स्तर के कथा-साहित्य की। किसी भी समाज में जब गंदे और एकांत-पाठ्य साहित्य का प्रचार होता है तब वह उसकी पतनशीलता का द्योतन करता है। साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसको अधिक से अधिक व्यक्तियों के साथ पढ़ा और सुना जा सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस दृष्टि से हिंदी साहित्य के कतिपय पूर्ववर्ती ग्रंथों का आज भी महत्व है––इसलिए नहीं कि उनमें हमारी धार्मिक श्रद्धा को उकसाने का गुण विद्यमान है, वरन इसलिए कि उनके अंतर्गत मानव-जीवन के विकासशील तत्वों का अधिक से अधिक समावेश है। जिस साहित्य में ये तत्व विद्यमान रहते हैं वह साहित्य युगांतरव्यापी होता है और महाकाव्य या महान ग्रंथ की भी यही कसौटी है। इस प्रकार के महान ग्रंथ आधुनिक युग में कम अवश्य हैं परंतु उनका नितांत अभाव नहीं है। वैसे भी महान ग्रंथ किसी भी युग में बहुसंख्यक नहीं होते और आज का युग महान ग्रंथों का युग भी नहीं है, फिर भी जीवन के विकासशील तत्वों की खोज तथा अश्लील और गंदे साहित्य की रोक-थाम के लिए पाठक और विशेष रूप से समालोचक की सजगता आवश्यक है। पर इस पक्ष की थोड़ी कमी हमें महसूस हो रही है। आज़-कल की पत्र-पत्रिकाओं में जिन ग्रंथों की समीक्षाएँ छपती हैं, वे ग्रंथ उतने ही होते हैं जितने उनके पास भेजे जाते हैं; शेष प्रकाशित साहित्य के संबंध में संपादकों और पत्रकारों तथा समीक्षकों का कोई उत्तरदायित्व नहीं जान पड़ता। इस दिशा में मेरा सुझाव यह है कि पत्र-पत्रिकाओं के साथ संबद्ध कतिपय गण्यमान्य समीक्षक होने चाहिए और उन्हें प्रकाशकों से संपर्क स्थापित कर के जितना भी पठनीय साहित्य है उस सभी की निर्भीक और स्पष्ट समीक्षा प्रकाशित करनी चाहिए। यदि हम इस प्रकार की समीक्षा की परंपरा डाल सके तो, मैं समझता हूँ कि, हमारे आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का योजनाबद्ध और संतुलित विकास संभव हो सकता है।

[शेष पृष्ठ ७७ पर]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढलती रात

●

'अंचल'

रुक गये दूर तक बजते ढोल मुरज ताशे
कोटर में केवल कभी चीख़ती भीत खगी
अपनी ही घनी छाँह-सी स्तब्ध विटप-श्रेणी
बस्ती के सहमे कुत्तों को भी नींद लगी

निर्जीव हो गया-सा प्रदोष का शशि पीला
नीले उदास तारों को मिरगी-सी आयी
केवल सिगनल जलते गाड़ी की सीटी पर
जमुहाये नगर-पथों की मुद्रा गहनायी

पर्वती झील का तलदर्शी भूरा आशय
शून्यीकृत अर्धरात्रि में रह-रह गहराता
आक्षितिज अपंख गूँज का मटियारा मर्मर
धुँधले दिशांत-रंध्रों से और छना आता

उजड़े छविगृह—दूकानें उखड़ी बंद पड़ीं
सड़कों पर दुबके खड़े पहरुओं के साये
गाढ़ी होती—जमती ख़ामोशी की काई
दंशित थकान बढ़ती आती मुँह फैलाये

ढलती रजनी के सन्नाटों के छोर कहीं
जा रहा दबे पैरों जलगंध-पवन भूला
किन छतनारों पर महक उठी कचनार-कली
किस देस रुँधे अँधियारे में बेला फूला

●

प्राध्यापक
राष्ट्रीय महाविद्यालय, रायगढ़।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़रूरतों के नाम पर

•

कुँवर नारायण

क्योंकि मैं ग़लत को साबित कर देता हूँ
इसलिए हर बहस के बाद
ग़लतफ़हमियों के बीच
बिल्कुल अकेला छोड़ दिया जाता हूँ
वह सब कर दिखाने को
जो सब कह दिखाया।
वे जो अपने से जीत नहीं पाते
सही बात का भी जीतना सह नहीं पाते,
और उनकी असहिष्णुता के बीच
मैं किसी अपमानजनक नाते की तरह
बेमुरौव्वत तोड़ दिया जाता हूँ।
प्रत्येक रोचक प्रसंग से हटा कर,
शिक्षाप्रद पुस्तकों की सूची की तरह
घरेलू उपन्यासों के अंत में
लापरवाही से जोड़ दिया जाता हूँ।

वे सब मिल कर
मेरी बहस की हत्या कर डालते हैं
ज़रूरतों के नाम पर. . . .
और एक कवि से पूछते हैं कि ज़िंदगी क्या है
ज़िंदगी को बदनाम कर।

•

विष्णु कुटी,
महानगर, लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सृजन-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद

विश्वंभरनाथ उपाध्याय

भारतवर्ष में काव्य-सृजन-प्रक्रिया का उल्लेख सर्वप्रथम भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरतपूर्व आचार्यों के संक्षिप्त उद्धरण भी नाट्यशास्त्र में ही मिलते हैं। सृजन-प्रक्रिया के संबंध में भरत के मत को 'वस्तुवादी' और 'व्यक्तिवादी'——दो दृष्टियों से समझाया गया है। प्राचीन आचार्यों की व्याख्याएँ भी या तो वस्तुवादी हैं, या व्यक्तिवादी। सापेक्षतावादी दृष्टि से की गयी व्याख्याएँ बहुत कम मिलती हैं, इससे अनेक भ्रमों की सृष्टि हो गयी है।

संपूर्ण कलाओं का प्रयोजन आनंद है—यह दृष्टि उपनिषद काल से ही इस देश में स्वीकृत रही है। यह अवश्य है कि इस आनंद के कारण कभी 'हित' और कभी 'अंतःप्रकृति' माने गये हैं। कलाओं से प्राप्त इस आनंद को ही यहाँ 'रस' की संज्ञा दी गयी है; यह 'रस' का व्यापकतम प्रयोग है। नाट्यशास्त्र में मुख्यतः 'रस' नाट्य के संदर्भ में ही चर्चित हुआ है; इसलिए कुछ विद्वान अब यह मानना चाहते हैं कि रस का संबंध नाट्य से ही है, अन्य कलारूपों के साथ उसका साक्षात अथवा नाट्य के सदृश यथावत संबंध नहीं है। किंतु अब भी अनेक विद्वान यह मानते हैं कि भरत का नाट्यशास्त्र वस्तुतः कलाशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र है जो प्रमुखतः नाट्य पर इस विधि से प्रकाश प्रक्षिप्त करता है कि उसके साथ-साथ कलामात्र पर भी प्रकाश पड़ता चलता है। जिस प्रकार अरस्तू का काव्यशास्त्र काव्यशास्त्र होने के साथ-साथ कलाशास्त्र भी है, उसी प्रकार नाट्य-शास्त्र कलाशास्त्र भी है। यह आवश्यक नहीं है कि भरत ने नाट्य पर विचार करते समय कला और काव्य पर ध्यान ही न दिया हो, क्योंकि नाट्य एक समन्वित कला है। नाट्य में संगीत, स्थापत्य, चित्र, काव्यादि सभी कलाओं का प्रयोग होता ही है।

अतः सृजन-प्रक्रिया के लिए भी भरत के नाट्यशास्त्र का अनुसंधान व्यर्थ नहीं है। भरत की दृष्टि वस्तुमूलक थी—इस मत की स्थापना डॉ० सुरेंद्र बारलिंगे ने की है। इस मत के अनुसार 'रस' आस्वाद्य पदार्थ है। वह आस्वादस्वरूप न हो कर आस्वाद्यस्वरूप है। जिस प्रकार नाना व्यंजन-ओषधि आदि द्रव्यों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना 'भावों' के उद्गम से नाट्य में रस-निष्पत्ति होती है। भरत ने 'भाव' शब्द को केवल मनोविकार अर्थ में ग्रहण नहीं किया है; 'भाव' शब्द में मानसिक स्थितियों के अतिरिक्त समस्त क्रियाओं और पदार्थों की भी गणना कर ली गयी है। अतः विभिन्न पदार्थों के योग से जैसे 'पानकरस' बनता है, वैसे ही नाना भावादि के संयोग से रससृष्टि होती है। 'द्रव्य' 'गुण' नहीं है। जो विद्वान 'रस' को 'गुण' मानते हैं, वे रस के आस्वाद्यत्व की उपेक्षा करते हैं।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके विपरीत, आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' को आस्वादरूप ही माना है, 'चर्वणा' या भोग के अतिरिक्त रस की कहीं बाह्यसत्ता दिखायी नहीं पड़ती। यह रस के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। आधुनिक भाषा में प्रथम व्याख्या दृश्यगत (अ.ब्जेक्टिव) और द्वितीय व्याख्या द्रष्टागत (सब्जेक्टिव) है।

यह कहना आवश्यक है कि भरत से पूर्व कतिपय आचार्य रस को 'द्रव्य' ही मानते थे। अभिनवगुप्त ने एक सांख्यमतानुयायी मत को उद्धृत भी किया है जो रस को वस्तुमूलक ही मानते थे। यह आचार्य स्पष्टतः वाह्य विषय-सामग्री को ही 'रस' कहते हैं। क्योंकि यह सामग्री सुख-दुख के जागरण में समर्थ होती है अतः **'प्रस्तुत सुख-दुख जननशक्तियुक्त विषय-सामग्री ही रस है।'**

यह विवाद उसी प्रकार का है, जैसा हम आज के सौंदर्यशास्त्र में देखते हैं। सौंदर्य को द्रष्टागत या दृश्यगत मान कर ही यह सारा विग्रह चल रहा है। कई विचारक इन परस्पर विरोधी मतों में समन्वय स्थापित करना चाहते हैं, किंतु उनका समन्वय उक्त दोनों मतों का मिश्रण बन जाता है। सौंदर्य या रस वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य का, अथवा व्यक्ति और परिस्थिति के द्वंद्व का समन्वय है। वह द्रष्टा और दृश्य का साधारण समन्वय नहीं है, अपितु द्वंद्वात्मक समन्वय है।

क्या भरत इस द्वंद्वात्मक समन्वय से परिचित थे? उन्होंने रस की सृजन-प्रक्रिया को जिस प्रकार समझाया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि वह इस द्वंद्वात्मक समन्वय से परिचित थे। निस्संदेह भरत को यह प्राप्ति जीवन-निरीक्षण के माध्यम से हुई थी, किसी वाद या दर्शन के माध्यम से नहीं। न तो भरत मनोविज्ञान के विशेषज्ञ थे, न आधुनिक इतिहास के सिद्धांतों से परिचित थे; अतः उनकी उपलब्धि का आधार मानव-जीवन का विभिन्न परिस्थितियों में अध्ययन ही था; तभी उन पर आधुनिक मतों का आरोप असंभव है। किंतु कोई वाद या दर्शन भी जीवन-निरीक्षण से ही प्राप्त होता है। प्रायः किसी दार्शनिक के किसी वाद की पुष्टि किसी ऐसे लेखक के ग्रंथों से हो जाती है जो वैज्ञानिक अर्थ में दार्शनिक नहीं होता है। प्रायः साधारण व्यक्ति और विशेषज्ञ एक ही निर्णय पर पहुँचते हुए दिखायी पड़ते हैं; यद्यपि उनके निर्णय पर पहुँचने की विधि में बहुत अंतर होता है। अतः यदि भरत की सृजन-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद मिलता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कला और साहित्य में दो तत्व क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संघर्ष में आते हैं—मानव और प्रकृति तथा मानव और समाज। मानव जब स्वयं मानव की अंतःप्रकृति का विश्लेषण करता है, तब भी वह सर्वथा तटस्थ व्यक्ति की तरह नहीं हो सकता। उसका तटस्थ विचार एक ऐसे व्यक्ति का होता है जो आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया में 'भोक्ता' और 'तटस्थ' दोनों होता है, अतः 'सापेक्ष' तटस्थता और 'सापेक्ष' भोग की स्थिति में ही विचार और विश्लेषण होता है। मनुष्य न तो 'स्व' से भाग कर कहीं जा सकता है, और न 'बाह्य' से। उसका 'स्व' 'बाह्य' का ही एक अंश होने अथवा 'वाह्य प्रवाह' का ही एक बिंदु होने के कारण निरपेक्ष 'स्व' की धारणा ही अवैज्ञानिक है। तभी भरत ने सृजन-प्रक्रिया में वाह्य विभावादि नाट्य-विषयों की कलापूर्ण प्रस्तुति को 'रस' कहा है और साथ ही, उन्हें 'सुखदुखात्मक' भी माना है, क्योंकि विभावादि के प्रति हमारा रागात्मक संबंध एक सहज स्वीकृत तथ्य है। 'पर्वत' कहते ही हमारी चेतना के संस्कार झनझना उठते हैं;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विशेष मूर्ति स्वतः हमारी चेतना में उदित हो उठती है, अतः द्रष्टा और दृश्य दो सर्वथा निरपेक्ष वर्ग नहीं हैं। संपूर्ण दृश्य हमारी चेतना से साक्षात संबंधित होने के कारण 'कला कला के लिए' सिद्धांत को मानने वाले विद्वान सहज ही इस भ्रम में पड़ गये कि कला एक परम स्वतंत्र क्रिया है और वह प्रयोजनरहित है, उसका प्रयोजन वह स्वयं है। यह सिद्धांत स्पष्टतः मनुष्य पर सामाजिक-प्राकृतिक प्रभाव को अस्वीकार करता है। जब कोई अनुभूति, कोई प्रतिक्रिया संदर्भहीन नहीं होती तब संदर्भरहित सिद्धांत स्पष्टतः भ्रम है, अतः भरत के अनुसार रस न तो केवल वस्तुमूलक या द्रव्यमूलक है, और न अभिनवगुप्त के अनुसार केवल अपनी वासनाओं का भोग है। कला, नाट्य और काव्यादि का रस वस्तुतः सापेक्षतावादी आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है। केवल विषयगत या विषयी दृष्टि अवैज्ञानिक है।

भरत ने सामान्य जीवन से एक उदाहरण चुना था। ओदनादि भोजन में दाल-चावल, गरम मसाले, दधि, दुग्ध आदि अनेक पदार्थों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि भोजन में एक विशेष रस की सृष्टि हो जाती है। यह रस उसकी तैयारी में प्रयुक्त किसी एक पदार्थ में नहीं होता, न सब पदार्थों के मनमाने प्रयोग से ही उत्पन्न होता है। वह तो अनेक पदार्थों के विशिष्ट प्रयोग में निहित होता है। किंतु केवल पदार्थों के विशिष्ट प्रयोग से भी रस की सृष्टि नहीं होती, क्योंकि स्वाद के लिए भोक्ता की मानसिक स्थिति आवश्यक है; बहुत भूखा व्यक्ति स्वादहीन वस्तुओं में भी अनिर्वचनीय आस्वाद पा लेता है। रोगी व्यक्ति छप्पन प्रकार के राजसी व्यंजनों से भी आस्वाद या रस प्राप्त नहीं कर सकता। सामान्य व्यक्तियों में भी रुचि का प्रश्न रहता ही है, और यह रुचि भी निरपेक्ष नहीं होती। उसका विकास पूर्व काल में प्राप्त भोजन पर आधारित होता है; अन्य परिस्थितियाँ भी रुचि के विकास में सहायक होती हैं। राबिसन क्रूसो की रुचि का विकास उसकी आरण्यक परिस्थिति पर निर्भर था। वही क्रूसो जब समाज में आता है तब उसकी रुचि में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः रस, रुचि, भोग, प्रियता, अप्रियता, आकर्षण-विकर्षण—यह सब 'गत्यात्मक परिस्थिति' के संदर्भ में ही परीक्षित हो सकते हैं। 'द्रष्टा' और 'दृश्य' पर अलग-अलग विचार भरत को अभिप्रेत नहीं हो सकता था।

इसी प्रकार, कला-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद दिखायी पड़ता है। लेखन या अंकन या चित्रण कल्पनाशक्ति का चमत्कार है—'सृजनात्मक कल्पना' का। किंतु यह सृजनात्मक कल्पना, जिसे हमारे काव्यशास्त्र में 'नवउन्मेषशालिनी प्रज्ञा' ठीक ही कहा गया है, जिन विभाव, भाव, अनुभावों के संयोग से रस-निष्पत्ति करती है, उन्हें इस रूप में ग्रहण नहीं करती जैसे वे अनुभूति-क्षेत्र से वाहर के सर्वथा निरपेक्ष पदार्थ हों। सृजनात्मक कल्पना विभावादि को 'रागरंजित' रूप में स्वीकार कर के ही उन्हें कला-सामग्री बनाती है; अन्यथा कला का नहीं, शास्त्र का निर्माण होगा। कवि के लिए राम, अशोक, दमयंती, सीता, गंगा, हिमालय, आँगन का वृक्ष, वन, सरोवर आदि विभाव रागरंजित पदार्थ हैं। डा० सुरेंद्र बारलिंगे ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया। कला-साहित्य का कार्य ही यह है कि वह सृष्टि की सामग्री को हमारी चेतना-परिधि में समेट कर उन्हें उसका अंग बना देता है। हिमालय—पत्थरों, मिट्टी और हिम का पुंज न रह कर सुंदर, उदात्त, आकर्षक, रक्षक, पिता, शिवधाम, 'मेरा भूधर, मेरा विशाल' बन जाता है। वस्तुतः यह भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत-कुछ, सृजन के पूर्व भी, जन-मानस में रहती है। पदार्थों, पात्रों आदि के विषय में जन-मानस में जो रागात्मक संबंध बने रहते हैं, उनसे कलाकार लाभ उठाता है; कभी वह पुराने रागात्मक संबंधों को जगाता है, और कभी नये संबंध स्थापित करता है। पात्रों के विषय में भी यही मत ठीक है। भरत ने विभावादि के विवरण में इतिहास या पुराण से कथाएँ और पात्र चुनने पर बल दिया है। इतिहास या पुराण का अर्थ यह है कि कुछ पात्रों और परिस्थितियों से हमारा विशेष रागात्मक संबंध है। कलाकार अपने युग की धारणाओं के अनुकूल उस रागात्मक संबंध में परिवर्तन-परिशोधन करता है। आधुनिक साहित्य में पौराणिकता या 'मिथ' का प्रयोग भी अनजाने ही इसी दृष्टि पर आधारित है। क्योंकि कलाकार या कवि अन्य मनुष्यों से विपरीत प्राणी नहीं होता, अतः उसकी 'सृष्टि' के साथ अन्य व्यक्ति शीघ्र रागात्मक संबंध स्थापित कर लेते हैं। यदि वैचारिक भिन्नता से अथवा मूल्य संबंधी विरोध से लेखक के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं भी हो पाता तो भी संवेदना और अनुभूति के स्तर पर पाठक प्रत्येक सफल कृति से 'रस' प्राप्त कर लेता है।

भरत के द्वारा प्रस्तुत 'व्यंजन प्रक्रिया' और 'सृजन प्रक्रिया' में एक बात अत्यंत महत्व की है जिसकी अब तक उपेक्षा ही हुई है। हमने ऊपर 'द्वंद्वात्मक-समन्वय' की चर्चा की है, अर्थात कला-सामग्री के विभिन्न अंगों की संगति 'रस' है किंतु यह 'रसात्मक समन्वय' अंगों के द्वंद्व का समन्वय है, मात्र काव्यांगों का मिश्रण नहीं है। केवल विभावादि का नाम ले देना अथवा रस का कथन आनंददायक नहीं होता, वरन प्रायः परस्पर विरोधी स्वाद के पदार्थों को विशेष अनुपात में मिलाने से जिस प्रकार एक 'विलक्षण रस' की सृष्टि होती है, उसी प्रकार कला और साहित्य में परस्पर विरोधी भावों की विशिष्ट संगति ही सौंदर्य-सृष्टि है।

इसीलिए 'श्रृंगार रस' को प्रमुखता दी गयी थी। उसके—संयोग और विप्रलंभ—दो भेद बन जाने से उसमें अधिकाधिक भावनाओं की संगति बन जाती है। रति और शोक परस्पर विरोधी भाव हैं; प्रथम सुखकर और द्वितीय दुखकर भाव है। किंतु विप्रलंभ श्रृंगाररस में इन दोनों का समन्वय होता है, तभी विप्रलंभ को श्रेष्ठ माना गया है। भारत में ही नहीं, ग्रीस, रोम और योरोप के अन्य देशों में भी दुखांत को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि उसमें परस्पर विरोधी भावों की संगति सर्वाधिक रूप में प्राप्त हो सकती है। दुखांत या सुखांत का निर्णय इसी आधार पर होना चाहिए। जिसमें परस्पर विरोधी भावों की संगति सर्वाधिक हो, चाहे उसका अंत सुखमय हो या दुखमय, वही साहित्य श्रेष्ठ है। भारतवर्ष में वाल्मीकि रामायण और महाभारत सुखांत हैं या दुखांत ? सीता की मृत्यु (या आत्महत्या ?) के बाद रामायण का अंत सुखांत कैसे माना जायगा ? इसी प्रकार, धरती को वीरविहीन कर विधवाओं पर पांडवों के राज्य को दुखांत माना जाय या सुखांत ? महाभारत में तो पांडवों की मृत्यु तक दिखायी गयी है। हिमालय में महाभारत युद्ध के विजयी पांडव जब अवश्यंभावी मृत्यु के सम्मुख निर्बल साबित होते हैं, तब महाभारत की सृष्टि का उद्देश्य सुखांत या दुखांत न रह कर मानव जीवन की उस यथार्थ दशा का चित्रण हो जाता है, जो परस्पर विरोधी भावों, धारणाओं का समन्वय है। अतः कला का परीक्षण 'फ़ार्मल' धारणाओं पर नहीं हो सकता। देखना यह होगा कि क्या सृजन-प्रक्रिया में उक्त 'द्वंद्वात्मक समन्वय' का सिद्धांत प्रयुक्त हुआ है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास के 'रघुवंश' और 'शाकुंतल' तथा 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध', 'रामचरित-मानस', 'सूरसागर', 'कामायनी' और श्रेष्ठ विदेशी साहित्य इसीलिए महान हैं क्योंकि इनमें जीवन का यह सिद्धांत स्वीकृत हुआ है कि प्रत्येक वस्तु असंगतियों का समन्वय है—वह चाहे 'भय' और 'तरस' नामक भावों का विरेचन हो अथवा विभावादि के संयोग से 'आनंद सृष्टि'। किंतु सभी कलारूपों की सफलता का रहस्य ही यह है कि उनमें जीवन में प्राप्त संगति दिखायी पड़ती है—वह संगति जो अपने गर्भ में असंख्य तरंगाकुल विरोधों या प्रतिक्रियाओं को छिपाये हुए है, उसी प्रकार जिस प्रकार वृक्ष का फल वृक्ष के बीज, खाद, मिट्टी, प्रकाश, जल आदि के परस्पर संघर्ष या प्रतिक्रियाओं को छिपाये रहता है। साहित्य और कलाओं में इसीलिए 'मात्र मनोरंजन' या 'साधारण हास्यरस' को कभी वह गौरव नहीं मिल सकता जो गंभीर साहित्य को प्राप्त होता है। व्यंग्य का महत्व भी साधारण मज़ाक से इसीलिए श्रेष्ठ है क्योंकि वह जीवन की असंगतियों की ओर हमारा ध्यान बड़े तीखेपन के साथ आकर्षित करता है।

भरत ने व्यंजन-निर्माण का इसीलिए उदाहरण दिया है ताकि काव्यघटकों के परस्पर विरोधी तत्वों की ओर हम ध्यान दें। लवण, शर्करा आदि षट स्वाद वाले तत्वों को एक विशेष अनुपात में मिलाया जाता है। 'पानक' रस में चर्परी, नमकीन, मीठी और खट्टी चीज़ों का प्रयोग होता है किंतु 'पानकरस' इन सबकी संगति ही तो है ! इसी प्रकार, प्रत्येक सृष्टि में यही सिद्धांत मिलता है। 'मेघदूत' में यदि संयोग के मधुर स्मृति-बिंबों और वियोग के दुख का समन्वय न होता तो वह निकृष्ट कोटि की रचना हो जाती। इसी प्रकार, 'कामायनी' में देवसृष्टि की भस्म पर मानवता की सृष्टि की गयी है। प्रलय और नवनिर्माण, कामवासना और उदात्तता, बुद्धि और श्रद्धा के विरोध का सामंजस्य 'कामायनी' में पूर्ण सफल हुआ है। रामचरितमानस का 'देवदानव संघर्ष' तो प्रसिद्ध ही है। यह संघर्ष बाह्य स्तरों पर भी है और आंतरिक स्तरों पर भी। गेटे के 'फ़ाउस्ट', शेक्सपियर के 'हैमलेट' और शेली के 'वेस्ट विंड' में ही नहीं, आधुनिक सभ्यता की संकट-कालीन स्थिति के परिचायक टी० यस० इलियट के 'वेस्ट लैंड' में भी यही द्वंद्व चित्रित है। मुक्तक काव्य में व्यक्ति और परिस्थिति का यह द्वंद्व 'मैं' के माध्यम से प्रकट होता है। यहाँ कलाकार व्यक्ति और बाह्य के द्वंद्व को निजता के स्तर पर भोगता है और उसी माध्यम से प्रकट करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि द्वंद्व की मात्रा सर्वत्र एक सी होती है। 'वीर', 'रौद्र', 'वीभत्स' आदि में यह द्वंद्व स्पष्ट होता है, अधिक होता है, किंतु 'सौंदर्य वर्णन' में यह चेतना की भीतरी पर्तों में उतर कर कला-कार को सक्रिय करता है। सौंदर्य की अनुभूति ही वस्तुतः असौंदर्य से आघातित चेतना की प्रतिक्रिया है। धूप के बिना छाया का, दुख के बिना सुख का, कुरूपता के बिना सौंदर्य का अस्तित्व संभव ही नहीं है। प्रकृति के सौंदर्य का, अथवा मानवी सौंदर्य का मुग्ध हो कर वर्णन करने वाले कवि और पाठक यह संकेत देते हैं कि उन्हें जीवन में बहुत-कुछ कुरूप, कुत्सित देखने या भोगने को मिला है। जगत के प्राणियों में क्रिया के बिना प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया के बिना क्रिया संभव नहीं है। हम 'सौंदर्य', 'रस', 'आनंद' की भूख से पीड़ित ही इसलिए हैं क्योंकि जीवन सुखदुखात्मक है; यहाँ अमिश्रित आनंद का अस्तित्व ही नहीं है।'

जीवन के इस स्वरूप को भरत समझते थे, इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने उन्हें स्वीकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी, किंतु उक्त 'अमिश्रित आनंद' की खोज के लिए उन्हें सर्वातीत आनंद या ब्रह्मानंद की कल्पना करनी पड़ी। काव्य जीवन का कलापूर्ण स्मरण है। सृजनात्मक कल्पना के स्तर पर वास्तविक जीवन की कटुता, जो हमारे व्यक्तिवाद का परिणाम है, समाप्त हो जाती है और हम दिक्-काल-विच्छिन्न एक अलौकिक प्रतीत होने वाले आनंद का लाभ करते हैं। कोटियों और विरोधों से भरे जीवन के चित्रण से जन्य आनंद को परवर्ती दार्शनिकों ने 'ब्रह्मानंद सहोदर' कह कर उस कलागत आनंद की गौरववृद्धि की है, किंतु भरत ने इस गौरववृद्धि की चिंता नहीं की, न उन्होंने 'रस' को वस्तुमूलक या व्यक्तिवादी दृष्टि से देखा। उन्होंने अपनी अद्‌भुत अंतर्दृष्टि के बल पर कला के उक्त स्वरूप का साक्षात्कार किया था, जिसमें काव्य 'ब्रह्मानंद सहोदर' नहीं—'जीवनानंद सहोदर' प्रमाणित होता है। केवल विषयीगत या विषयगत दृष्टिकोण से देश-विदेश में कला की व्याख्याएँ आंशिक सत्य को प्रस्तुत कर सकी हैं, पर केवल भरत की सापेक्षतावादी दृष्टि ही कलाओं और काव्य के मर्म को उद्‌घाटित कर सकती है।

अशोक कॉटेज, नैनीताल।

●●

हमारे चार नवीनतम प्रकाशन

हिंदू देव परिवार का विकास
लेखक : डॉ० संपूर्णानंद

भारतीय साहित्य में यह ग्रंथ अपने ढंग का सर्वथा अनूठा और अद्वितीय है। किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में ऐसा ग्रंथ अब तक नहीं लिखा गया।

मूल्य : ६·५०

नील दर्पण
रचयिता : दीन बन्धु मित्र
अनुवादक : डॉ० महादेव साहा

'नील दर्पण' नाट्य परंपरा के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस युगांतकारी नाटक का अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान डॉ० महादेव साहा ने किया है।

मूल्य : ४·५०

हिंदी काव्य प्रवाह
संकलन : श्रीमती पुष्पा स्वरूप

प्रस्तुत संकलन में सिद्ध सरहपा से गिरिधरदास तक प्रत्येक युग की प्रत्येक धारा के प्रतिनिधि कवियों की उत्कृष्टतम रचनाओं के उदाहरण मिलेंगे।

मूल्य : २०·००

अग्नि परीक्षा
लेखिका : श्रीमती आशापूर्णा देवी
अनुवादक : श्री रामनारायण शुक्ल

इस नवीनतम उपन्यास में मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्राचीन तथा आधुनिक मान्यताओं तथा मूल्यों के संघर्ष का बड़ा सजीव एवं सुंदर चित्रण किया गया है।

मूल्य : ३·५०

प्रकाशक : मित्र प्रकाशन (प्राइवेट) लिमिटेड (पुस्तक विभाग) इलाहाबाद–३।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी नवगीत

वीरेंद्र मिश्र

पिछले कुछ वर्षों में नयी कविता ने विकास के नये चरण चले हैं, अपनी कई मान्यताओं में सुधार किया है और सारे बाह्य तथा अंतर्विरोधों के बावजूद हिंदी कविता को शिल्प और वस्तु के क्षेत्र में समृद्ध किया है। इस विकास-प्रवाह में छंद, और विशेषतः गीत, नयी तरह से उठ-उभर कर आ रहा है। नयी कविता में यदाकदा पहले भी छंद लिखा जाता रहा है, कथ्य की नूतनता उसमें व्यक्त हुई है और गीतात्मकता का समावेश आवश्यक समझा गया है, परंतु ऐसा साहस अधिकतर छंद-लेखन में सिद्धहस्त कुछ अतिस्थापित कवियों द्वारा ही होता रहा था। लेकिन इधर तीन-चार वर्षों में, अनुभवों के अनिवार्य परिणामस्वरूप, गीत को नया महत्व प्रदान करने में और उसे रूढ़ क्षेत्रों से बाहर लाने में कुछ गीतकारों और कुछ नयी कविता के पुराने और नवीनतम कवियों का प्रमुख योगदान रहा है। आये दिन नये गीत पर पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा भी छिड़ती रहती है। नये गीत के अनुकरण पर गीत लिखने का फ़ैशन चल पड़ा है, एक नयी आसक्ति अवतरित हो गयी है।

ऐतिहसिक दृष्टि से यह आवश्यक भी था, क्योंकि इस रूप का आवश्यकता से अधिक विरोध इसलिए भी अर्थहीन था कि कविता को गद्य या मुक्त छंद में लिखने की सुविधा या महत्ता से नये गीत द्वारा आमतौर पर इन्कार नहीं किया गया था। दूसरी ओर, प्रचलित गीत, जो किन्हीं कारणों, विवशताओं और परंपराओं में सीमित हो कर नये दृष्टिबोध से काफ़ी कुछ अपरिचित सा, विशिष्ट वृत्त में घूमते रहना अपना स्वभाव बना चुका था, मंचीय आवश्यकताओं पर उतर कर नयी साहित्यिक संभावनाओं से अलग जा पड़ा था।

इस परिप्रेक्ष्य में नये गीत का शुभावतरण अभिनंदनीय है। इसमें सबसे अच्छी बात यह है कि नये गीत का प्रारंभ किसी संकीर्णता के साथ नहीं हुआ है। नया गीत अपनी अनिवार्यता तो प्रकट करता है पर इसके लिये ऐसा आग्रह नहीं करता कि मात्र वही एक विधा है, और सब विधाएँ व्यर्थ हैं। स्वयम नया गीत-लेखक भी और तरह का काव्य-लेखन कर सकता है। 'गीत' शीर्षक दे देने मात्र से जैसे सभी कविताएँ गीत नहीं हो सकतीं, या छोटे छंद में लिखित हर छोटी रचना गीत नहीं होती, नये गीत-लेखक का भी हर प्रयत्न सफल नया गीत हो, यह आवश्यक नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सीमा तक नये गीत की यह व्यापकता पुरानी और नयी कविता में जहाँ-तहाँ बिखरी रूपगत हठवादिता को (तथा संकीर्णता को भी) कुछ सोचने को विवश कर देती है। काव्यत्व की माँग की पूर्ति के लिए नये गीत का मंच एक ऐसा मंच है जो छंद लिखने में असफल या साधना-विहीन कवियों को नियमवद्ध होने के लिये विवश से अधिक प्रेरित करता है। नये गीत की यह नियमबद्धता, नयी परिस्थितियों में नया रूप धारण कर, पुरानी तुकबंद रूढ़ता से सर्वथा मुक्त हो गयी है। फिर, यह भी कि नया गीत अपनी सम्यक लयात्मकता के साथ इतना व्यापक है कि उसमें विशिष्ट छंद, तुक या मात्रा-क्रम का सदा ही निश्चित आग्रह नहीं है, बल्कि नया गीत मुक्त छंद के निकट तक चला जा सकता है, और गया है।

वस्तुतः, संक्षिप्तता के प्रति विशेष आग्रह होते हुए भी नया गीत आकार के प्रति संकीर्ण नहीं है। होना यही चाहिए कि गीत के कसाव से ध्यान न हटे। यह सर्वविदित है कि गीत के नाम पर बहुत लंबी-लंबी निरर्थक कृतियाँ छंदवद्ध होती रही हैं। इसीलिए आज संक्षिप्तता की ओर ध्यान जाता है। परंतु, यदि वस्तु का आग्रह आकार बढ़ाने पर हो तो गीत बड़ा भी हो सकता है।

अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि नये गीत की गेयता नयी कविता को अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करेगी और पुराने गीत को सस्ती लोकप्रियता से ऊपर उठाने में सहायक होगी। जहाँ तक गीतगत कथ्य का प्रश्न है नये गीत की अपनी सीमाएँ हैं, फिर भी नये गीत के वर्तमान व्यापक परिवेश में आज का जीवन-यथार्थ एक बड़ी सीमा तक व्यक्त हो रहा है, और यह क्रम विकास के नये चरण चलता रहेगा और नये-नये प्रयोग होते रहेंगे, इसमें संदेह नहीं। लोक तत्व और प्रकृति पक्ष का प्रभाव-ग्रहण जिस प्रकार नये गीत को नवीन बिंब और प्रतीक प्रदान कर रहा है, लगता है भारतीयता के प्रति समर्पित यह आत्मीयता, हिंदी कविता को नयी रसज्ञता से वाणी-मुखर कर देगी। इधर नगर जीवन की अनुभूतियाँ भी व्यक्त होने लगीं हैं। इस दिशा में नया गीतकार अधिक अंशों में अभी नगर-संस्कृति और सभ्यता में जी रहा है; वहीं की अनुभूतियों और सुख-दुख से जुड़ा है।

हिंदी में गीत कम नहीं लिखे गये हैं और लकीर पीटने वाले गीतकारों की संख्या भी, एक से एक हज़ार तक गिनते रहने की अवधि के बीच, काफ़ी बढ़ जाती है। इस स्थिति के रहते अच्छे गीत नहीं मिल पाते, और यही कारण है कि वर्षों से शीघ्रता में लिखी जाने वाली कविता, अध्ययन, अनुभूति और आधुनिकता से कटी हुई, प्रतिक्रियात्मक कविता मात्र हो कर रह गयी है। नयी कविता के प्रति अंध विरोध और अपने स्वयं के दुहरावों के कारण गीत बराबर पिछड़ता चला गया। और जब यह स्थिति आ गयी तब कुछ लोगों ने सर्वथा झूठे बिंबों, चमत्कारों और लफ़्फाज़ी-भरी सूक्तियों की पंक्तियाँ गढ़ीं और उसे गीत कहने लगे। वैयक्तिक कुंठाओं से पूर्ण और नये यथार्थ के सजीव और वास्तविक काव्य-चित्रण से पृथक, ये पुराने संमेलनीय गीतकार सस्ती चित्र-प्रदर्शनियाँ लगाने लगे, जो बाल-स्तर के मन-मस्तिष्क के अधिक निकट थीं। समझदार श्रोताओं और बौद्धिक रूप से जाग्रत साहित्य-प्रेमियों और कवियों को इसमें युगापेक्षित काव्यत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नूतनता के दर्शन न हो सके। इसीलिए, बौद्धिक वर्ग में गीत के प्रति आस्था घटने लगी। आज भी यदि इस आस्था के पुनर्स्थापित होने में विलंब हो रहा है तो इसका कारण यही है कि पुरानी और नयी पीढ़ी के गीतकार नवीन और मौलिक सृजन प्रस्तुत करने में एक बड़ी सीमा तक असफल रहे हैं। अतः इस पुराने यथार्थ पर यदि साधारण पाठकों को नये गीत का सत्य एकाएक उठता दिखायी न दे तो कोई आश्चर्य नहीं।

गीत के नवोन्नयन के मार्ग में अभी कई तरह की बाधाएँ हैं। नये गीत-लेखकों में नयी कविता के कई सिद्धहस्त कवि और पुराने छंद-शिल्पी सम्मिलित हैं। नयी कविता, जो छंदमुक्त हो कर भी काव्य-संपन्नता की दिशा में प्रयत्नरता और सजग रही है, लयात्मकता से पूर्ण और गीति-तत्वों से सहज और गेय बनी हुई है। परंतु वैविध्यमयी यह नयी कविता अंशतः ही ऐसी हो पायी है। छंद, लय और नियम के अभाव में, तथा कहीं-कहीं प्रयोगों की कर्कश बहुलता के कारण, वह गीति-तत्व का वह प्रभाव न छोड़ सकी, जो आज नये गीत ने जाग्रत किया है।

सही है कि भीड़-भरी आधुनिक नयी कविता में ज़बर्दस्त हलचल है, संगठन है, संयोग है, संवेदन है, शिल्प है, और इन सब के लिए मंच है, परंतु नियमबद्ध संगीतात्मकता वहाँ अकेले कंठ की पुकार बन कर खो गयी है। नये कवियों की भीड़ जहाँ एक ओर नयी कविता की शक्ति का प्रतीक है वहीं उसमें बहुत से ऐसे तत्व भी प्रवेश पा गये हैं जो, गद्य के माध्यम के सुविधांतर्गत काव्य-प्रतिभा से विहीन होने और हिंदी छंद के विकास-क्रम से व्यावहारिक रूप से अपरिचित रहने के कारण, बहुधा ही नयी कविता की कई घिसी-पिटी मान्यताओं से न सिर्फ़ चिपटे हुए हैं बल्कि उनके अंध समर्थक हो गये हैं। बहुधा ही, वैयक्तिक आधार पर होने वाली अतिरंजित आलोचनाओं के कारण नयी कविता की समृद्ध समीक्षण-पद्धति अब तक अंतर्विरोधों को जन्म देती रही है। इसी स्थिति के कारण नयी कविता के अंतर्गत होने वाले इस नये विकास-क्रम में गीत के नूतन प्रणयन का महत्व नहीं समझा जा रहा है, या समझ कर भी उसके प्रकाश से चौंधिया कर आँखें बंद की जा रही हैं।

नये गीत के उल्लसित मुहूर्त के अवसर पर प्रस्तुत इस भूमिका पर जब कि राजनीतिक नारों और परंपराओं के नवीनतम संस्करण वर्तमान गीतकारों और नयी कविता के संकीर्ण रचनाकारों द्वारा नये गीत का विरोध हो रहा हो, हिंदी के समझदार पाठकों और प्रबुद्ध कवियों का यह कर्तव्य है कि नये संदर्भ में नये गीत की निरंतर गतिशील धारा को प्रवहमान होने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दें।

विगत दशक में पुराने गीत और नयी कविता में अपनी तरह से यथासंभव न्यूनाधिक रूप में जो प्रयोग होने थे, वे हो चुके हैं। अब दोनों में भ्रम, अनिश्चय, ठहराव, दुहराव और परस्पर विरोध के पृष्ठ खुल गये हैं। गीत में तो पहले ही यह स्थिति आ चुकी थी और धीरे-धीरे नयी कविता भी इस दृष्टि से चुकती नज़र आ रही है। यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी कविता स्वाभाविक रूप से अपनी कमियों को दूर कर लेगी, और नये गीत के जीवित अस्तित्व को आत्मसात करती हुई नयी संभावनाओं के द्वार मुक्त करेगी।

नया गीत अभी प्रथम चरण धर रहा है। पुराने गीत और नयी कविता के भले-बुरे प्रभाव और परंपरा उसमें स्वाभाविक रूप से हिले-मिले हैं। परंतु नये गीत के कुछ कवि जिस सतर्कता से लिख रहे हैं, वह लेखन ही भविष्य का प्राणवंत पक्ष हो सकता है।

इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि गीति तत्व की विशेषताओं के पुनर्प्रवेश से वर्तमान हिंदी काव्य के दो चरम बिंदुओं की दूरी कम होगी और काव्य-क्षेत्र की विकृतियों का अंत होगा।

देश में उच्च शिक्षा का प्रसार तथा हिंदी का विकास जिस शीघ्रता से हो रहा है, उसके परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से हिंदी पाठकों का एक अपेक्षाकृत बड़ा काव्य-प्रेमी वर्ग तैयार होगा ही। उस समय न कवि संमेलनीय कविताओं और गीतों से काम चलेगा, और न स्व-प्रशंसित और एक बहुत छोटे समुदाय में सीमित क़विता ही सहायक होगी। तब काव्य-जगत की मंगल प्रभाती के रूप में प्रातःस्मरणीय होगा—नया गीत।

के – ३५, वेस्ट पटेल नगर,
नयी दिल्ली – १२।

साहित्य-सन्देश

साहित्य सन्देश हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक प्रधान मासिक पत्र है, जो २५ वर्षों से बराबर प्रकाशित हो रहा है। इसका वार्षिक शुल्क ५) रुपये मात्र है। इसकी विगत १३ वर्षों की कुछ सजिल्द फ़ाइलें उपलब्ध हैं जिनकी कीमत ६) प्रति फ़ाइल है। हिन्दी का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए ५) मनीआर्डर भेज कर वार्षिक ग्राहक बनें।

साहित्य सन्देश कार्यालय, आगरा

●

हमारे भण्डार में उच्च कोटि की सभी विषयों की हिन्दी पुस्तकें मिलती हैं। शिक्षा संस्थाओं को लाभ उठाना चाहिये।

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा

●

पुस्तकें, शिक्षा संस्थाओं का कार्य जैसे लैटर पेपर, परीक्षा-प्रश्नपत्र आदि सभी प्रकार की छपाई का छोटा-बड़ा काम उचित दर पर शुद्ध और कलात्मक छपाई के साथ किया जाता है। एक बार परीक्षा करें।

साहित्य प्रेस, साहित्य कुञ्ज, आगरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

●●

श्याम सुंदर घोष

सलामी दो

अँधेरी गली में पैदा हुईं इन सूर्य-किरणों को
सलामी दो।

अँधेरे के कठिन आवर्त में
छल से घिरे भटके
समय की वर्जनाओं से निहत्थे जूझने वालो,
कठिन संशय-जनित परिवेश से जकड़ी
झगड़ती-सी
जटिल सच्चाइयों की धड़कनों को बूझने वालो,
अँधेरी घाटियों में सिर पटकते हुए झरनों को
सलामी दो।

अधूरी बिंब-छवियों में नहीं संदर्भ अट पाता
विरल अभिव्यक्तियाँ कुछ दूर चल दम तोड़ देती हैं।
अधूरे अधपके सपने न कोई रंग भर पाते।
विवश संचेतना संघर्ष से मुख मोड़ लेती है।
कठिन मरुभूमि में राहें बनाते हुए चरणों को
सलामी दो।

अँधेरी गली में पैदा हुईं इन सूर्य-किरणों को
सलामी दो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत

एक किरण मुट्ठी में मेरी
औ' मैं सूर्य बन गया हूँ।

अब तो अँधियारा लुकता-
छिपता है बंद कपाटों में
लँगड़ी कुंठा फिरती बन-बन
सूने घाटों - बाटों में
उदयाचल पर टँगे रहें ये कुहरों के भारी पर्दे
एक किरण मुट्ठी में मेरी औ' मैं सूर्य बन गया हूँ।

अब निर्भय चौकड़ियाँ भरते
विश्वासों के मृग-छौने
आखेटक संशय-विजड़ित क्षण
लगते आज बहुत बौने
दुरभिसंधियाँ तोड़ रहीं दम, एक शब्द भूला-भटका
मेरी मुट्ठी में आया है औ' मैं तूर्य बन गया हूँ।

एक किरण मुट्ठी में मेरी
औ' मैं सूर्य बन गया हूँ।

गोड्डा,

संताल परगना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार कविताएँ

● ●

अवध नारायण मुद्गल

जहाँ मैं हूँ

इंद्रधनुष
जिन्हें तोड़-तोड़ कर
रात मैंने फ़र्श पर बिखेर दिया था
अभी तक मेरे कमरे में बंद पड़े हैं।

इस अँधेरे के बाहर
एक और अँधेरा है
जहाँ मैं हूँ।

हवा से कह दो
मेरा दरवाज़ा तोड़ दे
और फ़र्श पर पड़े
तमाम इंद्रधनुषी टुकड़ों को
अँधेरे में लपेट कर
कहीं दूर उड़ा ले जाय।

मैं अपनी पिछली तमाम ज़िंदगियों से अलग
एक और ज़िंदगी जीना चाहता हूँ
जिसे
धनुष के टुकड़ों से
अपना अस्तित्व बनाने की ज़रूरत नहीं है।

जब भी मैं

जब भी मैं
हवा में झूलता बया का घोंसला देखता हूँ
मुझे पेड़ों की ऊँची टहनियों में उलझी,
पत्तों के ऊपर ज़ोर लगा कर
भाग जाने की व्यस्तता में
घबराहट व्यक्त करती
मजबूर शामें याद आ जाती हैं।

जब भी मैं
अपने कमरे की ख़ामोशी और बढ़ाने के लिए
कुछ लिखने बैठता हूँ
मेरे चारों ओर मुर्दों के टीले
सिर उठाने लगते हैं,
मुझे अपने अंदर
सिर झुकाये, चुपचाप रेंगती हुई
भीड़ का आभास होता है
जिसमें से
मैं स्वयं को गुज़रते देखता हूँ।

जब भी मैं
सोने का प्रयत्न करता हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे कमरे की छत से
अनगिन कटे सिर लटक जाते हैं
उनमें एक सिर मेरा भी होता है
दहकते हुए सितारे
आसमान से टूट कर
मेरी चारपायी के नीचे बिछ जाते हैं
और मेरे शेष अस्तित्व को
भाप बना कर दिशाओं में खो देते हैं।

जब भी मैं
किसी नदी के
सूने, उदास पुल पर खड़ा होता हूँ
मुझे अपने कंधों पर
मृत आत्माओं का बोझ अनुभव होता है
और लगता है
एक भीषण हिमयुग
मेरे ऊपर से गुज़र रहा है,
उस आदिम आग को बुझाना चाहता है
जो मैं हूँ।

खंडित व्यक्तित्व का समर्पण

मेरे हाथ
जो उठा दिये गये थे
अब तक उठे हैं
हर आने-जाने वाले के प्रति
स्वागत और बिदाई में

मेरी गर्दन
जो झुका दी गयी थी
अब तक झुकी है।

मेरे संपूर्ण व्यक्तित्व और अस्तित्व के साथ
जो तोड़ दिया गया था
वह अभी तक नहीं जुड़ सका।

निष्कर्ष : मेरी अहं यात्रा

मैं अपने कमरे में बैठा हूँ
और मेरा सिर
कमरे की छत से टकरा कर
उसके ऊपर धूप सेंकने चला गया है।

मेरे दरवाज़े पर खड़ा
यूकिलिप्टस का पेड़
मेरे पैरों से कुचल कर टूट गया है।

हवा मेरे पास तक आती है
और मुझे छुए बिना ही
सहम कर लौट जाती है।

मैं निश्चित नहीं कह सकता
कि मैं क्या हूँ
लेकिन लगता है
अब मैं सिर्फ़ आदमी नहीं रहा।

•

'सारिका',
टाइम्स आफ़ इंडिया बिल्डिंग, बंबई – १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख़िरी बुरक़ा

अनंत

लूला कहते-कहते मौन हो गया। गोयल की प्राणशक्ति मानो सिमट कर कानों में आ गयी हो। उसने कुछ कहा नहीं। न हमदर्दी दिखलायी, न प्यार—एक बच्चे की तरह लूले को, जकिया को और उस खोली को देखता रहा।

लूला फिर कहने लगा—आप मेरी खाँसी से घबरा रहे हैं। नहीं, यह कोई मर्ज़ नहीं है। यह तो कभी-कभी सर्दी लगने से हो जाती है। मैं यूसुफ़गोल (ईसबगोल) की भूसी से इसे पिछले दो साल से अच्छा करता आ रहा हूँ। आप यक़ीन मानिए, यूसुफ़गोल बहुत फ़ायदेमंद चीज़ है। ओह, आपको नाले की बदबू परेशान कर रही है। हाँ, आप रूमाल लगा लीजिए, नाक पर रूमाल लगा लीजिए। हमें तो अब यह बू मालूम ही नहीं पड़ती। नहीं, नहीं, मैं आपको ज़्यादा देर तक नहीं रोकूँगा। यह तो मैं आपको इसलिए बतला रहा हूँ कि आपने हमारे बारे में जानना चाहा। अब तक हमारी ज़िंदगी के बारे में किसी ने कभी कुछ नहीं पूछा था। लोग आते थे, काम करते थे, चले जाते थे।

—जकिया को जब दूसरा बच्चा होने वाला था तब मूसलाधार बारिश हो रही थी। सामने यह जो बड़ा नाला बहता है न, इसका पानी हमारी खोली तक बढ़ आया था। एक तो इस नाले की बू, दूसरे इसका काले अजगर की तरह करवटें लेता पानी—मुझे तो लगता हम किसी सैलाब की चपेट में आ गये हैं। इधर, आसमान में बिजली कड़कती तो जकिया और भी छटपटाने लगती। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ। मैं बाहर कैसे जाता? इस खोली में और कोई नहीं था। डाक्टर-हकीम बुलाने का हमारे लिए सवाल ही नहीं उठता। हाँ, जकिया को अस्पताल पहुँचाया जा सकता था, लेकिन अकेला मैं क्या करता! कोई दूसरी औरत भी नहीं थी। हमारे रिश्ते की एक औरत नक्खास में रहती थी, लेकिन वहाँ जाना मुमकिन नहीं था।

—जब जकिया के पेट में होते दर्द को मैं बरदाश्त न कर सका तब इस खोली से निकल कर दूसरी खोली में गया। इधर जो चार-पाँच खोलियाँ हैं न, इनमें सिर्फ़ एक ही ऐसी खोली है जिसमें एक औरत है, बाक़ी सब में मर्द ही मर्द हैं। जब मैं उसकी खोली में गया तब वह अपने शौहर के सीने में मालिश कर रही थी। उसका शौहर तपेदिक का मरीज़ था। घबराहट में जब मैंने उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जकिया की हालत बयान की तब उसका शौहर बोलने की कोशिश करने लगा और उस कोशिश में पहले उसने थोड़ा-सा ख़ून थूक दिया फिर अपने को सम्हाल कर बोला, 'चली जा, मैं ठीक हूँ। तू जल्दी चली जा।'

—उसकी बीबी जकिया के पास तुरंत चली आयी थी। जब वह पहुँची तब बच्चा पैदा ही होने वाला था। किस तरह उस औरत ने सारा इंतज़ाम किया, यह मैं नहीं जानता। हाँ, वह जो बच्चा आप देख रहे हैं, वह अपनी अम्मी की हालत देख कर बुरी तरह चीख़ रहा था। वह औरत रात भर हमारी खोली में बैठी रही और जब वापस अपने यहाँ गयी तब उसके शौहर की हालत बड़ी नाज़ुक थी। कुछ दिनों बाद वह गुज़र गया। अब उस औरत का पता नहीं। सचमुच उसका शौहर बड़ा शरीफ़ आदमी था। मैं तो उसका अहसान ज़िंदगी भर नहीं भूल सकता। उसने अपनी बीवी न भेजी होती तो यह बच्चा, जो आपके सामने लेटा है, आप न देखते।

—पुराने ज़माने की बातों को याद करने से क्या फ़ायदा। अब तो हम इसी खोली के बाशिंदे हैं। अब हम लौट कर मिर्ज़ापुर नहीं जा सकते। एक धुँधली सी याद ज़रूर आती है कि हमारे बाप-दादे मिर्ज़ापुर के पहाड़ी इलाक़े में रहते थे। बाप के मरने के बाद मेरी माँ मुझे ले कर लखनऊ चली आयी। मैंने आपको बताया न कि मेरी एक रिश्तेदार नक्खास में रहती है। मेरी माँ नक्खास में कई साल रही। उसे दमा था और जब वह मरी तब मेरी उम्र सोलह साल थी।

—हाँ, मैंने यह नहीं बताया कि मरने से पहले मेरी माँ ने मेरी शादी कर दी थी। मेरे खाने का ख़ुद ही ठिकाना न था, मैं अपनी बीबी को कैसे अपने पास रखता। अम्मी की मौत के बाद मैं उस अनाथ की तरह हो गया जिसके चारों ओर सिर्फ़ भूख की आवाज़ सुनायी पड़ती है। माँ बुज़ुर्गी में भी किस तरह काम कर के मेरे खाने का इंतज़ाम करती रही, यह सोचता हूँ तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

—फिर मैंने नौकरी की तलाश शुरू की। यह जान कर कि मेरे कोई नहीं है, एक नानबाई ने मुझे अपनी दुकान में रख लिया। उसके यहाँ और भी नौकर थे। होटल का मालिक नूर मुहम्मद अपने ग्राहकों के लिए एक उर्दू अखबार मँगाता था। दोपहर में जब कोई गाहक नहीं रहता तो हमारा साथी करीमुद्दीन हमें अखबार की खबरें पढ़ कर सुनाता। ऐसे ही एक दिन पढ़ते-पढ़ते वह इतनी ज़ोर से चिल्लाया कि होटल का मालिक भी उसे घूरने लगा। अखबार में यह लिखा था कि एक नेता अपनी लड़की के साथ कलकत्ते में घूम रहे थे कि एक रफ़ूजी (रिफ्यूजी) ने उनकी लड़की की साड़ी का पल्लू पकड़ लिया। नेता बेतहाशा उस रफ़ूजी की ओर लपके और उन्होंने उसे दो झापड़ रसीद किये। रफ़ूजी ने जवाब दिया था, 'साड़ी पकड़ने के पीछे मेरे दिल में कोई बुरा ख्याल नहीं था। मैं बस यह जानना चाहता था कि अपनी बेटी की इज़्ज़त के लिए आप क्या कर सकते हैं। मेरी माँ कहती थी कि इज़्ज़त खिले हुए फूल की तरह होती है और उसी माँ की इज़्ज़त हमारी आँखों के सामने लूटी गयी और हम कुछ नहीं कर सके।' फिर वह रफ़ूजी फूट-फूट कर रोने लगा था और नेता महाशय आगे बढ़ गये थे।

—ज्यों ही मुझे होटल वाले के यहाँ नौकरी मिली, मैं अपनी बीबी को ले आया। तब हम छितवापुर में रहते थे। बीबी के आने पर ख़र्चा बढ़ गया और खाने की तंगी होने लगी। होटल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला मुझे खाना देता था और तलब के पंद्रह रुपये। वहाँ से खाना लाने की इजाज़त नहीं थी। उन पंद्रह रुपयों में जकिया और बच्चा कहाँ से खा पाते। वह कमज़ोर होती जा रही थी और मैं ज़िंदगी की इस बेबसी से ऊब कर कुछ कर डालना चाहता था।

—एक बार जकिया दो दिनों तक भूखी रही। मैंने उससे कहा कि कहीं कोई काम ढूंढ़ ले, लेकिन वह जिस घर की थी उसकी हालत हमसे कहीं अच्छी थी। वह बुरक़े में बैठी सुबकती रही। मैं होटल गया तो खाने के वक़्त मैंने दो रोटियाँ अपनी कमीज़ में रख लीं। सच, उस वक़्त मुझे ऐसी खुशी हो रही थी जैसे मैंने अपनी बीवी के लिए दो गहने रख लिये हों। मैं खा कर उठा और मुंह-हाथ धो कर जैसे ही चलने को हुआ कि होटल का मालिक नूर मुहम्मद मुझ पर चीते की तरह झपटा और मेरी कमीज़ से रोटियाँ निकाल कर गरजने लगा, 'कमीने कहीं के! खाता है और रख कर ले भी जाता है!'

—जब मैं घर लौट रहा था तब मेरे हाथों में रोटियाँ नहीं थीं; वे गहने नहीं थे। मेरे दिल में कितना दर्द था; मैं कितना बेचैन था, यह सोच कर आज भी काँप उठता हूँ। मेरा रोयां-रोयाँ कहता है कि या खुदा, आदमी को हर तरह की बेबसी दे लेकिन भूख और अस्मत की बेबसी न दे। अपनी खोली में लौट कर जब मैंने जकिया से सब-कुछ बताया तब कुछ देर तक तो वह मौत की तरह चुप बैठी रही, फिर एकाएक बोली, 'तुम बैठो, मैं अभी रुपये लाती हूँ।' क़रीब घंटे भर बाद जब वह लौटी तब उसकी हथेलियों पर चार सिक्के थे। मैंने उससे जब यह जानना चाहा कि रुपये उसे कहाँ से मिले तब वह सिर झुकाये बिलकुल चुप बैठी रही। पर उसकी नीची निगाहें कुछ कहती-सी लगीं और अचानक जैसे मुझे जलती हुई सलाख छू गयी। मेरा सारा बदन नफ़रत और गुस्से से काँपने लगा और मैंने उसे पीटना शुरू कर दिया। वहशी की तरह पीटता रहा और कहता रहा, 'इज्ज़त खिले हुए फूल की तरह होती है फ़ाहिशा, खिले हुए फूल की तरह...'

कहते-कहते लूला रुका तो गोयल को ऐसा लगा मानो जकिया बुत हो गयी है, वह खुद औरत की भूख को भूल गया है और सामने का बूढ़ा नाला मद्धिम-मद्धिम स्वर में बहता नहीं, रोता जा रहा है।

—जी, पीट कर, हैवान की तरह पीट कर मैं जकिया को पकड़ कर एक बच्चे की तरह रोने लगा। तब से मैं उसे और भी ज्यादा प्यार करता हूँ।

—आप देखते हैं कि मेरी टाँगें बेकार हैं। इसकी भी एक कहानी है। जब नानबाई ने मुझे निकाल दिया तब मैंने सारा शहर छान डाला, पर नौकरी कहाँ मिलती। मैं पढ़ा-लिखा तो था नहीं। और मैंने तो सुना है कि आजकल पढ़े-लिखे लोगों को भी नौकरी मुश्किल से ही मिलती है। लेकिन, खुदा की इनायत से, जीतोड़ कोशिशों के बाद निशातगंज पेपर मिल में मुझे चालीस रुपये माहवार की नौकरी मिल गयी। काम चलने लगा; बल्कि यों कहूँ कि हम पहले से कुछ अच्छी हालत में आ गये थे। उसी वक़्त मैंने जकिया के लिए कुछ कपड़े और यह बुरक़ा बनवाया था। हम खुदा के शुक्रगुज़ार थे कि उसने हमें और हमारे बच्चों को मौत के मुंह से निकाल लिया था।

—एक दिन मैं 'ओवर टैम' काम कर रहा था। शाम हो गयी थी। मेरी ड्यूटी ऐसी जगह पर थी जहाँ नीचे मशीन चलती थी और ऊपर मैं काम करता था। अचानक बिजली गुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गयी। ऐसा मेरे देखते तो कभी नहीं हुआ था। मैं इतना घबरा गया कि मेरे पाँव काँपने लगे और मैं नीचे लुढ़क गया। उसके बाद मुझे इतना ही याद है कि बिजली जल गयी थी। उस वक़्त की तकलीफ़ याद करता हूँ तो आज भी मेरी रग-रग से कँपकँपी छूटने लगती है। मालूम पड़ता है कि मैं मशीन के नीचे लुढ़कता जा रहा हूँ और उसके डरावने पुरज़े मेरी हड्डियों को कड़कड़ा कर तोड़ रहे हैं। अस्पताल में दो महीने के इलाज के बाद डाक्टरों ने यह तय किया कि टाँगों को काट देना होगा।...

जकिया, जो अब तक चुप थी, इस बात को सुन कर बिलखने लगी। गोयल को महसूस हो रहा था जैसे वह लखनऊ में नहीं है—जहाँ 'क्वालिटी' और 'मेलरोज़' हैं, राजभवन और युनीवर्सिटी हैं, खिलखिलाते हुए खूबसूरत चेहरे हैं, बल्कि वह किसी प्रागैतिहासिक युग में पहुँच गया है, जब आदमी क़ुदरत के सामने बेबस था; जैसे उसके चारों ओर 'गंज' और 'ज़ू' नहीं, सड़क पर भागती बसों की आवाज नहीं, हँसते हुए युग्म नहीं, सिर्फ़ जकिया और लूला हों, वह बूढ़ा नाला और उन बदबूदार खोलियों के बाशिंदे हों।

—फिर मेरी टाँगें काट दी गयीं और जब वे कट गयीं तब हमें मालूम हुआ कि वे टाँगें नहीं, मेरी और मेरे बच्चों की रोटियाँ थीं; मेरे जिस्म के टुकड़े नहीं, मेरी बीबी की अस्मत थी। चार साल हुए, जब हमारी अस्मत हलाल की गयी थी और अब तो मुझे अहसास भी नहीं होता कि मेरे सीने में भी कभी एक दिल था जो अपने बच्चों के लिए कमीज़ बनवा देना चाहता था, जो अपनी बीबी के लिए एक ग़रारा बनवाने की हवस रखता था।

—अब तो कुछ भी नहीं रह गया है। मेरी टाँगें कट जाने के बाद मेरे बच्चे भी लूले हो गये हैं। मैंने तो पिछले ज़माने पर सोचना भी छोड़ दिया था। हम तूफ़ान में टूट गयी नाव के टुकड़ों की तरह बहते जा रहे थे लेकिन आज...आज आप मुझे इस क़दर झकझोर दिया कि मेरे अंदर एक ज़माने से खोयी हुई सारी कहानियाँ ताज़ा हो गयीं। हमें गुमान हो रहा है कि हम ज़िंदगी के बीच से हट कर अलग चले गये थे और आज फिर उसकी तरफ़ लालचभरी निगाहों से देखना चाहते हैं।

—आपके कहने पर जब जकिया अपना बुरक़ा उतार रही थी तब आप एकाएक चौंक पड़े। जब बुरक़े के अंदर आपने जकिया के नंगे शरीर को देखा तब आप, जो मन बहलाव के लिए आये थे, ऐसा सवाल कर बैठे कि मुझे हँसी आ गयी। आपने यही पूछा था न कि, 'बुरक़े के अंदर और कुछ नहीं पहनतीं क्या ?' तो जकिया ने घबरा कर जवाब दिया था, 'और कुछ नहीं है जिसे पहनूँ।' और एकाएक आपने चीख कर कहा था, 'बुरक़ा पहन लो, पहन लो।' जकिया शायद ताज्जुब में पड़ गयी थी। खोली के इस हिस्से में सोया मैं भी चौंक उठा। आज तक ऐसा नहीं हुआ था। लोग आते, मन बहलाते और चले जाते। लेकिन जब आपने कहा, 'ओफ़, इतनी ग़रीबी' तब मेरे अंदर के सूख गये आँसू बलबले की तरह मेरी आँखों से बह निकले।

—फिर आपने हमारी कहानी सुननी चाही। कहानी खत्म हो चुकी है मगर हम अभी बाक़ी हैं। मैं यक़ीनन कहता हूँ कि मुझे इस बात की तकलीफ़ नहीं होती कि मेरी जकिया की इज़्ज़त मेरे सामने लुटती रही और मैं कुछ कर नहीं सका। मुझे इसका भी दर्द नहीं कि मेरे बच्चों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी माँ को ऐसी हालत में देखा। हम तो लुके-छिपे अपनी रोटी चला रहे हैं। मैं तो सिर्फ़ यह सोच कर दहल उठता हूँ कि यह बुरक़ा भी, जो हमारी रोज़ी और रोटी है, जो हमारी लुटी हुई इज़्ज़त का परदा है, फट जायगा तब क्या होगा? छब्बीस साल की उम्र में ही जकिया एकदम बूढ़ी हो गयी और अब जब यह छिपा पेशा भी हमें रोटी नहीं दे सकेगा तब क्या होगा? मैं अपने से, ख़ुदा से, ज़माने से और आप से पूछता हूँ—तब क्या होगा?

लूला चुप हो गया। जकिया बिना चीख़े-चिल्लाये रो रही थी। बाहर का नाला मटियाले पानी में बहता जा रहा था। गोयल की सारी चेतना मानो सुन्न हो गयी थी। आँखों में सूनापन लिये वह इस तरह उठा मानो अँधेरे में रास्ता टटोल रहा हो. . .नहीं, नहीं! यह सब झूठ है, यह फ़रेब है, यह महज़ एक ख़्वाब है!

आगे बढ़ते हुए उसने दो रुपये का नोट जकिया के सामने रख दिया पर कुछ बोला नहीं। कोई किसी से नहीं बोला। फिर वह तेज़ी से बाहर आ गया।

एक ताँगे पर बैठा कोई आदमी लाउड स्पीकर पर ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा था, "आइए, आइए! परसों अमीनुद्दौला पार्क में अपने परम पूज्य नेता का भाषण सुनिए! महिलाओं के लिए विशेष प्रबंध। हज़ारों की संख्या में आइए!"

गोयल मुँह बिचका कर हँसा। उसने जेब से सिगरेट निकाली और बुदबुदाने लगा. . .तब क्या होगा? जब यह बुरक़ा भी फट जायगा तब क्या होगा? मैं अपने से, ज़माने से, ख़ुदा से पूछता हूँ—तब क्या होगा?

फिर उसने सिगरेट सुलगायी और सामने के पैराडाइज़ रेस्तराँ में घुस गया।

—एम ६३, कीर्तिनगर,
नयी दिल्ली–१५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना

(कुँवर नारायण और उनकी कविता)

स्व० गजानन माधव मुक्तिबोध

आज मनुष्य को अपने जीवन का बृहत अंश अर्थोपार्जन के अथवा उससे संबंध रखने वाले या उसके आधार पर खड़े होने वाले विस्तृत व्यवहार-क्षेत्र को समर्पित कर देना पड़ता है। इस व्यवहार-क्षेत्र में मनुष्य की शक्ति का अपार व्यय होता है जो संवेदनशील, आत्मचेतन कवि के लिए आत्म-क्षय के बराबर है। बाज़ारों, दूकानों, दफ़्तरों और कल-कारख़ानों से बने हुए इस व्यवहार-क्षेत्र का मूल नियम है—स्व-हित, या कहिए स्वार्थ। किसी व्यापक, उदात्त और महत्व-पूर्ण मानव-उद्देश्य से इस स्व-हित का यदि योग हो पाता तो व्यवहार-क्षेत्र में आत्मपूर्ति की वास्तविक मानवीय संभावनाएँ थीं। किंतु, आज की इस सभ्यता के अंतर्गत, गति का मूल प्रेरक तत्व मात्र स्व-हित होने से, इस व्यवहार-क्षेत्र में, कवि अपने को 'अजनबियों' से घिरा पाता है। कवि के अंतःकरण की तृषा की पूर्ति इस व्यवहार-क्षेत्र में काम करने से नहीं हो पाती।

फिर भी, आज की स्थिति में इस व्यवहार-क्षेत्र से छुटकारा भी नहीं है। जीवन-यापन-पद्धति की जो एक लीक पहले से चली आयी है वह इसी व्यवहार-क्षेत्र में से गुज़रती है। जीवन-यापन के लिए, स्व-हित को त्यागा भी नहीं जा सकता, लेकिन चूँकि इस स्व-हित का योग व्यापक मानव-उद्देश्यों से हो नहीं पाता, अतएव एक छिछली सतही ज़िंदगी जीना पड़ता है, और इस सतहीपन में रहते हुए स्थिति-परिस्थितियों, व्यक्तियों और शक्तियों से समझौता करना पड़ता है; यदि वैसा न किया जाय तो जीवन-यापन-पद्धति, जिसकी गति का प्रेरक तत्व सब के लिए स्व-हित ही है, असंभव हो जाय। संक्षेप में, इस व्यवहार-क्षेत्र में व्यापक मानव-उद्देश्यों से मिलन नहीं है; हृदय का हृदय से संपर्क नहीं है। फिर भी, अपने मूल्यवान दिवस का, दैहिक और मानसिक ऊर्जा का, एक बृहत अंश उसी व्यवहार-क्षेत्र को समर्पित कर देना पड़ता है। यह व्यवहार-क्षेत्र हमारी ज़िंदगी घेर लेता है। आत्म-चेतन, संवेदनशील कवि उसमें यदि अपने को निःसंग अनुभव करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! आधुनिक युग की इसी समस्यात्मक बाधा को कवि ने बहुत स्पष्टता से और सुंदरतापूर्वक उभारा है—बेसबब जीना या सुकरात की तरह ज़हर पीना। यही दो विकल्प हैं; तीसरा नहीं।

महत्व की बात यह है कि आज जब कि साधारणतः लेखक और कवि इसी व्यवहार-क्षेत्र में कार्यकुशल हो कर अपने को अधिकाधिक सफल और प्रभावशाली बनाने के प्रयत्न में लीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहते हैं और इसके लिए बिक तक जाते हैं, कुँवर नारायण ऐसा कवि है जो उसी व्यवहार-क्षेत्र के विरुद्ध तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, जीवन के क्षण-क्षण को तडिन्मय और संवेदनमय बनाने के लिए अकुलाता हुआ, पीड़ित अंतरात्मा के स्वर को उभारता है। उसे वास्तविक मानवीय सार्थकता की तलाश है। वह वास्तविक मानवीय सार्थकता उसे कहीं भी नहीं मिल पाती। इसलिए, उसका चित्त खिन्न हो जाता है। पर वह केवल दुख के काले रंगों में घिर कर खुद डूब नहीं जाता वरन मानव के हृदय-विस्तार की क्रिया में जो एक मूल समस्यात्मक बाधा है, उस बाधा के वस्तुगत रूप का भी स्पष्ट चित्रण करता है। उसका स्वर उदात्त और नैतिक महत्व धारण कर लेता है। कुँवर नारायण, मूलतः, आदर्शवादी कवि है।

फलतः, उसके हृदय में एक अनबन है, एक बेबनाव है—व्यवहार-क्षेत्र के घिराव से छुटकारा न होने के कारण। किंतु साथ ही, उस वातावरण की निरर्थकता का भी उसे पूर्ण भान है। उसकी कविताएँ उस विशेष तनाव से उत्पन्न हैं जो आत्म और बाह्य के परस्पर द्वंद्व के कारण उपस्थित होता है। कवि कुँवर नारायण केवल मनुष्य बनना चाहता है। यही उसका रोग है, यही उसकी समस्या है। इसी समस्यापन्न स्थिति ने उसके अंतःकरण में तरह-तरह की महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कीं।

कवि कुँवर नारायण ने अपना एक शिल्प विकसित कर लिया है, जिसमें कहने की सादगी, संवेदना की तीव्रता, रंगों की गहराई और ख्यालों की लकीरें साफ़-साफ़ उभर कर आती हैं। फलतः, न केवल आत्म-पक्ष का वरन बाह्य-पक्ष का भी चित्रण हो जाता है। मुख्य बात यह है कि रंगों की गहराई में ख्यालों की लकीरें खो नहीं जातीं; एक भाव का दूसरे भाव से जो अंतः संबंध है वह स्पष्ट प्रस्तुत होता है। फलतः, पूरा भाव-चित्र, पूरा विचार-चित्र सामने आ जाता है, जिसमें आत्म-पक्ष और वस्तु-पक्ष दोनों का संतुलनपूर्ण योग रहता है। कवि का जो कथ्य है उसकी दृष्टि से देखा जाय तो उसका शिल्प सचमुच बहुत महत्वपूर्ण, सुबोध अर्थात सहजतापूर्वक हृदय-ग्राह्य है और, यदि मैं अपनी व्यक्तिगत शब्दावली में कहूँ तो, उसका तकनीक वस्तुतः जनतांत्रिक है। कवि की पीड़ित अंतरात्मा और व्यथित विवेक-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए ऐसी ही शिल्प-व्यवस्था की ज़रूरत थी। किंतु, उसकी इस शिल्प-व्यवस्था से यह न समझा जाय कि कवि का अंतर्जगत कम जटिल या ग्रंथिल है। वस्तुतः, अपने मन की इस ग्रंथिल जटिलता से बचाव के लिए, स्वभावतः, सरल (किंतु सार्थक) शिल्प का विकास हुआ है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, कुँवर नारायण की कविता में अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना और जीवन की आलोचना है। एक ओर जब कि कवि यह कहता है :

कि या तो अ ब स की तरह बेसबब जीना है,
या सुकरात की तरह जहर पीना है!

तब यह कह कर वह आज की एक अत्यंत गहन मानव-समस्या पर दृष्टिपात कर रहा है। किंतु, शायद वह भी जानता होगा कि इन दो ध्रुवों के बीच एक हालत है—ज़हर पीने के बहुत-बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले से, सुकरात की तरह जीना। सच बात तो यह है कि अभी कवि को बहुत से फ़ैसले करने हैं। आज जब कि हमारा कवि यह सोचता है :

> **इस दौड़ में इतना थक चुका हूँ**
> **कि अब केवल आराम चाहता हूँ,**
> **चुपचाप एक बंद कमरे में पड़े-पड़े**
> **बिस्तर से ले कर तारों तक धड़कता रहूँ**
> **इस नासमझ, दयनीय ज़िंदगी की**
> **अनधिकार कल्पनाओं में।**

तब निःसंदेह हमें उसी की ये काव्य-पंक्तियाँ याद आती हैं :

> **सीले, व्यथावादी अक्षरों के बीच**
> **ताज़ी धूप आने दो :**
> **इन्हे लाखों दिलों की ख़ुशी में**
> **जी भर नहाने दो।**

मुझे, व्यक्तिशः, इस बात की बहुत खुशी है कि लेखक 'लाखों दिलों' से चौकन्ना है। यही नहीं, कवि के अंतःकरण में जो एक गहन दुख-भाव है, वह उसे जन-जन से हटा कर एकांत में बंद कर देने के बजाय, अपने स्वयं के ही तटस्थ विस्तार द्वारा उत्पीड़ितों की ओर नहीं तो कम से कम उत्पीड़ितों की छाया की ओर अवश्य उन्मुख कर देता है। इसीलिए, अपनी एक फैंटेसी में वह यह कह डालता है :

> **सारी परिस्थिति की एक और भी सूरत थी—**
> **शायद उस आदमी को मदद की जरूरत थी।**

यही नहीं, छिछली और सतही ज़िंदगी के पंजे में फँसे हुए दिन का वध हो जाने पर, पाप के पश्चात पाश्चात्ताप की अनुभूति का अंकन करते हुए जो बिंब कवि प्रस्तुत करता है वह भी साधारण जन-जीवन से संबंधित है :

> **भूख से बिलखता हुआ बालक**
> **सिरहाने रक्खे दीये की रोशनी में**
> **अभी थक कर सो गया हो—**
> **सो गया वह एक छोटा-सा पहाड़ी ग्राम।**

संक्षेप में, स्वयं का दुख और खेद लेखक को बिल्कुल ही स्वाभाविक रूप से दुख-ग्रस्त जन-जीवन की ओर ले नहीं जाता तो कम से कम उसकी टीसभरी याद तो दिला ही देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे अपने इस अंतर्निहित संबंध को ही अथवा, यों कहिए, उससे संबंध रखने वाले लोगों को ध्यान में रख कर कवि कहता है :

विश्वास रक्खो,
मैं तुम्हारे साथ हूँ।
उस तम-विवश उम्मीद में
जो रोशनी को प्यार करती है।
. . . .
अपनी दृष्टि के विस्तार में हम साथ हैं :
विश्वास रक्खो।. . .

किंतु, उसी कविता में कवि यह भी कहता है :

क्यों चाहते हो सर्मापित कर दूँ तुम्हें
यह मुक्ति भी—
जो तुम नहीं हो।
हम नहीं हैं।
—सिर्फ़ मैं हूँ।
एक उल्कापात पथ-विच्युत,
अँधेरे दायरे को नोचता आलोक
जो बुझ जायेगा,
भूखंड—जिसका चौंकता भूकंप
मुझको तोड़ जायेगा,
. . . .
हज़ारों ठोकरों के बीच में फेंकी हुई मिट्टी. . .
वह अनुभूति—वह अपमान! —
औ' वह अस्वीकृत अभिमान—
जो मैं हूँ. . .उसे क्यों चाहते हो?

यहाँ मैं कवि कुँवर नारायण को याद दिलाना चाहता हूँ कि समाज और मानवता हमेशा व्यक्ति के अंतर्निहित निभृत्त में भी गहरी मानवीय दिलचस्पी लेती रही है। उत्पीड़ित मानवता तो स्वयं **'हज़ारों ठोकरों के बीच में फेंकी हुई मिट्टी'** में बहुत ही गहरी आत्मीय दिलचस्पी लेती रही है—चाहे वह निभृत्त, चाहे वह अंतर्व्यक्तित्व, किसी भी प्रकार का क्यों न हो। सहस्रों वर्षों से चले आ रहे साहित्य तथा अन्य कलाओं का विधान ही इसीलिए हुआ है कि व्यक्ति का जो भाग समाज या मानवता की दृष्टि से ओझल रहता है वह सबके सामने प्रकट हो जाय और इस प्रकार उस पर विचार हो सके और उसको उचित रूप मिल सके, या समाज की अपनी किसी ग़लती से वह संबं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धित हो तो समाज भी अपनी ग़लती सुधार सके। जो हो, कवि कुँवर नारायण इतने भावुक कवि हैं कि वे हमें **'दृष्टि के विस्तार'** में तो कम से कम साथ रखते हैं। उनकी यह सहस्विता मधुर है, वरणीय है, कोमल और आत्मीय है। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि जहाँ वे छुपना चाहते हैं, या चूँकि वे सोचते हैं कि :

मैं समूह से विच्छिन्न हूँ
क्योंकि कुछ भिन्न हूँ।

इसलिए वे अपनी विशेषता की रक्षा के लिए, या कहिए कि निजता की रक्षा के लिए (चाहे जिस शब्दावली का उपयोग कीजिए) अपने अंतर्व्यक्तित्व को हमसे अलग रखना चाहते हैं, तो मैं यही कहूँगा कि हम जो समूह हैं वह केवल इकाइयों से बनी हुई संख्या नहीं है। और सच तो यह है कि हम केवल समूह भी नहीं हैं। आवश्यकतानुसार समयानुसार हम समूह हैं; आवश्यकतानुसार समयानुसार समाज और मानवता। समूह के शक्ति प्रयोग से ही भारत को स्वाधीनता मिली। किंतु, अपने-अपने घरों में लौट कर हम अपनी-अपनी विवेक-चेतना, सुख-दुख, स्थिति-परिस्थिति लिए हुए एक जीवित-जाग्रत चैतन्य हैं। और, इसी चैतन्य के कारण, किन्हीं विशेष उद्देश्यों से, हमें 'समूह' भी बन जाना पड़ता है। व्यवस्थाबद्ध जन का नाम समाज है। हृदय-हृदय और अंतः-करण-अंतःकरण में व्याप्त जो कोमल मानव-संबंध है, आत्मीयता, न्याय-भावना, परस्पर सहायता, पर-दुख-कातरता, सहानुभूति, करुणा, चारित्रिक-उच्चता के आदर्श आदि हैं, उसी की एक साथ समूहवाचक और भाववाचक संज्ञा मानवता है। प्रत्येक व्यक्ति कभी स्वयं ही समूह का, तो कभी समाज का, मानवता का अंग रहता है। सही है कि व्यक्ति के एकांत पर समाज का अनुशासन नहीं हो सकता, समाज की दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्निहित उस ओझल हिस्से में नहीं घुस सकती। किंतु, इसी स्थिति में, उसी ओझल भाग को महत्वपूर्ण जान, प्रकट करने के लिए ही साहित्य और कला की अवतारणा हुई, जिससे वह ओझल हिस्सा समाज के सामने आये; अगर समाज उसके महत्व को नहीं पहचानता है तो पहचाने, पहचानने की कोशिश करे। इसीलिए, 'नयी कविता' की अवतारणा हुई। संक्षेप में, हमें कवि के अंतर्लोक में गहरी दिलचस्पी है। उससे हमारी ही आत्मा के गहरे संबंध-सूत्र जुड़े हुए हैं। कवि कुँवर नारायण, अपने अकेलेपन में भी, अकेला नहीं है। इसीलिए स्वयं ही कहता है :

किसी संबंध के डोरे
हमें अस्तित्व की हर वेदना से बाँधते हैं,
. . . .
और तुम जो पास ही अदृश्य
पर, स्पृश्य-से लगते।

और यहाँ मैं कवि ही के शब्द दुहराना चाहता हूँ :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डूब कर जो कुछ उबारा
ज़िंदगी है :
टूट कर जो कुछ सँवारा
ज़िंदगी है।

यह है वह स्वर जो एक साथ भावुक, उदात्त और मननशील है। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, यह कवि, वस्तुतः, व्यथित विवेक-चेतना का कवि है। यह विवेक-चेतना समसामयिक परि-स्थिति-स्थिति के प्रति तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती रहती है। मैं बहुत बड़ी ग़लती करूँगा यदि यह न कहूँ कि अपने परिवेश का, अर्थात समाज और सभ्यता का, जो विश्लेषण उसके पास है, वह अपूर्ण, विकृत और असंगत है। मैं उस विश्लेषण की बात कर रहा हूँ जो काव्य में प्रकट हुआ है। वह वर्तमान सभ्यता को यंत्र-सभ्यता कहता-सा दिखायी देता है। अथवा, बाज़ारों, दूकानों, कल-कारख़ानों, दफ़्तरों से बनी हुई सभ्यता कहता है। असल में, वर्तमान सभ्यता या समाज, अन्याय और शोषण पर आधारित, उत्पीड़न और दमन पर आधारित पूँजीवादी सभ्यता है, जिसे कवि कुँवर नारायण स्वयं भी 'अर्थ-युग' कहता है। यह वह है—जहाँ मनुष्य को अर्थ का दास बनाया जाता है। कवि कुँवर नारायण, अपने सामाजिक विश्लेषण में, मनुष्य को मशीन का ग़ुलाम बताता है। सच तो यह है कि वह पैसे का ग़ुलाम है। दूसरे शब्दों में, पीड़ित विवेक-चेतना के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सही-सही बौद्धिक विश्लेषण करे। यदि कुँवर नारायण किसी अन्य प्रकार के कवि होते, तो मेरे लिए, शायद, यह कहना आवश्यक न होता।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रस्तुत काव्य (**परिवेश : हम-तुम**) में जिस व्यथित विवेक-चेतना का उद्भास है, वह बौद्धिक नहीं, विशुद्ध आत्मीय और स्वानुभवगत है। चूँकि, स्वभावतः कवि अपने सारे संवेदनशील मनुष्यत्व के साथ जीना चाहता है, अपने क्षणों को सार्थक करना चाहता है, इसीलिए उसे जो निधि प्राप्त होती है वह है—पीड़ा। और, चूँकि अभी भी उसे बहुत से फ़ैसले कर के, उन फ़ैसलों द्वारा बताये गये रास्तों पर बढ़ना और बढ़ते रहना है, इसीलिए उसे अपनी वर्तमान स्थिति ज़्यादा सही या उचित नहीं मालूम होती। मतलब यह कि भीतर भी एक गहरी अनबन है। संभवतः ऐसी ही किन्हीं बातों को ध्यान में रख कर वह कहता है :

आज नहीं,
अपने वर्षों बाद शायद पा सकूँ
वह विशेष संवेदना जिसमें उचित हूँ।

कवि कुँवर नारायण ने जो बाह्य सौंदर्य-चित्र प्रस्तुत किए हैं—चाहे वे घर में आयी किरन के हों, या नारी रूप के, धूप के अथवा सिर्फ़ ख़ुशी के, हमें यह कहना पड़ता है कि वे शब्द-चित्र बहुत प्रभावोत्पादक हैं और, साथ ही, 'नयी कविता' के विकसित रूप को सूचित करते हैं। इस प्रकार के उनके चित्र उन्हें एक संवेदनशील और कुशल कलाकार के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। इस समय उनके संबंध में इतना ही काफ़ी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्केच

लखनऊ

●●

श्रीलाल शुक्ल

●●

'शरीफ़ों का ज़वाल और कमीनों का ज़ोर हुआ....। तखफ़ीफ़ का बाज़ार गर्म हुआ। अय्याशी का दौर शुरू हुआ....। आवारा औरतों की बन आयी....बाज़ार का मामला भी देखादेखी ख़राब हुआ....हर चीज़ में मिलावट हुई....नाज़िम और आमिल सब नालायक़ थे।' (--मिर्ज़ा रज्जबअली 'सरूर' लिखित 'फ़सानए इब्रत' का एक उद्धरण। इसका संबंध वाजिदअली शाह के पिता हज़रत अमजदअली शाह के शासन-काल से है।)

●●

सामने विलायती ढंग की दूकाने, सिनेमा, रेस्तराँ और 'बार' थे। जिन, ह्विस्की और बियर के हवाई विज्ञापनों की नियन रोशनी जल-निषेध की नीति को प्रमाणित कर रही थी। फ़ियट और एंबैसेडर कारों की भीड़ में एकाध इंपाला जब कभी निकलती थी तो हम मुंह फाड़ कर उसे आदर से देखते थे, जैसे देसी विश्वविद्यालयों में विलायती विद्यार्थियों को देखा जाता है। फ़ैशनेबिल, दुबली-पतली लड़कियाँ—जिनके जीवन का मुख्य कार्यक्रम अपनी ओर लफ़ंगों को आकर्षित करना और लफ़ंगों की ओर पुलिस को आकर्षित करना था—कूल्हे, वक्ष और टखने मात्र में संपूर्ण मचलती हुई सड़क पर चली जा रहीं थीं। चमचमाती दूकानों पर चालाक छोकरे बैठे ढीली बुशशर्टों, लहलहाते बालों और चूड़ीदार पैंटों में कसे हुए, पुल्लिंगवान वेश्याओं की तरह बैठे थे।

हज़रतगंज का बाज़ार काफ़ी आधुनिक हो रहा था। पर यह आधुनिकता वैसी ही थी जैसी आज की हिंदी कहानियों में केवल ईसाई लड़कियों को हीरोइन बना कर पैदा की जाती है।

मैं एक नये रेस्तराँ के सामने खड़ा था। मेरे साथ दो अदद पत्रकार, हिंदी के एक प्राध्यापक और एकाध होनहार होते-होते इरादा बदल देने वाले साहित्यकार थे। हिंदी प्राध्यापक ने कहा, "हज़रतगंज बड़ा फ़ैशनेबिल होता जा रहा है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंडन करने की अपनी पैदाइशी प्रवृत्ति के अनुसार मैंने कहा, "मुझे तो बड़ा देहाती-सा लगता है।" फिर कुछ सोच कर मैंने कारण बताये, "क्योंकि यहाँ राजधानी है; दूर-दूर की झोपड़ियों और टपरों के लोग यहाँ आ कर बस रहे हैं। यहीं विधान भवन है। कोटद्वारा से सिसवा बाज़ार तक के गाँवों और क़स्बों की संस्कृति आपको यहाँ फूलती-फलती मिलती है। काफ़ी हाउस ही में जाइए—जाते ही किसी क़स्बे के नाई की दूकान याद आती है। सभी आपके मामलों में टाँग अड़ाते हैं। सभी में काश्तकारों की सी घरेलू चालाकी है। कोई भी आपको चुपचाप जीने नहीं देता।"

प्राध्यापक को मेरी बात जँची नहीं, पर उसमें उलटबाँसी थी, इसीलिए उन्होंने कबीर की स्मृति में उसे झेल लिया। फिर वे मेरे पीछे वाले रेस्तराँ में लगी हुई एक आधुनिक चित्रकार की प्रदर्शनी का ज़िक्र करने लगे।

रेस्तराँ में किसी संदिग्ध चित्रकार ने अपने चित्रों की बेशर्म नुमायश लगायी थी। अंदर मेज़ पर कुछ मनीषी बिना किसी खास वजह के कुछ समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उन्हें बिना सुने ही मैं जानता था कि न समस्याएँ उनकी हैं, न विचार उनके हैं। जो भ्रम यह रेस्तराँ और तस्वीरें पैदा करती थीं, वहीं ये मनीषी भी पैदा करते थे। बाहर भी, जैसा कह चुका हूँ, आधुनिकता का भ्रम देने वाली बहुत-सी चीज़ें थीं।

पर जहाँ मैं खड़ा था उसके दायें-बायें किसी ने इस आधुनिकता की क़लई खुरच दी थी, क्योंकि एक ओर एक थाली वाला, सस्ते दाम का निम्न-मध्यम-वर्गीय भोजनालय था और दूसरी ओर हनुमान जी का एक मंदिर था, जहाँ कई लोग अपने को और हनुमान जी को भूल कर राधा-कृष्ण का कीर्तन कर रहे थे। कुछ पैंट-कमीज़ वाले बाबू लोग झेंप-झेंप कर हनुमान जी को प्रणाम कर रहे थे। कुछ बिना झेंपे हुए, उन्हें प्रसाद चढ़ा कर, तिलक लगवा कर हमें चुनौती-सी देते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। मैं भारतीय तटस्थता की नीति से चुपचाप खड़ा था।

मंदिर से दस गज़ की दूरी पर जा कर एक नयी कार रुकी। उसमें दो आदमी बैठे थे। उनके चेहरों से लगता था कि वे अच्छी तरह खाने वाले, और खास तौर से, अच्छी तरह पीने वाले आदमी हैं। बैंकों के शेयर, तस्कर-व्यापार, इनकमटैक्स की चोरी और किशोरियों को फुसलाने और अफ़सरों को खिलाने-पिलाने का वातावरण, तस्वीर के संतों के तेजोमंडल की तरह, उनके चेहरों के चारों ओर फैला था। उनके हाथों में देखते-देखते जादू के ज़ोर से दो गिलास आ गये। मेरे देखते-देखते उन्होंने गिलासों में बोतल से कुछ उँडेला और उसे संतोषपूर्वक पीने लगे।

हिंदी के प्राध्यापक से मैं अब साहित्यिक बातें करने लगा था। मैंने अपनी एक प्रिय बात बतायी, "छायावाद-काल हिंदी कविता का अंध-युग है।"

वे चिढ़ कर प्रसाद का एक उद्धरण देने की तैयारी करने लगे। बोले, "समसामयिक विश्वसाहित्य में प्रसाद के मुक़ाबले . . .।"

मैंने जिज्ञासा की, "समसामयिक विश्व-साहित्य के बारे में आप क्या जानते हैं ?"

उन्होंने बिगड़ कर पूछा, "आप क्या जानते हैं ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने समझाया, "मैं हिंदी लेखक हूँ। आप इसी से समझ सकते हैं कि मैं 'एन्काउंटर' और 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' पढ़ता हूँ, जो आप नहीं पढ़ते।"

"मैं प्रसाद का साहित्य पढ़ता हूँ, जो आप नहीं पढ़ते।"

मैंने साँस खींच कर कहा, "मुझमें और आप में लेखक और अध्यापक का मौलिक अंतर है।"

इसका भी कोई जवाब न मिल जाय, इस डर से मैं एकदम से पत्रकार मित्रों से उपचुनावों की बात करने लगा। ऐसा करते ही मैं लखनऊ में हो गया।

मोटर वालों ने दूसरा गिलास भरा। थाली वाले भोजनालय से बेवाईदार पाँवों और छतनार मूँछों का एक जत्था बाहर निकला। हनुमान जी के मंदिर में बड़े ज़ोर से जय-जयकार हुई। किसी देसी रियासत की एक विलायती मोटर किसी झबरी औरत के हाथों में अटकी हुई, टेढ़ी-मेढ़ी होती सामने से निकली। उसकी नंबर-प्लेट पर रियासत का नाम और गाड़ी का नंबर हिंदी में लिखा था। हम इतने से ही कृतकृत्य हो गये। दो-तीन ऐंग्लो-इंडियन लड़कियाँ फ़ुटपाथ पर खड़ी होकर हनुमान जी को घूरने लगीं। जवाब में हनुमान जी के भक्त लड़कियों को घूरने लगे।

सामने एक रिक्शा आ कर रुका। उस पर सोलहवीं शताब्दी बैठी थी। यानी बुरक़े के अंदर एक औरत थी। मेरे साथ का एक पत्रकार रिक्शे के पास जा कर खड़ा हो गया। उसने दो-एक बार नाक सिकोड़ी, जैसे कुछ सूँघ रहा हो। फिर लौट कर हमारे पास वापस आया और अपने साथी से बोला, "तुम जाओ।"

"नहीं, तुम जाओ।"

मेरी ओर इशारा कर के कहा गया, "ये जायें।"

"ये क्या जायँगे?"

"तो फिर तुम्हीं जाओ।"

वह उसी रिक्शे पर बैठ कर चला गया। अंग्रेज़ी शाम और हिंदुस्तानी रात के आठ बजे।

अब 'गंजिंग' शुरू हुई। हम लोग गर्भवती स्त्रियों की अदा से धीरे-धीरे टहलते हुए, एक दूसरे के कंधे से कंधा लड़ाते, सड़क पर चलने लगे। चलते-चलते 'गांधी-आश्रम' के सामने ऐसे ही खड़ हो गये—वही 'गांधी आश्रम' जहाँ असली मधुमक्खियों से निकाला हुआ शहद मिलता है। हमारे एक साथी ने फ़ुटपाथ पर सिगरेट सुलगायी। एक गंदी कमीज़ और पतलून वाला आदमी हमारे पास आ कर खड़ा हो गया और माँग कर सिगरेट पीने लगा। लोग उससे इज़्ज़त के साथ बातें करने लगे। मैंने पूछा, "तुम्हारी जेब में आज किसी की क़िस्मत है?"

उसने डेढ़ हज़ार और उससे ऊपर तनख्वाह पाने वाले चार-पाँच अर्ध-देवताओं के नाम लिये। यक़ीन दिलाने के लिए उसने अपनी जेब से कुछ की जन्म-कुंडलियाँ निकाल लीं। फिर हमेशा की तरह मेरी जन्म-कुंडली माँगी। मैंने कहा, "मुझे खेद है कि मैं अभी मुस्तक़िल ज्योतिषी पालने वाले आमदनी-वर्ग में नहीं हूँ। ज़रूरत पड़ने पर फ़ुटपाथ पर हाथ देखने वालों या चिड़ियों के सहारे भाग्य पढ़ने वालों से काम चला लेता हूँ।"

"इससे क्या? आप कुंडली तो लाइए।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं विनम्रता से कहता रहा, "ज्योतिषी तो आगे की बात है, मैं अभी कोई बाबा तक नहीं पाल पाया हूँ।"

"पर इससे क्या...?"

तब तक एक पत्रकार मित्र ने कहा, "दूसरी खेद की बात यह है कि आपको आज मैं बियर नहीं पिला सकता। मेरी जेब ख़ाली है।"

"हें..हें..हें, ऐसा भी क्या...।" कहते-कहते उन्होंने जन्म-कुंडलियाँ लपेटनी शुरू कर दीं। देखते-देखते उत्तर प्रदेश के कुछ कर्णधारों के भाग्य सिमट कर एक गंदे पतलून की जेब में घुस गये। सिगरेटों के आदान-प्रदान के बाद हम फिर गर्भवती स्त्रियों की तरह अपनी राह पर लुढ़कने लगे। हमारे साथी ज्योतिषी का मज़ाक उड़ाने लगे। पर राजधानी में ज्योतिषियों और बाबाओं के बढ़ते हुए आतंक का मैं मज़ाक नहीं उड़ा पाया। मुझे रासपुटिन के रूस की याद आ गयी। पर बात को मोड़ देने के लिए मैंने बात वहीं पर छोड़ दी।

पास की इमारत से एक ग्रामोफ़ोन रेकॉर्ड भाँय-भाँय बजा। उसने बताया कि हम चीनियों को मार कर भगा देंगे। हमें याद पड़ा कि स्थिति संकटकालीन है। अचकचा कर हम सब लोग एक पान की दूकान की ओर बढ़ गये। एक नौकरीपेशा आदमी कई बार की कही हुई बात कह रहा था, "ऐसी नौकरी के मुक़ाबले पान की दूकान रखी होती तो...।"

"तो अब तक पान बेच रहे होते।" मेरे एक साथी ने कहा।

किसी ने खबर दी, "परसों अली अकबर ख़ाँ का सरोद-वादन होगा।"

"लखनऊ में?" मैंने ताज्जुब से पूछा।

थोड़ी देर में मेरे एक मित्र ने कहा कि शाम जवान हो रही है। वास्तव में ऐसी बातचीत अनुवाद मात्र जान पड़ती है, पर चूँकि हम ख़ुद अनुवाद मात्र हो रहे थे, इसलिए मुझे यह बात बड़ी वास्तविक जान पड़ी। पैदल चलना छोड़ कर हमने मोटर का सहारा लिया।

खुली सड़क पर, एक पार्क के सामने, एक अस्थायी रेस्तराँ खुला था। फ़ुटपाथ पर कुर्सियाँ पड़ी थीं और लोग आइसक्रीम खा रहे थे। हम लोग मोटर से नीचे नहीं उतरे, बल्कि वहीं ठंडा सोडा और गिलास मँगा लिये। इत्मीनान से बैठे हुए हम लोग पार्क में खड़ी गांधी की प्रतिमा, नयी कार, चीनियों के आक्रमण और शराब के विज्ञापनों की हवा में अपने-अपने फेफड़ों की हैसियत से साँस लेते रहे। भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर और यशपाल पर बातें होती रहीं। बीच-बीच में राजनीति की टुच्ची समस्याएँ आती रहीं, जाती रहीं। वातावरण बौद्धिक हो गया।

इस समय हम लोग तीन रह गये थे। हम सभी निरुद्देश्य थे और हमारी सब से बड़ी समस्या ढेर से समय की थी। लगभग आध घंटे बाद हम आगे बढ़े। हम एक घनी बस्ती के बीच से निकले जहाँ कुछ दिन पहले दिन-दहाड़े एक आदमी मार डाला गया था। किसी ने पुलिस को टेलीफ़ोन करने की बात सोची तो टेलीफ़ोन के मालिक ने मारे डर के मना कर दिया। वैसे दिन-दहाड़े बाज़ार में किसी का मारा जाना किसी दुर्व्यवस्था का चिह्न नहीं, यह केवल दुस्साहस का चिह्न है। हत्या करने के लिए (और लेखक बनने के लिए) दुस्साहस के सिवा और चाहिए ही क्या? करने भर से ही आप करने के मामले में क़ाबिल मान लिये जायँगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम भड़भूंजों, छोटे दूकानदारों, कुँजड़ों और बिसातियों से भरी-पुरी जनसाधारण वाली बाज़ार से हो कर एक ऐसे होटल के सामने से गुज़रे जो उस इलाक़े के लिए बड़ा शानदार और हमारी वर्गभेद वाली निगाह में घटिया था। होटल के अंदर जा कर हम लोग एक बड़े से कमरे में पहुँचे जिसकी दीवारों का गहरा रोग़न फीका पड़ गया था, फ़र्श पर संगमरमर का नक़ली काम था। चारों तरफ़ सस्ते 'बार' का वातावरण था। हम लोगों ने काफ़ी मँगवायी। जाँघिया पहने हुए एक वेटर ने ताज्जुब से हमें देखा, फिर बहुत सोच-विचार कर बोला, "अच्छा, देखिए. . . देखते हैं।"

एक आदमी हाथ में गिलास लिये हुए आया और हमारी मेज़ के पास खड़ा हो कर मुझे घूरता रहा। फिर बोला, "तुम कौन हो?"

यह आदमी पुराने लखनऊ का था, जिसके साथ पौष्टिक दवाओं, दूसरे किसी साधन से प्राप्त कुछ यादों, घिसी-पिटी ग़ज़लों और गंडे-तावीज़ों की हवा बँधी थी। मैंने इज़्ज़त के साथ उसे बताया, "मैं लेखक हूँ।"

उसने आँख मिल-मिला कर कहा, "शायरी करते हो?"

"नहीं, पर चाहूँ तो कर सकता हूँ।"

वह थोड़ी देर मुझे घूरता रहा फिर बोला, "पर वैसे दिखते नहीं हो।"

"यह रोज़ दाढ़ी बनाने और नहाने का नतीजा है।"

उसके चेहरे से लगा कि मैं उसकी निगाह में गिर गया। एक कोने की ओर इशारा कर के उसने मुझसे पूछा, "उन्हें जानते हो? वे ज़माने के उस्ताद हैं।"

बात सच थी। हमारे नज़दीक के कोने में अपने ज़माने के एक बड़े प्रसिद्ध तबलावादक बैठे दारू पी रहे थे। साथ में दो-एक लोग थे जो उसी तरह के पेशों के रहे होंगे। वे पीते हुए ज़माने को लानत भेज रहे थे कि खँझड़ी बजाने वाले भी आजकल तबलची शुमार किये जाते हैं। यहाँ तो वही कलाकार है जिसे आल इंडिया रेडियो मानता है।

लोगों ने अफ़सोस के साथ उनसे सहमति प्रकट की।

वे दुखी थे। शायद कलाकारों की राजकीय मान्यता के सिलसिले में, या जैसे भी हो, इंशा और ग़ालिब का ज़िक्र आ गया था। मैं सोच ही रहा था कि मेरे बोलने का वक़्त आ रहा है, तभी अचानक बुज़ुर्ग उस्ताद ने बिना किसी प्रोत्साहन के कान पर हाथ रख कर एक ग़ज़ल छेड़ दी। दो-चार लोग उसे दोहराने लगे। उनकी पुरानी आवाज़ साफ़-सुथरी और सधी हुई थी पर ऊँचे स्वरों पर जा कर वहीं टिक गयी थी। उसके कारण वातावरण बड़ा उल्लासपूर्ण होता जा रहा था, हालाँकि ग़ज़ल का कुल मिला कर मतलब यह था कि हम बरबाद हो गये। मेरी तबीयत गिर गयी। मुझे याद आया, बहुत देर हो गयी है। हमने जल्दबाज़ी दिखानी चाही तो हमें बताया गया कि यहाँ काफ़ी नहीं मिल सकती।

हम बाहर निकले। सड़कें वीरान होने लगी थीं। हम घनी बस्तियों से निकल रहे थे। अमीनाबाद, मौलवीगंज, अशर्फ़ाबाद, चौक, नक्खास वाला एक और लखनऊ था जो मुंह ढाँपे पड़ा था। एकाध छोकरे, कुछ बुर्के वाली औरतें, मरियल घोड़े और हिलते हुए ताँगे, तँबोलियों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूकाने, हलवाइयों की भट्ठियाँ, कुँजड़ों द्वारा फेंके गये गोभी और मूली के सड़ते हुए पत्ते—उस लखनऊ कुल इतना रह गया था।

इस पर एक नया भविष्य हमलावर हो रहा था। यह नया भविष्य नयी पीढ़ी का हो ऐसी बात नहीं। वह मज़बूती से कुछ होशियार, पुराने हाथों की मुट्ठियों में जकड़ा था। पर वे हाथ हमारे चिर-परिचित हाथ न थे। चुस्त सलवारों, ऊलजलूल बालों और खुली हुई, रोमहीन बग़लों वाली लड़कियाँ, और 'ड्रेन-पाइप' पतलून और ढीली कमीज़ पहनने वाले लड़के इस भविष्य को हथियाने का सपना भर देख रहे होंगे। पर वह एंवैसेडर कार के अंदर बैठ कर हनुमान-मंदिर के पास 'जिन' पीने वालों और हज़रतगंज के रेस्तराँ के अंदर सस्ती थाली में अहिंसावादी खाना खाने वालों के हाथ में चला गया था।

हज़रतगंज आते-आते मैं मेफ़ेयर सिनेमा के सामने मोटर से उतर गया। मैं टहलना चाहता था और रोमांटिक हो रहा था। मैं सोच रहा था कि आत्महत्या करने के बाद अगर किसी तरक़ीब से मैं लोगों की प्रतिक्रियाएँ जान सकता तो एक बार ज़रूर आत्महत्या करता।

अकेले टहलते-टहलते मैं एक ऐसी जगह पहुँचा जहाँ बियर का एक अनिवार्य विज्ञापन मेरी आँखों में चुभने लगा। ग्यारह के ऊपर बज चुका था। एक लड़की विज्ञापन के खंभे के सहारे खड़ी इधर-उधर देख रही थी। दूर से ही, पुरानी हवेलियों, आवारा लड़कों और जीविका-हीन बुज़ुर्गों वाले किसी ख़ानदान का सहारा दिखती थी।

मुझे अपनी एक माया-छाप कहानी याद आयी, जिसमें सड़क पर घूमने वाली एक वेश्या भाई की बीमारी की बात चला कर पैसे के सवाल पर आती है। वह पहले बताती है कि उसका एक भाई मेडिकल कॉलेज में बीमार पड़ा है।

खंभे के पास खड़ी हुई लड़की की आवाज़ ने मुझे चौंकाया; उसने मुझसे समय पूछा था। मैंने कहा, "ग्यारह बज कर पचीस मिनट।" फिर न जाने कैसे, मैंने उससे अचानक सवाल किया, "तुम्हारा कोई भाई क्या मेडिकल कॉलेज में बीमार है?"

"आपको कैसे मालूम?" उसने कुछ रुक कर कहा। उसकी आवाज़ में विश्व-मैत्री का संदेश था।

जवाब में पहेली-सी बुझाते हुए विलायती ढंग से मैंने कंधे मटकाये और बिना कोई बात कहे, टहलता हुआ आगे बढ़ गया। बिजली के खंभों की रोशनी में फैली हुई, एक दूसरे को काटती हुई अपनी परछाइयों को कुचलता हुआ मैं एक परछाईं-सा ही धीरे-धीरे अपने घर की ओर चलता रहा।

लखनऊ का एक बौद्धिकतापूर्ण दिन ख़त्म हुआ।

२९ गुलिस्ताँ कालोनी,
विवेकानंद मार्ग,
लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुबह होने तक

सुरेश सिनहा

शंकर बाबू कल रात से बीमार पड़े हैं पर किसी को इतनी फ़ुर्सत नहीं कि वह आ कर उनके पास थोड़ी देर बैठे, या वक़्त पर दवा दे जाय। हल्का मौसमी बुखार उन्हें उतना परेशान नहीं कर रहा था जितना यह विचार कि सब अपने में लीन हैं और वे बाहर के कमरे में इस तरह बैठे हुए हैं जैसे घर से उनका कोई संबंध ही नहीं। आराम-कुर्सी पर टाँग फैलाये वे अंदर मचे हो-हल्ले से अपना ध्यान हटाने की बराबर चेष्टा कर रहे थे पर बार-बार गुस्से से उनके नथुने फड़कने लगते और होंठ काँपने लगते। अपने तमतमाये चेहरे के आवेश को मिटाने के लिए वे बार-बार गालों पर पड़ आयीं झुर्रियों को सहलाते जा रहे थे और रह-रह कर अपने गंजे सिर पर हाथ फेर लेते थे। उनका मिज़ाज सुबह से ही ठीक नहीं था। जैसे ही सो कर उठे तो सिरकी की माँ की मनहूस सूरत उन्हें दिखायी दे गयी। वह बर्तन माँज कर जा रही थी और शंकर बाबू वहाँ दातून करने पहुँच गये थे। उन्हें क्या पता था कि वह मनहूस अभी तक रुकी होगी। दूसरे, आज उन्हें अभी तक किसी ने चाय के लिए तक नहीं पूछा था। और जब लगभग दस बजे शरत की माँ को याद आयी तब अशोक पूछने आया, "दादा जी, आपके लिए चाय बनवा कर लाऊँ?"

अशोक की उस बात पर शंकर बाबू को एकदम गुस्सा आ गया था, पर उस अबोध शिशु का ख़्याल कर के वे चुपचाप गुस्से को पी कर रह गये। 'कोई बड़ा होता तो . . .' उन्होंने झुँझला कर सोचा।

आज ललिता की बच्ची मीता का मुंडन था, और पूरे दो साल बाद सारा परिवार एक साथ इकट्ठा हुआ था। बड़ा लड़का शरत, उसकी बहू कमलिनी, बड़ी लड़की मधु और उसके पति, छोटी लड़की ललिता और छोटा लड़का कुंदन तथा उसकी पत्नी सुषमा—सभी लोग कल रात तक आ गये थे; और उस भीड़-भड़क्के में कोई शंकर बाबू को पूछने वाला तक नहीं रहा था। उन्हें कुंदन और सुषमा का आना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा था। पर शरत की माँ का कहना था, "अब जो होना था, हो ही गया। आखिर है तो हमारे ही जिगर का टुकड़ा! दो साल बाद घर आने को तैयार हुआ है। फिर उसे मना करना ठीक नहीं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरत की माँ ने यह बात बिल्कुल फ़ैसले के स्वर में कही थी जिसको अस्वीकारना शंकर बाबू के लिए मुश्किल पड़ गया था। उन्होंने इसे बड़े बेमन से माना था; हालाँकि वे इसे किसी भी रूप में गले के नीचे नहीं उतार पाये थे। उनकी शर्त शरत की माँ ने मान ली थी कि जब तक वे लोग इस घर में रहेंगे, वे अपने घर के बाहर नहीं निकलेंगे और बाहर अपने कमरे में ही रहा करेंगे। ऐसे नालायक़ लड़के और उसकी बहू का मुँह भी नहीं देखना चाहते . . .।

शंकर बाबू गुस्से में उबले बैठे थे। अंदर से हँसी और क़हक़हों की आवाज़ें आ रही थीं। एक बार तो उनके मन में आया कि अंदर को खुलने वाली खिड़की जा कर खटाक से बंद कर दें; पर जाने क्या सोच कर उन्होंने उसे खुली ही रहने दिया। दरअस्ल, वहाँ अकेले बैठे उनका मन नहीं लग रहा था। वे भी चाहते थे कि उठ कर अंदर चलें और उस कोलाहल में शामिल हों। वे आज तक कभी इस तरह तनहा-तनहा नहीं रहे थे; हमेशा लोगों से घिरे रहना चाहते थे। जब तक उन्होंने नौकरी से अवकाश नहीं प्राप्त किया था, इस बात की कभी परेशानी नहीं हुई थी। पर अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्हें ज़िंदगी बड़ी शुष्क लगने लगी थी। वे हमेशा यही चाहते थे कि उन्हे कोई ऐसी शक्ति मिल जाती जिससे वे अपनी जिंदगी पर छाये उदासी और अकेलेपन के बोझ को मिटा सकते, पर . . .

मनहूस से लगने वाले उन क्षणों में भी शंकर बाबू का ध्यान अंदर की ही तरफ़ लगा हुआ था जहाँ क़हक़हे लग रहे थे, शोर-शराबा आसमान को छू रहा था— "अरी कमलिनी! देख रामबाबू कितने उदास बैठे हैं, कुछ खा-पी नहीं रहे हैं!"—"हाँ, अब जीजा जी को खाना-पीना क्यों अच्छा लगेगा! उन्हें तो अभी से चिंता लग गयी मीता के ब्याह की।"—"च्च . . . च्च . . . अरे साहब, खाइए भी! छोड़िए इसे। अभी तो आज उसका मुंडन है। ब्याह के तो अभी बीस-साल पड़े हैं। तब यह ज़माना थोड़े ही रहेगा . . ."—"सुषमा, देख भैया को थोड़ा हलवा और दे . . ."— "अरे आनंद बाबू! एक समोसा तो और लीजिए। आपके लिए खास तौर पर हरीराम के यहाँ से मँगवाये हैं।"—"अरे तुम लोग जल्दी ही नाश्ता कर लो, पंडित जी आते ही होंगे . . . अरी मधु, बाबू जी को भी थोड़ा हलवा और समोसा भेज दे। खाने में तो आज देर हो ही जायगी।"—"जीजा जी लीजिए, यह आखिरी समोसा आपके हिस्से का . . ."

यह ललिता का स्वर था। तो चाय के बाद अब हलवा और समोसा उड़ रहा है! शंकर बाबू को अपने ही ऊपर खीझ हो आयी। उन्होंने अपने मन को समझाने की कोशिश की—बच्चे हैं। यही तो उनके खाने-पीने की उम्र है। मैंने इस उम्र में क्या कम खाया-पिया है! भैया तो बस हमेशा यही कहा करते थे, 'शंकर तो बस मरभुक्खा है मरभुक्खा! इसे हर समय कुछ-न-कुछ खाने को मिलता रहना चाहिए। मैं डंड पेल-पेल कर कमाऊँ . . . यह ठूँसे। मुझसे तो यह न होगा . . .' पर तब भी भैया ऑफिस से लौटते समय ढेर सारा खाने का सामान लाते थे। वे देवता थे, देवता . . . और फिर, क्या नौकरी में आने के बाद मैंने कम गुलछर्रे उड़ाये हैं . . . अरे राम कहो! तर माल के कारण ही आज शरीर की यह हालत है, नहीं तो न जाने कब का टें बोल गया होता। . . . ये झुर्रियाँ भी पचपन के बाद पड़नीं शुरू हुईं हैं; पर यह मेरी पहाड़ जैसी देह आज तक झुकी नहीं। इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबों से इस उम्र में भी ज़्यादा चुस्त हूँ। ये आजकल के सींकिया पहलवान मेरे सामने क्या हैं . . .

और एक बार गर्व से शंकर बाबू ने अपने दोनों कंधों को थोड़ा झटक दिया। लेकिन उनकी आँतें कुलबुला रहीं थीं। उनका ध्यान फिर भीतर की ओर चला गया. . .लेकिन इन सबको, शरत की माँ को तो सोचना चाहिए कि कुछ भी हो जाय मैं चाय पिये बग़ैर नहीं रह सकता। और आज दिन के बारह बज गये, अभी तक चाय नहीं मिली. . .अब कहो भला! अगर आँगन में जा कर बिगड़ूँ तो वह नयी जो आयी है, क्या समझेगी? सोचेगी नहीं कि कैसा घर है? बड़े-बूढ़े एक दिन बिना नाश्ते के नहीं रह सकते; बच्चों की तरह चिल्ला रहे हैं. . .अब अगर मधु समोसा-हलवा ले कर आयी तो. . .तो प्लेट उठा कर ज़मीन पर फेंक दूँगा, झनझना कर टूट जायगी। मैं कोई रिरियाता कुत्ता हूँ जो तरस खा कर बारह बजे नाश्ता भेजा जायगा? . . .फिर उन्हें ख्याल आया कि इसका सवाल ही अब कहाँ उठता है! अंदर से तो ललिता की आवाज़ आयी थी—जीजा जी लीजिए, यह आखिरी समोसा आपके हिस्से का. . .।

शंकर बाबू का मन एकदम कड़वा हो आया था। वे चाहते हुए भी वहाँ नहीं बैठ सके। उठ कर कोट पहना, पाँवों में चप्पलें डालीं और हाथ में छड़ी ले कर सुलाकी की दुकान तक चले गये। वहाँ एक प्याली चाय पी, मक्खन और टोस्ट खाया, तब कहीं जा कर शांति मिली। फिर धीरे-धीरे आल्फ़्रेड पार्क की ओर चलने लगे। धूप कुछ खास नहीं निकली थी। शंकर बाबू को सर्दी महसूस हो रही थी। उन्हें एकाएक इसी बात पर ग़ुस्सा आ गया कि कमबख्त धूप क्यों नहीं ठीक से निकली? . . .यह भी कोई बदली का मौसम है? ज़माना क्या आ गया है कि नीचे से ऊपर तक हर चीज़ ही बदल गयी है।

उनके क़दमों में अस्थिरता थी और चेतना में हलचल। विचारों की भीड़ में एक-के-बाद-एक विचार आता जा रहा था और टूटता जा रहा था। उन्हें सब कुछ बड़ा अजीब-सा लग रहा था। वे सोच रहे थे कि कुंदन और सुषमा के आने से ही यह भीड़-भड़क्का हुआ है; मीता का मुंडन तो एक बहाना मात्र है। उन्हें यह बात बराबर सालती रही है कि कुंदन ने कभी उनकी बात नहीं मानी। उन्होंने दिन-दिन भर दफ़्तर में काम कर के और रात-रात तक ट्यूशन कर के उसकी एम० ए० तक की पढ़ाई का खर्चा, हॉस्टल का खर्चा, पब्लिक सर्विस कमीशन के इम्तहानों का खर्चा, सभी कुछ अपना खून-पसीना एक कर के सँभाला, और जब वह सेल्स टैक्स आफ़िसर बन गया तब उसने यह गुल खिलाया; उनकी कल्पनाओं को यह आघात पहुँचाया!

शंकर बाबू अचानक ही नये सिरे से आवेश में आ गये। एक बार तो सहसा उनकी समझ में ही नहीं आया कि वे कहाँ जा रहे हैं और क्यों जा रहे हैं? क्रोध से उनका चेहरा फिर तमतमा उठा था और होंठ काँपने लगे थे। फिर उन्होंने छड़ी से अपने बायें हाथ की हथेली पर मारते हुए मन-ही-मन कहा—कमबख्त इस जमाने की शक्ल ही ऐसी बन गयी है कि जिसे देखो नया बनने को पागल है। जो नये का अर्थ नहीं भी समझ रहा है वह भी नया बनने की अकुलाहट में मरा जा रहा है, बेढंगी चाल चल रहा है। और जो नतीजे सामने आ रहे हैं, इतने बुरे. . .इतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि...हरे राम! हरे राम!!...इन कमबख़्तों को कोई क्या कहे?...बिरादरी तोड़ दो! समाज को ठोकर मार दो! पुरानी रस्मों और रीतियों को आग लगा दो...अब सोचो भला! बाप तो सत्तर परजों की टट्टी उठाता फिरे और साहबज़ादे नयी साइकिल पर बैठे, छैला बनें युनिवर्सिटी में पढ़ने का ख़्वाब देख रहे हैं। फिर अंधेर नहीं होगा तो और होगा क्या?...हो ही क्या सकता है?...अरे, यह तो होता नहीं कि अपने अंदर रोशन ख़्याल पैदा करें; अपने-अपने काम में आगे बढ़ें; तरक़्क़ी करें। पर नहीं साहब, यह कैसे होगा? बाप न मारी मेंढ़की और बेटा तीरंदाज़! नये बनने की धुन में माँ-बाप को तो पहले ही गोली मार देंगे, उनकी इज़्ज़त-मर्यादा चौराहे पर नीलाम कर देंगे, फिर तो सब नया ही नया है। अरे पूछो इन सुसरों से! ज़माना कुछ भी हो जाय, कभी इंसानियत मरी है? आदमी कभी पशु बना है?...पशुता का आचरण करना भी कहीं आदमियत है! यही नयापन है तो तोबा-तोबा...

पशुता की बात आते ही शंकर बाबू को फिर कुंदन की याद हो आयी। कुंदन को वे बचपन से ही बेहद प्यार करते आये हैं और वह बचपन से ही उनकी हर बात की अवहेलना करता आया है। वह हमेशा अपने मन की ही बात करता रहा। कभी उसने शंकर बाबू का कहा नहीं माना, कभी उनके सुझाये रास्ते पर नहीं चला। कई बार शंकर बाबू ने फ़ैसले के स्वर में कहा था कि घर में रहना है तो यह विद्रोह नहीं चलेगा, पर कुंदन ने कभी इस पर ध्यान नहीं दिया। यहां तक तो ठीक था। शंकर बाबू अपने मन को समझा लिया करते थे—जहाँ लड़के पर ज़िम्मेदारी आयगी वह अपने आप ही गंभीर हो जायगा। और उन्होंने अपनी पसंद की एक लड़की से कुंदन की शादी कर दी।

कुंदन ने जब शैलजा की फ़ोटो देखी थी तब एकदम अस्वीकार दिया था। पर शंकर बाबू कच्चे खिलाड़ी न थे। उन्होंने दुनिया देखी थी। अपने पचपन वर्षों के अनुभव का निचोड़ उनके पास था। उन्होंने कुंदन जैसे जाने कितने देखे थे। वे उसकी कमज़ोरी जानते थे; उसकी भावुकता जानते थे। उन्होंने शैलजा को रामबाग़ में हनुमान जी के मंदिर में देखा था। उसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कुंदन को भावुकता में डूबा हुआ पत्र लिखा था। भगवान के सामने शैलजा को अपनी बहूरानी मान लेने की बात लिखी थी, अपनी पगड़ी उछल जाने की बात लिखी थी और मौत से संघर्ष करते हुए अपने जीवन के अप्रत्याशित अंत की बात लिखी थी—क्योंकि मान और प्रतिष्ठा पर हुए आघात को सहन करना मुश्किल होता है।...फिर अंत में यह भी लिख दिया था कि जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के साथ सामंजस्य हो जाता है; चाहे वह सुंदर हो या असुंदर। असुंदर व्यक्ति भी अपनी आत्मा की महानता के कारण सुंदर व्यक्ति से बड़ा बन जाता है। फिर शैलजा पढ़ी-लिखी है, सुशील है, विनम्र स्वभाव की है। उसमें भारतीयता है। वह कुशल गृहिणी बन कर उसके जीवन को स्वर्ग बना देगी...

तब कुंदन एम० ए० में पढ़ रहा था। कच्ची उम्र थी। अनुभव की अपरिपक्वता और भविष्य की अस्पष्टता थी। सारे ज़ोर-दबाव के आगे उसने माथा टेक दिया था। शंकर बाबू के पाँव धरती पर न पड़ते थे। उन्हें जैसे सारी दुनिया का ख़ज़ाना मिल गया था। उनकी पगड़ी उछलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल काँगड़ी

से बच गयी थी। यह लोक तो उनका सम्हल ही गया था, परलोक भी बन गया था। भगवान की प्रतिमा के आगे जिसे बहूरानी मान लिया था, उसे फिर अस्वीकारना नहीं पड़ा। और फिर एक दिन शैलजा बहू बन कर आ गयी।

पर शंकर बाबू ने जो कुछ भी सोचा था, वह नहीं हो सका। उनका लोक-परलोक दोनों ही बिगड़ गया। कुंदन अपनी पत्नी में जो कुछ पाना चाहता था, शैलजा उससे कोसों दूर थी। चेचक के गहरे दाग़ों से भरा, शरीर के अनुपात से बड़ा उसका भद्दा चेहरा उसे आकर्षित न कर सका। उसके कपड़े पहनने का सलीका, उठने-बैठने और बातचीत करने का ढंग उसे ज़रा भी पसंद न था। उसे लगता था कि पढ़ी-लिखी होने के बावजूद शैलजा ऐसे संस्कारों और वातावरण में पली है, ऐसे सात तालों के भीतर बंद रही है कि वह कहीं किसी भी रूप में उसके साथ समझौता नहीं कर सकता। और उसके लाख समझाने के बावजूद शैलजा अपने को बदलने में असमर्थ रही। नतीजा यह हुआ कि दोनों की निभ नहीं सकी।

रोज़ की चख़-चख़, कुंदन के चिड़चिड़े स्वभाव, शैलजा को हरदम कहे जाने वाले अशोभन शब्दों, उसके साथ रहने, उठने-बैठने, कहीं साथ जाने से कुंदन के दूर भागने और शैलजा के विवश, दयनीय चेहरे को देख कर शंकर बाबू को बड़ा अजीब सा लगता था। उन्हें अपने सारे विश्वास टूटते नज़र आये थे; अपनी सारी आस्थाएँ बिखरती लगीं थीं। एक दिन उन्होंने कुंदन से दृढ़ स्वर में कहा, "यह सब क्या बद्तमीज़ी है? पढ़े-लिखे लड़के क्या अपनी पत्नी के साथ इसी तरह व्यवहार करते हैं? वह यहाँ आख़िर किसके सहारे आयी है; तुम्हारे ही भरोसे न?"

कुंदन इस पर चुप रहा था। उसके मन में कहने को बहुत-कुछ था, पर उसने अपने को किसी तरह नियंत्रित रखा। लेकिन शंकर बाबू के बहुत बहस करने पर आख़िर उसे अपनी चुप्पी तोड़नी पड़ी थी। उसने आवेश में कहा था, "मैं शैलजा को अपनी पत्नी नहीं मानता।"

सुनते ही शंकर बाबू को लगा था जैसे उनके सामने कोई ज्वालामुखी फट गया हो; सुलगते अंगारों से उनके शरीर में फफोले पड़ गये हों और वे झुलस रहे हों। एक बार तो उनके जी में आया कि बचपन की ही तरह कुंदन की बाँह पकड़ें और उसे इतना पीटें. . .इतना पीटें कि. . . ., पर उन्होंने अपने भीतर के उबाल को बड़ी मुश्किल से दबाते हुए पूछा, "क्यों?"

"उसके साथ मेरे मन का संबंध नहीं हुआ। मैं जो कुछ भी चाहता हूँ उसका अंश मात्र भी उसमें नहीं है। हमारे विचार, हमारे आदर्श बिल्कुल भिन्न हैं।"

"पर तुम्हें उसे समझाना चाहिये न? तुम उसे ब्याह कर लाये हो या मज़ाक किया है?"

"मज़ाक तो आपने किया है। आपने झूठ-मूठ इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना कर मेरा जीवन नष्ट किया है। अपनी भावुकता की रौ में आपने यह तक भी देखने की कोशिश नहीं की कि आख़िर उसके साथ मेरा कोई 'मैच' है या नहीं। यहाँ तक कि आपने जानते हुए भी यह छिपाने की कोशिश की कि वह मुझसे पूरे चार साल बड़ी है. . .। बताइए! कौन सी विवशता थी आपके सामने?"

अचानक शंकर बाबू की समझ में ही नहीं आया था कि वे इसका जवाब क्या दें। उन्हें स्वयं ही नहीं मालूम था कि इसके पीछे कौन सी विवशता थी; उन्होंने क्यों यह सब किया था?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह कौन सी धुन थी जिसके कारण यह सब हुआ ? फिर अपने को किसी प्रकार संयत करते हुए बोले, "अब तो जो हुआ, सो हुआ। अगर कोई बात बिगड़ भी गयी है तो तुम पढ़े-लिखे हो; उसे सुधारने की कोशिश करनी चाहिए न ?"

पर कुंदन ने स्पष्ट स्वर में कह दिया था, "पिता जी, मैं असफल रहा हूँ। रोज़-रोज़ की अशांति, तनाव और कटुता की तुलना में बेहतर है कि हम अलग रहें। . . ."

शंकर बाबू पाँव पटकते हुए वहाँ से अपने कमरे में चले गये थे। वे चाहते थे कुछ करें, पर क्या ? यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। अंदर कमरे में गये तो देखा कुत्ते के नये पिल्ले ने उनकी कुर्सी पर गंदगी कर दी थी। अपने को वे रोक न सके। छड़ी उठायी और जितना हो सका, उसे पीटते रहे। पिल्ले की पीड़ा भरी आवाज़ सुन कर अगर कुंदन की माँ वहाँ न आ जातीं तो वे उसे मार ही डालते।

शैलजा अपने घर चली गयी। शंकर बाबू छाती पर पत्थर रख कर रह गये। कुंदन ने जाने कौन-कौन से उल्टे-सीधे आरोप लगा कर अदालत की शरण ली थी। वे इसे भी बर्दाश्त कर गये। कुंदन घर छोड़ कर चला गया। इसे भी वे चुपचाप बड़े दर्द के साथ पी गये।

उन दिनों भी घर में ऐसा ही जमावड़ा था। गर्मियों की छुट्टियाँ थीं। सबके-सब इकट्ठे थे। कुंदन ने लिखा था––मैंने दूसरी शादी करने का निश्चय कर लिया है। चाहता था शादी घर से हो, पर छुट्टियाँ नहीं मिल रही हैं। नयी-नयी सर्विस है; सारी ज़िम्मेदारी मुझ पर है। चाहता हूँ, आप सभी को ले कर यहीं आ जायँ। गर्मियों में यहाँ आपका स्वास्थ्य भी सुधर जायगा...

शंकर बाबू ने ग़ुस्से में आ कर चिट्ठी दियासलाई लगा कर जला दी थी। दिन-भर चीख़ते-चिल्लाते रहे; कुंदन को गालियाँ देते रहे। शरत, ललिता, मधु, कमलिनी—सभी सहमे-सहमे सुनते रहे; बर्दाश्त करते रहे। पर शरत की माँ को बर्दाश्त नहीं हुआ। ग़ुस्से में भरी उनके कमरे में आयीं और हवा में हाथ मटकाते हुए बोलीं, "बुढ़ापे में तुम्हारा दिमाग़ सठिया गया है। क्या लिख दिया है उसने ऐसा ? ऐसे कोस रहे हो उसे जैसे वह हमारा लड़का न हो, जान का दुश्मन हो..."

"हाँ-हाँ ! वह मेरा दुश्मन ही है। अपना होता तो इस तरह सरे बाज़ार जूते मारता ? उसकी क़िस्मत है कि सामने नहीं है, वर्ना उसका ख़ून ही पी जाता !"

"हाँ ! बुढ़ापे में हत्यारे नहीं बनोगे तो और क्या करोगे ? अब जो हुआ सो हुआ..."

"देखो. . .देखो शरत की माँ। यह नहीं हो सकता; बिल्कुल नहीं ! मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता . . .।" वे दमे के मरीज़ थे। ज़ोर से बोलने की वजह से खाँसी का दौरा फिर पड़ गया था। जब खाँसी थमी तो शरत की माँ ने फिर कहा, "हाँ, यह नहीं बर्दाश्त कर सकोगे, पर यह बर्दाश्त कर लोगे कि वह हमसे सारे संबंध तोड़ ले !"

शंकर बाबू ग़ुस्से से काँपने लगे थे। उनके चौड़े माथे पर झिलमिल-झिलमिल पसीने की बूँदें तैर आयीं थीं। उसे पोंछ कर उन्होंने ज़ोर से गरजते हुए कहा, "वह क्या तोड़ देगा, मैं ख़ुद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सारे रिश्ते तोड़ दूँगा। क्या समझ रखा है उस नालायक़ ने? मुझे धमकी देता है। तीस साल की नौकरी में मैंने किसी अफ़सर की धमकी नहीं सही, और यह कल का लौंडा मुझे धमकी देने चला है!"

"तो इतना चीखते क्यों हो? मैं कहती हूँ इसमें हर्ज ही क्या है? अभी उसकी उम्र ही क्या है? चौबीस का है। क्या बिन-ब्याहे ही रह जाय? आख़िर पड़ोस में वो मिसेज़ अग्रवाला हैं। उन्होंने चार बच्चे हो जाने के बाद तलाक़ दिया है। और मिसेज़ कपूर की लड़की शुक्ला को देखो! खुद ही अपने खसम को लात मार कर चली आयी और अब कैसे ठाठ से नौकरी कर रही है...क्या कर लिया किसी ने? अब यह हो ही रहा है; हर जाति में, हर बिरादरी में। ज़माना ही बदल गया है।" शरत की माँ ने मनाने के स्वर में कहा था।

"ज़माना नहीं बदल गया है शरत की माँ! तुम बदल गयी हो। यही शुक्ला जब वापस लौट कर आयी थी तो तुम्हीं ने नाक-भौं सिकोड़ कर कहा था कि अगर मेरी ऐसी संतान होती तो मैं उसका गला घोंट देती। और अब तुम ऐसा कह रही हो?"

और शंकर बाबू ज़रा भी न पिघले थे। वे नहीं गये; शरत की माँ को भी नहीं जाने दिया। पर उस समय उन्हें सहसा विश्वास ही नहीं हुआ जब उन्होंने देखा कि दरवाज़े पर ताँगा आ कर खड़ा है और शरत, कमलिनी, ललिता और मधु का सामान उस पर लादा जा रहा है। उन्हें उस समय सारी दुनिया घूमती दिखायी पड़ी थी। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया था, "जा तो रहे हो पर यह समझ लो कि अगर मेरे बेटे-बेटी होगे तो लौट कर फिर घर वापस नहीं आओगे। अपने जीते जी मैं घर में यह सब नहीं होने दूँगा।" उनकी इस चेतावनी का किसी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। सबके सब चले गये थे। सूने बरामदे में खड़े वे यही सोचते रहे—क्या इसी दिन के लिए खून-पसीना एक कर के उन्होंने इन आस्तीन के साँपों को पढ़ा-लिखा कर पाला-पोसा था....?

उन्हें अंतिम क्षण तक विश्वास नहीं था कि शादी हो जायगी। उन्हें यही महसूस होता रहा कि कुंदन बचपन से ही चाहे जितना ज़िद्दी रहा हो, चाहे हमेशा उनकी बात को मानने से इन्कार करता रहा हो, चाहे ज़रा-ज़रा सी बात पर घर छोड़ने की धमकी देता रहा हो, पर वह यह कभी नहीं कर सकता। जैसे उसने हज़ार बार धमकी देने पर भी कभी घर नहीं छोड़ा था, वैसे ही वह यह पशुता का आचरण भी नहीं करेगा। उन्हें इस बात का अहसास होता कि शैलजा उनकी चेतना को पूरी तौर पर झकझोर रही है। सौ-सौ मन के हथौड़े चलाते हुए पूछ रही है—बाबू जी, क्या मेरी ज़िंदगी तबाह करने के लिए ही आपने मुझे बहूरानी स्वीकारा था? यही आपके घर की मानवता है, यही आदर्श है? बोलिए...? और फिर सिगरेट जला कर उसका धुआँ निकालते हुए शंकर बाबू सोचते—जैसे वे स्वयं इसके सारे परिणामों को सोच रहे हैं, वैसे ही कुंदन भी सोचता होगा। आखिर समाज क्या कहेगा? बिरादरी क्या कहेगी? क्या भले घर के लोग कभी ऐसा कर सकते हैं...? ऐसे क्षणों में उन्हें विश्वास हो जाता कि कुंदन के दिमाग़ में भी ऐसे ही विचारों की चर्खी चल रही होगी। अपमान भरे व्यंग्य और हास्य के फ़िकरे कसते हुए और तीर कोंचते सारे संबंधी एक-एक कर उसके दिमाग़ में भी इसी प्रकार आ-जा रहे होंगे...और यह तो अच्छा ही हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि मेरे रोकने पर भी शरत रुका नहीं। वहाँ है। बड़ा है वह; समझदार है।...वह उसे समझायेगा; ऐसा करने से रोकेगा...

पर जब शादी वाले दिन तक उनके पास कोई खबर नहीं आयी कि कुंदन मान गया है और शादी नहीं हो रही है तब वे बेहद बेचैन हो उठे थे। वे शांति से सब-कुछ सोचना चाहते थे, पर उनकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। शरत की माँ से बातें करने का उनका साहस नहीं होता था। रोते-रोते उनकी आँखें फूल आयीं थीं। शंकर बाबू से वह सब देखा नहीं जा रहा था। एक बार तो उनके मन में आया कि बेटे की शादी में न जा कर उन्होंने ग़लती की। वह बच्चा है। अभी उसने दुनिया नहीं देखी है। उसे इसकी समझ ही कहाँ है कि क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए? ...पर यह विचार उन्हें मन से निकाल ही देना पड़ा। वे पछताते रहे। अब तो कोई ऐसा साधन भी नहीं था कि समय रहते वे इलाहाबाद से देहरादून पहुँच सकते।...उन्हें लगता जैसे शरत की माँ की बात सच ही थी। सचमुच बुढ़ापे में उनका दिमाग़ सठिया गया है। क्या सभी बूढ़े पचपन के बाद उल्टे-सीधे काम करने लगते हैं?...मैं भी...मैं भी...? अचानक उनके मन में विचार बदला—क्यों न विष खा लें, या कहीं से कूद पड़ें...? और नहीं तो ऊपर से बंदूक ही ले आयें और गोली मार कर आत्महत्या कर लें। मौत के तार से तो नालायक़ों को अक्ल आयगी ही और शादी रुक जायगी।...शरत की माँ तार देने ख़ैर क्या जायगी...वह तो बेहोश ही हो जायगी। पर मिस्टर कपूर या मुंशी दीनानाथ तो उसकी चीख़-पुकार सुन कर ज़रूर दौड़ें आयेंगे और तार दे देंगे...न हो, तार देने की सूचना मेज़ पर लिख कर रख दूँ। इसमें परेशान होने की क्या बात है? अरे मरना तो है ही। इज्ज़त तो नहीं मरेगी?...और बड़े शहीदाना ढंग से उन्होंने अपने गंजे सिर पर हाथ फेरा।...पर तभी उनके दिमाग़ में दूसरा विचार उभर आया। उन्होंने सोचा—लड़के कम-से-कम इतना तो जानते ही हैं कि बाबू जी झूठ नहीं बोलेंगे। फिर क्यों न झूठा तार दे दिया जाय? जब सब यहाँ दौड़े आयेंगे तब सब ठीक-ठाक कर लूँगा...यही ठीक है। और उन्होंने उठ कर कुर्ता पहना, पाँव में चप्पल डाली; फाउन्टेनपेन में स्याही भरी और तारघर जाने को तैयार हो गए। तभी सहसा उन्हें याद आया कि कुंदन की चिट्ठी तो उन्होंने गुस्से में जला दी थी। पता तो अब मालूम ही नहीं है...

दिन तेज़ी से डूबता जा रहा था। आसमान थोड़ा साफ़ हो चला था, पर बादल अभी थे और उनकी साँवली परछाइयाँ इधर-उधर घास पर लेटी पड़ी थीं। भागती धूप पास आ कर शंकर बाबू के कंधे पर अपनी कुहनियाँ टिकाये रुक गयी थी। वे लान में लेटे थे। उन्हें बड़ी बेचैनी थी। वे चाहते थे कि उनके मस्तिष्क में जो चर्ख़ी चल रही है, उसकी रील टूट जाय और जो हलचल उन्हें चारों तरफ़ से जकड़े हुए है, जिसके कसाव में वे छटपटा रहे हैं, उससे उन्हें मुक्ति मिले। उन्होंने जेब से एक सिगरेट निकाली और उसे जला कर पीने लगे। सामने कुछ दूध-नहाये मासूम बच्चे खेल रहे थे। उन्होंने अपना ध्यान उन पर जमाने की कोशिश की, पर असफल रहे। उन्हें कुछ और ही मथ रहा था...अभी तक उन्होंने सुषमा को देखा नहीं था। उनके मन में प्रबल जिज्ञासा थी कि कम-से-कम सब्ज़बाग़ की उस परी को देखें तो कि आख़िर वह कितनी सुंदर है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसने कुंदन को यह सब करने पर बाध्य किया, उनके परिवार की सारी मान-मर्यादा धूल में मिला दी, बिरादरी में नाक कटवा दी और उनकी सुख-शांति तक छीन ली। उनकी बड़ी इच्छा थी यह देखने की कि वह उनकी चुनी बहूरानी से कितनी बढ़ कर है? धोती कैसे पहनती है? बातचीत कैसे करती है? कैसे उठती-बैठती है? उसके विचार-आदर्श कैसे हैं?

कल शाम जब वे दोनों आये थे तब वह रज़ाई ओढ़े सो रहे थे। कुंदन और सुषमा ने आ कर उनके पाँव छुए। उनका जी बरबस उमड़ आया कि वे उठ कर कुंदन को सीने से लगा लें, पर तभी उन्हें अतीत याद आ गया और उन्होंने उनींदी आँखों से कुंदन की ओर देखते हुए मात्र इतना कहा, "ठीक है, ठीक है. . ." और फिर रज़ाई से मुँह ढक लिया। कुंदन और सुषमा थोड़ी देर ठिठके-से खड़े रहे, फिर चले गये। रज़ाई में मुँह ढके शंकर बाबू कुछ क्षण जाने कैसी प्रतीक्षा करते रहे, फिर रज़ाई को इतनी ज़ोर से फेंका कि वह ज़मीन पर गिर पड़ी. . .देखो तो इन नालायक़ों को! मेरी जैसे कोई वक़्त ही नहीं है। यह तो नहीं हुआ कि पाँव पकड़ कर कहता—बाबू जी, मुझसे बड़ी ग़लती हुई! अब माफ़ कर दीजिए और इसे अपनी बहू के रूप में स्वीकार कर के हमें आशीर्वाद दीजिए. . .मैं आपका बेटा हूँ, आपका वही कुंदन हूँ. . .पर नहीं. . . इन्होंने तो मुझे जीते-जी मुर्दा बना कर गाड़ दिया है. . .नालायक़ कहीं के।. . .

ग़ुसलख़ाने के ऊपर सीढ़ियाँ थीं और ग़ुसलख़ाने तक जाते समय सीढ़ियों पर चढ़ते हुए किसी को भी साफ़-साफ़ देखा जा सकता था। शंकर बाबू के मन में आया कि उन्हें सोते-सोते तो देखा ही जा चुका है, क्यों न चल कर ग़ुसलख़ाने में हाथ-मुँह धो आयें और 'इंदर की अप्सरा' को भी भरपूर निगाहों से देख आयें। वे उठ कर आँगन में आये भी, पर तभी शरत की माँ आ गयीं और सुषमा के सिंदूर का टीका वग़ैरह लगा कर परछन करने लगीं। शंकर बाबू अपनी निगाहें ऊपर न उठा सके; नीचे देखते हुए चुपचाप ग़ुसलख़ाने में चले गये। उन्हें बड़ा अजीब-सा लग रहा था। चमकते हुए 'बेसिन' में उन्हें लगा जैसे कोई आकृति है जो उन पर हँस रही है; उन्हें मुँह चिढ़ा रही है। उन्होंने ग़ुस्से से खखार कर उस पर थूक दिया।

जब से वे रिटायर हुए थे उनके लिए दिन काटना मुश्किल-सा हो गया था। वे अक्सर सोचते थे कि ऐसी भी क्या ज़िंदगी कि अपने कमरे में अकेले सन्नाटे के प्रेत-से घूमते रहो या मनहूस की तरह बैठे अख़बार, गीता या रामायण पढ़ते रहो और दिन रोज़ शुरू हो कर ख़त्म हो जाय। उन्हें अपनी तनहा ज़िंदगी से ज़बर्दस्त घृणा हो गयी थी। घर में भीड़-भड़क्का है. . . .शोर-शराबा है. . .और यहाँ निरुद्देश्य अकेले लेटा हूँ. . .! वे सीधी करवट लेट कर ख़ामोश निगाहों से आसमान की ओर देखते हुए फिर विचारों में डूब गये. . . .इसी ललिता के पहले लड़के का जब मुंडन हुआ था तब वे पेशकार थे। वेतन भी ज़्यादा था और ऊपर की आमदनी. . . .उसकी तो कोई बात ही नहीं थी। जब शाम को घर लौटते थे तो शरत की माँ के आँचल में बस सोना ही बरसता था। घर का हर व्यक्ति उनका आदर करता था और उनकी इच्छा के विपरीत घर में पत्ता तक नहीं हिलता था। उस साल अपने पहले लड़के के मुंडन में ललिता ने कहा था—पिता जी, मैं चंद्रहार लूँगी। शंकर बाबू ने तुरंत शरत को भेज कर हार मँगाया था और अपने हाथों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ललिता के गले में पहना दिया था। पर इस बार ललिता ने कुछ नहीं कहा। शंकर बाबू के जिद करने पर उसने बुझे स्वर में कहा, "नहीं बाबू जी, मैं कुछ नहीं लूँगी। आपका दिया सब-कुछ तो है।....फिर अब तो आप रिटायर हो चुके हैं!"....अचानक बेबसी और घुटन के उन क्षणों में उन्हें महसूस हुआ कि यह सब-कुछ उनके रिटायर होने से ही हुआ है, और उनके ग़ुस्से का सारा ज़ोर कुंदन और सुषमा से हट कर सरकार पर केंद्रित हो गया। वे सोचने लगे... यह भी कोई नियम है...माना मैं अट्ठावन से ज़्यादा हो गया हूँ पर अभी भी इन लड़कों से ज्यादा काम कर सकता हूँ। असल में यही तो ख़राबी की जड़ है। नियम तो यह होना चाहिए कि जब आदमी ख़ुद ही अवकाश माँगे, या उसका काम बुढ़ापे के कारण गड़बड़ होने लगे, तभी उसे रिटायर करना चाहिए।....अनुभवी लोगों के मुक़ाबले में ये लड़के क्या काम करेंगे? बी० ए० और एम० ए० आते हैं पर उनको हिंदी या अंग्रेज़ी में ठीक से एक वाक्य लिखना नहीं आता...देश की बर्बादी नहीं होगी तो और क्या होगा?

शंकर बाबू जब लौटें तब आठ बज चुके थे। घर में औरतें गला फाड़-फाड़ कर ढोलक पर गीत गा रहीं थीं। बच्चों की कचर-पचर से अच्छा ख़ासा शोर मचा हुआ था। पर जहाँ गीत हो रहे थे वहाँ कमलिनी, सुषमा, ललिता, मधु वग़ैरह नहीं थीं। वे सब शरत के कमरे में बैठीं गप-सड़ाके में तल्लीन थीं। शरत और कुंदन वग़ैरह भी वहीं ठहाके लगा रहे थे। शरत की माँ बराबर चिल्ला रहीं थीं—कभी पान के लिए, कभी बाँटे जाने वाले बताशों के लिए; पर कौन सुनता था....

जब गाने वाली औरतें चली गयीं तब कमलिनी और मधु एक थाल में खाना परोस कर शरत के कमरे में पहुँच गयीं और तख़्त पर थाल रख कर सभी उसके चारों तरफ़ बैठ गये। खाने में अजीब-सी छीना-झपटी मची हुई थी। कोई किसी की पूड़ी छीन रहा था, कोई किसी के मुँह में जबर्दस्ती रसगुल्ला ठूँस रहा था....

इधर शंकर बाबू ग़ुस्से में उबल रहे थे....कमबख़्तों को इतना तक याद नहीं है कि मैं बाहर बैठा हूँ और मुझे भी खाना खाना है।...बेशर्म कहीं के! एक थाली में बैठे ह-हा-ही-ही कर रहे हैं....बड़े-छोटे का लिहाज़ तक नहीं रह गया है।....और-तो-और! सींग कटा कर शरत भी उसी में बछड़ा बना हुआ है....नालायक़ कहीं का....अब पूछो तो, छीनने-झपटने की क्या बात है? वह नयी क्या सोचती होगी? कुत्तों की तरह लड़ रहे हैं। अरे, उसके सामने कुछ तो लिहाज करना चाहिए! तुम सब तो छीन-झपट कर खा रहे हो....पर वह नयी है। वह बेचारी क्या छीने-झपटेगी....सुसरों की अक़्ल पर पत्थर पड़ गये हैं....

तभी एक थाली में खाना परोस कर शरत की माँ आ गयीं। तख़्त पर थाली रखते हुए बोलीं, "कहाँ दिन भर ग़ायब रहे? घर में चार आदमी इकट्ठा हुए तो तुम्हारा पता ही नहीं। न खाया, न पिया। सारा अपशकुन तुम्हें ही करना था....?"

शंकर बाबू कुछ बोले नहीं। पहले तो उनके जी में आया कि थाली उठा कर शरत की माँ के सिर पर पटक दें, पर किसी तरह वे ग़ुस्से को पी गये। और जब उत्तर देने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुँह खोला तब वह खुला ही रह गया। शरत की माँ जा चुकी थीं और ऊपर जा कर चिल्ला रही थीं, "अरी मधु! ज़रा बारिन और सिरकी की माँ को भी परोसा दे दे....आजकल तो परजों के दिमाग़ ही आसमान में रहते हैं।"

शंकर बाबू देर तक तने बैठें रहे। उनकी बिल्कुल इच्छा नहीं थी कि एक कौर भी मुँह में डालें, पर अपशकुन का लिहाज़ कर के उठे। कुर्ता उतार कर तख़्त पर बैठें ही थे कि उनका ध्यान भीतर की तरफ़ चला गया। कुंदन कह रहा था, "भाभी, आज ख़ुशी का दिन है। सुबह होने तक जागते ही रहना है। तुम बस सितार ले कर गाना सुनाओ।" भाभी का खिलखिलाना सुनायी दिया, "यह तो ठीक है कुंदन, पर मैंने सुना है तुम्हारी सुषमा बहुत सुंदर नृत्य करती है। पहले वही हो। कमलिनी गाये और सुषमा नाचे।" समर्थन में शरत कह रहा था, "यह प्रस्ताव ठीक है। मधु, हटाओ थाली वग़ैरह यहाँ से जल्दी-जल्दी।" पर कमलिनी नख़रे दिखाने लगी, "पहले ललिता बीबी को गाना पड़ेगा। वह मुझसे अच्छा गाती हैं। बिना किसी के पहले गाये मेरा मूड ही नहीं बनता...." ललिता मना करती हुई चिल्लायी, "नहीं, नहीं! मैं नहीं गाऊँगी। आज मेरा गला ठीक नहीं है। बहुत तेज़ सर्दी हो गयी है। फिर किसी दिन..." बीच में ही तेज़ पुरुष स्वर सुनायी दिया, "लऽऽलिऽऽताऽऽऽ...चुप रहो। यहाँ कोई दलील-वलील नहीं चलने की। बस एकदम शुरू कर दो। हाँ, बजे हारमोनियम..."

शंकर बाबू आपे से बाहर हो गये। ग़ुस्से से काँपते हुए बड़बड़ाये—तो अब मुजरा होगा! वेश्याओं की तरह गाना-बजाना होगा।....सुबह होने तक बेशर्म नाचें-गायेंगे.... मेरे रहते....मेरे घर में....यह हर्गिज़ नहीं होगा।....ये इतने बेहया और कमीने हो गये हैं कि यह भी भूल गये कि नीचे मैं बैठा हुआ हूँ....उनका बाप....यही नयापन है। सुषमा शरत के सामने नाचेगी। वह जेठ है....कुछ लिहाज़ ही नहीं रह गया है....। पर तभी ऊपर से ललिता के गाने का स्वर सुनायी दिया और घुँघरू की छमछम में सारा वातावरण डूब गया।

शंकर बाबू ने चुपचाप थाली सरका दी और कुर्सी पर टाँग फैला कर बैठ गये। उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि यह सब क्या हो रहा है, वे कहाँ है; कैसे हैं? ....एक अकेले उन्हीं के लिए उदासी और घुटन है। मगर क्यों?

वे इन्हीं विचारों में डूब-उतरा रहे थे कि एकाएक उनका ध्यान दूसरी ओर चला गया। बरामदे में कुत्ता अपने पिल्ले से किसी बात पर झगड़ रहा था। थोड़ी देर वे चुपचाप बैठे उसी ओर देखते रहे पर जब वे दोनों वैसे ही लड़ते और एक दूसरे के ऊपर भूँकते रहे तब उनका शांत बैठे रहना मुश्किल हो गया। उन्होंने छड़ी उठायी और बरामदे में जा कर दोनों को अलग कर दिया...स्साला, अपने पिल्ले से ही लड़ रहा है....! फिर पिल्ले को गोद में उठा कर वे अपने कमरे में ले आये और कुर्सी पर बैठते हुए पास में ही उसे बैठा कर पूड़ी का कौर तोड़-तोड़ कर खिलाने लगे। उस समय उन्हें ऐसा लग रहा था जैसे उनके अंतरमन में कोई गा रहा है; किसी के घुँघरू की छमछम हो रही है....

हिंदी विभाग, करोड़ीमल कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली–६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो स्मृति-संदर्भ

•

एक

•

'एक और ईसा सूली चढ़ा'

रमेश गौड़

करुण कांड का अंतिम अध्याय

यह कसी विडंबना है कि १० सितंबर को मुक्तिबोध के प्रथम काव्य-संकलन 'चांद का मुँह टेढ़ा है' का अंतिम फ़ार्म बनारस से छप कर दिल्ली पहुँचा और ११ सितंबर को रात के १ बज कर १० मिनट पर मुक्तिबोध ने अपने सात मास पुराने पक्षाघात और मस्तिष्क-शोथ से, जिससे वे अनवरत जूझते चले आ रहे थे, सदा-सदा के लिए हार मान ली। तूफ़ानों के सामने सीना तान कर खड़ा होने वाला व्यक्तित्व टूट गया और उन्होंने पुस्तक के मुद्रण के साथ ही साथ अपने जीवन के करुण कांड का अंतिम अध्याय भी समाप्त कर दिया।

—अर्थात हिंदी कविता का एक और प्रकाश-स्तंभ ढह गया. . .एक और जगमगाता नक्षत्र विलुप्त हो गया और हम उसी तरह हाथ मलते रह गये जैसे कि निराला की मृत्यु पर, राहुल की मृत्यु पर, नवीन की मृत्यु पर और रांगेय राघव की मृत्यु पर रह गये थे।

और १२ सितंबर को यमुना के तट पर हम उनके पार्थिव शरीर को हमेशा के लिए अलविदा कह आये। यमुना ने भी संभवत: आज तक एक साथ इतनी पीढ़ियों को इस तरह भाव-विह्वल और अश्रुपूरित न देखा होगा; जैनेंद्र, दिनकर, बच्चन, अज्ञेय, नगेंद्र, शमशेर, माचवे, नेमिचंद्र, भारत, निर्मल, भीष्म, रामकुमार, विष्णु प्रभाकर, यशपाल जैन, हुसैन, राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, दोषी, दिनेश, लल्ला, शिवदान, देवीशंकर, सुरेश अवस्थी, श्रीकांत, रघुवीर सहाय, अशोक, सुरेंद्र मल्होत्रा, रवींद्र, जगदीश, स्वर्ण, प्रयाग और. . .और. . .और (दिल्ली में कोई भी ऐसा साहित्यकार नहीं था जो वहाँ अनुपस्थित हो)। इनके अतिरिक्त प्रकाशवीर शास्त्री और गंगाशरण सिंह (संसद-सदस्य), सुशील चतुर्वेदी (न्यायाधीश) तथा मार्तंड उपाध्याय, ओमप्रकाश और जवाहर चौधरी और. . .प्रशांत पांडेय, केलकर, मनोहर श्याम जोशी, रमेश वर्मा. . .श्रीमती कपिला वात्स्यायन, शुभा वर्मा और. . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ दिनकर को आज का दिन एक करुण कांड लगा था, वहाँ केंद्रीय शिक्षा उपमंत्री भक्तदर्शन को हिंदी की एक अपूर्व क्षति का दिन; डॉ० नगेंद्र के विचार से हिंदी का एक अन्यतम सदस्य सदा के लिए बिछुड़ गया था, तो अज्ञेय के लिए एक मेधावी मित्र और सहयोगी; माचवे के शब्द खो गये थे, तो शमशेर बोल ही नहीं पा रहे थे...

पुरानी और नयी दोनों पीढ़ियों के इस अतीव प्रिय कवि के विछोह से वातावरण कितना बोझिल और शोकाकुल हो उठा था, इसकी कल्पना सहज नहीं है।

एक चिता यमुना के तट पर जल रही थी और अनेक चिताएँ साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों के दिलों में...

●

१६ सितंबर की शाम...सन्निधि का हॉल ठसाठस भरा है—कवि, कथाकार, आलोचक, राजदूत, राजनीतिज्ञ, चित्रकार और पत्रकार। पुराने और नये साहित्य-शिल्पी सभी एकत्र हैं, लेकिन सभी मौन। कोई किसी से कुछ नहीं कहता, कुछ नहीं बोलता, कुछ नहीं पूछता। मूक अभिवादनों के मूक उत्तर। लगता है जैसे अगर कोई बोला भी तो उसके मुंह से सिर्फ़ एक ही शब्द निकलेगा—मुक्तिबोध! और आज इस नाम का क्या अर्थ है, हम यहाँ किस लिए एकत्र हुए हैं—इसके बारे में सोचते हुए जैसे डर लगता है। जैसे हम विश्वास नहीं करना चाहते कि मुक्तिबोध अब नहीं रहे, हम उन्हीं के निधन पर आयोजित शोक-सभा में सम्मिलित होने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। लेकिन थी तो वह शोकसभा ही—मुक्तिबोध की ही शोकसभा। मुक्तिबोध...जिसने अभी ४७ वर्ष भी पूरे नहीं किये थे।

विषपायी मुक्तिबोध

डॉ० बच्चन की अध्यक्षता में शोकसभा प्रारंभ हुई। मुक्तिबोध के पुत्र रमेश ने पिता के चित्र को माला पहनायी। फिर शोक और संवेदना के वक्तव्य...

डा० राममनोहर लोहिया ने कहा : मैं तो साधारण लोगों की ओर से मुक्तिबोध को अपनी श्रद्धा देता हूँ। उनकी कविता और आलोचना के बारे में तो अधिक सही और तार्किक रूप से आप लोग ही कह सकते हैं। मेरे लिए मुक्तिबोध इस बात के प्रतीक हैं कि हिंदी मात्र मध्य-देश की ही भाषा नहीं है, वरन वह भारत के तटप्रदेश की भी भाषा है।

जैनेंद्र कुमार ने उनकी भाषा की अनगढ़ता को उनके काव्य के अनुकूल बताते हुए कहा कि उनके अंदर कुछ ऐसा था जिसे सजी, सँवरी और अलंकृत भाषा सम्हाल नहीं पाती थी। वे शब्द से अधिक प्राण के कवि थे। संघर्ष से जूझने में उनसे अधिक तत्पर लोग कम मिलेंगे। ऐसे व्यक्ति को असमय ही मूक होना पड़े, इससे बड़े दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है?

डॉ० नगेंद्र ने कहा कि मुक्तिबोध ने बड़ी से बड़ी तकलीफ़, बड़े से बड़े दुख और बड़ी से बड़ी पीड़ा को सहा, लेकिन उसका प्रचार नहीं किया। यह उनकी अदम्य संस्कारिता का प्रतीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। जो व्यक्ति विष को पीता है, उसे पचाता है और उसे बाहर नहीं आने देता वह विषपायी शिव के समान सम्मान्य और श्रद्धेय है। मेरे मन पर मुक्तिबोध का ऐसा ही प्रभाव है।

शमशेर बहादुर सिंह : 'आपसी सुख-दुख में शरीक होने की भावना उन्होंने मुझे दी। मैंने उनसे न केवल विभिन्न मुलाक़ातों के समय, बल्कि अचेतावस्था में भी बहुत कुछ सीखा है।' इसके बाद शमशेर जी ने श्रद्धांजलि स्वरूप ग़ज़ल के कुछ शेर पढ़े।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने भी अपनी काव्य श्रद्धांजलि अर्पित की :

तुम्हारी मृत्यु में प्रतिबिंबित है--
हम सबकी मृत्यु !

महान कवि, महान व्यक्ति

हरिशंकर परसाई ने व्यक्तिगत संस्मरण सुनाते हुए उनके सहज और अनगढ़ जीवन के कई प्रसंग सुनाये। उन्होंने कहा कि पक्षाघात हो जाने के बाद भी वे बस यही कहते रहते थे कि 'बायें अंग के काम न करने से कोई ख़ास नुकसान नहीं होगा, मैं दायें हाथ से लिखता रह सकता हूँ।' मैंने किसी व्यक्ति को इतना सहज और अनगढ़ जीवन जीते हुए नहीं देखा है। वे एक महान कवि तो थे ही, साथ ही एक महान व्यक्ति भी थे।

नेमिचंद्र जैन ने भी उनकी सहजता और आत्मीयता का उल्लेख करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित की।

डा० देवीशंकर अवस्थी ने कहा : 'मुक्तिबोध सही अर्थों में एक कवि-आलोचक थे। उन्होंने अपने काव्य के काव्य-सिद्धांत स्वयं बनाये थे। यह बात मैं बहुत ज़ोर दे कर कहना चाहता हूँ कि (जैसा कि कहा जाता है) मुक्तिबोध 'रि्हटोरिक' के कवि नहीं थे। वे 'फ़ेंटेसी' के कवि थे। और जब कभी भी नवलेखन का मूल्यांकन होगा तो उसके लिए अज्ञेय और मुक्तिबोध द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धांतों को देखना अनिवार्य होगा। मार्क्सवाद उनके लिए बैसाखी नहीं था, बल्कि उनके काव्य और व्यक्ति का आस्था-स्तंभ था।'

महाबलीपुरम का शिल्पी

डा० प्रभाकर माचवे ने कहा : 'आज का दिन न वादों की चर्चा का है और न उनकी आलोचना या कवि अथवा आलोचक रूप पर विचार करने का। आज का दिन आत्मान्वेषण, पुनःशोधन, प्रायश्चित्त और प्रार्थना का दिन है। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं उनके बारे में क्या कहूँ, हालाँकि पिछले तीस वर्ष से मेरा उनसे संबंध रहा है। मुझे तो उनकी मृत्यु ऐसे लग रही है जैसे कि महाबलीपुरम के महान शिल्पी के हाथ से अचानक छेनी छूट गिरी हो!'

भारतभूषण अग्रवाल ने कहा : 'कल तक मुक्तिबोध भविष्य थे और आज इतिहास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जब भविष्य अपूर्णावस्था में ही इतिहास बन जाता है तब एक टीस—एक बड़ी टीस—छोड़ जाता है। संघर्ष की लहरों में हममें से बहुतेरे पड़े, लेकिन वे उन पहाड़-सी लहरों के एक ऐसे भँवर की ओर जानबूझ कर बढ़ गये, जिससे जूझना आसान नहीं था—वैसे उन्होंने आसानी अपने समूचे जीवन में कभी चाही भी नहीं थी। मुक्तिबोध ने सिद्ध कर दिया कि आज के ज़माने में कवि बनना कितना मुश्किल है।'

श्रीकांत वर्मा ने कहा : 'मैंने सब कुछ उन्हीं से पाया था। मेरा कवि और व्यक्तित्व आज जो भी कुछ है, उन्हीं की देन है।' इसके बाद श्रीकांत ने उनकी एक कविता पढ़ी—'चौराहे'। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

मुझे भ्रम होता है कि
प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है
हरेक छाती में आत्मा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मित में
विमल सदानीरा है
मुझे भ्रम होता है कि
प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है।

रमेश गौड़ ने अपनी श्रद्धांजलि कविता में अर्पित की :

तुम तो कुछ बोले नहीं मुक्तिबोध !
किंतु बोलेंगी पीढ़ियाँ
बोलेंगी मुक्तिबोध, बोलेंगी—
पर्वत के मस्तक पर
तुम्हारे पद-चिन्हों से अंकित वे सीढ़ियाँ
बोलेंगी
बोलेंगी यातनाएँ, बोलेंगी उपेक्षाएँ
बोलेगी विषपायी कंठों की श्रृंखला।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए **डा० बच्चन** ने कहा कि मुझे नवीनता की जितनी अनुभूति उनके काव्य से होती है, उतनी अन्य किसी के काव्य से नहीं। सामाजिकता और मानव-सत्य को वे सबसे ऊपर मानते थे।

प्रारंभ में अशोक वाजपेयी ने विभिन्न संस्थाओं, साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों से प्राप्त शोक-संदेश पढ़ कर सुनाये। अज्ञेय ने अपने संदेश में मुक्तिबोध को आत्मान्वेषण का कवि बताते हुए लिखा था कि वे इस उम्र में ही वहाँ पहुँच गये जहाँ कवि पूर्ण हो जाता है। अमृतलाल नागर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने लिखा था : **'एक और ईसा सूली चढ़ा।'** इसके अतिरिक्त मेक्सिको के राजदूत मिस्टर पोंज और टाइम्स ऑफ़ इंडिया के संपादक श्री 'अदीब' ने भी अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

अंत में एक शोक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें स्वर्गीय कवि की आत्मा की शांति और परिवार के सदस्यों को सांत्वना प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गयी—एक मिनट का मौन रखा गया और सभा विसर्जित हो गयी।

अलविदा मुक्तिबोध

१९ सितंबर, . . . रात के साढ़े सात बजे . . . दिल्ली स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर खड़े हैं—शमशेर, हरिशंकर परसाई, मोहन राकेश, कमलेश्वर, जवाहर चौधरी, मुक्तिबोध के पुत्र रमेश और...

छियासी दिन पहले—२६ जून को भी स्टेशन पर साहित्यकार एकत्र हुए थे—माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, विंदु अग्रवाल, राकेश, राजेंद्र, कमलेश्वर, श्रीकांत, अशोक वाजपेयी, अजित, कमलेश, सुरेश अवस्थी और . . .

लेकिन . . . लेकिन उस दिन ये सब के सब किसी की आकुल मन से प्रतीक्षा कर रहे थे। गाड़ी लेट थी—लेकिन प्लेटफ़ार्म पर खड़े हुए इन लोगों के बीच चर्चा उसी व्यक्ति की थी—जो गाड़ी से आने वाला था। . . . अंततः गाड़ी आयी, अर्थात मुक्तिबोध आये। अचेतावस्था में मुक्तिबोध ! बादलों से घिरा हुआ सूर्य ! साथ में आये थे हरिशंकर परसाई, श्रीमती शांता मुक्तिबोध और उनका छोटा पुत्र गिरीश।

आज भी गाड़ी लेट है, लेकिन हम चाह रहे हैं कि गाड़ी थोड़ी और लेट हो ताकि हम मुक्तिबोध की अस्थियों के साथ थोड़ी देर और रह लें।

मुक्तिबोध ! अचेतावस्था में तुम दिल्ली आये थे और स्मृति बन कर चले गये। (परसाई! तुम जीवित मुक्तिबोध को हमें सौंपने आये थे और हम तुम्हें मुक्तिबोध की अस्थियाँ लौटा रहे हैं! हम अपने दिलों में कितने शर्मिंदा हैं, इसका अनुमान शायद ही तुम लगा सकोगे, हरि भाई!)

—और आठ बज कर पच्चीस मिनट पर गाड़ी चल दी ! मुक्तिबोध . . . ! मुक्तिबोध अलविदा ! अलविदा मुक्तिबोध !

सी—३।१८, माडल टाउन,
दिल्ली-९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो

●

स्वर्गीय सत्यप्रकाश कौशल : एक निःस्वार्थ मित्र

प्रभाकर माचवे

ग्यारह सितंबर, १९६४। अभी-अभी श्याम परमार का फ़ोन आया कि सत्यप्रकाश कौशल की हृदय-गति रुकने से मृत्यु हो गयी—वेस्टर्न कोर्ट में, जहाँ वे अकेले रहते थे। अब रेडियो वाले उनकी शवयात्रा, दाह-संस्कार आदि की व्यवस्था कर रहे हैं।

कौशल से मेरी मुलाक़ात बहुत पुरानी है। जब, बीस साल पहले, मैं उज्जैन के कालेज में अध्यापक था, एक दिन एक तरुण युवक सियारामशरण जी गुप्त का पत्र ले कर आया। उसे उन्निद्र रोग था, और दुर्गाशंकर नागर से वह योग द्वारा मानसिक चिकित्सा कराना चाहता था। यज्ञ-याग पर उसे विश्वास नहीं था। पर उसने वह सब प्रयोग किये। कोई लाभ नहीं हुआ। तब कौशल अंग्रेज़ी में लिखते थे, 'ट्वेंटिएथ सेंचुरी' में उनके किए कई हिंदी-उर्दू कविताओं के अनुवाद, और हिंदी साहित्य पर लेखादि छपे थे। बाद में, वात्स्यायन जी आदि मित्रों की सहायता से, वे लखनऊ रेडियो पर हो गये। और मैं लखनऊ रेडियो पर पुस्तक-समीक्षा आदि करने जाता तो भेंट होती रहती। तब वे गिरिजाकुमार माथुर के साथ ही वहाँ काम करते थे। सियारामशरण जी के साहित्य पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी; 'उन्मुक्त' काव्य पर एक सुंदर लेख भी अंग्रेज़ी में लिखा था।

बाद में पत्र-व्यवहार रहा, मुलाक़ातें कम हुईं। मैं भी रेडियो में आ गया। कौशल पटना रेडियो पर थे। मर्ढेकर जी भी तब वहीं थे। दोनों बड़े बुद्धिवादी, अंग्रेज़ी साहित्य के मर्मज्ञ, अंग्रेज़ी में छंद-निर्माता। दोनों में विशेष प्रेम नहीं था। परंतु मेरी मर्ढेकर जी से बहुत पुरानी मैत्री थी। और मैं कौशल के बारे में कई बातें सुनता रहता। रेडियो में आ कर कौशल ने सिगरेट पीना इस तरह अपना लिया कि बस शृंखलाबद्ध (चेन-स्मोकिंग)। अंतिम दिनों तो उनकी उँगलियाँ, होठ और दाँत तक जल गये थे। सदा सिगरेट के टिन लिए घूमते। उनका लिखना कम हो गया। पर बुद्धि की धार वैसी ही प्रखर थी। मैं सन १९५१ में दिल्ली रेडियो पर आ गया, और कौशल से मुलाक़ात बढ़ने लगी। जयपुर में जब उनकी नियुक्ति होनी थी, तब रमेश चंदर (टेलिविज़न वाले) के घर पटौदी हाउस में पार्टी हुई। ज़ोरदार खान-पान हुआ। कौशल उन्मुक्त भाव से पीते रहे। खुश थे। चार दिन बाद सुना, वे जयपुर से लौटा दिये गये। उनकी बौद्धिक निर्द्वंद्वता और अंग्रेज़ी साहित्य के विशाल अध्ययन ने उनका साथ नहीं दिया। वे फिर आकाशवाणी के केंद्रीय कार्यालय में कहीं काम करते रहे। एक बार वे स्टाफ़ ट्रेनिंग स्कूल में थे तो अनुवादों पर भाषण करने मुझे बुलाया। दुग्गल भी थे, रंगाचारी भी थे। बहुत खुश हुए। घंटों पुरानी बातें करते रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी वे शाम को जनपथ पर मिल जाते तो मैं उन्हें घर पर ले आता। 'निराला' की मृत्यु के बाद मैंने उन्हें घेरा : बहुत इसरार किया कि हिंदी कविताओं के अंग्रेज़ी में अनुवाद करो। कुछ तरुण कवियों के संग्रह ले गये मुझसे : 'नकेन' और 'वैयक्तिक' (राजेंद्र किशोर), 'बनपाखी सुनो' (नरेश मेहता) और 'ब्यासी पथराई आँखें' (नागार्जुन)। जब-जब मिलते मैं उन्हें उलाहना देता। वे 'हाँ-हाँ' कहते। मैं मन ही मन कहता :

रेडियो ने उन्हें निकम्मा कर दिया ;
वर्ना वह भी आदमी थे काम के !

सियारामशरण जी गुप्त की मृत्यु पर दिल्ली प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन में शोक-सभा हुई। मैंने उन्हें छेड़ दिया। बीस मिनिट तक वे सुंदर हिंदी में सियारामशरण जी के व्यक्तित्व और काव्य पर धारा-प्रवाह बोलते रहे। रेडियो वाले टेप-रेकार्ड कर रहे थे; पर शायद इसलिए कि वे स्वयं रेडियो वाले थे, उनका भाषण रेकार्ड नहीं किया गया। कौशल बहुत गुणी थे, पर बहुत कम भाग्य वाले! न पी० सी० एस० में वे उत्तीर्ण हुए, न 'लीडर' के साहित्यिक पृष्ठों के संपादक बन सके; न मनचाहा ब्याह हो सका; न मनचाहा काम उन्हें मिला। उन्होंने अपनी जिंदगी को सिगरेट के धुएँ की तरह कुंडलाकार हवा में छोड़ दिया।

आज उनकी मर्त्य काया भी ऐसी ही पंचत्व प्राप्त कर जायगी। यह कलख सदा मेरे मन में खटकती रहेगी कि ऐसे निःस्वार्थ मित्र कहाँ मिलते हैं? अंतिम बार वे फ़ोन पर नेहरू जी की मृत्यु पर मुझसे बोले थे : "भाई यह फ़ीचर 'एक्सटर्नल सर्विसेज़' के लिए तुम्हें ही लिखना है। कुछ मानवीय पक्ष पर लिखो; यह सब बड़े-बड़े विशेषण वाली बड़ी-बड़ी शब्दावलियाँ तो सुनाते ही रहेंगे।" मैंने 'लाल गुलाब और हिमालय' लिखा। (साप्ताहिक हिंदुस्तान में बाद में वह छपा); फिर फ़ोन आया : "भाई यह सब ऊँची कविता विदेश में बसने वाले भारतीय कैसे समझेंगे। सरल भाषा में और कुछ लिखो, 'कंटेंट' चाहे यही रहे।" मैंने केवल उनके कहने पर पहली बार रेडियो के लिए लिखी हुई अपनी चीज़ दुबारा लिखी, जो उन्हें अच्छी लगी, प्रसारित हुई।

कौशल, तुम्हें रेडियो में नहीं रहना था। तुम्हारी प्रतिभा का कौशल अधिक चिरस्थायी आकार लेता। पर क्या हम दुर्बल मानव अपनी नियति के चुनने वाले हो सकते हैं?

१२०, रवींद्रनगर,
नयी दिल्ली-११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक संस्कृतियों का संगम मलयालम साहित्य

रवि वर्मा

आधुनिक मलयालम भाषा तथा साहित्य दो संस्कृतियों (आर्य-द्राविड़) के 'मणि-प्रवाल' योग से रूप धारण कर प्रवृद्ध हुए। यह सांस्कृतिक समन्वय, जो लगभग आठवीं सदी ईसवी से आरंभ हुआ, सोलहवीं सदी में, महाकवि 'तुंचन' के समय में पूर्ण हुआ।

सिंध पर मुसलमानों के आक्रमण से आठवीं सदी में बड़ी मात्रा में आर्य लोग केरल में आये। इनमें वे आर्य भी थे, जो कर्णाटक और तुलु प्रदेशों में पहले से आ कर रह चुके थे। ये केरल में स्थायी रूप से बस गये। चेर राजाओं की उदार नीति ने उनको वहाँ प्रश्रय दिया। शंकराचार्य के व्यक्तित्व ने उनका प्रभाव बढ़ाया। उस समय केरल (चेर+अळं=चेरळम् से 'केरल' शब्द बना) की साहित्यिक और व्यावहारिक भाषा तमिल ही थी। ईसवी पहली-चौथी सदियों में रची संघ कृतियों में केरल कवियों का भी हाथ था। आर्य लोग, जो बाद को 'नंपूतिरि' (नंपि=स्वामी, तिरि=श्री) कहलाये, वहाँ की जनसामान्य की भाषा में अपनी मातृभाषा संस्कृत-प्राकृत के अलावा परिचित कन्नड़-तुलु बोली के शब्द मिला कर एक तरह की मिश्र भाषा बोलने लगे। इसे पंद्रहवीं सदी में संस्कृत में लिखित 'लीलातिलकम्' नामक मलयालम व्याकरण ग्रंथ में (लेखक अज्ञात) त्रैवर्णिकों (त्रैवर्णिक=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की भाषा बताया गया है। इनमें ब्राह्मण बड़े विद्वान थे। मंदिरों के संचालन के लिए जो समिति नियुक्त होती थी, उसमें ब्राह्मणों का प्रभाव था। उन दिनों मंदिर संस्कृति के केंद्र थे। वहाँ कथा-प्रवचन, नाटकाभिनय, वेद-वेदांगों की शिक्षा आदि की व्यवस्था होती थी।

त्रैवर्णिकों की बोलचाल की यह भाषा बड़ी अजीब-सी लगती थी। आम जनता इसे आसानी से ग्रहण न कर सकी। अतः उनकी आम बोलचाल की तथा साहित्यिक भाषा तमिल ही रही। लेकिन मिश्र भाषा का प्रभाव धीरे-धीरे इसमें भी पड़ा। त्रैवर्णिकों के साथ शूद्रों आदि का (शादी-ब्याह आदि के द्वारा) सामाजिक मेलजोल बढ़ जाने से यह संभव हुआ। इसके कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक तत्सम-तद्भव शब्दों के अलावा प्रयोग-वैचित्र्य भी आये। इस तरह दोनों भाषाएँ अपभ्रंशावस्था से गुज़रती रहीं। इस अवस्था की बानगी प्राचीन मंदिरों में पाये जाने वाले शिलालेखों में, जो दसवीं सदी के पहले के हैं, देखी जा सकती है। लगभग दसवीं सदी में दोनों भाषाओं में कुछ स्थिरता-सी आयी। मिश्र भाषा का साहित्यिक रूप भी बना, जो 'मणिप्रवालम' कहलाया और तमिल का अपभ्रंश 'मलैनाट्टु तमिल' या 'कोटुंतमिल'। केरल की आम लिपि 'वट्टेलुत्तु' थी। संस्कृत के तत्सम शब्द लिखने के लिए उसमें आवश्यक ध्वनि-चिन्ह न थे। इसलिए 'ग्रंथाक्षर' से कुछ ध्वनि-चिन्ह उधार ले कर 'मणिप्रवालम' लिखने के लिए संपूर्ण अक्षरमाला बनायी गयी। दोनों ही भाषाओं में अनेक रचनाएँ निकलीं। ख़ासकर 'मणिप्रवालम' में चंपु और संदेश-काव्य तथा भाषा में (इस भाषा का 'मलयालम' नाम सौ डेढ़-सौ साल से पुराना नहीं है) 'पाट्टु' या गीत-काव्य अधिक मात्रा में रचे गये। एक तरह से यह अलिखित नियम-सा बन गया था कि 'पाट्टु' के लिए भाषा आम जनता की, छंद द्राविड़ के तथा मात्रिक और लिपि वट्टेलुत्तु इस्तेमाल की जाय, और चंपु, संदेश-काव्य आदि के लिए भाषा मणिप्रवालम, लिपि ग्रंथाक्षर और छंद संस्कृत के। चीराम कवि का 'रामचरितम' (तेरहवीं सदी), पणिक्कर बंधुओं के 'कण्णश्श कृतिकल' (पंद्रहवीं सदी), 'वटक्कन पाट्टुकल' (वीरगाथाएँ-लोकगीत), 'कृष्ण गाथा' (चेरुश्शेरिकृत —पंद्रहवीं सदी) आदि 'पाट्टु' में और 'कोक संदेशम', 'उण्णुनीली संदेशम' (दोनों के काल अज्ञात), पुनम कवि का रामायण चंपु, मलमंगल कवि का नैषध चंपु आदि मणिप्रवालम कृतियों की मध्यकालीन प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उस समय संस्कृत कवियों का विशेष सम्मान होता था और भाषा में रचना करने वालों को आधा कवि ही माना जाता था। फिर भी संस्कृत के अनेक विद्वानों ने भाषा में ही रचना की थी। जिह्वा-स्वाद बदलने के लिए संस्कृत और मणिप्रवालम के कवियों ने भी पाट्टु रचे थे।[1]

अनुनासिकातिप्रसर, तालव्यादेश, स्वरसंवरण, पुरुषभेदनिरास, खिलोपसंग्रह, अंगभंग आदि भाषा-परिवर्तन नियमों के कारण सोलहवीं सदी तक केरल में बोली जाने वाली आम जनता की भाषा तमिल में मूल तमिल से काफ़ी अंतर आ गया और भाषा मणिप्रवालम के इतने समीप आ गयी कि दोनों एक ही भाषा की दो शैलियाँ-सी लगने लगीं। भाषा को मणिप्रवालम से अलग करने वाला तत्व सिर्फ़ यही रह गया था कि भाषा में उन्हीं तद्भव और तत्सम शब्दों का प्रयोग होता था जिनके लिए 'वट्टेलुत्तु' में ध्वनिचिन्ह विद्यमान थे। महाकवि तुंचन ने इन दोनों शैलियों को मिला कर तथा लिपियों में भी आवश्यक सुधार कर के सोलहवीं सदी में रामायण, भारत आदि पुराणों को 'किलिप्पाट्टु' (वह गीत जो कवि तोते के माध्यम से सुनाता है) में लिखा जिसके कारण दो समानांतर मार्गों से बढ़ने वाली मलयालम भाषा और साहित्य का पवित्र संगम-सा बन गया। लगभग आठवीं सदी से चले आने वाले इस समन्वयात्मक आदान-प्रदान का क्रम तुंचन के बाद भी जारी रहा जिसके कारण केरल में संपर्क

---

[1] **अरब व्यापारियों ने मलयालम में अरबी शब्द मिला कर एक तरह की बाज़ारू (उर्दू) शैली भी बनायी थी।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आने वाली अरब, पुर्तगाली, डच, फ्रेंच, हिंदी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं से भी बहुत-कुछ लिया गया और इस प्रकार आधुनिक मलयालम भाषा तथा साहित्य का विकास हुआ।

बहुधा हर भाषा तथा साहित्य के विकास में किसी एक पत्रिका की प्रमुख भूमिका रहती है, जिसको केंद्रित कर के साहित्यकारों का अड्डा बनता है। केरल में 'भाषापोषिणि' और 'कवन कौमुदि' ने क्रमशः गद्य और पद्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। एक का अड्डा दक्षिण केरल था, जिसके नेता थे केरल वर्मा; दूसरे का मध्य केरल, जिसके नेता थे कुंजिकुट्टन तंपुरान। 'शाकुंतल', 'मालविकाग्निमित्र', 'उत्तर रामचरित' आदि संस्कृत नाटकों का अनुवाद हुआ तथा मौलिक संगीत-नाटक—'सदारम', 'संगीत नैषधं' आदि—लिखे गये। संदेश-काव्यों की बाढ़-सी आ गयी जिनमें केरल वर्मा का 'मयूर संदेशं' श्रेष्ठ माना गया। लोग इन दोनों विधाओं के पीछे इस प्रकार पागल हो उठे कि जो कोई भी क़लम सम्हाल लेता, संदेश-काव्य या नाटक लिखने लगता। इन अंधानुकरणवादियों की हँसी उड़ाते हुए श्री राम कुरुप का 'चक्कीचंकरं' नाटक और शीवोल्लि कवि का 'दात्यूह संदेशं' लिखे गये। वल्लत्तोल, कुमारनाशान और उल्लूर, इन महाकवित्रय का निर्माण इसी युग ने किया। उल्लूर का 'उमाकेरलम', वल्लत्तोल का 'चित्रयोगम', केशव पिल्लै का 'केशवीयम', कोच्चुण्णि तंपुरान का 'पांडवोदयं', कट्टल्लयम का 'श्रीयेशुविजयं', सैमण का 'वेद विहारं' आदि महाकाव्य भी इसी युग की देन हैं। महाकवि कुमारनाशान ने 'नलिनी', 'लीला', 'चिंताविष्टयाय सीता,' 'चंडाल भिक्षुकी', 'दुरवस्था', 'करुणा'; वल्लत्तोल ने 'अनिरुद्ध', 'शिष्यनुं मकनुं', 'अच्छनुं मकलुम', 'कोच्चुसीता', 'मग्दलनमरियम' और उल्लूर ने 'पिंडला', चित्रशाला', 'कर्णभूषणम' आदि खंडकाव्यों से इसी युग के अंतिम दशकों में मलयालम साहित्य की श्री-वृद्धि की थी। इसी युग के अन्य कवियों में कुंडूर, कुटिटपुरं केशवन-नायर, वेण्मणि, ओरवंकरा, नटुवत्तु, नालप्पाटु, बालामणि अम्म आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग को आधुनिक युग से जोड़ने वाली कड़ी के रूप में, महाकवि 'जी', वेण्णिकुलं, वी० वी० के० नंपियार', पी० कुंजिरामन नायर आदि कवि हैं, जिनकी क़लम आज भी सक्रिय है। स्वर्गीय कविद्वय—चंगनपुला और इटप्पिल्लि——ने अपने सैकड़ों गीतों से दुखवाद को पुष्ट किया। सन १९३५ तक अत्यधिक संपुष्ट कविता-शाखा में यथार्थवादी, प्रतीकवादी, प्रगतिवादी धाराओं से तीव्रता लाने में वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनन, एन० वी० कृष्ण वारियर, वयलार, ओ० एन० वी० कुरुप, आलप्पमण्ण, ओ० एम० अनुजन, अक्कित्तम, इरश्शेरि आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। आधुनिक पाश्चात्य पद्य-साहित्य के अध्ययन से नये-नये प्रयोग-वैचित्र्य इनकी रचनाओं में रंगीनी लाये। इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी कृतियों में पाश्चात्य प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ा है। इसीलिए 'नयी कविता' की कोई अलग लहर यहाँ नहीं चली।

आधुनिक गद्य के विकास के लिए स्व० ए० आर० राजराज वर्मा की सबसे बड़ी भूमिका रही। 'साहित्य साहयं' नामक ग्रंथ रच कर (गद्य का लक्षण-ग्रंथ) उन्होंने पाश्चात्य गद्य-शैली और परंपरा से चली आने वाली गद्य-शैली का समन्वय किया। स्व० अप्पुनेटुंगाटी के 'कुंदलता', ओ० चंतु मेनोन के 'इंदुलेखा' और 'शारदा' आदि उपन्यासों ने उपन्यास की माँग बढ़ायी तो बहुत से साहित्यकार इस विधा की ओर झुक गये। धर्म-प्रचारक पादरियों ने भी गद्य के विकास में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ बँटाया। उन लोगों ने पत्रिकाएँ भी चलायीं थीं। जर्मन पादरी गुंटर्ट का नाम इस सिलसिले में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने मलयालम व्याकरण, शब्दकोश आदि भी सर्वप्रथम लिखे। छापाख़ाना खोलने में भी इन लोगों ने पहल की। इससे गद्य की अभिव्यंजना-शक्ति दिनों दिन बढ़ती गयी। उल्लूर, पी० के० नारायण पिल्लै, अप्पन तंपुरान, पी० शंकरन नंपि-यार, सी० वी० रामन पिल्लै, ई० वी० कृष्ण पिल्लै, संजयन, कुंजिरामन नायनार, केसरि, देशा-भिमानी, एम० पी० पाल, सी० जे० तोमस, चेलन्नाटु आदि स्वर्गीय प्रौढ़ लेखकों की परंपरा को निभाते हुए आज मारार, उरूब, एन० वी०, तकलि, केशवदेव, पोट्टेकाट, जोसफ़ मुंटश्शेरि, कारूर, बषीर, के० टी० मुहम्मद, एम० टी० वासुदेवन नायर, पी० ए० वारियर, ललितांबिका, सरस्वति अम्मा, के० पी० केशव मेनोन, जी० के० एन० कुट्टिप्पुषा, एस० के० नायर, गुप्तन नायर, एम० सी० जोसफ़, के० सी० पीटर आदि कितने ही तरुण-प्रौढ़ लेखक गद्य-साहित्य का ऐश्वर्य बढ़ा रहे हैं। कहानियाँ, नाटक और उपन्यास ही अधिकतर लिखे गये हैं। निबंध और समालोचना का क्षेत्र अभी अविकसित है।

भारतीय साहित्य को नयी विधाओं की प्रेरणा पाश्चात्य साहित्य से मिली। इसलिए हर साहित्यिक प्रवृत्ति का मूल स्रोत अन्यत्र खोजने की ज़रूरत नहीं। मगर प्रादेशिक समस्याएँ विभिन्न हैं—(जैसे केरल में बेकारी की समस्या है तो बंगाल में दहेज की समस्या)—उनको प्रकट करने के तरीक़े विभिन्न हैं। भारत का सांस्कृतिक हृदय एक ही है। इसीलिए साहित्य में नये वादों का आविर्भाव सभी भाषाओं में लगभग एक ही साथ होने लगता है। हिंदी की तरह नयी कविता, नयी कहानी कहलाने योग्य प्रवृत्तियाँ मलयालम में भी हुईं; मगर आंदोलन का रूप न धारण कर सकीं।

आधुनिक मलयालम साहित्य के निर्माण में सब से अधिक श्रेय प्रगतिवादी लेखकों को मिलना चाहिए। प्रगतिवादी आंदोलन में सक्रिय भाग लेने वाले लेखक ही आज सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। उनकी रचनाओं ने ही मलयालम साहित्य को अन्य भारतीय भाषाओं के समशीर्ष बनाया।

इस स्तंभ के अंतर्गत महाकवि जी० शंकर कुरुप तथा एस० के पोट्टेकाट की रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

महाकवि जी० शंकर कुरुप के 'विश्वदर्शनं' नामक कविता-संग्रह से, जिसको साहित्य अकादेमी ने सन १९६३ का पुरस्कार प्रदान किया है, प्रस्तुत कविता अनूदित है। श्री कुरुप अपनी कविताओं द्वारा केरल के लोगों के इतने प्रिय और परिचित हो गये हैं कि आपके नाम के प्रथमा-क्षर के श्रवण मात्र से आपका स्मरण हो जाता है। इसीलिए आप 'जी' कहलाते हैं। निस्संदेह वर्तमान केरल के आप महान कवि हैं। चार दशक पहले आपने कविता-रचना शुरू की थी। काव्य-निर्माण के ककहरे आपने स्व० महाकवि वल्लत्तोल से सीखे थे। इसलिए मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय के तत्व आप की रचनाओं में अधिक हैं। हर निद्रित, पीड़ित, पददलित जाति और जनता से आपकी सहानुभूति है। दुनिया के किसी भी भाग से जब कभी कोई आह या कराह की सदा आती है, श्री 'जी' का हृदय करुणा से भर उठता है। इसके साथ ही उनकी अनेक कविताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उमर ख़ैयाम का प्रभाव तथा टैगोर का छायावादी-रहस्यवादी प्रभाव भी दिखलायी देता है।

अनेक श्रेष्ठ काव्य-संग्रहों तथा खंडकाव्यों के अतिरिक्त महाकवि 'जी' के निबंधों, नाटकों तथा समीक्षाओं को भी मलयालम साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

एस० के० पोट्टेकाट की गणना मलयालम के प्रथम श्रेणी के कहानीकारों तथा उपन्यासकारों में की जाती है। समीक्षकों का मत है कि श्री पोट्टेकाट की कहानियों ने ही केरल के जनसाधारण में कहानी पढ़ने की तीव्र अभिलाषा जगायी, जो एक हद तक उन्माद की सीमा तक पहुँच गयी थी। आपने कथा-साहित्य को अनेक रंगीन चित्रों से समृद्ध किया है। इस रंगीनी का कारण आपका कथन-शिल्प ही नहीं, आपकी घुमक्कड़ प्रवृत्ति भी है। आपने सारे संसार का भ्रमण किया है और सारे क्षेत्रों से आपने अपनी कहानियों के पात्र चुने हैं।

केरल के यथार्थवादी कहानीकारों से आपकी कहानियाँ इसलिए भिन्न हैं कि आप सफल कवि भी हैं। कवि-सहज कल्पना की चमक, व्यंग्य-मिश्रित हल्के परिहास और प्रकृति के ऐश्वर्य की दमक से उनकी कहानियाँ सरस और मधुर बन जातीं हैं। अन्य कथाकारों की भाँति वे कथा-वस्तु पर ही पाठकों के मन को उलझे रहने पर बाध्य नहीं करते, और न मन पर गहरा आघात ही छोड़ते हैं।

—रवि वर्मा,
'युग प्रभात', 'मातृभूमि',
कोझीकोड (केरल)।

विश्वदर्शन

●●

जी० शंकर कुरुप

हे अनश्वर, सुंदर !
क्षण-क्षण जो होता है विकस्वर,
सृष्टि की आदिमूल शक्ति,
तुझको प्रणाम !
स्वयं में तू होती अंकुरित
स्वयं में ही होती विकसित,
तेरा वह नैसर्गिक आविष्कार
अनादि, अनंत !
टिमटिम-चमचम करते हैं
ये अगणित तारागण
सृजनात्मक तेरे ही
कल्पना-तेज के कारण !
तेरा पूर्ण संकोच ही प्रलय है;
फिर जो विकास स्वयं होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वही प्रकृति का प्रादुर्भाव !
तेरा विकास-परिणाम ही व्योम है;
तेरा विकस्वर शील ही तो काल है;
हो चुके कितने ही विकास-संकोच,
पर यह स्पंद है अविराम,
दुहराएँ कितनी ही बार !
चक्कर काट-काट उन भँवरों में,
बने हैं जो वर्णनातीत इस
महाचलन के शक्ति-वेगों से,
बहते हैं फेनकणों-से
अगणित समूह रवि-शशि-तारों के !
इस नयी सृष्टि का आरंभ कभी भी हो,
बिन चकराये सिर, रे अल्पज्ञान !
देख यह महा चमत्कार !
विकसित हो जा स्वयं इस महाद्भुत से;
मधुरार्द्र बन जा स्वयं विश्वप्रेम के मधु से ;
करोड़ों ग्रह-नक्षत्रों को ओढ़ा कर जो है सुलाता,
करोड़ों ग्रह-नक्षत्रों को जगा कर जो है सहलाता,
स्थिर वात्सल्य से धड़कते उस अनादि हृदय में,
दिया जिसने मुझे स्थान,
उस करुणा की जय हो !

निज संकल्प के तप्त तेज से
रचे जिसने थे सारे रवि-शशि, तारा-मंडल,
किया था उस सर्ग-कामना ने प्रयोग अविराम
जल, नभथल, भूतल में, चिरकाल,
निज रचनाओं को,
क्षण-क्षण नव-नव रूपों में,
विभिन्न स्थानों में,
निरखने की अभिलाषा से;
हुई चरितार्थ अंत में रच कर, अंतरंग को,
शक्ति है जिसकी सतत स्वयं सुसंस्कृत होने की !
रचा जिसने इस अंतरंग को,
जो पाता है शक्ति स्वयं अनुभव से,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य से सौंदर्य को कात लेने की,
नित्य नयी आभा से धर्म को बुनने की,
जय हो उस अपूर्व कल्पना की !

रख कर उस चिंतामणि को
अधिक कृपा से मुझमें,
साखी रह कर तू उसमें
करता है परिमार्जित
सौ वर्णों से, सौ-सौ नादों से,
सैकड़ों उदार गंधों से, स्पर्शों से, विविध रसों से,
विपुल सहज सौंदर्य विश्व का,
आस्वादन करने को !
रखूँ कैसे इस अंतरंग को अक्षत,
अम्लान, अशल्कित, बेदाग़ ?
जिसको दी तूने अपूर्व शक्ति अति स्नेह से,

नित्य नया प्रकाश प्रभाकर को भी देने की,
वर्णोज्वल इंद्रचाप को भी
अपनी कांति बाँट देने की,
काल से भी बढ़ कर तेज़ी से चलने की,
उस अपने अंतरंग को
स्वार्थ, निश्वास के धूम से
मैं न करूँ मलिन,
रख तू ही इसका ध्यान !

हे अनश्वर, सुंदर !
क्षण-क्षण जो होता है विकस्वर,
सृष्टि की आदिमूल शक्ति,
तुझको प्रणाम !

अनुवादक : के० राधाकृष्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी

सेतु

•

एस० के० पोट्टेक्काट

मुरझायी झाड़ियाँ और बेडौल चट्टानें इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। उस ऊँची, पथरीली ज़मीन पर ताड़ के पेड़ भूतों की भाँति खड़े हैं, मानो चौकीदारी कर रहे हों। समुद्र का गर्जन बार-बार सुनायी पड़ता है। हवा में ताड़ के पत्ते झूम रहे हैं, मानों मरे हुए लोगों की आत्माएं, जिन्होंने रामेश्वरम में शरण ली है, उन पर बैठीं उड़ानें भर रहीं हों।

प्रोफ़ेसर श्रीकुमार समुद्र-तट से सीधे दक्खिन की ओर चला। उसकी अंतरात्मा में एक शीतल पुलक-सा उठा। विश्वास नहीं होता कि प्रभात का समय है। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं अंधकारमय प्रेत-लोक में फँस गया है। थोड़ी दूर आगे पहुँचने पर भीड़ और कोलाहल निकट आने लगा।

रामेश्वरम के मंदिर के सामने लोग समुद्र में स्नान कर रहे हैं। विभिन्न भाषाभाषी हिंदू जनता, जो भारत के सभी भागों से आयी है—स्त्री, पुरुष, वृद्ध, बालक, सभी समुद्र-स्नान में तल्लीन हैं। रेतीले तट पर लोगों को क़तारों में घुटनों के बल बैठा कर पंडे मंत्र पढ़ कर सुना रहे हैं और पिंड दिलवा रहे हैं। लक्ष्मण तीर्थ से ले कर द्वीप के सोलहों तीर्थों में पिंड देने के बाद यात्रियों की भीड़ मंदिर के बाहर के अंतिम तीर्थ, अग्नि तीर्थ, में पितरों को पिंड दे रही है। श्रीकुमार सोचता है. . .आज अमावस्या है तभी तो इतनी भीड़ है !

चमड़े के खोल से उसने कैमरा निकाल लिया। 'रोल' का आखिरी 'स्नैप' है। (ग्यारहवां रामेश्वरम के समुद्र के सुंदर सूर्योदय का था।) समुद्र में जो तीर्थ-यात्री स्नान कर रहे थे, उनकी ओर कैमरे को केंद्रित कर के उसने 'क्लिक' किया ही था कि एक महिला, जो नहा कर ऊपर आ रही थी, पत्थर पर पैर फिसल जाने के कारण पानी में गिर पड़ी।

गिरने से उसके कोई चोट नहीं लगी। गोरी-चिट्टी अधेड़ उम्र की वह महिला पता नहीं किस प्रदेश की होगी ? स्नान करते समय सभी प्रदेशों की स्त्रियाँ एक समान लगती हैं। कंधे पर से नीचे खिसकते आँचल को, जिससे समुद्र का खारा जल चू रहा था, वक्ष पर डाल, लज्जा-भरी मुस्कान लिए वह किनारे पर चढ़ आयी।

'जंबु द्वीपे. . .भारतवर्षे. . .रामेश्वरे. . .अग्नि तीर्थे. . .' पुरोहित का लययुक्त मंत्रोच्चारण सुनायी पड़ रहा है। लहरें चट्टानों से टकरा-टकरा कर उछल रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकुमार ने कैमरे की फ़िल्मों को 'रोल' कर के उसको चमड़े के खोल में रख दिया और समुद्र की ओर देखता अलग बैठा रहा।

तभी पीछे से किसी ने पुकारा––"श्रीकुमार!"

चकित हो उसने मुड़ कर देखा।

"श्रीकुमार, ज़रा इधर तो आ!" वही महिला जो पानी में गिर पड़ी थी, उसकी ओर हाथ से इशारा कर के बुला रही थी।

श्रीकुमार एकाएक घबरा गया––उसका नाम ले कर पुकारना, वह मलयाली बोली और उसी की ओर हाथों से इशारा करना। उसके मुँह पर फीकी मुस्कान फैल गयी।

पर तुरंत ही उसको ज्ञात हो गया कि भूल हुई है। सामने पलाश के पेड़ के नीचे जो बालक खड़ा था वह महिला उसी को बुला रही थी। पुकार सुन कर वह काला-पतला छोकरा उस महिला के पास चला गया।

मुँह पर फीकी मुस्कराहट लिये श्रीकुमार वहीं बैठा रहा।

आज दूसरी बार यह भूल हुई थी। सबेरे निकलते ही एक इसी तरह की भूल हो चुकी थी। समुद्र-तट के दृश्यों को निहारते हुए थोड़ा टहलने के बाद समुद्र-स्नान कर के लौटने की इच्छा हुई थी। अतः एक पुरानी लुंगी और कुर्ता पहन लिया, कंधे पर एक तौलिया डाली और अपने एकमात्र साथी कैमरे को चमड़े के खोल में डाल बग़ल में दाबे मंकंमा सराय से जब समुद्र-तट पर पहुँचा तब एक गुजराती तीर्थ-यात्री ने पलाश के पेड़ के नीचे से हाथ के इशारे से उसे अपने पास बुलाया था। पास गया तो उस वृद्ध ने अपनी दाढ़ी बनवाने के लिए उसकी तरफ़ इशारा किया। पहले तो वह चौंका पर फिर ज़रा सोचने पर तुरंत समझ गया कि बग़ल में दबे चमड़े के खोल और मलिन वस्त्रों को देख कर उस गुजराती को यह भ्रम हो गया था कि वह रामेश्वरम का कोई नाई है। उससे कुछ कहे बिना वह चुपचाप आगे बढ़ गया था।

श्रीकुमार के मुँह पर जो फ़ीकी मुस्कराहट ठहर गयी थी उसके कारण एक और अनर्थ उपस्थित हो गया। उस लड़के के पास जो पंडा खड़ा था उसने श्रीकुमार को पहचान लिया और समीप आ कर बोला, "एन्ना सर, वरामेन्नुम शोल्लि पिन्ने कंडिल्लल्लो।" (क्यों साहब, आपने कहा था कि फिर आयेंगे, लेकिन मिले ही नहीं।) श्रीकुमार ने उसको पहचान लिया। वह मुरुकन पंडा था जो वहाँ के प्रमुख पंडे, पक्षि लक्ष्मण शास्त्री, का दलाल था।

पिछले दिन, मंदिर के समीप ही मुरुकन पंडे ने श्रीकुमार को घेर लिया था। सोचा था कि कोई नया आदमी है जो रामेश्वरम में पितरों को पिंड देने आया है। मनोविनोद के लिए श्रीकुमार ने वैसा अभिनय भी किया; फिर बताया कि वह मलयाली है। सुनते ही पंडे ने कहा कि मुद्दत से लक्ष्मण शास्त्री ही मलयाली लोगों का कुल-पंडा है और वह कम दर पर रामेश्वरम के सभी कर्म करवा देगा। इतना कह कर वह श्रीकुमार को शास्त्री के पास ले चला। श्रीकुमार के पास काफ़ी अवकाश था और कुछ करने धरने को तो था नहीं इसलिए पंडे के साथ चल दिया और शास्त्री के मठ पर पहुँचा। शास्त्री जी चट बाहर निकल आये और उसे देख कर बड़ी आत्मीयता दिखाते हुए नंपूतिरि मलयालम में बोले, "हः वर'आ, वर'आ––एन्दोक्या नाट्टिले विशेषङ्ङल?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आइए, आइए, गाँव की क्या ख़बर है ?) और उसको अपने पास ही विठा लिया। उसी समय सुअर के-से मुंह वाला एक भारी-भरकम और चोटी वाला आदमी एक बड़ी पोथी ले कर आ पहुँचा। उसमें उन सभी मलयाली राजाओं, रईसों, ज़मींदारों, अफ़सरों और लीडरों के नाम-पते व प्रमाणपत्र थे जो रामेश्वरम में आ कर पक्षि लक्ष्मण शास्त्री के मेहमान रह चुके थे। श्रीकुमार ने इधर-उधर पन्ने पलट कर देखे। शास्त्री जी चट अपने व्यवसाय की बात पर आ गये। उन्होंने श्रीकुमार को समझाया कि उसके माता-पिता को ही नहीं, बल्कि उसके परिवार में आज तक जो-जो लोग मर चुके हैं उन सभी को, बाल-बच्चों सहित, केवल सौ रुपयों में वह मोक्ष दिला सकता है। इसके बाद इस रक़म पर मोल-तोल शुरू हुआ। अंत में शास्त्री जी ने तीस रुपयों पर बात तै की। श्रीकुमार शाम को लौट कर आने का वादा कर वहाँ से चला आया।

यह कैसा दुर्भाग्य है कि एक फीकी मुस्कराहट ने उस दलाल पंडे को आमंत्रित किया !—श्रीकुमार सोच रहा था।

"सा'ब, शास्त्री जी इस प्रकार किसी का रेट कम नहीं करता है। पर आप तो हमारे अपने हैं। विश्वास न हो तो ज़रा इनसे पूछ लीजिए। ये भी मलयाली हैं।" रेशमी चादर ओढ़े चश्माधारी सज्जन की ओर इशारा कर के पंडे ने कहा।

"कितना ख़र्च हुआ आपका ?" जानने की इच्छा न होने पर भी श्रीकुमार ने मित्रता प्रकट करते हुए उस मलयाली से पूछ ही लिया।

उस गोरे-चिट्टे सुंदर युवक ने पतली मूँछ के नीचे एक अलस मुस्कराहट ला कर ख़र्च का हिसाब पेश किया, "पिंड-कर्म के लिए फ़ीस सौ रुपये, दक्षिणा पच्चीस रुपये, बाजे के लिए पचास, बैलगाड़ी के लिए पंद्रह, पच्चीस ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिए साढ़े सैंतीस, फुटकर ख़र्च पंद्रह रुपये। यही नहीं। मंदिर के अंदर के तीर्थों में पिंड देने के बाद श्री रामसेतु तीर्थ में पिंड-कर्म पूरा करने के लिए हमें धनुष्कोडि जाना है। . . . .अजी ! ख़र्च के बारे में क्या चिंता—आख़िर पितरों के लिए किया जाने वाला अंतिम कर्म ही तो है।"

श्रीकुमार ने उसकी ओर इस प्रकार देखा मानो उस धीर युवा को बधाई दे रहा हो जिसने रामेश्वरम के बयालीसों तीर्थों में पिंड दे कर अपने पितरों की मोक्षप्राप्ति सुनिश्चित करने पर कमर कस ली है।

"आप कहाँ के रहने वाले हैं ?"

"हम ? हम कलिकट के हैं।"

"कलिकट में कहाँ ?"

जब उसने कलिकट के उस गाँव का नाम बताया तब श्रीकुमार का दिल तेज़ी से धड़कने लगा। वही गाँव था जहाँ श्रीकुमार का जन्म हुआ था, बचपन बीता था।

"आप का शुभ नाम ?" किसी अंतःप्रेरणा से श्रीकुमार ने पूछा।

"कृष्णन नायर।"

श्रीकुमार चुप रहा।

"क्यों, मुझे पहचानते हैं क्या ?" उस युवक ने ज़रा गंभीर स्वर में पूछा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"नहीं।" श्रीकुमार ने फीकी मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया।

पहचानूँ कैसे? कृष्णन नायर की उम्र सत्ताईस-अट्ठाईस साल से ज़्यादा नहीं होगी। और मुझे गाँव छोड़े तीस साल बीत चुके हैं। उस समय कृष्णन नायर का जन्म तक नहीं हुआ होगा. . .श्रीकुमार सोच रहा था।

"और आप?" कृष्णन नायर ने सहसा प्रश्न किया।

"ओह, मैं? . . . मैं तो यहाँ यों ही भटकता फिरता हूँ।" श्रीकुमार ने प्रश्न को टाल दिया।

"क्या आप फ़ोटो खींचते हैं? हमारी भी एक फ़ोटो खींच देंगे?"

"खेद है, 'रील' की सब फ़िल्में समाप्त हो चुकी हैं।"

श्रीकुमार नहीं जानता था कि वह महिला जो पानी में गिर पड़ी थी, गोद में एक नन्हे बच्चे को लिये, उसकी ओर टकटकी बाँधे देख रही थी और उसकी बातें ध्यान से सुन रही थी।

"अच्चा! अच्चा!" (पिताजी! पिता जी!)—तभी पीछे से एक बालक की मीठी पुकार सुनायी दी।

कृष्णन नायर वात्सल्य से मुस्कराते हुए हाथ बढ़ा कर निकट आया। श्रीकुमार ने पीछे मुड़ कर देखा। देखते ही उसकी आँखें विस्मय से फटी रह गयीं, दिल धड़कने लगा। नहा कर गीले बालों को खोले एक युवती सामने खड़ी थी—अम्मिणी?

अब की बार भी भूल हुई। अम्मिणी को इस रूप में देखे तीस साल बीत चुके, फिर भी वह विश्वास नहीं कर पाता कि वह अम्मिणी नहीं है।

उस युवती ने बच्चे को कृष्णन नायर के हाथों सौंप दिया। उस समय श्रीकुमार उस महिला को अच्छी तरह देख सका और उसकी दृष्टि उस पर गड़-सी गयी। फिर, वह बारी-बारी से उस सत्रह साल वाली युवती और अधेड़ उम्र वाली महिला—दोनों को देखता रहा।

दो अम्मिणियाँ! एक दूसरे की छाया हैं या प्रेत? . . .श्रीकुमार साश्चर्य सोच रहा था।

"सुरेश को भूख लगी होगी। दूध या केले मँगा कर दे दीजिए।" युवती ने कृष्णन नायर से कहा। फिर उसने एक पेड़ के नीचे रखी थैली उठा ली और अधेड़ महिला से बोली, "माँ जी, मैं इन गीले वस्त्रों को बदल कर आती हूँ।" इतना कह कर वह चली गयी।

मुरुकन पंडे ने कृष्णन नायर से कहा, "केले की दूकान मैं दिखा देता हूँ। आइए!"

बच्चे को छाती से लगाये कृष्णन नायर पंडे के साथ दूकान की ओर चल दिया।

"मुझे भी भूख लगी है।" वह बालक बड़बड़ाया।

"ज़रा ठहरो। मंदिर के अंदर का क्रिया-कर्म पूरा कर लें फिर कुछ खा लेंगे।" जब वह उस लड़के से बात कर रही थी उस समय भी उसकी दृष्टि श्रीकुमार के ऊपर ही टिकी थी।

श्रीकुमार थोड़ी देर असमंजस में खड़ा रहा, फिर हिम्मत करके पूछ ही लिया, "तुम अम्मिणी ही. . .हो न?"

"अहोभाग्य! मेरा नाम अभी याद है आपको।" अम्मिणी ने मुस्कराते हुए कहा।

फिर सन्नाटा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह श्रीकुमार का सूक्ष्म निरीक्षण कर रही थी. . .ऊँचे क़द का वह गोरा शरीर कुछ शिथिल पड़ गया है। माथे के ऊपर सिर गंजा है। पहले के काले घुँघराले बाल लगभग ग़ायब हैं। सिर के पीछे और कानों के ऊपर ही, सुपारी के छिलके के समान, कुछ बाल बाक़ी रह गये हैं। दाँत सब के सब नक़ली हैं। नेत्रों का तीखापन कुछ क्षीण पड़ गया है, फिर भी उनकी मादकता जैसी की तैसी बनी हुई है—हृदय में गुदगुदी पैदा करने वाली वह दृष्टि !

श्रीकुमार भी वही कर रहा था—उसका सूक्ष्म निरीक्षण। बाल गिरने लगे हैं। उन पर सफ़ेदी छाने लगी है। मुख पीला पड़ गया है। उन चमकती सफ़ेद दंत-पंक्तियों में ऊपर सामने का एक दाँत ग़ायब है। उस दरार में से बुढ़ापा झाँक रहा है और मुख के सौंदर्य को नष्ट कर रहा है। तराशी हुई बर्छी-सी नाक—नोक पर ज़रा जंग लगने पर भी—बुढ़ापे का सामना कर रही है। आँखों की चमक भी ज्यों की त्यों है।

और सहसा तीस साल पहले का एक चित्र उसकी स्मृति में कौंध गया. . .विशाल खेत के किनारे पर काली माता का एक प्राचीन मंदिर। उसके उत्तर की ओर फूलों से भरे चंपक की ओट में एक पुराना तालाब जिसमें ढलती धूप इधर-उधर सोना बिखेर रही है। अरुण वर्ण की एक ग्रामीण युवती जो तालाब में स्नान कर के, गीले बालों से अपनी लाज छिपाये, एक कालेज के विद्यार्थी की लोलुप दृष्टि से बचते-बचते शंकित-सी चली जा रही है। दूर से गड़रियों का गीत सुनायी पड़ रहा है :

सुनहले चंपक के सुंदर बनों में,
कर्पूर लगायी रातों में,
मीठे चुंबन लिए कितने वर्षों से,
तेरी प्रतिक्षा कर रहा हूँ मैं !

सहसा जैसे सपने से जाग कर, श्रीकुमार ने पूछा, "तो अम्मिणी. . .तुम कहाँ कैसे ?"

"ओह, आपको यह भी नहीं मालूम कि लोग रामेश्वरम में क्यों आते हैं ?" श्रीकुमार ने अपने नकली दाँत दिखा कर हँसने की चेष्टा की, "जानता हूँ, रामेश्वरम में लोग मृत संबंधियों को पिंड देने आते हैं। यहाँ अब किसको ? यही मैं पूछ रहा था।"

उसने उस लड़के के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "इसके पिता को।"

सहानुभूति प्रकट करनी है कि नहीं, इसी पशोपेश में पड़ा श्रीकुमार सोचता रहा. . .सुना था तुमने एक स्कूल-मास्टर से शादी की थी। वह मर गया क्या ? तुम सोच रही होगी कि इस समय, जब कि उसकी आत्मा की मुक्ति के लिए पिंड दिया जा रहा है, मुझसे भेंट नहीं होनी चाहिए थी. . .और फिर जैसे चौंक कर पूछा, "उनका देहांत कब हुआ ?"

"गत जेठ के महीने में।" आँखें पोछते हुए वह बोली और शून्य में देखती रही।

श्रीकुमार नाखून कुरेदते हुए चुप खड़ा रहा। अतीत की स्मृतियाँ उसके मस्तिष्क में घुमड़ती रहीं। तीस साल पहले का एक और चित्र. . .घास-फूस के छप्पर वाले एक घर की सफ़ेद पुती दीवार पर ढलती चाँदनी छिटकी हुई है। उस दीवार पर मंदिर के गुंबद की तरह एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूस के ढेर की और अनुग्रह-मुद्रा की तरह एक फल वाले केले के पेड़ की छाया पड़ रही है। आहाते के कोने के आँवले के पेड़ पर बैठी एक बुलबुल प्रेम गीत सुना रही है। नये फूस की गंध वातावरण में फैली हुई है. . .

श्रीकुमार ने सिर के पीछे हाथ फेरते हुए विचित्र-सी दृष्टि से उसकी ओर देखा। उस क्षण वह ऐसी दीख पड़ी जैसे उसकी उम्र बीस वर्ष कम हो गयी हो। और तभी स्मृति का एक दूसरा झोंका. . . . .उस दिन भी तुम इसी तरह शून्य में दृष्टि गड़ाये भीगी आँखें पोंछ रही थीं। तुम्हारा विश्वास था कि मैं तुमसे विवाह करूँगा। और मैं, जो उस समय कॉलेज का विद्यार्थी मात्र था, तुम्हारा इतना नैकट्य प्राप्त कर के, मन ही मन अपने भाग्य की सराहना कर रहा था।

धीरे-धीरे स्मृति धुँधली पड़ती गयी और उसने चौंक कर वर्तमान में लौटते हुए पूछा, "साथ में कौन-कौन हैं?"

उत्साहहीन स्वर में उसने उत्तर दिया, "मेरी बेटी श्रीदेवी—जो वस्त्र बदलने उधर गयी है, उसके पति कृष्णन नायर, जिनसे आपका परिचय हो ही चुका है, और उनका पुत्र सुरेश। और, यह है मेरापुत्र—श्री–कु–मा–र–न।"

क्षण भर को श्रीकुमार को लगा कि उसका हृदय उमड़ा आ रहा है। उसने उस लड़के को ग़ौर से देखा—काला-सा, ज़रा तिरछी नज़रों वाला फुर्तीला लड़का।

उसका मन फिर अतीत की स्मृतियों में डूबने-उतराने लगा—यह तो दस वर्ष का होगा। तो हमारे बिछोह के बीस साल बाद भी तुम मुझे भूली नहीं! लेकिन तुम मेरे बारे में पूछती ही नहीं। . . .शायद मेरी वेशभूषा देख कर तुम समझ रही होगी कि मैं कोई भिखारी हूँ, या उस गुजराती तीर्थयात्री ने जैसा सोचा था, कि मैं कोई नाई हूँ। ऐसा ही सही। मुझे धोखेबाज़ समझने से तो यही अच्छा है।

अम्मिणी ने दायाँ हाथ लड़के के कंधे पर फेरते हुए पूछा, "कितने लड़के हैं?"

श्रीकुमार मुँह फेर कर हँसा। कुछ देर की चुप्पी के बाद उसने कहा, "मैंने शादी नहीं की।"

"क्या?"

श्रीकुमार ने बुझी आँखों से उसकी ओर देखा और सोचने लगा—

मैंने जो कहा उसे अच्छी तरह सुनने के बाद भी तुम प्रश्न दुहरा रही हो जैसे सुना ही नहीं। मेरे मुँह से उन शब्दों को दुबारा सुनने की तुम्हारी इच्छा का क्या कारण है—आनंद, कि ईर्ष्या? या तुम मेरी खिल्ली उड़ा रही हो? . . .

फिर ज़रा गंभीरता से स्पष्ट शब्दों में उसने कहा, "मैंने शादी नहीं की।"

सुन कर वह चौंकी नहीं, आहें नहीं भरीं; बस चुपचाप खड़ी उसकी ओर देखती रही।

श्रीकुमार के मन की हलचल एकाएक फिर बढ़ गयी और वह चुपचाप खड़ा सोचता रहा. . .तुम पूछती नहीं कि मैंने शादी क्यों नहीं की! . . .सोच रही होगी तुम्हारे विरह में ही मैं अविवाहित रह गया, या शायद एक क्षणिक आनंद के लिए ही तुम वैसा विश्वास करने की कोशिश कर रही होगी। अम्मिणी! तुम्हारा विश्वास तुम्हारी रक्षा करे . . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहरे लाल रंग की साड़ी पहने श्रीदेवी सामने से आ रही थी। श्रीकुमार ने एक नयी धड़कन से उसकी ओर देखा। उसे लगा जैसे वह जंगली पौधों और पत्थर के खंभों की पृष्ठभूमि में उतरी हुई कोई देवी हो। अनियंत्रित अंतःप्रेरणा से उसने कैमरा खोल कर आँखों तक उठाया। तभी उसे याद आया कि उसमें तो फ़िल्म ही नहीं बची है। मन में निराशा हुई। तुरंत ग्लानि भी हुई कि वह कोई अपराध करने पर तुला था। मन का पाप दूसरों पर न प्रकट हो जाय, इसलिए वह कैमरे को आँखों पर रखे ही समुद्र की ओर मुड़ गया और 'व्यू-फ़ाइंडर' से दूर देखता खड़ा रहा....तीस साल पूर्व के अतीत में....।

"आपने कहा था न कि फ़िल्म नहीं है; अब यह क्या ?" पीछे से कृष्णन नायर का स्वर सुन कर श्रीकुमार चौंक कर पीछे मुड़ा। कृष्णन नायर इस प्रकार देख रहा था जैसे चोर को चोरी के माल के साथ पकड़ लिया हो।

श्रीकुमार ने कैमरा नीचा किया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या उत्तर दे। उस समय वह जो कुछ भी कहता, झूठ ही माना जाता। इसलिए प्रकट रूप में उसने कुछ भी नहीं कहा पर मन में उत्तर गूँजता रहा....कृष्णन नायर, आप नहीं जानते कि जीवन में ऐसे भी कुछ झूठ हैं जो सत्य के मूल्य को बढ़ा देते हैं।

"तो सा'ब, हमारा कर्म ?" तभी मुरुकन पंडे ने पास आ कर याद दिलायी।

"वह कल देखा जायगा।" श्रीकुमार ने पंडे से पिंड छुड़ाने के लिए उत्तर दिया।

"बैलगाड़ी तैयार है। मंदिर चलो।" तभी कृष्णन नायर की ऊँची आवाज़ कानों में पड़ी।

जंबुद्वीपे....भारतवर्षे....पुरोहितों का मंत्रपाठ सुनायी पड़ रहा है। पत्ते, बलिपिंड और कुश की अँगूठियाँ (पवित्री) समुद्र में फेंकी जा रही हैं।

"तो अब हम चलते हैं !"

अम्मिणी के स्वर ने श्रीकुमार को जैसे तंद्रा से जगा दिया।

"बेटा, बिदा लो।" उसने श्रीकुमारन को आज्ञा दी। श्रीकुमारन बड़ी नम्रता से हाथ जोड़े खड़ा रहा।

सहसा श्रीकुमार का हाथ काँपा और उसने कैमरे को कस कर पकड़ लिया। फिर वह मँहगा जर्मन कैमरा उस लड़के के हाथ में देता हुआ वह क्षीण स्वर में बोला, "वह लो, मेरा उपहार है।"

लड़के ने संकोच से माता की ओर देखा।

"ले लो बेटा !" अम्मिणी ने कहा।

लड़के ने कैमरे को छाती से चिपका लिया। उसकी आँखों में आनंद और विस्मय लहरें मार रहा था।

लड़के को साथ लिये अम्मिणी आगे बढ़ी। कृष्णन नायर और श्रीदेवी गाड़ी के पास उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

श्रीकुमार ने देखा कि थोड़ी दूर चल कर अम्मिणी पीछे मुड़ कर देख रही है और आँखें पोंछ रही है। श्रीकुमार के मन पर चोट लगी और वह फिर सोचने लगा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...अम्मिणी ! तुमसे मेरी भेंट नहीं होनी चाहिए थी। अच्छा होता कि तुम सदा मेरी मधुर स्मृतियों में उस नित षोड़शी के रूप में ही नाचती रहतीं। इस रामेश्वरम में मेरा वह मधुर स्वप्न टूट गया।

बैलगाड़ी खड़खड़ाती हुई मंदिर की ओर तेज़ी से चल पड़ी। तीन पीढ़ियों को ले कर आगे की ओर बढ़ने वाली उस गाड़ी के पीछे जो धूल उड़ रही थी उसकी ओर घूरते हुए श्रीकुमार हतप्रभ और निढाल खड़ा रहा।

फिर वह धीरे-धीरे चल पड़ा। झोपड़ियों और पंडों के घरों के चक्कर काटते हुए जब फिर समुद्र-तट पर पहुँचा तब कहीं मन को कुछ शांति मिली। तीर्थयात्रियों की हलचल से दूर, शांत रेतीले तट की गीली बालू पर धीरे-धीरे चलता हुआ वह दक्खिन की ओर बढ़ने लगा।

चलते-चलते एक छोटे जल-जीव की निष्प्राण देह उसकी दृष्टि में आयी जिसे छोटी-छोटी लहरों ने अपनी क्रीड़ा के बीच तट पर फेंक दिया था। उसे देखते ही श्रीकुमार तुरंत पुराना प्रोफ़ेसर बन गया। उसने उसे उठा लिया और बड़े मनोयोग से देखने लगा।

श्रीकुमार कलकत्ता के एक कालेज में जंतुविज्ञान का प्रोफ़ेसर है। समुद्री जंतुविज्ञान में उसकी विशेष रुचि है। कालेज के अन्य दो प्रोफ़ेसरों के साथ अपने कालेज के विद्यार्थियों की एक छोटी टोली को शैक्षणिक यात्रा पर ले कर निकला है। पांपन चैनल, पाल्क जलडमरूमध्य और डेलफ़्ट टापू के विशेष प्रकार के कुछ जलजीवों को पकड़ कर उसके साथी कन्याकुमारी गये हैं। यह कह कर कि लौटते वक़्त वह उनके साथ हो लेगा, श्रीकुमार रामेश्वरम में ठहर गया था।

"कितना सुंदर !" श्रीकुमार ने उसे उँगलियों पर लटका कर कहा। 'सी लिली' वर्ग का कोई जीव था वह। उसके शरीर के हल्के लाल और बैंजनी रंग फीके नहीं पड़े थे। उसको मरे अधिक समय नहीं हुआ होगा।

समुद्री जीवों के मृत शरीर और अस्थिपंजर कितने सुंदर दीखते हैं ! विविध रूप-रंग की कौड़ियाँ, सीप और शंख, जो रामेश्वरम की बाज़ार की दूकानों में सजे रहते हैं, एक क्षण के लिए श्रीकुमार के मन में घूम गये और वह सोचने लगा कि दुनिया का सबसे कुरूप कंकाल मनुष्य का ही है। फिर उसको अपने कालेज की विशिष्ट प्रयोगशाला की याद आयी जहाँ बड़े-बड़े काँच के बर्तनों में स्पंज, स्टार मछली, वालरस आदि रखे थे। उनमें से कइयों को वह स्वयं ही विभिन्न स्थलों से पकड़ कर लाया था। उसके घर में भी पुस्तकालय के कमरे में एक छोटी-सी जल-वाटिका है जिसमें विचित्र-विचित्र मछलियाँ हैं।

और फिर उसे याद आयी बालीगंज स्थित अपने घर की और नौकर गणेश की। गणेश घर में ताला लगा कर शायद अपने गाँव चला गया होगा। ईमानदार होने पर भी वह अनाड़ी है। ठीक चारा और उचित शुश्रूषा न प्राप्त होने पर उसके वापस पहुँचने तक वे सारी सुंदर मछलियाँ मर जायेंगी।

तभी कहीं से मछलियों की दुर्गंध नाक में आ घुसी। समीप ही, उसे मछलियाँ इकट्ठा करने के बड़े-बड़े गढ़े दिखायी दिये।

१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने लाल और नीले रंग की एक बड़ी रंगीन नाव किनारे आ कर लगी। उसमें रोहू भरी हुई थीं। यहाँ कोई रोहू नहीं खाता; सब जापान को निर्यात की जाती हैं।

तट के समीप, बाँस के घेरों के अंदर, तालाबों में बड़े-बड़े समुद्री कछुओं को पाला जाता है। वे भी निर्यात किये जाते हैं, गोरों के खाने के लिए।

मछली के व्यापारियों ने जो गंदी चीज़ें छोड़ दीं थीं उनमें एक बुढ़िया, लालच भरी निगाहों से, कुछ खोज रही थी। श्रीकुमार ने घृणा से मुँह फेर लिया।

पीछे, क़रीब आध मील दूर पर गहरी हरियाली के ऊपर उठा रामेश्वरम मंदिर का भूरा गोपुर दिखायी देता है। कैसी कुरूप वस्तु! प्रागैतिहासिक युग का कोई भयंकर प्राणी गर्दन उठाये खड़ा है क्या? या मृत आत्माओं को पकड़ने के लिए बड़ा बाँस का पिंजड़ा खड़ा कर दिया है किसी ने? या शायद आत्माओं की परलोक-यात्रा की वार्ता का प्रसारण करने के लिए रेडियो ट्रांस्मिटर का खंभा है।

श्रीकुमार ने समुद्र की ओर फिर दृष्टि दौड़ायी। एक छोटी नाव किनारे की ओर आ रही थी। लुंगी और कोट पहने एक युवक प्लास्टिक का एक सूटकेस हाथ में लिये उस नाव में से तट की ओर लपका। यह तूत्तुक्कुडी से नमक लाद कर लाने वाली नाव है। यहाँ से सूखी मछलियां ले कर लौट जायगी। इसी बीच महसूल की चोरी का व्यापार भी चलेगा। उन बड़ी-बड़ी गठरियों में शायद अफ़ीम या गाँजा छिपाया गया होगा। एक ओर तीर्थस्थान, बलिपिंड और मोक्षमंत्र और निकट ही मछली का व्यापार और महसूल की चोरी। यहाँ ये पुरोहित भी आत्माओं को महसूल की चोरी से परलोक भेजेंगे क्या?

श्रीकुमार ने सिगरेट का आखिरी कश लिया और टोटा फेंक दिया। सिगरेट के सुलगते टुकड़े की ओर देखता वह सोच रहा था...आदमी भी इस सिगरेट के ही समान है। ज़रा सी गरमी और प्रकाश, बहुत कुछ धुंआ और अंत में राख का ढेर!

लगभग अर्धगोलाकार फैले समुद्र-तट पर चलते-चलते वह पूर्वी कोने पर पहुँचा और वहाँ से जब दक्खिन की ओर देखा तब सामने एक नयी ही दुनिया दिखायी दी। दूर पर चिड़ियों के पंख जैसी धनुष्कोडी दीख पड़ती है। सुदूर पूर्व में, क्षितिज के तले एक मेघखंड-सा सिंहल द्वीप है। उनके बीच एक गहरी नीलिमा, दक्खिन की ओर हिंदमहासागर को भी पार कर, दक्षिणी ध्रुव—या अनंत—की ओर दौड़ती चली जाती है। लगता है जैसे प्रेत-लोक का रास्ता है।

वह चलता ही रहा। थोड़ी दूर पर रेत के टीले रास्ता रोके खड़े थे—मन को मोहित करने वाले बड़े-बड़े सफ़ेद टीले। ये मीनारें, जिनकी दीवारें सूक्ष्म नक्काशी से अलंकृत हैं, हवा की शिल्पकला की सृष्टि हैं। रामेश्वरम के मंदिर के गोपुर अब दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

सामने के रेत के टीले के नीचे, सफ़ेद रेशमी चादर की तरह पड़ी गीली रेत पर गहरे लाल रंग के कुछ केकड़े नाच रहे हैं। रेत के टीले के एक भाग का ढलान समुद्र की ओर है।

श्रीकुमार ने समुद्र की गहराई की ओर दृष्टि घुमायी—गहरी नीली गहराई जो रंगबिरंगे अनोखे जीवों का क्रीड़ास्थल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोड़ा आगे, रेत के टीले पर एक सूखा पेड़ खड़ा था। वह आश्चर्य से देखता रहा। उसके देखते-देखते वह पेड़ बड़ा होता गया और ऐसा लगने लगा कि एक अर्धनग्न ग्रामीण सिर पर एक बड़ा लकड़ी का गट्ठा लिये खड़ा हो।

उसको पता लगा कि उस ओर जाने के लिए उस टीले को पार करना है। आगे बढ़ते हुए उसने टीले पर पैर रखा ही था कि उसे लगा जैसे उसका पैर झुलस गया। दोपहर का समय था। वह मुड़ कर सराय की ओर चल पड़ा।

जब वह मंकंमा सराय में पहुँचा तब उसने देखा कि सराय के बूढ़े चौकीदार को कोई मोटी-तगड़ी औरत गालियाँ दे रही है। गालियाँ देने के साथ ही वह रो भी रही थी। बूढ़ा चौकीदार सिर नीचा किये उकड़ूँ बैठा था।

सीढ़ियाँ चढ़ कर श्रीकुमार अपने कमरे में पहुँचा और पलंग पर निढाल बैठ गया। तब तक बूढ़ा चौकीदार भी वहाँ आ पहुँचा। श्रीकुमार को सिर पर मैला साफा बाँधे, सफ़ेद मूँछों और धँसी आँखों वाले उस बूढ़े से घृणा थी। वह कराहते हुए झुक कर चलता था। श्रीकुमार ने ज़रा गंभीर हो कर पूछा कि वह नीचे किससे झगड़ा कर रहा था ? बूढ़ा दुख भरे स्वर में अपनी कथा सुनाने लगा—उसकी बड़ी बेटी को प्रसव-पीड़ा के कारण अस्पताल ले जाया गया है। उसका पति तूतुक्कुडी में है। बूढ़े की पत्नी यह ख़बर सुनाने आयी है। उसके हाथ में एक भी पैसा नहीं है। पत्नी उससे पैसे माँग रही है पर उसके पास भी पैसे नहीं हैं। इसीलिए गालियाँ दे कर वह उससे झगड़ा कर रही है।

खाँसते हुए दुखभरे स्वर में जब बूढ़े ने सारी बातें बतायीं तब श्रीकुमार को बड़ी दया आयी—बूढ़े के प्रति उतनी नहीं, जितनी उस लड़की के प्रति जो प्रसव-पीड़ा से कराहती अस्पताल में पड़ी थी। उसने पर्स खोला। दस रुपये के नोट पर हाथ लगा। नोट बूढ़े को देते हुए उसने कहा, "यह लो, बेटी के लिए जो कुछ करना है उसका प्रबंध करो।"

बूढ़े की आँखें विस्मय से फैल गयीं। उसको उस घटना पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। काँपते हाथों से उसने नोट लिया; अपनी आँखों से लगा कर लंबी साँस ली और श्रीकुमार की ओर कृतज्ञता से देख कर आँसू टपकाता बाहर चला गया।

श्रीकुमार को उस रात नींद नहीं आयी। एक अजीब सी उदासी ने उसे घेर रखा था। भौंरों की तरह गुंजारतीं चिंताएँ हृदय को, शिराओं को और मस्तिष्क को कुरेद रहीं थीं।

लगभग आधी रात को श्रीकुमार पलंग पर से उठा और सीढ़ियाँ उतर कर बाहर निकल गया। आहाते के कोने में जो इमली का पेड़ खड़ा था उसके निकट से ताड़ के पेड़ों से भरे आहाते को पार कर निद्राचारी-जैसा वह चलता रहा, और अंत में उन रेतीले टीलों के सामने आ पहुँचा।

जब गीली रेत में पैर धँसने लगे तब वह पुलकित हो उठा। टीले की चोटी पर पहुँच कर उसने चारों ओर दृष्टिपात किया—अमावस्या के वक्ष में एक अजीब आसमान उभरा हुआ था। उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि आसमान इतना ऐश्वर्यमय हो सकता है—शांति की निस्सीम बाढ़, उसकी लहरों में जगमगाते करोड़ों तारे और उन तारों की अद्भुत शोभा !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकुमार को लगा कि सांसारिक जीवन से करोड़ों मील दूर, उन तारों में से एक के समान ही वह भी लटक रहा है। कलिकट के उस गाँव में बीता बचपन, कौमार्य और यौवन का आरंभ, कलकत्ता की तीस वर्षों की ज़िंदगी, सुबेरे अग्नितीर्थ के समीप अचानक अम्मिणी से मिलन––ऐसा लग रहा था जैसे ये सब बीते जन्मों के अनुभव हों।

अचानक 'की-की' का कर्कश स्वर कानों में गूँज उठा। श्रीकुमार सोचने लगा. . .सराय के चौकीदार की बेटी का प्रसव हुआ है क्या? शायद उसका बच्चा रो रहा है! फिर मुड़ कर देखा––थोड़ी दूर पर, रेत के टीले की ओट में लगे एक ताड़ के पेड़ पर बैठा एक चमगादड़ 'की-की' कर रहा है।

वह रेत में पैर फैलाये चुपचाप बैठा रहा। थोड़ी देर पहले सराय में जो चिंताएँ उसको उद्विग्न कर रहीं थीं वे ही अब फिर उसके मस्तिष्क पर छाने लगतीं हैं––मगर इस समय भौंरों की भाँति नहीं, बल्कि तितलियों की तरह। इस समय वही चिंताएँ गुंजारतीं नहीं, मस्तिष्क को कुरेदतीं नहीं बल्कि शांति से धीरे-धीरे पंख फड़फड़ाती, उड़ती चली आ रहीं हैं।

श्रीकुमार को लगा कि वह सब से दूर बिल्कुल अकेला बैठा है। संसार से और जीवन से उसका संबंध बनाये रखने वाली कोई भी वस्तु उसकी नहीं है; यद्यपि जीवन में न तो निराशा ही हुई है और न सांसारिक सुखों के अनुभव से ही दूर रहा है। जिसके लिए अम्मिणी पिंड देती है, उसके पति को केवल एक छाया रूप में ही देख पाता हूँ। वह छाया भी अब अदृश्य हुई। लेकिन अपने पीछे श्रीदेवी और सुरेश के रूप में एक सेतु छोड़ कर ही वह छाया अदृश्य हुई है। समय बीतते-बीतते सुरेश भी एक पिता बन जायगा, फिर पितामह बनेगा और सेतु का यह क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा। अगर कहीं टूट भी जाय, तो फिर श्रीकुमारन है। श्रीकुमारन! तू मेरा कोई नहीं है, फिर भी, जब मैं तेरे उस प्रणाम की याद करता हूँ! . .तो 'पिता' बनने की साध. . लगता है जीवन की ज़ंजीरों की झंकार, उनकी कड़ियाँ मुझसे टूट गयीं हैं. . .वह झंकार मैं कभी भी नहीं सुन पाऊँगा. . .

. . .कुछ दिनों बाद कलकत्ता लौट जाऊँगा। गणेश मछलियों की व्यवस्था किये बिना ही घर चला गया होगा क्या? मूर्ख! . . .अगले वर्ष कालेज से रिटायर हो जाऊँगा. . . बिदाई की बड़ी पार्टी होगी, बधाई के भाषण होंगे। बड़ी हलचल रहेगी. . .फिर अपनी पालतू मछलियों और तमाम किताबों को ले कर नगर के किसी सुनसान कोने में जा बसूँगा। गणेश भी साथ में रहेगा. . .फिर धीरे-धीरे मित्रों का आना-जाना बंद हो जायगा. . .मैं जो कुछ भी कहूँगा, दूसरों को, ख़ास कर युवकों को, उबाने वाला लगेगा. . .और फिर शायद एक दिन कलकत्ते के अख़बारों में एक छोटा सा समाचार प्रकाशित होगा : 'अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर श्रीकुमार का आज सवेरे देहांत हो गया।'

. . .या फिर कलकत्ता लौट कर. . .? स्वास्थ्य अभी भी बिलकुल ठीक है। जीवन की आवश्यकताओं के लिए काफ़ी धन भी है।. . .फिर भी, वह चौराहा जहाँ से बिदा हुआ था, बहुत दूर है।. . .बाजार बंद होगा। दिये बुझ गये होंगे।. . .धीरे-धीरे एक सूखे पेड़ के समान मेरा अस्तित्व मिट जायगा. . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिंताग्रस्त श्रीकुमार ने समुद्र की ओर दृष्टि दौड़ायी। दक्खिन के हिंद महासागर की ओर, उसके पार ध्रुव महासागर और उससे भी आगे अनंत की ओर, लंबी समुद्र रूपी सड़क के किनारों पर करोड़ों दीपों के समान तारे चमक रहे हैं। उन्हें देख कर तट पर चलने की एक अदम्य अंतःप्रेरणा से वह उठा और समुद्र की दिशा में बढ़ने लगा। सोचता जा रहा था. . .रेतीले तट पर जैसे-जैसे नीचे बढ़ता जा रहा हूँ, सब कुछ भूलता जा रहा हूँ। . . .

दूसरे दिन शाम को, सफ़ेद रेशमी कपड़े के समान उस गीले रेतीले तट पर, जहाँ गहरे लाल रंग के केकड़े नाच रहे थे, एक मृत शरीर बह आया—प्रोफ़ेसर श्रीकुमार की निष्प्राण देह। पता नहीं वह आत्महत्या थी या आकस्मिक मृत्यु ?

अनुवादक : के० राधाकृष्णन,
ईश्वरन कोत्रिलकम,
कोक्कोषिकोड,
कलिकट–२।

[भारतीय भाषाएँ : पृष्ठ ७ से आगे]

इस प्रसंग में संबंधित प्रकाशकों का भी उत्तरदायित्व कम नहीं है। जहाँ उन्हें अपने प्रकाशन-कार्य के सतत विकास का ध्यान रखना है वहीं उन्हें इस ओर भी प्रयत्नशील होना चाहिए कि वे उत्कृष्ट तथा लोकप्रिय साहित्य के प्रकाशक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करें।

इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन की समस्या आजकल हमारे सामने बड़ी प्रमुख और महत्वपूर्ण है। आज लेखकों की बढ़ती संख्या के साथ-साथ प्रकाशकों की भी संख्या बढ़ रही है और यह संतोष और हर्ष का विषय है। परंतु, यदि थोड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अधिकांश प्रकाशकों का प्रयत्न यही रहता है कि वे ऐसे संकलन छापें जो कि शीघ्र ही अधिक से अधिक संख्या में बिक सकें, चाहे उनका उत्कृष्टता और लोकप्रियता से कोई संबंध न हो। यद्यपि यहाँ पर साहित्य के पठन-पाठन और क्रय-विक्रय की एक दूसरी समस्या हमारे सामने उठ खड़ी होती है, फिर भी मेरा अपना ऐसा विचार है कि यदि पत्रकार, प्रकाशक, समीक्षक और शिक्षक, ये सभी उत्कृष्ट और लोकप्रिय साहित्य के प्रकाशन, पठन-पाठन और संग्रह-प्रचार की ओर प्रयत्नशील रहें तो थोड़े ही समय में हम अपने समाज को एक पठनशील, जागरूक और प्रबुद्ध समाज बना सकते हैं जिसकी भूख तत्वपूर्ण साहित्य के लिए सदैव बढ़ती रहेगी, क्योंकि वह उसके लिए नित्यप्रति का मानसिक भोजन है। और थोड़े ही समय में हम देखेंगे कि चाहे कविता और नाटक का क्षेत्र हो, चाहे कथा-साहित्य का, साहित्य के सभी अंगों में न केवल उत्कृष्ट साहित्य प्रकाशित होगा वरन उसका पठन-पाठन भी खूब होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रसंग में केवल एक और समस्या की ओर ध्यान दिला कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा और वह यह है कि हमारे अधिकांश आधुनिक साहित्यकारों को यह शिकायत है कि उनकी सद्यःसर्जित उत्कृष्ट रचनाएँ भी पढ़ी नहीं जातीं और विशेष रूप से पाठ्यक्रम में उनको स्थान नहीं मिलता। वैयक्तिक रूप से तो नहीं, वरन सामूहिक रूप से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका एक कारण तो यह है कि हमारा दृष्टिकोण अभी पर्याप्त उदार नहीं है। परंतु यह भी विचारणीय है कि किसी भी रचना या साहित्यकार की उत्कृष्टता को क्या वास्तव में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है? इसके लिए कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और जो सचमुच इस प्रकार की प्रतिष्ठा-प्राप्त रचनाएँ हैं उनको हमें महत्व देना आवश्यक है। उनका अभिनंदन हमें करना चाहिए। यहाँ पर अनुदारता या द्वेषभाव की अपेक्षा हमें सहृदयता और उच्च अभिरुचि से काम लेना चाहिए। यदि पूर्व उल्लिखित कार्य पत्र-पत्रिकाओं और समीक्षकों के द्वारा होता रहे तो संभवतः इसमें भी हमें विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा।

आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास प्रायः एक साथ हुआ है। जब धार्मिक साहित्य का युग था, तब सभी में धार्मिक साहित्य की रचना हुई और यही दशा उनमें राष्ट्रीय साहित्य की भी है। हिंदी प्रत्येक युग में सामयिक चेतना और भावना का सार्वदेशिक संदेश देती रही है। उसमें धार्मिक साहित्य भी अधिक है, शृंगारिक साहित्य भी विस्तृत तथा राष्ट्रीय साहित्य भी विशाल है। इसीलिए उसे सार्वदेशिक अथवा राष्ट्रभाषा का गौरव मिला है। पर इसमें संदेह नहीं कि देश की विभिन्न भाषाओं में साहित्यिक प्रगति प्रायः एक साथ हुई है; क्योंकि प्रत्येक में दूसरे साहित्य की नवीन भाव-संपत्ति का स्वागत हुआ है, और यही बात आज भी है। आज हमारी सभी भाषाएं एक साथ विकास और सर्जना के पथ पर तेज़ी से क़दम बढ़ा रही हैं और उनका सर्वांगीण विकास एक दूसरे से कंधा मिला कर आगे बढ़ने से ही संभव हो सकेगा। अतः मैंने जो प्रारंभ में कहा था वही फिर कहता हूँ कि हमें अपने देश और प्रदेश में अपनी भाषाओं को प्रतिष्ठा और गौरव प्रदान करना चाहिए; क्योंकि इसी से हमारी मूलभूत उन्नति होगी और हमें सर्वत्र प्रतिष्ठा मिल सकेगी। भारतेन्दु जी भी कह गये हैं : **'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।'**

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय,
पूना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एक साहित्यिक की डायरी'

आत्म-साक्षात्कार और मानव-साक्षात्कार का एक असमाप्य संलाप

•

नामवर सिंह

गजानन माधव मुक्तिबोध की 'डायरी'। भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। प्रथम संस्करण १९६४। मूल्य : २.५०।

कुछ लोग दुनिया से बहस करते हैं तो कुछ सिर्फ़ अपने से, किंतु कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी होते हैं जो दुनिया से बहस करने की प्रक्रिया में अपने आप से भी बहस चालू रखते हैं। मुक्तिबोध ऐसे ही थोड़े-से लोगों में थे और उनकी 'एक साहित्यिक की डायरी' ऐसी ही जीवंत बहस का सर्जनात्मक दस्तावेज़ है जिसमें भाग लेने का लोभ संवरण करना कठिन है। अपने आप से या किसी दूसरे से—चाहे कभी-कभी वह अपना ही एक हिस्सा क्यों न हो—बात करते हुए मुक्तिबोध पाठक को कुछ इस प्रकार उस वार्तालाप का साझीदार बना लेते हैं कि निःसंग रह जाना कठिन हो जाता है। यह अपनापा संक्रामक है : **'स्वयं से अस्वयं होना है।'** प्लेटो के 'डायलाग्स' को छोड़ कर, मुझे याद नहीं कि मैंने इस तरह कहीं हिस्सा लेने की विवशता का सुखद अनुभव किया हो। लगातार प्रहार करते हुए भी आत्मीयता का वैसा ही संमोहन और वैसा ही दुर्निवार निमंत्रण विचार-प्रक्रिया में स्वतः भाग लेने का। दूसरे से प्रश्न करने के साथ-साथ अपने आप पर भी उस प्रश्न का वैसा ही वार। और इस प्रकार विचार की गति के साथ अपने आपको स्तर-स्तर खोलते जाना। न कहीं कोई छिपाव, न कोई दुराव। सतत आत्म-सजगता के बीच आत्म-विडंबना का निरंतर निर्मम बोध। यह पारदर्शी ईमानदारी ही है जो मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डायरी' को अनूठा आकर्षण प्रदान करती है जिसे लेखक ने **'सुकुमार ज्वालाग्राही जादुई शक्ति'** कहा है। मस्तिष्क की हर हरकत हम साफ़ देखते हैं, जैसे शीशे के अंदर पारे की लकीर हो! ईमानदारी इस हद की कि युक्तियों में स्वयं पकड़ लिये जाने को भी सहर्ष प्रस्तुत और निरस्त्र कर देने वाला खुलापन। ऐसा खुलापन जिसमें खोने के लिए कुछ भी न हो सिवा किसी कमी के और पाने के लिए सब कुछ हो, जैसे आत्म-प्रत्यय।

और फिर ईमानदारी ही जैसे काफ़ी न हो, इसलिए उसके साथ-साथ मस्तिष्क की वस्तुनिष्ठता और तथ्यपरकता जिसे अक्सर सचाई कहा जाता है। साथ ही एक प्रकार की प्रतिश्रुति-धर्मी **'गंभीरता'** भी, जो साहित्य में दिलचस्पी भर लेने से कहीं गहरी हो। जैसा कि एक स्थान पर मुक्तिबोध अपने सहचर के बारे में कहते हैं, **"दरअसल, उसके लिए न वे विचार थे न अनुभूति। वे उसके मानसिक भूगोल के पहाड़, चट्टान, खाइयाँ, जमीन, नदियाँ, झरने, जंगल और रेगिस्तान थे। मुझे यह भान होता रहता कि वह व्यक्ति अपने को प्रकट करते समय, स्वयं की सभी इंद्रिय शक्तियों से काम लेते हुए एक आंतरिक यात्रा कर रहा है, वह अपने विचारों या भावों को केवल प्रकट ही नहीं करता था, वह उन्हें स्पर्श करता था, सूँघता था, उनका आकार-प्रकार, रंग-रूप और गति बना सकता था, मानो उसके सामने वे प्रकट, साक्षात और जीवंत हों। उसका दिमाग़ लोहे का एक शिकंजा था या सुनार की एक छोटी-सी चिमटी, जो बारीक़ से बारीक़ और बड़ी से बड़ी बात की सूक्ष्म रूप से और मजबूती से पकड़ कर सामने रख देती है।"**

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मानसिक क्षमता स्वयं मुक्तिबोध का आत्म-प्रक्षेपण है और 'एक साहित्यिक की डायरी' इसका जीवंत उदाहरण है। यही अथवा इस प्रकार की बातें कुछ दूसरे लेखकों ने भी कही हैं लेकिन इस अंदाज़ में जैसे एक शिक्षक अपने शिष्यों को अथवा सारे संसार को विद्यार्थी समझ कर कहता है। किंतु 'एक साहित्यिक की डायरी' में लगता है, जैसे मुक्तिबोध अपने किसी समानधर्मी से विचार-विनिमय कर रहे हैं—एक सत्यान्वेषी की तरह हर संभव तथ्य को परखने के लिए रुकते हुए और प्रत्येक मान्यता को प्रस्तुत करने के साथ ही उसे जाँचते हुए। यह स्वर ही और है; और मुक्तिबोध के गद्य में उस विशिष्ट स्वर को स्पष्ट सुना जा सकता है। 'एक साहित्यिक की डायरी' के मुख्य आकर्षणों में से एक यह 'स्वर' भी है। बहुत कम लेखकों का गद्य ऐसा सस्वर या स्वर-संवलित होता है।

वार्तालाप शैली में लिखे जाने मात्र से ही 'एक साहित्यिक की डायरी' में यह विशेषता नहीं आ गयी है। लिखने को तो कई लोगों ने वार्तालाप शैली में आलोचनाएँ लिखी हैं, लेकिन एक नज़र में ही साफ़ हो जाता है कि वे मूलतः निबंध हैं। दरअसल, इसके पीछे एक पूरी जीवन-प्रक्रिया है। जो सदैव निरी आत्माभिव्यक्ति के लिए बेचैन रहते हैं उनके लिए यह कदापि संभव नहीं है। जो व्यक्ति एक साधारण आदमी की तरह अपने आसपास के सामाजिक परिवेश में हिस्सा लेता है और हर परिचित-अपरिचित को सहचर की तरह स्वीकार करते हुए हमेशा उन्मुक्त विचार-विनिमय के लिए प्रस्तुत रहता है उसी के लेखन में भी संप्रेषण और संभाषण का यह गुण आता है। और साफ़ दिखायी पड़ता है कि 'एक साहित्यिक की डायरी' ऐसी ही सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गुरुकुल कांगड़ी

जीवन-प्रक्रिया की उपज है। यह संवादी डायरी एक **'सहयोगी प्रयास'** का आभास ही नहीं देती, बल्कि सहयोगी प्रयास वस्तुतः है और ऐसे प्रयास के लिए सीधा निमंत्रण भी।

यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध की कविताओं में भी प्रायः यही नाटकीय विन्यास है। डायरी में यदि केशव, वीरकर या कोई और मित्र है तो कविताओं में भी कहीं 'आत्मा का मित्र' है तो कहीं 'सहचर मित्र' और कहीं एक ब्रह्मराक्षस तो कहीं मन के अंदर छिपा बैठा 'ओरांग ऊटांग'!

नवलेखन के अंतर्गत इस प्रकार की नाटकीयता मुक्तिबोध की अपनी विशेषता है—वह विशेषता जिसे टी० एस० इलियट ने 'कविता के तीन स्वरों' में से 'तीसरा स्वर' कहा है—तीसरा और संभवतः सबसे समर्थ!

एक तरह से मुक्तिबोध का संपूर्ण कृतित्व एक विशाल नाटक के समान प्रतीत होता है जिसके बीच यदि कविताएँ गीतात्मक संदर्भों को व्यक्त करती हैं तो 'डायरी' गद्यात्मक संवादों की पूर्ति करती है। इस प्रकार 'एक साहित्यिक की डायरी' अपने आप में पूर्ण एक **रचनात्मक गद्यकृति** है। इसे कवि की कविताओं को समझने का साधन मानना, इसके साथ अन्याय होगा। यों भी किसी रचनाकार की रचना-प्रक्रिया प्रायः अविच्छिन्न और श्रृंखलाबद्ध होती है किंतु मुक्तिबोध जैसे रचनाकार के यहाँ तो यह और भी अपरिहार्य है, क्योंकि उनके रचनात्मक मस्तिष्क में समग्र वास्तविकता एक साथ ही शतशः जटिलतम संबंध-सूत्रों से जुड़ी रहती है—यहाँ तक कि किसी एक संबंध-सूत्र को काट कर सफ़ाई ले आने का प्रयास उन्हें सर्जनात्मक ईमानदारी से स्खलन प्रतीत होता है। इस दृष्टि से 'एक साहित्यिक की डायरी' को मुक्तिबोध के संपूर्ण काव्य-कृतित्व के अंतर्गत माना जा सकता है। जो मुक्तिबोध की कविताओं को भी गद्य ही समझते हैं, उन्हें शायद इस कथन से एतराज़ न हो, बल्कि उन्हें तो इस बात से संतोष-लाभ ही करना चाहिए।

'डायरी' में एक स्थान पर मुक्तिबोध ने लिखा है : **"तो फिर ऐसी स्थिति में यह असंभव नहीं है कि कविता को अनेक क्रमबद्ध गद्य-चित्रों में प्रस्तुत किया जाये। अथवा अनेक क्रमबद्ध गद्यचित्र कुछ इस तरह आलोकित और दीप्तमान हो उठें कि छंद बन जायें, गतिमान हो जायें और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो सकें।"** यहाँ जिस गतिमयता पर मुक्तिबोध ने ज़ोर दिया है वह वस्तुतः नाटकीयता का ही दूसरा पहलू है और कहने की आवश्यकता नहीं कि एक अनूठी नाटकीय गतिमयता 'डायरी' को रचनात्मक कृति की भंगिमा प्रदान कर देती है।

यद्यपि प्रस्तुत रूप में प्रकाशित करते समय डायरी के खंडों में यादृच्छिक ढंग से क्रम-विपर्यय कर दिया गया है और कुछ अंश छूट भी गये हैं तथापि इस विपर्यस्त और खंडित रूप में भी 'डायरी' को ध्यान से देखें तो इसका विन्यास भी मुक्तिबोध की कविताओं की संघटना जैसा ही पायेंगे। हर 'डायरी' कविता की ही भाँति एक 'फ़ैंटेसी' के रूप में परिकल्पित की गयी है जिसमें भाव और विचार मूर्त स्थितियों-वस्तुओं-व्यक्तियों आदि के समूचे जीवंत संदर्भ के साथ उभरते चले जाते हैं। वही 'पर्स्पेक्टिव' और वही 'स्ट्रक्चर'। दोनों विधाओं के पीछे एक ही प्रकार की रूप-कल्पी सर्जना काम करती दिखायी पड़ती है। कहीं-कहीं तो पात्रों, परिस्थितियों और मन-स्थितियों का चित्रण करते-करते 'डायरी' के अंतर्गत कवि मुक्तिबोध गद्य में ही 'फ़ैंटेसी' की सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर जाते हैं। मित्र केशव के आने का समाचार मिलते ही लगता है कि **"किसी तालाब से भाप निकलती हो, भाप की ऊँची उठती हिलकोरती लहरें एक मनुष्याकार धारण कर, ऊँची-ऊँची होती हुई पास-पास आती जा रही हों"** और सारा दृश्य भयावह हो उठता है। इसी प्रकार कभी मन के अंदर झाँकने पर उन्हें लगता है कि **"मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह काले जल से स्वयं को ही डर लगता है। उस अथाह काले जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ।"**

मुक्तिबोध की रचनाओं में इस प्रकार की भयावनी 'फैंटेसी' प्रायः मिलती है : कभी 'ब्रह्मराक्षस' तो कभी 'ओरांँग ऊटाँग' और कभी विचित्र वेश-विन्यास वाली सैन्य टुकड़ी का नंगा आक्रमण। अँधेरे की एक हल्की-सी चादर पड़ते ही सारा दृश्य क्षण भर में भयंकर दुःस्वप्न के रूप में बदल जाता है। रोज़ की देखी-सुनी, जानी-पहचानी चीज़ें भी मुक्तिबोध के हाथों इंद्रजाल में बदल जाती हैं। मुक्तिबोध के अनुसार ये छायाकृतियाँ 'अर्थ-स्वप्न' हैं। मुक्तिबोध की इस कीमियागरी (ऐलकेमी) की ओर अभी लोगों का बहुत कम ध्यान गया है। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है, **"कुछ पागल लोग, कीमियागर (ऐलकेमिस्ट), लोहे को सोना बनाने की क्रिया में लगातार काम करते हुए नष्ट हो गये। कुछ दूसरे ढंग से पागल, ज़मीन में गड़े खज़ाने को खोजने और कभी भी न पा सकने में इतने मशग़ूल रहे कि उनकी फ़ेमिली ने, समाज ने, ज़माने ने उन्हें बेवकूफ़ क़रार दिया। कई तरह के पागल हुआ करते हैं, और मुझे अब समझ में आने लगा है कि हो न हो मैं भी उसी श्रेणी में गिने जाने योग्य हूँ।"**

उनकी अंतिम पूर्ण कविता 'अँधेरे में' इसी विशाल भयावनी फ़ैंटेसी का रचनात्मक रूप है। यह 'विज़न' मुक्तिबोध का नितांत निजी है जो उनके कृतित्व को एक अनूठा तेजोवलय प्रदान कर देता है। चूंकि यह प्रवृत्ति हिंदी के समकालीन लेखन के बीच एकदम अलग है, इसलिए काव्य-चर्चा के बीच प्रायः उपेक्षित रह गयी; किंतु 'काफ़्का' के पाठक मुक्तिबोध में निश्चय ही आधुनिक भावबोध के इस महत्वपूर्ण 'अर्थ-स्वप्न' का अनुभव किये बिना न रहेंगे। यहाँ तक कि डायरी भी इस जादुई असर से बच नहीं सकी है, अवश्य यहाँ उसका रूप कुछ और है—किसी को भी दहला देने वाला निर्मम आत्म-संघर्ष तथा आत्म-साक्षात्कार! इस तेज रोशनी के सामने कुछ भी छिपा सकना असंभव प्रतीत होने लगता है क्योंकि यहाँ **"आत्म-शांति को भंग कर के ही कोई लेखक बना रह सकता है—लेखक यानी सच्चा लेखक।"** मुक्तिबोध का आत्म-विश्लेषण नशे की हद तक पहुँचा हुआ है और दूसरों पर भी संभवतः नशीली धुंध का-सा असर डालता है।

इस प्रकार डायरी की सबसे बड़ी उपलब्धि एक विलक्षण व्यक्तित्व है जो अंततः पूरी डायरी से उभर कर सामने आता है। जिस तरह प्लेटो के 'डॉयलॉग्स' की सबसे बड़ी उपलब्धि 'सुकरात' जैसा व्यक्तित्व है, उसी तरह एक दूसरे स्तर पर मुक्तिबोध की डायरी की सबसे बड़ी उपलब्धि एक कवि-व्यक्तित्व है जिसके साथ आगे चल कर अनेक प्रकार की किंवदंतियों के जुड़ जाने की सारी संभावनाएँ मौजूद हैं। अनिवार्यतः यह व्यक्तित्व स्वयं मुक्तिबोध का ही हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई आवश्यक नहीं; किंतु है यह निश्चय ही इस आत्मसजग युग का सबसे आत्मसजग व्यक्तित्व! एक गहरे अर्थ में राजनीतिक, जिसके बिना आज के युग में कोई भी लेखक सार्थक साहित्यकार नहीं हो सकता।

इस व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सार्थकता यह है कि इसके माध्यम से मुक्तिबोध ने आज के साहित्य में एक शलाका-पुरुष की स्थापना की है—ऐसा शलाका-पुरुष जो आज की स्थिति के योग्य कवि की भूमिका अदा कर सके। 'डायरी' बड़ी स्पष्टता के साथ उस काव्य-पुरुष की परिकल्पना को मूर्तिमान करती है जो संभवतः मुक्तिबोध के ख़याल से आज की स्थिति की चुनौती को स्वीकार करने में समर्थ हो। इस कवि-व्यक्तित्व के सही रूप को समझने के लिए, इसी समय की एक दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'आत्मनेपद' (अज्ञेय) से उभरने वाले कवि-व्यक्तित्व को बग़ल में रख लेना अप्रासंगिक न होगा। अज्ञेय के 'आत्मनेपद' से बहुत कुछ एक शब्द-साधक 'एस्थीट' अथवा सौंदर्यजीवी का रूप सामने आता है जो एक दायरे में जीवन से पूरी तरह संसक्त होते हुए भी अपने रचना-जगत में सर्वथा निःसंग है : अमानुषिकता की हद को छूने वाली कलात्मक निःसंगता। इसके विपरीत मुक्तिबोध की डायरी से उभरने वाला कवि-व्यक्तित्व सामाजिक स्तर पर एक नितांत सामान्य निम्न मध्य वर्गीय पारिवारिक प्राणी है जिसके लिए कविता अलग से किसी साधना की चीज़ नहीं, बल्कि जीने की जटिल क्रिया का ही एक सहज अंग है, जो समाज से लड़ते हुए भी उसकी सहकारिता को संबल के रूप में स्वीकार करता है : जितना कष्टप्रद इसका अस्तित्व-संघर्ष है उतना ही कष्टप्रद सर्जन-संघर्ष, और जो अपनी निजी, पीड़ा को व्यापक मानवीय पीड़ा से अर्थपूर्ण बनाता चलता है। कुल मिला कर मानवीय—नितांत मानवीय—मुक्तिबोध ने 'डायरी' में जिस प्रकार समकालीन साहित्य में प्रचलित 'एस्थीट' के 'विशिष्ट' और 'अद्वितीय' व्यक्तित्व पर प्रहार किया है, उससे साफ़ मालूम हो जाता है कि वे एक स्थापित कवि-प्रतिभा के स्थान पर साहित्य में एक नये कवि-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करने के लिए कितने व्याकुल हैं। शायद यही वजह है जिससे मुक्तिबोध सहसा नयी पीढ़ी के लेखकों के आत्मीय बंधु हो उठे हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि जिस समय अज्ञेय ने 'नये कवि के प्रति' जैसी कविता लिखी, प्रायः उसी के आसपास मुक्तिबोध ने नयी पीढ़ी को संबोधित करते हुए 'ओ काव्यात्मन फणिधर' जैसी कविता लिखने की आवश्यकता समझी।

'डायरी' में कविता पर विचार करने से अधिक कवि-व्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार किया गया है—इसी से स्पष्ट है कि मुक्तिबोध आज की स्थिति में कविता की परिभाषा करने से अधिक आवश्यक समझते हैं **कवि-व्यक्तित्व का निर्माण**। दरअसल जहाँ वे काव्य-क्रिया का विश्लेषण करते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में भी उनकी अपनी कवि-संबंधी परिकल्पना ही कार्यरत दिखायी पड़ती है। यह महत्वपूर्ण है कि मुक्तिबोध ने **कवि-संबंधी परिकल्पना के द्वारा ही काव्य-संबंधी परिकल्पना को भी परिभाषित किया है**। यह आकस्मिक नहीं है कि डायरी के संलाप में भाग लेने वाला चाहे वह वीरकर हो या कोई और, है वह प्रायः निम्न मध्यवर्ग का कोई कवि-यशः-प्रार्थी नवयुवक ही। प्रसंगात यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 'एक साहित्यिक की डायरी' मूलतः हरिशंकर परसाई की 'वसुधा' जैसी निम्न मध्य वर्गीय लघु पत्रिका में शुरू हुई थी और 'वसुधा'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बंद होने पर फिर काफ़ी दिनों बाद ऐसी ही पत्रिका 'नवलेखन' में निकली और एकाध शायद 'कृति' में भी।

मुक्तिबोध की **"आँखों के सामने कई ऐसे साहित्यिकों के दृश्य खिले जो स्वयं बहुत ग़रीब घराने में पैदा हुए थे, किंतु अब वे अपनी जन्म-धात्री धरती से पराये हो कर न उपरली श्रेणी की उपलब्धियों के वास्तविक निष्कर्षों में रम सके, न अपने बंधु-बांधवों की पीड़ा-भरी विवेक दृष्टि ही अपना सके।"** इसलिए उन्होंने नये लेखकों को उनकी अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत करना आवश्यक समझा। डायरी निश्चित रूप से नये लेखकों को वर्ग-चेतन बनाती है—कभी-कभी तो बड़े ही धक्केमार ढंग से। उन्होंने चुनौती के से स्वर में कहा है कि **"हम नहीं कह सकते कि हमारे द्वारा निर्मित साहित्य, समाज तो जाने दीजिए, हमारे व्यक्तित्व का भी सच्चा प्रतिनिधित्व करता है या नहीं। यदि केवल साहित्य से, कोई हमारे व्यक्तित्व का अनुमान करने बैठे तो वह धोखा खा जायगा। हमने संस्कारवश या प्रवृत्तिवश, एक खास ढंग का कंडीशंड साहित्यिक रिफ़्लेक्स, साहित्यिक भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की यांत्रिक उत्तेजना बना रखी है। यह कहाँ तक उचित है?"** जिन लोगों का दावा है कि नयी कविता ने 'नये मानव की प्रतिष्ठा' की है और जिनका ख़याल है कि नये कवि एक अरसे से 'व्यक्तित्व की खोज' में संलग्न हैं, उन्हें इस चुनौती के सामने आ कर ईमानदारी से बतलाना चाहिए कि वह 'मानव' कहाँ है तथा उस व्यक्तित्व का रूप क्या है?

इसी सिलसिले में मुक्तिबोध के इस पर्यवेक्षण को भी इनकार करना मुश्किल होगा कि **"हमारे बहुत से कवि और कथाकार, मारे डर के, उस वास्तव को नहीं लिखते हैं जिसे ये भोग रहे हैं, क्योंकि ये उस वास्तव से उड़ जाना और उड़ते रहना चाहते हैं। अनुभूत वास्तव का आज जितना अनादर है उतना पहले कभी नहीं था।"**

इस प्रकार निम्न मध्य-वर्गीय हीनता-भाव को निर्ममता के साथ उद्घाटित कर के मुक्तिबोध ने साहित्य को सचाई की प्राण-शक्ति और वास्तविकता का दृढ़ आधार प्रदान किया। इस प्रवृत्ति के चलते, यही नहीं कि कविता गौण और सिकुड़ी हुई-सी साहित्यिक विधा बन चली थी, बल्कि अनजाने ही झूठ का विराट नक़ली साहित्य खड़ा होने लगा था। निष्प्राण सौंदर्यवादी रचनाओं के स्थान पर 'डबरे में सूरज' का आदर्श मुक्तिबोध की बड़ी महत्वपूर्ण देन है और निश्चय ही यह बोलता हुआ बिंब 'डायरी' का अनमोल चिंतामणि है।

मुक्तिबोध ने एक सही बात सही वक़्त पर कही। और जैसा कि राल्फ़ फ़ाक्स ने एक जगह कहा है, **"अच्छा गद्य लिखने की कला चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारने की विलुप्त कला है, एक शक्ति है जिसने कटघरे में खड़े दिमित्रोव की वाणी को इतना बलशाली बना दिया था। . . ."** वह दिमित्रोव जिसने फ़ासिस्ट जज के मुँह पर कहा था कि **"मैं मानता हूँ कि मेरा स्वर कड़ा और पैना है। मेरे जीवन का संघर्ष भी कड़ा और पैना रहा है। मेरा स्वर निर्द्वंद्व और उन्मुक्त है। मैं चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारता हूँ।"** 'एक साहित्यिक की डायरी' के गद्य में चीज़ों को सही नाम से पुकारने का नैतिक साहस है, इसलिए उसमें एक तेज है—ऐसा तेज जो समकालीन लेखन में लगभग दुर्लभ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी साहस के बल पर मुक्तिबोध ने आगे बढ़ कर 'आधुनिक भावबोध' के नाम से प्रचलित कुछ विशेष प्रकार के भाव-समुदाय, कुछ विशेष प्रकार की सौंदर्य-परिकल्पनाओं, एक ख़ास काट और एक ख़ास क़िस्म की अभिरुचि को ही सर्वस्व मान कर चलने वाले साहित्य की सीमाएँ स्पष्ट कीं और साथ ही उसका वर्ग-आधार भी खोल दिया। इस दृष्टि से 'एक साहित्यिक की डायरी' हिंदी में 'आधुनिक भावबोध' के अधूरे मानचित्र को पूरा करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास है। जिस समय केवल 'भावबोध' का ही मंत्र-जाप चल रहा है, मुक्तिबोध का यह संशोधन ध्यान देने योग्य है कि **"क्या आधुनिक भावबोध ही काफ़ी है? सामंती विचारधारा का स्थान लेने के लिए क्या हम उस भावबोध को मूल्य-बोध तक बढ़ा कर उसे एक दर्शन का रूप नहीं दे सकते? ऐसा दर्शन जो नयी सामाजिक परंपरा बन कर व्यक्ति और समाज के जीवन के सभी पक्षों को अनुशासित कर सके? . . . यदि ऐसा न हुआ तो 'नया' बिल्कुल प्रवृत्ति-मूलक होगा और लोग नयी परंपरा के अभाव में अनेक अंतःप्रवृत्तियों के दास हो जायेंगे; यही नहीं बल्कि खंडनकर्ता खंडित हो जायगा। मूर्ति-भंजकों की स्वमूर्ति का सिर काट लिया जायगा और उसकी छाती फोड़ दी जायगी।"**

इस प्रसंग में मुक्तिबोध का ख़याल है कि अभी तक नये और पुराने के संघर्ष में प्रायः अवसरवादी रुख अपनाया गया है। यहाँ तक कि जीवन से साहित्य को अलग कर के एकदेशीय ढंग से नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के असफल प्रयत्न हुए हैं। **"वस्तुतः इन्हें विकसित करने के लिए केवल साहस ही नहीं, स्पष्ट दृष्टि, स्पष्ट लक्ष्य और स्पष्ट विचारधारा के लिए कोशिश आवश्यक है।"** क्योंकि **"आत्म-साक्षात्कार बहुत आसान है, स्वयं चरित्र-साक्षात्कार अत्यंत कठिन है।"**

चूँकि कुछ लोगों ने मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष को इस प्रकार उछाला है ताकि उनकी अपनी आस्था पर परदा पड़ जाय, इसलिए उल्लेखनीय है कि उनके अनुसार **"उत्तर के सिंहासन पर शंका को बैठाने का मतलब है, अपनी समस्या में प्रश्न ही का आदर्शीकरण करना, समस्या में फँसे रहने का उदात्तीकरण"** और यह अनुचित है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि **"मैं अपनी अनास्था से शुरू हो कर आस्था में आ जाता हूँ जब कि वे आस्था से शुरू हो कर अनजाने ही या जानते में भी मात्र शुद्ध अनास्था में विलीन होने लगते हैं।"** क्या यह सच नहीं है कि **"आजकल रंगमंच पर अनास्था नाटक करती है और आस्था नेपथ्य में बैठ कर सूत्र-संचालन करती है।"**

इसी तरह कुछ लोगों को भ्रम है अथवा वे जानबूझ कर यह भ्रम फैलाना चाहते हैं कि 'एक साहित्यिक की डायरी' वस्तुतः रचना-प्रक्रिया की पाठ्य-पुस्तक है। निस्संदेह इधर कुछ दिनों से हिंदी में रचना-प्रक्रिया का बड़ा शोर है और हर रचनाकार नामधारी व्यक्ति अपनी रचना-प्रक्रिया समझाने में हलकान हो रहा है—भय है, कहीं सारा लेखन रचना-प्रक्रिया ही न प्रतीत होने लगे। परंतु तथ्य यह है कि अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीरसहाय जैसे कुछ थोड़े से ही रचनाकार हैं जो सचमुच रचना-प्रक्रिया की वास्तविक अर्थमत्ता से परिचित हैं, क्योंकि इन्हें ही रचना-प्रक्रिया में निहित जोखम का अनुभव भी है। इसलिए यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एक साहित्यिक की डायरी' एक व्यापक अर्थ में रचना-प्रक्रिया का ग्राफ़-चित्र भले ही हो, वस्तुतः वह उत्तरशती की जटिल जीवन-प्रक्रिया का जीवंत दस्तावेज़ है। फ़क़त एक सौ सोलह पृष्ठों की छोटी-सी गद्यकृति किंतु जितने गहरे अर्थों में वह इस दशक के 'प्रामाणिक' भारतीय मानव को प्रक्षेपित करती है, कुछ ही कृतियाँ कर सकी होंगी। और इधर जिस तरह कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि विधाएँ अपने रूपगत रूढ़ ढाँचे के विवश निर्वाह करने की क्रिया में व्यापक जीवन से हटती जा रही हैं, ऐसी ही गद्यकृतियाँ उत्पन्न होंगी जिन्हें किसी पूर्वप्रचलित विधा के अंतर्गत रचना मुश्किल होगा। वैसे विधा की चिंता साहित्यशास्त्री करें और उन्हें रोक भी कौन सकता है, लेकिन जिनकी दिलचस्पी आज के परिवेश के बीच अपने को समझने में है, उनके लिए मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' निश्चय ही एक सार्थक वैचारिक मानचित्र का काम देगी, क्योंकि यह शुद्ध 'साहित्यिक' डायरी नहीं बल्कि डायरी है एक 'साहित्यिक की'—संपूर्ण साहित्यिक की।

मुक्तिबोध ने कुछ यों ही नहीं कहा है कि **"जो व्यक्ति साहित्यिक दुनिया से जितना दूर रहेगा, उसमें अच्छा साहित्यिक बनने की संभावना उतनी ही ज्यादा बढ़ जायगी। साहित्य के लिए साहित्य से निर्वासन आवश्यक है।"** स्पष्ट ही साहित्यिक दुनिया से दूर रहने का अर्थ दुनिया के निकट रहना है और ऐसी बात वही आदमी कह सकता है जो कि सचमुच साहित्य के दमघोंट तंग और दूषित दायरे से स्वयं बाहर रहता आया हो और जो कि हम सभी जानते हैं, मुक्तिबोध स्वयं थे। साहित्य से निर्वासन लेकिन **साहित्य के लिए**—साहित्य को जीवंत रखने के लिए उसे जीवन के ताज़ा अनुभवों से निरंतर समृद्ध करने के लिए और दूर से एक व्यापक तथा सही परिदृश्य में समकालीन साहित्य को देख पाने के लिए। इसी 'पर्सपेक्टिव' के कारण मुक्तिबोध आज की साहित्यिक स्थिति के बारे में ऐसी बहुत-सी बेलाग बातें कह सके जिन्हें भीतर ही भीतर अनुभव तो हममें शायद हर-एक करता है, किंतु कहने में पहल कर सके केवल मुक्तिबोध। इस दृष्टि से एक बाहरी आदमी के रूप में, आज की कहानी के संबंध में उनके विचार बेहद ताज़ा हैं।

आज के इतिहास के अभूतपूर्व दबाव का अहसास उनमें इतना गहरा था कि उन्हें अंततः साहित्य की सीमा का भी बोध हो गया था। इसीलिए स्वयं एक साहित्यकार होते हुए भी मुक्तिबोध यह कहने का साहस कर सके कि **"साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करना मूर्खता है।"** क्योंकि **"साहित्य मनुष्य के आंशिक साक्षात्कारों की बिंब-मालिका भर तैयार करता है।"** इस कथन से, संभव है, हमारे साहित्यिक अहं को कुछ चोट लगे, किंतु वस्तुस्थिति से इनकार करना कठिन है; और यह भी एक विडंबना ही है कि साहित्य के अवमूल्यन का आभास देते हुए भी प्रसंगात मुक्तिबोध साहित्य की एक वैज्ञानिक परिभाषा भी दे गये। डायरी में यत्र-तत्र इसी प्रकार के अनेक विचार-स्फुलिंग बिखरे हुए हैं—कुछ केवल प्रश्न के रूप में तो कुछ 'साधारण प्रतिज्ञा' के रूप में ही, जिन पर अलग से विस्तृत चर्चा चला कर हम अपनी साहित्य-समीक्षा को समृद्ध कर सकते हैं; किंतु एक बात बराबर याद रखनी होगी कि प्रत्येक विचार-विनिमय आत्म-साक्षात्कार के साथ ही, आत्म-चरित्र का भी साक्षात्कार होगा और वह भी अंततः मानव-साक्षात्कार की परिणति के साथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य की व्याख्या करने वाली पुस्तकें तो बहुत हैं किंतु साहित्य की धारा को बदलने वाली विचारोत्तेजक पुस्तकें एकाधिक दशक बाद आती हैं और मुझे लगता है कि मुक्तिबोध की यह 'डायरी' एक ऐसी ही क्रांतिकारी कृति है—विशेषतः नवलेखन के लिए।

—लोलार्क कुंड, वाराणसी।

गोष्ठी प्रसंग

'विवेचना' में 'एक साहित्यिक की डायरी'

स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध की सद्यः प्रकाशित रचना, 'एक साहित्यिक की डायरी' पर डॉक्टर नामवर सिंह ने, दिवंगत कवि के अस्थिप्रवाह दिवस, २० सितंबर, १९६४ को एनी बेसेंट मेमोरियल हॉल में, श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में आयोजित 'विवेचना' की गोष्ठी में, समीक्षात्मक निबंध प्रस्तुत किया।

निबंध-पाठ के पूर्व, दुख-व्याप्त सभा में अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव ने कहा कि यह विलक्षण संयोग है कि पहले से आयोजित इस गोष्ठी के दिन ही त्रिवेणी-संगम में स्वर्गीय कवि मुक्तिबोध की अस्थियाँ विसर्जित हुईं। वास्तव में मुक्तिबोध जी की मृत्यु के तुरंत बाद उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर तटस्थ समीक्षा प्रस्तुत करने के लिए यह अवसर बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः उनके विषय में आज जो कुछ विचार-विनिमय हम करेंगे वह एक प्रकार से उनके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में ही होगा। यह अवसर, इसी कार्य के लिए उपयुक्त भी है। इस उपयुक्त अवसर पर संयोग से अतिथि रूप में हमारे बीच सर्वश्री यशपाल, कुँवर नारायण, हरिशंकर परसाई और स्वर्गीय कवि के चिरंजीव रमेश मुक्तिबोध भी हैं।

तदनंतर अध्यक्ष महोदय ने शोक प्रस्ताव पढ़ा जिसे सभी ने एकमत से पारित किया। शोक प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद सभी सदस्यों ने दो मिनट तक मौन खड़े रह कर दिवंगत आत्मा को चिरशांति और कवि के संतप्त परिवार को शोक-वहन करने की शक्ति प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। तत्पश्चात अध्यक्ष महोदय के अनुरोध पर डॉक्टर नामवर सिंह ने निबंध-पाठ किया। निबंध-पाठ के बाद वातावरण के अनुकूल विचार-विमर्श हुआ जिसमें, क्रम से, सर्वश्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगाप्रसाद पांडेय, विश्वंभर 'मानव', शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता और बालकृष्ण राव ने भाग लिया।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने कहा कि 'एक साहित्यिक की डायरी' वास्तव में एक महत्वपूर्ण कृति है। मुक्तिबोध जी ने आधुनिक साहित्यिक प्रक्रिया पर सम्यक रूप से विचार किया है। डॉक्टर नामवर सिंह से मतभेद प्रकट करते हुए पांडेय जी ने कहा कि इस कृति को आद्योपांत पढ़ने के बाद यह आभासित नहीं हुआ कि इस डायरी में 'वर्ग चेतना' का उभार है। वस्तुतः मुक्तिबोध ने अत्यंत मार्मिकता और आत्मीयता के साथ सफल साहित्यकार होने के लिए जिन बुनियादी मानवीय तत्वों की आज आवश्यकता है, उन्हें निबंध रूप में प्रस्तुत किया है।

श्री विश्वंभर 'मानव' ने कहा कि 'एक साहित्यिक की डायरी' निबंधात्मक होते हुए भी सैद्धांतिक समीक्षा की कृति है। इसे हम नयी साहित्यक समीक्षा के अंतर्गत रख सकते हैं। मानव जी ने कतिपय पुराने आलोचकों का उल्लेख करते हुए कहा कि वे मूलतः रसवादी परंपरा के आलोचक हैं। आधुनिक साहित्य 'रस' को कसौटी मान कर नहीं चलता। नयी समीक्षा का प्रारंभ अज्ञेय के 'आत्मनेपद' से होता है और इसी पंक्ति में 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', 'हिंदी नवलेखन' और 'एक साहित्यिक की डायरी' आती है। डायरी के सभी निबंध मिल कर एक विचार-सूत्र को प्रतिपादित करते हैं। इस डायरी से स्पष्ट है कि जब हम सृजन में लीन होते हैं तब वह हमारी अनुभूति का क्षण भी होता है। इस प्रकार हमारी अनुभूति को जब कला का स्पर्श मिलता है तब एक नया विचार उत्पन्न होता है। मुक्तिबोध ने कर्म और व्यवहार में अंतर की बात कही है। व्यक्ति, बाह्य जगत में बड़े आदर्शों की बात करता है और घर में जर्जर परंपराओं को ओढ़े रहता है। इस प्रकार, वह अपने जीवन में 'डबल स्टैंडर्ड' रखता है, जिससे उसकी आत्मा की निरंतर हत्या होती रहती है। मुक्तिबोध की डायरी से प्रकट है कि आज न तो 'राजनीति' में कार्यक्रम है और न 'साहित्य' में। साहित्यकार का व्यक्तित्व उसकी रचना में पूरी तरह से प्रतिबिंबित नहीं होता। मुक्तिबोध का दृष्टिकोण प्रगतिशील अवश्य है लेकिन उसमें विरोध का स्वर नहीं है। उनकी प्रगतिशीलता में अनुभव की अद्वितीयता, समाज और मानव बड़ी ही बारीक़ी से व्यक्त हुए हैं। पूरे प्रगतिशील साहित्य में यदि किसी रचना को प्रोत्साहन मिलना चाहिए तो वह 'एक साहित्यिक की डायरी' है।

श्री शमशेर बहादुर सिंह ने कहा कि अभी हम ऐसी स्थिति में नहीं हैं कि डायरी पर तटस्थता से विचार कर सकें। डायरी को पढ़ा भी नहीं है, लेकिन 'वसुधा' में प्रकाशित मुक्तिबोध जी के कुछ निबंध पढ़ने को मिले थे। उन निबंधों के साथ उनकी कविताओं का संदर्भ जोड़ कर यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध जी की अनुभूति विलक्षण थी। मुक्तिबोध जी में गहरी ईमानदारी के साथ समस्या को सहज ढंग से प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता थी। वे अपने बचाव या किसी के भी बचाव की बात नहीं करते थे। कविताओं में दुरूह से दुरूह परिकल्पना को चित्रकार की भाँति मूर्तिमान करने की कला में वे अद्वितीय थे। उनमें कवि और आलोचक, दोनों की विशेषताएं एक साथ दिखायी पड़ती हैं। मुक्तिबोध जी ने न केवल रचनात्मक स्वर से कविता में प्रयोग किये बल्कि वे अपनी निजी ज़िंदगी के साथ भी प्रयोग करते गये। आश्चर्य है कि स्वयं अपने प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने निर्मम रह कर भी वे इतने दिन भी कैसे ज़िंदा रह पाये। उन्होंने अपने मस्तिष्क से बेहद काम लिया और अपने आप को ख़ूब थकाया। उनकी कविताएँ ही इस तथ्य को व्यक्त करती हैं। उन्होंने जो कुछ भोगा उससे हमें एक बड़ा सबक़ मिलता है कि किसी भी विचारक और साहित्यकार को अपने स्वास्थ्य का ख़्याल अवश्य रखना चाहिए। मुक्तिबोध जी एक ओर मनोविज्ञान, दर्शन, और समाजशास्त्र का अध्ययन करते थे, अभिनव प्रतीकों को ले कर काव्य-जगत में उतरते थे तो दूसरी ओर लापरवाही की ज़िंदगी जीते थे। उनका घर-बाहर एक था। उनमें एक सहज हार्दिकता थी जो मिलने वालों को अभिभूत कर देती थी, और वही उनकी रचनाओं में भी विद्यमान है।

श्री नरेश मेहता ने कहा कि 'एक साहित्यिक की डायरी' के ख़ास तौर पर दो निबंधों—'तीसरा क्षण' और 'लंबी कविता के बाद'—को पढ़ने के बाद प्रतीति हुई कि ये दोनों निबंध मुक्तिबोध जी की दो कविताओं के 'प्रोज़ वर्क' हैं। वास्तव में मुक्तिबोध जी कविता के माध्यम से जीवन को नहीं बल्कि जीवन के माध्यम से कविता को देखते थे। चूंकि बात उल्टे तरीक़े से कही गयी है, इस कारण उनकी कविताओं में परंपरा से प्रचलित 'डिक्शन' नहीं है। किंतु उनकी रचना-प्रक्रिया से हमें यह अहसास होने लगता है कि शायद यही सही तरीक़ा है।

श्री बालकृष्ण राव ने शमशेर जी से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि मुक्तिबोध जी का मूल्यवान तत्व है उनकी हार्दिकता। मुक्तिबोध के संपूर्ण कृतित्व में हार्दिकता और सहजता है। श्री नरेश मेहता के कथन से सहमत होते हुए उन्होंने कहा कि मुक्तिबोध जी के कई निबंध अलिखित कविता जैसे प्रतीत हुए। उनकी कविताओं और निबंधों में एक प्रकार का सादृश्य है। डायरी को पढ़ने पर कई स्थलों पर प्रतीत हुआ कि मुक्तिबोध जी ने खुल कर नहीं लिखा है। यदि वे कुछ अधिक विस्तार से अपनी बात कहते तो रचना और अधिक मूल्यवान सिद्ध होती। उनकी कला कृति में निःसंगता नहीं है। इस पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। कलाकार के लिए निःसंगता आवश्यक है। मुक्तिबोध जी ने जिन प्रश्नों की प्रतिष्ठा करनी चाही है उन्हें वे व्याख्यायित नहीं कर सके हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि अभी हम मुक्तिबोध जी के कृतित्व और व्यक्तित्व के बहुत निकट हैं। उनकी कलाकृति का मूल्यांकन कुछ वर्षों बाद हम कर सकेंगे। इसमें संदेह नहीं कि मुक्तिबोध जी एक असाधारण साहित्यिक व्यक्तित्व थे। उनकी उपलब्धियाँ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक कृतियों से बड़ी हैं।

विचार-विनिमय का समापन करते हुए डॉक्टर नामवर सिंह ने कहा कि चूंकि सम्मुख प्रश्न नहीं है, इस कारण सबके प्रति आभार और कृतज्ञता ही प्रकट करना चाहूँगा। वैसे शमशेर जी और भाई नरेश मेहता की बातें सुन कर (जो नामवर जी के प्रबंध के पढ़े जाने के समय उपस्थित नहीं थे जिससे उसमें कही गयी बातों से भी परिचित नहीं थे) ऐसा लगा कि समानधर्मा लोगों में कितनी समान बातें उठती हैं, फिर भी यदि इन्होंने पूरी डायरी पढ़ी होती तो 'डायरी' की ही सचाई अधिक सिद्ध होती। श्री गंगाप्रसाद पांडेय द्वारा उठाये गये वर्ग-चेतना के अभाव के प्रसंग में उन्होंने कहा कि यह पुस्तक एक साहित्यिक की डायरी है, न कि एक साहित्यिक डायरी। इसमें केवल साहित्य को रखना अन्याय होगा। आधुनिक साहित्य के बारे में मुक्तिबोध जी ने ज़ोर दे कर कहा है कि दो वर्ग हैं जो साहित्य-रचना कर रहे हैं। 'ढेबरी में सूरज' वाली बात उन्होंने ज़ोर दे कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कही है। किंतु अच्छा होगा कि इस विषय को तत्काल विवाद का विषय न बना कर हम उनकी हार्दिकता और मानवीयता को देखें। श्री बालकृष्ण राव ने 'निःसंगता' और 'प्रश्न की प्रतिष्ठा' वाली बात कही है। वस्तुतः डायरी में वे विचार जिस रूप में आ सकते थे, उसी रूप में आये हैं। उनके कई सूत्र उनके निबंधों में हैं।

डॉक्टर नामवर सिंह ने पुस्तक के प्रकाशन के बारे में एक आपत्ति उठाते हुए कहा कि इसका संपादन ग़लत ढंग से हुआ है। इसमें रचनाओं का क्रम ठीक से नहीं रखा गया है। डायरी में तिथिक्रम का भी उल्लेख होना चाहिए, अन्यथा मूल्यांकन में अंतर पड़ सकता है

—विवेचक

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से

नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के अतिरिक्त सम सामयिक घटनाओं-समयाओं पर विचार-युक्त सामग्री प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु० मात्र।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बॉ० ८२, अजमेर।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षाएँ

•

एक इंच मुस्कान

राजेंद्र यादव तथा मन्नू भंडारी का उपन्यास। राजपाल एंड संस, दिल्ली। सन १९६३। मूल्य ६·०० ।

किसी भी उपन्यास की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी है उसका मनोरंजक होना। मनोरंजकता की बात कहते ही उससे अत्यंत संबद्ध प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या विभिन्न मानसिक स्तर के व्यक्तियों का मनोरंजन विभिन्न स्तर की रचनाओं से नहीं होता? यह बात चाहे पूर्णतया सत्य न हो लेकिन काफ़ी हद तक सच है कि, जैसा हमारा रहन-सहन अथवा विचार-धारा होगी उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने वाले अथवा उसी प्रकार से सोचने-विचारने वाले व्यक्तियों की कथा में हमें अधिक आनंद आयेगा। इस दृष्टि से यदि मैं 'एक इंच मुस्कान' को देखता हूँ तो यह पाता हूँ कि यह ऐसे व्यक्तियों की कथा है जो कुछ भी करने की अपेक्षा विचारों के ऊहापोह में अधिक व्यस्त हैं। न केवल क्रियात्मकता का उनमें अभाव है, बल्कि यदि थोड़ी बहुत क्रियात्मकता उनमें है भी तो वह इस उपन्यास के चित्रण की परिधि में नहीं आती। यह उपन्यास अपने पात्रों की मानसिक कृतियों अथवा विकृतियों का ही विस्तृत चित्रण करता है। मेरा ऐसा विचार है कि स्वस्थ पढ़ा-लिखा व्यक्ति, जो जीवन में कुछ करना चाहता है, संसार में अपने अधिकारों को लड़ कर ले लेना चाहता है। जो आज की प्रचलित शब्दावली में 'फ़्रस्ट्रेटेड' नहीं है, इस उपन्यास के नायक अमर के साथ मानसिक तादात्म्य कभी न स्थापित कर सकेगा। उसे ऐसा कभी न लगेगा कि यह उसकी अपनी कथा है, उसके अपने जीवन-संघर्ष या परेशानियों का चित्रण है। एक विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों को —(यह विशिष्टता आर्थिक संपन्नता की द्योतक नहीं है, बल्कि ऐसे कतिपय व्यक्तियों की द्योतक है जिन्हें संसार से यह शिकायत है कि वह उनकी प्रतिभा का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर पाया)—यह उपन्यास आकर्षित कर सकेगा। जिन साधारण पाठकों ने गोस्वामी तुलसीदास, प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर की कृतियों का आनंद लिया है, उनका एक बहुत बड़ा भाग इस कृति का आनंद ले सकेगा, इसमें मुझे अत्यधिक संदेह है। यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि मन्नू भंडारी द्वारा लिखे हुए अध्याय अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर और साधारण पाठक के लिए अधिक बोधगम्य हैं, चाहे अति आधुनिक कला की दृष्टि से वे उस ऊँचाई को न पहुँचे हों जहाँ तक राजेंद्र यादव के अध्याय पहुँच गये हैं।

उपन्यास के कथानक में नवीनता है। इस उपन्यास की नवीनता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि कथा के अंतिम अंश पहले ही अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बतला दिये जाते हैं और पूरी कहानी एक तरह से 'फ़्लैशबैक' शैली में चलती है। अनेक घटनाओं का चित्रण, अनेक पात्रों के कथन राजेंद्र यादव इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं कि पाठक के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि यह घटना वास्तव में घटित हुई अथवा उपन्यास के किसी पात्र की कल्पना मात्र है। पूरी कथा में कुछ परिस्थितियाँ बड़ी मार्मिक हैं और लेखक ने उनसे पूरा लाभ उठाया है। उदाहरणार्थ, अमला और अमर की वह भेंट जब अनायास रंजना आ जाती है, रंजना का असंतुष्ट हो कर जयपुर लौट जाना, और जुहू की शाम जब अमर रंजना से विवाह-बंधन में बँधने से असमर्थता प्रकट करता है।

उपन्यास के मुख्य पात्र हैं अमर, अमला और रंजना। टंडन, नंदा, शकुन, कैलाश और मीरा भी अपना-अपना 'रोल' अदा ही करते हैं। उपन्यास का नायक अमर अपने दिमाग़ी उलझाव के बावजूद नायक तो है ही। आज के युग में, जब 'फ़्रस्ट्रेशन' प्रबुद्ध होने का प्रथम लक्षण समझा जाता है, स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन, संतुष्ट, सीधी-सादी राह पर चलने वाला व्यक्ति प्रतिक्रियावादी कहा जाता है—अमर जैसा व्यक्ति ही किसी उपन्यास का नायक बन सकता है। संभव है वह दिन भी अधिक दूर न हो जब हमारे किसी महा-काव्य का नायक भी ऐसा ही कोई व्यक्ति हो जो किसी के प्रति सच्चा न हो (स्वयं अपने प्रति भी) और तब अपनी पुरानी परि-भाषाएँ हमें बदलनी हों। एक वह दिन था जब प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' के होरी का अविर्भाव हुआ था और हिंदी संसार ने उसे इस दृष्टि एक नयी उपलब्धि माना था कि जिस देश का सबसे अधिक प्रतिशत अपनी आर्थिक कठिनाइयों से ग्रसित किसान है, उसमें होरी को नायक बनना ही चाहिए। आज के इस उपन्यास में अमर को नायक पा कर हम अपने आपको क्या यह कह कर संतोष दें कि आज का युग अनिश्चय का युग है? हमारे नवयुवकों की मानसिक उलझनें उन्हें कहीं स्थिर नहीं रहने देतीं, किसी विचार को कार्य-रूप में परिणत नहीं करने देतीं—इसलिए अमर हमारे युग का प्रतिनिधि नायक है। राजेंद्र यादव ने अमर को एक कलाकार अथवा लेखक मान कर उसके लिए काफ़ी 'लाइसेंस' लेने का प्रयास किया है। पुराने लोग कहा करते थे कि पहले आदमी तो बनें, तब कलाकार हो सकेंगे—उस पूरे विश्वास और धारणा के प्रति अमर का पूरा चित्रण एक विद्रोह है। अमर को अपने मनचाहे रूप में राजेंद्र यादव ने चित्रित किया ही है, बीच-बीच में मन्नू भंडारी ने उसकी काफ़ी कलई खोली है। मैं कभी-कभी यह भी सोचता रहा हूँ कि यदि इस पूरे कथानक को अकेले राजेंद्र यादव ने ही लिखा होता तो इसका क्या रूप बनता। तब अमर, अमला और रंजना किन रूपों में हमारे सामने आते? कलाकार होने के नाते अमर में संतुलन नहीं है। रंजना से इतना प्यार करते हुए भी वह उसे छोड़ देने को इसलिए तैयार हो जाता है कि अमला उसे सुझा देती है कि उसका विवाह करना कला के साथ समझौता करना होगा। टंडन उसे यह बतलाता है कि रंजना उसे कितना चाहती है, और यदि उसे विवाह करना है तो रंजना से अधिक उपयुक्त दूसरी लड़की नहीं मिलेगी। विवाह कर लेने पर रंजना उसे प्रति क्षण अपनी स्वतंत्रता और कला-साधना में बाधक दिखलायी देने लगती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और वह उसके साथ ऐसा व्यवहार करने लगता है कि वह उसे छोड़ कर चली ही जाती है। तबियत से अमर बहुत 'मूडी' है। वह किसी भी समय कुछ भी कर सकता है, बिना इसकी चिंता किये हुए कि दूसरे पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, उसके दिल पर क्या गुजरेगी। टंडन ने उसके संबंध में बहुत अच्छा कहा था: **"तुम महान लेखक हो...यू क्लेम टु लिव इन हिस्ट्री...तुम इतिहास की शोभा हो...। रंजना जैसी बीस तुम्हारी जिंदगी में आयेंगी और उस एक के लिए यों रुक-रुक कर अपने रास्ते बदलते गये तो हो गया...। क्या है? अपने पागलपन में एक लड़की की जिंदगी अगर बिगड़ भी गयी तो ऐसी कौन सी दुनिया रुक जायगी? अरबों लोगों की भीड़ में एक बूंद भी तो नहीं है...। तेरी सब से बड़ी ट्रेजेडी यही है, तू अपने लिए नहीं इतिहास के लिए जीता है—तेरी जिंदगी अपनी नहीं है।"** रंजना ने उसके संबंध में कहा था: **"यह कलाकार है? अपने को संवेदनशील और भावुक समझने वाला कलाकार? किसी की भावनाओं का, किसी के भविष्य का, किसी के जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं है इसकी दृष्टि में।"** जो कुछ प्राप्त है उससे असंतोष, उसके प्रति उदासीनता, और जो अप्राप्य है उसके प्रति आकर्षण; यह अमर के चरित्र की विशेषता है। जब रंजना मिल गयी तो उसका मन अमला में था, और जब अमला उसकी बाँहों में थी तो वह इसलिए उसे नहीं अपना पाया कि ऐसा करना रंजना के प्रति विश्वासघात था। उसने दोनों को प्रबल वेग से आकर्षित किया, स्वयं भी दोनों की ओर आकर्षित हुआ परंतु दोनों के जीवन में वह कुहर बन कर ही रह गया। उपन्यास में अमर कहीं-कहीं स्वयं अपने निर्णयों की, अपने कार्यों की आलोचना करता है और फिर यह सोच कर अपने आपको संतोष दे लेता है कि वह जो कुछ कर रहा है इसलिए कर रहा है कि कला के क्षेत्र में उसे कुछ कर जाना है। इस सबके बावजूद, हम अमर को अपनी सहानुभूति नहीं दे पाते। उसके जीवन की परिस्थितियाँ हमें ऐसी नहीं लगतीं कि वह ऐसे कटु और अप्रिय निर्णय लेने के लिए बाध्य हो।

उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि है अमला का चरित्र। उसे कितना बनाया-सँवारा और निखारा है मन्नू भंडारी ने और कितना राजेंद्र यादव ने, इस झगड़े में मैं नहीं पड़ूंगा। पति द्वारा परित्यक्ता हो कर वह स्वतंत्र रूप से विचरण करती है, पुरुषों से मैत्री जोड़ती है और न जाने कितने व्यक्तियों के जीवन में इस प्रकार प्रवेश करती है कि उन्हें यह भ्रम हो कि अमला उन पर न्योछावर है। लेकिन अमला ने एक बार अपने और अमर के संबंध में ठीक ही कहा था: **"शायद हम लोग... हम जैसे लोग विवाह की ज़िम्मेदारियों के लायक़ नहीं हैं...सारे दिन तुम्हारे साथ घूमी...दूसरी स्थिति में यह संभव था?"** कोई उस पर नियंत्रण रखे, अपने चाहे मार्ग पर उसे चलाये, यह उसे किसी तरह गवारा नहीं है। उसके आकर्षक व्यक्तित्व, उसकी परिष्कृत रुचि, आत्मविश्वास, और सबसे बढ़ कर उच्च वर्ग के संस्कारों से मुक्ति, उसे एक अनोखा व्यक्तित्व प्रदान करती है। उसके जीवन में कितनी पीड़ा है, समाज और क्लबों में विचरण करते हुए भी वह अंदर से कितनी अकेली, कितनी बेसहारा है, यह कोई नहीं जान पाता। अपनी सारी पीड़ा को अपनी मोहिनी मुस्कान के नीचे वह इस तरह छिपाये रहती है कि उसके अभ्यंतर की वास्तविक झलक कोई नहीं पाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी का प्रेम पाने के लिए, किसी का हो जाने के लिए उसका रोम-रोम व्याकुल है, पर अपने अहं की बलि दे कर यह सौदा करने को वह कदापि तैयार नहीं—चाहे कैलाश हो, या अमर। उसके चरित्र का यह पहलू ऐसा है जहाँ वह उस रंजना के चरित्र से बिल्कुल भिन्न मालूम होती है जो अमर के प्रति पूर्णतया समर्पिता है, और अपने अहं और आत्मसम्मान को कोई महत्व नहीं देती। अमर के प्रति अपने आकर्षण को पहले वह केवल साहित्यिक मैत्री समझती और प्रदर्शित करती है, और अंत में उसका मन धोखा देता है। उसके जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यही है कि अपने अहं के कारण वह किसी को बांध नहीं पाती और अंत में अपने आपको अकेला ही पाती है। उपन्यास में उसका व्यक्तित्व, उसका आकर्षण, उसकी निःसंकोच उक्तियाँ तथा स्वच्छंद विचरण एक नवीनता तथा रंगीनी उत्पन्न करता है।

रंजना की विशेषता है उसका भोलापन। वह अमर पर आसक्त है और मान-अपमान की चिंता किये बिना उसकी होने और उसे अपना बना लेने के लिए कुछ भी नहीं उठा रखती। स्त्री-सुलभ ईर्ष्या उसमें जितनी हो सकती थी, उससे अधिक ही है। वह सब कुछ बर्दाश्त कर सकती है पर अमर में किसी प्रकार की साझेदारी करने को प्रस्तुत नहीं है। उसके पुरुष मित्रों को ही वह सहन नहीं कर पाती थी, फिर अमला तो स्त्री थी। अमला को ले कर जिस प्रकार के प्रश्न रंजना ने अमर से पूछे हैं वे बड़े 'टिपिकल' होते हुए भी यत्र-तत्र अपनी विशिष्टता भी रखते हैं : **"अपने कौन से दुख को उसकी (अमला की) हथेलियों में सिर गाड़ कर तुम हल्का कर रहे थे?"** अमला के संबंध में वह नंदा को लिखती है : **"यह निश्चय ही एक दिन अमर का सर्वनाश करेगी। इसमें संदेह नहीं कि इसका व्यक्तित्व, बात करने का लहजा, चाल-ढाल, सभी कुछ बड़ा आकर्षक है, बड़ा मोहक है और बड़ी विचित्र है इसकी मुस्कान जो इसके अधरों पर फैली इसके लावण्य को इतना अधिक बढ़ा देती है कि मन अनायास ही बँध जाय। साथ ही, शायद वह यह भी जानती है कि किस आदमी को कहाँ से मारना चाहिए। आप तो जानती ही हैं कि लेखन अमर की सब से बड़ी कमज़ोरी है। इसने अमर को वहीं से पकड़ा है।"** अमला के संबंध में लिखे हुए उसके ये वाक्य जहाँ हमें अमला के प्रति उसका दृष्टिकोण दिखलाते हैं वहाँ उसके अपने हृदय की भी एक झाँकी देते हैं। इतनी पढ़ी-लिखी होकर भी कोई चालाकी रंजना में नहीं है। वह अमर के सारे प्रहारों को सहती चली जाती है पर अमर का एक-एक आचरण उसे इस निश्चय पर पहुंचाता है कि वह अमर को बाँध न पायेगी। अंत में वह अमर को छोड़ कर चली ही जाती है। दो विरोधी तत्वों—पूर्ण समर्पण और पूर्ण विद्रोह—का रंजना के चरित्र में समन्वय किया गया है। वह अमर पर अनुरक्त है और उसके लिए सब कुछ करने को तैयार है, अपने मानापमान की भी चिंता नहीं करती। लेकिन यह विश्वास हो जाने पर कि अमर उसके प्रति ईमानदार नहीं है, उसका झुकाव अमला की ओर है, वह उससे विमुख हो जाती है।

अमर, अमला और रंजना के चरित्र उपन्यास में पूर्णरूप से विकसित हुए हैं और इनके चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है। अन्य पात्रों में टंडन, नंदा, कैलाश और शकुन को भी आवश्यकतानुसार विकसित किया गया है। टंडन अमर का सच्चा मित्र है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदैव उसके हित की बात सोचता है। उपन्यास के आरंभ में ऐसा लगता है जैसे उसका मानसिक स्तर बड़ा साधारण है; हल्की-फुल्की चीज़ों में रुचि रखने वाला व्यक्ति। लेकिन जब वह रंजना के प्रति किये हुए अन्याय के कारण अमर की व्यंग्यात्मक आलोचना करने लगता है तब वह एक नये रूप में हमारे सामने आता है। अमर के आचरण से जो पूर्णतया सहमत नहीं हो पाते, टंडन उन्हें संतुलित लगता है। साधारण चाहे वह हो, पर उसकी विचार-धारा विकृत नहीं है। नंदा अपने पति के मित्र अमर को जो स्नेह देती है, बीमारी में जिस प्रकार उसकी सेवा करती है, यह उसकी सदाशयता का द्योतक है। उसकी दृष्टि में जिसमें अमर का हित है उसे करवाने के लिए वह किसी भी सीमा तक जाने को तैयार है। अमर की प्रसन्नता और अप्रसन्नता की भी चिंता वह इस संबंध में नहीं करती।

टेकनीक की दृष्टि से भी इस उपन्यास में नयापन निश्चित रूप से है। 'फ़्लैशबैक' शैली का प्रयोग पूरे उपन्यास में है और कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे राजेंद्र यादव ने यह क़सम खा रखी है कि घटनाओं को वह क्रम से न रखेंगे। पहले की घटना बाद में और बाद की पहले लिखने का ऐसा सिलसिला वह आदि से अंत तक चलाते हैं कि कभी-कभी ठीक क्रम को समझने के लिए अच्छे-ख़ासे मानसिक शीर्षासन की आवश्यकता पड़ती है। मन्नू भंडारी द्वारा लिखा हुआ पत्रों का चैप्टर बहुत सफल है। इसमें पात्रों के मानसिक ऊहापोहों का सुंदर चित्रण बोधगम्य शैली में है। राजेंद्र यादव का डायरी वाला चैप्टर भी बहुत अच्छा है। अमर को उसके वास्तविक रूप में देखने में हमें इस अध्याय से बहुत सहायता मिलती है। जहाँ तक इस सहयोगी उपन्यास की सफलता की बात है, मैं इस दृष्टि से भी इसे एक सफल प्रयास ही मानता हूँ। राजेंद्र यादव और मन्नू भंडारी की शैली में चाहे कितना वैषम्य हो, राजेंद्र यादव की शैली प्रयोगवादी दृष्टिकोण से चाहे कितनी ही विकसित हो और मन्नू भंडारी उस दृष्टि से उनकी छाँह भी न छू पाती हों, पर मुझे बराबर ऐसा लगा है कि इस उपन्यास को रोचक और औसत पाठक की पहुँच के अंदर रखने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह मन्नू भंडारी को ही। शरद देवड़ा यह बात कहते या न कहते, और लेखकद्वय अपने-अपने वक्तव्यों में इसका संकेत करते या न करते, यह एक तथ्य है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। कला की दृष्टि से इस उपन्यास को मैं एक सफल प्रयोग मानता हूँ।

उक्ति वैचित्र्य और परिभाषाओं में कहीं-कहीं राजेंद्र यादव की प्रतिभा का चमत्कार दिखलायी देता है। प्यार की परिभाषा—**'इज़ ए मिसअंडरस्टैंडिंग बिट्वीन टू फ़ूल्स, चाइल्ड ऑफ़ इल्यूज़न एंड पेरेंट ऑफ़ डिसइल्यूज़न'**—चाहे उनकी हो या घटोत्कच की, प्रशंसनीय है। अमर के साथ उन्होंने पक्षपात नहीं किया है, यह भी मानना पड़ता है। टंडन से जो-जो आलोचना उसकी उन्होंने करवायी है, वह उनकी कला के प्रति ईमानदारी है।

एक दृष्टि से इस उपन्यास को और परखने की आवश्यकता है। क्या यह कृति हमें कुछ उदात्त विचार देती है? क्या वह मानव-जीवन को उन्नत बनाती है? कला का एक उद्देश्य यह भी समझा जाता है—क्या इस दृष्टि से भी इस कृति से हमें कुछ मिलता है? जो इस कृति को इस आशा से देखेंगे उन्हें इससे निराशा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी। यथार्थवादी चित्रण, मानसिक चिंतन के पूरे-पूरे ग्राफ़ आपको इसमें मिलेंगे। उपन्यास के सभी मुख्य पात्र आदर्श-विमुख हैं। आदर्श, आस्था और संतुलन की कमी के कारण इस उपन्यास की दुनिया में दुख अवश्यंभावी है, सच्चा सुख, आनंद और संतोष इसके किसी पात्र को मयस्सर नहीं है। कलाकार के जीवन में किसी प्रकार का बंधन स्वीकार करने योग्य नहीं है—इस विश्वास पर अमर आदि से अंत तक चलता है। दो-दो स्त्रियों के जीवन में प्रवेश कर के उनके जीवन में विष घोल कर वह जो अशांति अपने लिए मोल ले लेता है, वह उसकी कला-साधना में सहायक होगी, यह सिद्ध नहीं होता। अमर, जो न एक संतुलित मानव, न एक सच्चा मित्र, न एक सफल पति है, वह कला की ही सफल साधना करने योग्य हो सकेगा, ऐसा उपन्यास के अंत में नहीं लगता। रंजना और अमला के चित्र चाहे कितने ही सजीव क्यों न लगें, नारी-जीवन को उनका अहं, उनकी स्वच्छंदता, और उनका हठ ऊँचा उठा सकेगा, इसमें मुझे पूर्ण संदेह है।

भाषा का नया रंग तथा प्रयोग की ताज़गी इस उपन्यास की विशेषताएँ हैं, और इस दृष्टि से यह प्रशंसनीय है।

—**गंगाप्रसाद मिश्र,**
राजकीय माध्यमिक महाविद्यालय,
सुल्तानपुर।

एक कंठ विषपायी

दुष्यंतकुमार का काव्य-नाटक। लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद। सन १९६३। मूल्य: ५·००।

'एक कंठ विषपायी' पढ़ते समय दो प्रश्न मेरे मन में बराबर आते रहे: एक, क्या काव्य-नाटक लिखने के लिए केवल कवि होना ही पर्याप्त है? दो, क्या काव्य-नाटक लिखने के लिए केवल नाटककार होना ही पर्याप्त है? इन दोनों प्रश्नों को थोड़ा और फैलायें तो वह कुछ इस तरह होगा: अनुभूति-संवेदना की काव्यात्मक अवधारणा में नाटकीयता के तत्व की सहज अभिव्यक्ति के अतिरिक्त—और मैं यह मान कर चलता हूँ कि इस तत्व के वृद्धि-विकास की संभावना आज काफ़ी है—क्या एक काव्य-नाटक में किसी विशेष नाट्य-दृष्टि और उसकी अपेक्षाओं की माँग नहीं होती? और, नाटककार में एक कवि के लिए सहज-सुलभ, चाहे सर्वत्र ग्राह्य न भी सही, काव्यानुभूति का तरल रचना-आवेश होना ही क्या उसे काव्य-नाटक लिखने की छूट दे देता है? यह बताने की आवश्यकता शायद नहीं है कि काव्य-नाटक कविता और नाटक की अलग अलग बैसाखियों के सहारे खड़ा किया हुआ कोई जड़ (न्यूट्रल) साहित्य-प्रकार नहीं है, वरन एक स्वतंत्र सर्जनात्मक विधा है। कविता या नाटक की-सी रूपाकारगत अंतिमता इसमें नहीं होती—यह अपेक्षाकृत अधिक लचीला माध्यम है—पर इसीलिए इसमें कोई आंतरिक गत्यात्मक संघटन अथवा संगति और उसे पूर्ण करने वाली शर्तें नहीं होतीं, ऐसा सिद्ध नहीं होता। इस बात को कुछ आग्रह के साथ रखने की आवश्यकता इसलिए पड़ती दिखायी देती है कि हिंदी में जो कुछ इने-गिने काव्य-नाटक लिखे गये हैं उनमें प्रायः न केवल इस अंतर को भुला दिया गया है बल्कि काव्य-नाटक की स्वतंत्र सर्जनात्मकता की अवहेलना कर उस पर सब कुछ आरोपित करने की चेष्टा भी की गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे अधिकांश में कविता में नाटक और नाटक में कविता का घालमेल पैदा कर के लिखे गये ही लगते हैं। बात को स्पष्ट करने के लिए केवल उदाहरण-रूप में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित डॉ० रमेश कुंतल मेघ के काव्य-नाटक या काव्य-एकांकी और कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के 'सूखा सरोवर' का उल्लेख किया जा सकता है।

'एक कंठ विषपायी' का लेखक भी मूलतः कवि है—ऐसा कवि जो गीत-रचना के सोपान लाँघ कर नयी कविता के क्षेत्र में आया है। यह बात प्रस्तुत विवेचन के संदर्भ में महत्वपूर्ण है जिस पर आगे विचार किया जायगा। नाट्य-लेखन के लिए अपेक्षित जो संयम, शिल्पबोध, वस्तु की सामान्य नाटकीय परिणति विषयक सूझ-बूझ और विशिष्ट स्थलों में अधिकाधिक नाट्य-अर्थ भर सकने की क्षमता होती है उन सबसे लेखक परिचित है। काव्य-नाटक के लेखन में ज़रा-सी असावधानी के कारण गद्गद् भावुकता में ऊभ-चूभ होने की जो स्थिति अक्सर पैदा हो जाती है—और ऊपर जिन दो लेखकों का मैंने उल्लेख किया उनमें इसका खासा अंश मिलता है—उसे दुष्यंतकुमार अपनी अभिव्यक्तिगत सफ़ाई, परिष्कार और सतर्कता से भरसक बचा गये हैं। इसका श्रेय बहुत कुछ इस बात में भी है कि उन्होंने इस नाटक में अपनी सीमाएँ निश्चित कर ली हैं। उन्होंने अत्यंत परिचित पौराणिक कथा को लिया है, घटना का कैनवास भी छोटा ही चुना है, एक सर्वहत को किन्हीं अंशों में छोड़ कर पात्र भी सभी 'टाइप' हैं, इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मक स्तर पर उन्होंने जो कहना चाहा है (यथा, शव-सी निर्जीव परंपरा के प्रति मोहासक्ति और तज्जनित मूल्यों के रचना-अवरोध की स्थिति) वह भी आज के रचना-चिंतन के संदर्भ में काफ़ी पुराना पड़ चुका है। दरअसल लेखक ने प्रस्तुत काव्य-नाटक में जो समस्या ली है और उसके प्रस्तुतीकरण के लिए जो प्रतीक-विधान तैयार किया है वह अब बहुत कुछ सरलीकृत रूप ग्रहण कर चुका है और लेखक की अनुभूति की सचाई और ईमानदारी के बावजूद प्रबुद्ध पाठकों के लिए विशिष्टता का संदर्भ खो चुका है।

इस सीमा-निर्धारण का काव्य-नाटक की विषय-संवेदना के सीमित आयाम और उसकी स्वरूप-रचना से सीधा संबंध है। सरलीकृत विषयवस्तु के कारण मूल समस्या अनुभूति की गहरी एवं जटिल तहों का स्पर्श नहीं करती, अतः इससे नाटक के रचनाविधान में कोई क्षोभकारी तनाव नहीं उत्पन्न होता। इसके बजाय, संपूर्ण नाटक पर एक प्रकार का भावाविष्ट गीतिमय वातावरण तना रहता है। मूल समस्या के केंद्र से परिचालित लेखक की अनुभूति-दृष्टि जटिल और विशृंखल तथा यथार्थ रूपों की मार्मिकता का अन्वेषण करने न जा कर गीतिधर्मी अभिव्यक्ति की सघनता, तीव्रता, भावनाओं के आरोह-अवरोह तथा प्रवाहयुक्त चित्रात्मकता के आसपास ही घूमती रहती है। अपने आप में यह स्थिति अग्राह्य नहीं, पर आधुनिक मनोभूमि पर रचित नाटक के अपेक्षाकृत वस्तुपरक धरातल पर यह अधिक दूर तक संभव नहीं दीखता। यही कारण है कि इस काव्य-नाटक का एक मात्र यथार्थ और आत्मीयता के स्तर पर अनुभूत होने वाला पात्र सर्वहत भी ऊपर से झलकने वाली डाइनैमिक चरित्र-रेखाओं के बावजूद गीति-भावनाओं के उच्छ्वास में खो जाता है, उसकी व्यंग्यात्मक स्थिति और उसका विद्रूप उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्छ्वास की मिलावट से झूठा लगने लगता है। वास्तव में नाटक मात्र अनुभूतियों का घनिष्ट वातावरण नहीं है; जीवंत मानवीय स्थितियों और उनसे फूटते हुए अंतर्द्वंद्व को संप्रेषित करने की क्रिया है। 'एक कंठ विषपायी' में यह क्रिया उस गीतात्मक वातावरण में काफ़ी हद तक दब-सी गयी है। कुछ अजब नहीं कि यह काव्य-नाटक पढ़ते समय मुझे बार-बार किसी रेडियो के लिए लिखे गये ऑपेरा का बोध होता रहा, क्योंकि रेडियो-नाटक भी स्वर-आश्रित होने के कारण वातावरणप्रधान होता है। इसीलिए प्रस्तुत काव्य-नाटक के समस्त कार्य-व्यापार एवं भाव-व्यापार गति का बोध नहीं कराते और उनकी सच्ची नाटकीयता स्थापित नहीं हो पाती।

काव्य-नाटक की पद्य-रचना के विश्लेषण से भी यही बात प्रमाणित होती है। अव्वल तो जिसे सही माने में नाटकीय-पद्य (ड्रैमेटिक वर्स) कहा जाता है उसका आभास इसमें कहीं-कहीं ही मिलता है, विशेष कर वहाँ जहाँ पात्रों की मनःस्थितियों के विशिष्ट संवेदनात्मक क्षणों को एक लयात्मक स्वर में अभिव्यक्ति दी गयी है—वहाँ नाटक के गीतात्मक वातावरण की सघनता से फूट कर भी एक नाटकीय बोध जाग्रत हो जाता है, यद्यपि वह अत्यंत सीमित होता है। किंतु जहाँ नाटक की वस्तुपरक भूमि पर आ कर कथा-विकास करने, नयी भाव-स्थिति प्रस्तुत करने या मानसिक द्वंद्व की रचना करने की कोशिश की गयी है वहाँ का पद्य गद्यधर्मी और सपाट हो गया है। इसका एक मोटा प्रमाण यह है कि ऐसे स्थलों पर अर्थ और भावों का प्रवाह एक पंक्ति से वह कर दूसरी और दूसरी से तीसरी में नहीं जाने दिया गया है। वहाँ लेखक की कल्पना-शक्ति जड़ और रूपबद्ध लगती है। इन गद्यधर्मी स्थलों को तरलायित करने के लिए काव्य का पुट देना आवश्यक नहीं। वरन उन्हें नाटक के समग्र स्वरूप-विधान के अंतर्गत नाटकीय अर्थ से शक्तिशाली तरीक़े से जोड़ा जा सकता है। परंतु उसके लिए जिस सजग नाट्य-प्रतिभा का होना आवश्यक है वह लेखक में नहीं दिखायी देती। फिर विषय-वस्तु का अत्यंत परिचित होना ऐसे स्थलों को सीधे-सीधे पद्यबद्ध दुहराव की स्थिति में खड़ा कर देता है। लेखक ने इस नाटकीयताविहीन सपाट गद्यधर्मी पद्य की रुक्षता को ढँकने के लिए तुक और यति पर विशेष जोर दिया है। कहीं-कहीं नाटकीय तनाव का आभास देने के लिए 'रेटॅरिक' का भी सहारा लिया गया है जो पारसी थियेटर के संवादों की याद ताज़ा करता है :

आह ! चले गये।
[आकाश की ओर देखते हुए उँगली उठा कर]
क्रूर नियति !
वह तेरे हाथों से छले गये।
बोल,
मुझे बता,
मुझ पर श्राप क्यों पड़ा तेरा ?
कब मुझसे धर्म की अवज्ञा हुई है ?
कब मैंने शंकर की मानता नहीं मानी
कब मैंने सपने में
किसी अमर्यादा की छाया छुई है ?

—पृष्ठ ३३

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें सामने आती हैं : एक तो यह कि दुष्यंतकुमार के कवि-रूप में उनके गीतकार का तत्व काफ़ी दूर तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतर्भुक्त है। दूसरा यह कि उन्होंने काव्य-नाटक के माध्यम से अपने पूर्व चौखटे का अतिक्रमण कर अधिक वस्तुपरक भावभूमि पर आने की साहसपूर्ण योजना बनायी है। एक तरह से उन्होंने गीति-संवेदना और युग की यथार्थमूलक जटिल जीवन-दृष्टि को काव्य-नाटक के वस्तु-फलक पर एकाकार करना चाहा है। नयी कविता के समसामयिक भावबोध के संदर्भ में उन्होंने गीतात्मकता को एक समस्या के रूप में अनुभव किया है, और 'एक कंठ विषपायी' उस समस्या का समाधान खोजने की चेष्टा है। इसके पूर्व ऐसी ही चेष्टा भारती के 'अंधा युग' और गिरिजाकुमार माथुर के 'पृथ्वीकल्प' में भी की गयी थी। भारती और गिरजाकुमार माथुर दोनों ही नयी कविता के उस दौर के कवि हैं जब नयी कविता अपना निजी वैशिष्ट्य नहीं ग्रहण कर पायी थी, अतः उसके भावबोध में निर्वैयक्तिक यथार्थ तथा रोमांटिक गीतात्मकता के बीच विभेद की कोई स्पष्ट चेतना नहीं थी। इन दोनों कवियों की मूल समस्या भी अपनी रोमांटिक भाव-प्रकृति और वर्तमान युगबोध के यथार्थ के बीच संगति बिठाने की ही रही है। भारती में इसका रूप परंपरा के गहन रूपों से परिचित होने के कारण अधिक समृद्ध लगता है, और 'अंधा युग' में उन्होंने अपनी समस्या का एक कलात्मक समाधान ढूंढ़ लिया था, यद्यपि उस पर आद्यंत एक रोमांटिक तरलायित गीतात्मकता का वातावरण दर्द की टीस की तरह छाया रहता है। नयी कविता उस स्थिति से काफ़ी आगे बढ़ गयी और वह अपनी विशिष्ट नियति पहचानने भी लगी पर भारती 'अंधा युग' में जिस समाधान तक पहुँचे थे वे वहीं तक रह गये।...

'अंधा युग' का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक नहीं है, क्योंकि दुष्यंतकुमार की भावभूमि और 'एक कंठ विषपायी' की रचना-दृष्टि बहुत कुछ उन्हीं प्रश्नों को उठाती है जो 'अंधा युग' में उठाये गये हैं। प्रस्तुत नाटक 'अंधा युग' की ही परंपरा में आता है यद्यपि उसमें उसकी शक्ति का अभाव है। काल-अंतर के साथ वस्तुतः 'अंधा युग' की परंपरा 'अंधा युग' के साथ ही समाप्त हो गयी। दुष्यंतकुमार का अपने को उस परंपरा के साथ जोड़ने का प्रयत्न उनकी प्रतिभा की सीमा का ही संकेत करता है। इस सीमा के कारण वर्तमान युग-संदर्भ में वे अपनी समस्या के समाधान तक 'एक कंठ विषपायी' में नहीं पहुँच पाये हैं। यह उनकी अनुभूतिगत सचाई का भी प्रमाण है और उस बेचैनी का भी जिसके कारण अपनी संवेदना की पुरानी रूप-कारा तोड़ने के लिए उन्होंने काव्य-नाटक का माध्यम चुना। पर काव्य-नाटक के क्षेत्र में आ कर जहाँ उनकी प्रतिभा को नये गुल खिलाने चाहिए थे वहाँ उनकी काव्य-शक्ति अपने केंद्र की ओर ही प्रत्यावर्तित होती दिखायी देती है। संभवतः इसी का परिणाम है कि 'एक कंठ विषपायी' नयी कविता की प्रौढ़ चिंतन-भूमि एवं सौंदर्य-दृष्टि से भी पीछे लगता है। इसके बजाय एक विचित्र प्रकार का संभ्रम प्रस्तुत नाटक में उभर आया है। उसकी स्वरूप-रचना में न तो समग्र गीति-संवेदना अविकृत रह पायी है (नाटक के माध्यम में भी यह तत्व अपने सरलतम रूप में अविकृत रह सकता है इसका प्रमाण प्राचीन ग्रीक नाटक—विशेष कर इसकिलस के नाटक—हैं।) और न नाटकीयता के अधिक अनुकूल नयी कविता का ज़टिल संवेद-स्वर ही उभरने पाया है। एक दुविधा पाठक के मन में हमेशा बनी रहती है—यदि वह गीति-तत्व में ही तन्मयता का अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने लगे तो लेखक ने नाटक में पाठक से इससे अतिरिक्त की माँग करने के लिए जो सामग्री जुटायी है उसकी अवहेलना लगती है, और यदि जटिल जीवन-रूपों की नाट्य-क्षमता को उद्घाटित करने वाली नयी कविता के अनुरूप काव्य-नाटक की अपेक्षा करने लगता है तो लेखक की मूल भाव-प्रकृति को देखते हुए यह उससे अनुचित माँग करने लगता है। इस विरोधाभास की सृष्टि स्वयं लेखक के ही हाथों हुई है जो उसके कला-व्यक्तित्व की विडंबना है। 'एक कंठ विषपायी' उस विरोधाभास को एक बोझके समान धारे हुए है: उसकी ट्रेजेडी यह है कि वह न तो उसे झेल सकता है न फेंक सकता है।

—मलयज,
१४७ मोहतशिमगंज,
इलाहाबाद-३।

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले युगप्रभात में हिंदी-अहिंदी-भाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारावाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में युगप्रभात जनप्रिय होता जा रहा है।

वार्षिक चंदा – छह रुपया

मैनेजर 'युगप्रभात'
कालिकट, केरल

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपत्तिका

• •

नयी कहानी : एक परिसंवाद पर टिप्पणी

समकालीन साहित्य और उसकी समस्याओं को ले कर इधर गोष्ठियों की जो एक बाढ़ आ गयी है उसका मतलब यही नहीं है कि एक व्यापक स्तर पर लेखक समकालीन रचना की शक्ति, संभावना और विवेचन-मूल्यांकन की समस्याओं के प्रति सजग हैं और सक्रिय रूप से आलोचनात्मक चिंतन को विकसित करने में योगदान करना चाहते हैं। दुर्भाग्य से इसका मतलब यह भी है कि इन गोष्ठियों के माध्यम से अक्सर कुछ लेखक या उनके गुट दूसरे लेखकों या गुटों की निंदा और भर्त्सना करना चाहते हैं। फिर गोष्ठियों का दुरुपयोग अपनी मनचाही सार्वजनिक 'इमेज' प्रचारित-प्रतिष्ठित करने के लिए भी किया जा सकता है। वैचारिक आदान-प्रदान और वैयक्तिक राग-द्वेष के बीच संतुलन कितना नाजुक है यह तो दिल्ली में इधर हो रही तमाम गोष्ठियों में कुछ न कुछ महसूस होता रहा है, पर पिछली ११ और १२ अप्रेल को 'मनीषा' द्वारा 'कहानी : नयी कहानी' पर आयोजित विचारगोष्ठी में यह अनुभव पहली बार भयंकरता की सीमा तक पहुँच गया।

नये लेखकों के एक समुदाय ने कुछ प्रतिष्ठित 'नये' कहानीकारों की आलोचनात्मक स्थापनाओं और गुटबंदी पर वैचारिक स्तर पर प्रहार न कर के (वैसा प्रहार प्रासंगिक होता और आज ज़रूरी भी हो गया है क्योंकि कुछ लोकप्रिय कहानी-मासिकों के माध्यम से ये कहानीकार-आलोचक नयी कविता, नयी कहानी बल्कि समूचे नवलेखन की अतर्कित व्याख्या कर साधारण पाठक की दृष्टि को भ्रांत कर रहे हैं और 'एकेडेमिक' आलोचकों की तरह उसके मन में नवलेखन के प्रति छद्म प्रगतिशीलता का सहारा ले कर कुछ नये पूर्वग्रह स्थापित कर रहे हैं) उनके निजी जीवन-व्यापार की बातों को काफ़ी कुरुचिपूर्ण ढंग से सामने ला कर कुतर्कों से अपनी बात कहना पसंद किया। नतीजा यह हुआ कि उनके वक्तव्यों में (जैसे श्री महीप सिंह और श्री धर्मेंद्र गुप्त के वक्तव्यों में) नयी कहानी की कोई व्यवस्थित और विचारणीय आलोचना और धारणा तो प्रकट हुई नहीं, एक तरह का क्षुब्ध सर्वहारापन भर व्यक्त हो सका जिसे गुटबाज़ी और भ्रांतियों के संदर्भ में रख कर उन्होंने कुछ दूसरे 'नये' कहानीकारों के लिए मान्यता प्राप्त करने की कोशिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की। इसे आकस्मिक तो नहीं माना जा सकता कि इस वर्ग के सभी वक्ताओं और निबंध-लेखकों के पास निंदा करने के लिए एक ही सूची थी और उसे अपनी समझ से ध्वस्त कर के प्रशंसा करने के लिए एक दूसरी सूची। अक्सर ट्रेड यूनियन के नेताओं की तरह की 'सादगी' और आक्रामकता उनकी धारणाओं में थी और उनकी सारी चर्चा 'नयी कहानी' पर नहीं, नये कहानीकारों पर केंद्रित रही। सब से दुखद विस्मय की बात तो यह लगी कि वैयक्तिक राग-द्वेष के कीचड़-उछाल की श्री जैनेंद्रकुमार ने, जो पूरे आयोजन के पीछे सब से बड़ी प्रेरणा शक्ति थे, न सिर्फ़ निंदा नहीं की बल्कि यह कह कर ताईद कर दी कि ऐसा होना अंततः स्वास्थ्य के लिए आवश्यक और गुण-कारी है। स्वास्थ्य की यह अद्भुत धारणा है जो मानती है कि एक-दूसरे की टोपी उछालना, साहित्यिक चर्चा में लेखकों के निजी जीवन का पर्दाफ़ाश कर अपने को दिग्विजयी या तर्क में प्रबलतर समझना स्वस्थ मानसिकता के लक्षण हैं! यीट्स की कुछ पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं:

द' बेस्ट लैक ऑल कन्विक्शन
व्हाइल दि वर्स्ट
आर फ़ुल ऑफ़ पैशनेट इंटेंसिटी।

गोष्ठी में एक ओर जहाँ अर्थच्युत आक्रामकता थी तो दूसरी ओर अप्रासंगिकता जो हमारी गोष्ठियों में हमेशा बहुतायत से पायी जाती है। गोष्ठी का आरंभ ही हुआ श्री मन्मथनाथ गुप्त के आलेख से जिसमें उन्होंने साहित्य का उद्देश्य 'रस, रसद और राहत' देना बताया और तरह-तरह के घोषणात्मक सामान्यीकरणों द्वारा यह स्थापित करने की कोशिश की कि साहित्य इस उद्देश्य में तभी सफल हो सकता है जब वह समाजवाद और उसकी शक्तियों से सहयोग करे। कहानी के विशिष्ट संदर्भ को ध्यान में रख कर उन्होंने बहुत कम कहा था। और कहानी पर आयो-जित विचारगोष्ठी में उसे स्थान क्यों दिया गया यह समझ में नहीं आ सका। गोष्ठी के अंतर्गत हुई दूसरी बैठक में श्री मुद्राराक्षस के आलेख से पहली बार नयी कहानी के संबंध में कुछ ठोस प्रश्न उभरने शुरू हुए। उन्होंने श्री मोहन राकेश और श्री कमलेश्वर की नयी कहानी संबंधी लेखमालाओं की चर्चा करते हुए उन पर गुटबाज़ी का आरोप लगाया और उन्हें ले कर नये लेखकों में व्याप्त आक्रोश को जायज़ ठहराया। उन्होंने कहा, जहाँ नये कवियों द्वारा की गयी आलोचना सुव्यवस्थित आत्मविश्लेषण थी वहाँ इन लेखकों की आलोचना सुगठित आरोपण है। उन्होंने विस्तृत विश्लेषण करते हुए इन 'नये' कहानीकारों के नये 'युगबोध' को संदिग्ध बताया और कहा कि **"नये के नाम पर जो प्रचारित हुआ है वह बेहद पारंपरिक है। हर बदले हुए युग का कलाकार कुछ इमारतें तोड़ता रहा है और पुराने वाले पर ही नये फ़्लैट बनाता रहा है। यह एक जड़ परंपरा है। नया वह है जिसने नया फ़्लैट ही नहीं बनाया है, नयी जगह भी चुनी है। नया लेखक किन्हीं मर्यादाओं के तोड़ने की चिंता नहीं करता। नयी मर्यादा स्थापित करना भी एक परंपरा है जिसे नया लेखक छोड़ चुका है। इसीलिए उसकी नयी इमारत किसी भी इमारत जैसी नहीं है।"**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नया कहानीकार वह नहीं है जो बदलते संबंध (कमलेश्वर), बदलती मनःस्थिति (राजेंद्र यादव) और बदलते मूल्य—टूटती मर्यादाओं (मोहन राकेश) की कहानियाँ लिखता है—नया वह है जिसके लिए परिस्थिति अब बदल नहीं रही बल्कि बदल चुकी है। आगे श्री मुद्राराक्षस ने कहा : **"इधर जहाँ कुछ पुरानी दृष्टियाँ कहानी के माध्यम से नयी घोषित कर के प्रस्तुत की जा रही हैं वहाँ अर्धभुक्त मौलिकता के आग्रह के कारण नयी कविता पर कुछ आरोप भी लगाये जा रहे हैं। इन आरोपों की भाषा संयोगवश ठीक वही है जो पुरानी कविता के समर्थकों ने नयी कविता की निंदा के संदर्भ में प्रयुक्त की थी। नयी कविता एक अलग अनुशासन है। उस पर बोलने से पहले यह आवश्यक होगा कि उस स्तर के चिंतन का अभ्यास कर लिया जाय।"**

श्री ओमप्रकाश दीपक ने 'नये' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि इस शब्द का प्रयोग यूरोप में इस शताब्दी के आरंभ में पहली बार हुआ था। आधुनिक भारतीय लेखक के अकेलेपन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इसकी पड़ताल की जानी चाहिए कि हमारे यहाँ भी संस्कृति और जीवन के हर स्तर पर वही स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं—जिनसे 'नया' साहित्य यूरोप में संभव हुआ था। श्री कमलेश ने कहा कि कहानी को ले कर इधर जो लंबी-चौड़ी बहसें हुई हैं उन्हें वे केंद्रच्युत जान पड़ती हैं क्योंकि कहानी पर स्वतंत्र रूप से और उसे उपन्यास से जोड़ कर देखे बिना कोई अर्थपूर्ण चर्चा नहीं हो सकती।

गोष्ठी के अंतर्गत हुई तीसरी और आख़िरी बैठक श्री जैनेंद्रकुमार के एक लंबे वक्तव्य से शुरू हुई। उन्होंने कहा कि युगबोध-जैसी कोई चीज़ नहीं होती, केवल व्यक्तिगत भावबोध ही होते हैं। लेखक समय के प्रति रहता है। रोमान्स को पुराना मान कर नया लेखक उसे छोड़ रहा है और इसे प्रतिष्ठा देने के लिए कहता है कि जीवन में ही रोमान्स नहीं है। उन्होंने कहा कि जीवन में इतनी लड़कियों के रहते अकेलापन क्यों और कैसे है, उनकी समझ में नहीं आता। अकेलापन, जैनेंद्र जी ने कहा, गर्व की वस्तु नहीं है। नये लेखक को सलाह देते हुए उन्होंने कहा कि उसे अतिबौद्धिकता से बचना चाहिए और रोमान्स से नहीं घबराना चाहिए। इन सारी बातों के उत्तर में सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि नये लेखक ने कुछ भी इसलिए नहीं छोड़ा है कि वह पुराना है बल्कि इसलिए कि वह अपर्याप्त या निरर्थक हो गया है या उसकी रचनात्मक संवेदना उसके माध्यम से अपने को अर्थपूर्ण ढंग से प्रतिफलित नहीं कर सकती। रोमान्स अगर छूट गया है तो इसीलिए कि वह एक तरह का सरलीकरण है। फिर भी, नया कहानीकार उसके तत्वों को नये संयोजनों में प्रयुक्त कर रहा है। रहा अकेलापन, सो वह नये लेखक के लिए एक दुखद किंतु अनिवार्य स्थिति है—समकालीन मानवीयता का लगभग स्थायीभाव। लड़कियों के होने न होने से अस्तित्वमूलक समस्याएँ उठतीं या समाधान पा जाती हैं, यह धारणा अपनी मासूमियत के बावजूद हास्यास्पद ही है।

श्री रवींद्र कालिया ने कहा कि पिछले दशक की कहानी को यदि विहंगम-दृष्टि से देखा जाय तो यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि कहानीकारों ने युग-यथार्थ की संपूर्ण विषमताओं, विडंबनाओं और विसंगतियों को झेला और उनकी तीव्र अभिव्यक्ति भी की। उन्होंने पूर्ववर्ती कहानी की सीमाओं को समझा था और उन्हीं में से संभावनाओं की खोज की थी। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज जहाँ एक ओर कहानी के प्राचीनतम रूप क़िस्सागोई से आगे नहीं बढ़ पायी, दूसरी ओर धर्मवीर भारती आदि कथाकारों ने क़िस्सागोई की शैली को नये संदर्भ दिये। कुतूहलपूर्ण घटना-संघटन को अस्वीकार कर इन कथाकारों ने दैनंदिन जीवन के मार्मिक प्रसंगों, मूडों और सूक्ष्म अनुभव-खंडों को प्रश्रय दिया। शिल्प के क्षेत्र में सांकेतिकता, सूक्ष्मता तथा प्रतीकात्मकता के सफल प्रयोग भी हुए। यह एक विचित्र बात है कि इन कहानीकारों ने जहाँ एक ओर दक़िया-नूसी घेरों से मुक्ति प्राप्त की, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने लिए या अपने गिर्द बहुत-सी लक्ष्मण-रेखाएँ खींच लीं। इस प्रवृत्ति से जहाँ एक ओर कहानी के सस्ते और टिकाऊ फ़ार्मूले बन गये हैं वहाँ दूसरी ओर विकासक्रम कुंठित हो रहा है। किसी ने अपनी सुविधा के लिए समानांतर कहानी का अर्थ ही नयी कहानी समझ लिया है और किसी ने बस्ती, ग्राम, क़स्बा, नगर, महानगर पर लिखी कहानियों या कैशोर भावुकता और भाषा-टेक्सचर को ही नयी कहानी का पर्याय मान लिया है। श्री कालिया ने कहा कि वस्तुक्षेत्र में इन कहानीकारों ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष को ही उद्घाटित किया। वे जीवन या अस्तित्व की मूलभूत समस्याओं के प्रति निरपेक्ष रहे हैं। विज्ञान के द्रुत विकास के बावजूद, जिनसे सारा विश्व आक्रांत है, इन कहानियों में भय, मृत्यु, आत्महत्या, विज्ञान और दर्शन की आंशिक झलक भी नहीं मिलती। जीवन की असंगतियों और विडंबनाओं ने नये कहानीकारों को विचलित अवश्य किया परंतु वे इनकी भौतिक व्याख्या से आगे नहीं बढ़ पाये। जीवन के व्यावहारिक पक्ष के उद्घाटन के प्रति भी इनका 'फ़ोटोग्रैफ़िक' या 'जर्नलिस्टिक एप्रोच' ही रहा। अधिकांश कथाकार सामाजिक संगठन को किसी नये संदर्भ में नहीं देख पाये। इस दृष्टि से निर्मल वर्मा अपवाद हैं। उनके यहाँ वैज्ञानिक विस्तार तथा प्रावि-धिक विशिष्टीकरण से सामाजिक संरचना में निरंतर अकेले होते जा रहे व्यक्ति का चित्रण है। जहाँ एक ओर इस दशक के बहुत से कहानीकारों का भावात्मक स्तर छिछले फ़िल्मी स्तर या गीतकारों के भावात्मक स्तर के समानांतर रहा है, वहाँ दूसरी ओर अधिकांश कहानीकारों का भावबोध, अनुभवक्षेत्र तथा वस्तु का कैनवस बहुत सीमित रहा है। अंत में श्री कालिया ने कहा: **"जो नये कवि कहानीकार के रूप में सफल हुए हैं उनकी कविताओं और कहानियों में संचेतना का विरोध लक्षित होता है जो कलाकार के 'कमिटमेंट' के प्रति पाठकों को आशंकित करता है। इस पर उन लोगों द्वारा भी विचार किया जा रहा है जो संवेदना के किसी ठोस आधार पर 'नयी' विशे-षण को नयी कविता के समानांतर नहीं पा रहे हैं। वे अपनी सुविधा के अनुसार नयी कविता में केवल कुंठा, निराशा, आस्था, पराजय, अकेलापन इत्यादि देख रहे हैं और कहानी में उन्हें आस्था, विश्वास और विजय के स्वर सुनायी देते हैं। वस्तुतः स्थिति यह है कि नयी कहानी के बहुत से कुंठित, आत्मरतिलीन और 'न्यूरॉटिक' कहानियों के लेखकों को स्तंभ-लेखकों द्वारा भी नये कहानी-कारों के रूप में मान्यता दी जाती रही है। संभ्रांति की इस स्थिति में संचेतना के आधार पर 'नयी' विशेषण को तर्कसिद्ध करना संभव नहीं जान पड़ता। . . . कहानी में नयापन या दक़ियानूसीपन कुछ नहीं होता। नैतिकता या अनैतिकता का अस्तित्व भी संदिग्ध है। केवल अर्थ होता है, जिसकी अब तक उपेक्षा होती रही है।"**

श्री देवीशंकर अवस्थी ने नये-पुराने के द्वंद्व को व्यर्थ या अप्रासंगिक मानने वाली दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से असहमत होते हुए कहा कि ऐसा द्वंद्व नये मूल्यों की समग्रता का सूचक है और एक प्रकार के 'चैलेंज' और 'काउंटर-चैलेंज' प्रस्तुत कर के रचना के लिए उत्तेजक सिद्ध होता है और बौद्धिक वातावरण को भी अधिक सचेत बनाता है। पर नया मात्र काल-सापेक्ष नहीं है, वह एक मूल्य है। एक ओर जहाँ वह अनुभव की प्रामाणिकता के लिए आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर समसामयिक वास्तविकता की तफ़सीलें देने वाले झूठे या छद्म नये की पहचान के लिए भी ज़रूरी है। संपूर्ण यथार्थ संपूर्ण संसार है, पर हम उसमें से कुछ तस्वीरें अपने लिए चुनते हैं। यथार्थ से उनका बाह्य साम्य महत्वपूर्ण नहीं है और न वह निरर्थक है: उनकी सचाई-झुठाई इस पर निर्भर करती है कि उनकी यथार्थ के सार-तत्व से कहाँ तक सहमति या असहमति है। श्री अवस्थी ने कहा कि आधुनिकता इसीलिए वास्तविक संसार को व्यक्त करने का ढंग ही नहीं, उसे समझने और विन्यस्त करने की दृष्टि भी है। इसकी दो विधियाँ हैं: काव्यात्मक अंतर्दृष्टि और गद्यात्मक विधि। पहली बिंबप्रधान और आत्मपरक होती है और दूसरी सामाजिक और निजी ब्योरे देने वाली। पहली में मूल्यों का एक अपना संसार होता है और दूसरी में सामाजिक मूल्यों का संदर्भ। जब सामाजिक मूल्य टूट जाते हैं तो वास्तविकता को काव्यात्मक धरातल पर अधिक सार्थक ढंग से ग्रहण किया जा सकता है। जब वास्तविक जीना सामाजिक जीवन से विच्छिन्न हो जाय तो काव्यात्मक स्तर पर ही जीवन-मूल्यों को उपलब्ध और प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

श्री श्रीकांत वर्मा ने कहा कि नये की परिभाषा नहीं की जा सकती। उसकी व्याख्या नयी रचनाएँ स्वयं हैं। अकेलापन और सामाजिकता परस्पर-विरोधी शब्द नहीं हैं। आज की स्थिति ने नये लेखक को बाध्य किया है कि वह अपने अंदर के सत्य को दस्तावेज़ के रूप में रखने का प्रयत्न करे। सच्ची नयी कहानी एक ऐसा रचना-प्रकार है जिसमें सभी कलाओं के तत्वों का संयोग हुआ है और इस तरह कहानी निरंतर कविता के निकट आयी है। उन्होंने निर्मल वर्मा और प्रबोधकुमार के उदाहरण देते हुए कहा कि आज की कहानी समूची संवेदना से उत्पन्न कलावस्तु है। कहानी और कविता में इस निकटता का एक प्रमाण यह भी है कि कविता की तरह ही नयी कहानी का सार-संक्षेप नहीं प्रस्तुत किया जा सकता: वह एक संश्लिष्ट कलाकृति है। नव-लेखन में इधर सामाजिकता के आधार पर कुछ विशेष कहानीकारों की जो निंदा हुई है उसके प्रसंग में श्री वर्मा ने कहा कि नया लेखक अगर यह ईमानदारी से व्यक्त कर रहा है कि हम किस दुनिया में पैदा हुए हैं और कहाँ मरने को बाध्य हैं तो उसकी सामाजिक उपयोगिता असंदिग्ध है। साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है—श्री वर्मा ने कहा, और समूची दुनिया में आधुनिक साहित्य की उपलब्धियों ने सिद्ध कर दिया है कि उसे किसी बृहत्तर वैचारिक सत्ता से जोड़ना ज़रूरी नहीं है। साहित्य-जगत में नयी कहानी को ले कर जो बहस हो रही है उसके निम्न स्तर की भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा कि यह बहस व्यवहार, चरित्र और आलोचना के संकट की सूचक है।

श्री नामवर सिंह ने गोष्ठी में हुई चर्चा का समापन किया। नयी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि कहानी की आलोचना में अनुभूति, संदर्भ, संवेदना जैसे शब्दों का प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि आलोचना की एक नयी भाषा विकसित हो रही है जो रचना में हुए मौलिक परिवर्तन की सूचना देती है। हिंदी कहानी का जन्म राष्ट्रीय संग्राम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ हुआ था और उसमें दूसरा मोड़ हमारे राष्ट्रीय जीवन के एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन के साथ आया : वह परिवर्तन था १९५२ में नये संविधान और प्रजातंत्र का समारंभ। यह समय मोहभंग का भी था और नये स्वप्ननिर्माण का भी। हमारे साहित्य में एक नयी स्वतंत्रता आयी जिसने पहले-पहल अपने को कविता में प्रतिफलित किया और एक वादमुक्त, तटस्थ कविता—नयी कविता—ने जन्म लिया। इसी नयी संवेदना ने आगे चल कर अपने को कहानी के क्षेत्र में भी व्यक्त किया। आज की कहानी पहले की तरह न तो त्रिकोणात्मक है और न ही कोई नैतिक पहेली। बल्कि अब कहानी में ज़िंदगी की एक फाँक प्रस्तुत की जाती है—ऐसी फाँक जिसमें एक भी जीता-जागता रेशा नष्ट न हुआ हो। आज की कहानी इसीलिए पहले की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट है और उसे किसी सार-संक्षेप द्वारा नहीं कहा जा सकता। उसमें जटिलता का बोध भी अधिक सक्रिय है और यह उसमें आयी परिपक्वता का एक प्रमाण है। जिस तरह नयी कविता में 'इंटिग्रिटी ऑफ़ इमोशन' पर बल दिया जाता है, उसी तरह आज का कहानीकार भी जो महसूस नहीं करता, नहीं कहता। अनभूति के प्रति ईमानदारी और उसकी सचाई का विचार भी कहानी में इधर प्रबल हुआ है। इसे स्पष्ट करते हुए श्री नामवर सिंह ने कहा कि पहले के लेखक के लिए ईमानदारी 'दी हुई' थी जब कि आज के लेखक के लिए वह एक ज्वलंत समस्या है। पहले के साहित्य का संदर्भ परिभाषित था जब कि नये साहित्य का अपरिभाषित है, उसी तरह जैसे हमारा राजनीतिक संदर्भ अधिकतर अपरिभाषित ही रह गया है।

—अशोक वाजपेयी,

बी। २५ निजामुद्दीन पश्चिम,

नयी दिल्ली।

['प्रचार या व्यभिचार?' : उत्तर—पृष्ठ १०८ से आगे]

प्रार्थना करता हूँ—भारत की एकता के एकमात्र स्वत्वाधिकारी ! कृपया आप अपने ठेठ हिंदी राज्यों में सरकारी, ग़ैर-सरकारी संस्थानों तथा विद्या-केंद्रों में सफलतापूर्वक पूरा का पूरा हिंदी का उपयोग कर दिखायें। बाद को पड़ोसी की बदनीयती, पाखंड, दंभ इत्यादि पर कीचड़ उछालें तो उसका कुछ असर रहेगा, और आपके इस 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' का भी कुछ अर्थ निकलेगा।

आर० शौरिराजन,

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा,

मद्रास - १७।

[हम श्री शौरिराजन को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हमारा विरोध अस्यस्थ, अकल्याणकर प्रवृत्तियों से है, व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से नहीं। यह मानने में किसे आपत्ति हो सकती है कि दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा ने बहुत 'श्लाघ्य' कार्य किया है; पर यदि वह कोई ऐसा कार्य करती है जो उचित नहीं है, तो उसकी ओर भी ध्यान दिलाया ही जायगा। इन प्रचार सभाओं की व्यावहारिक कठिनाइयों के उल्लेख के कारण श्री शौरिराजन का पत्र निःसंदेह उपयोगी हो गया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। संपादक।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रचार या व्यभिचार ?' : उत्तर

'माध्यम' के अक्तूबर अंक में 'हिंदी जगत' स्तंभ में 'प्रचार या व्यभिचार ?' शीर्षक के अंतर्गत संपादकीय वक्तव्य तथा उसका उत्तेजक एक निचले स्तर का पत्र, जो बदरीविशाल पित्ती, संपादक 'कल्पना', हैदराबाद का था, दोनों को पढ़ा।

न केवल दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के कार्यकर्ता के नाते, अपितु एक हिंदी-प्रेमी दाक्षिणात्य के नाते भी, मुझे उस अविवेकपूर्ण वक्तव्य तथा उस निकृष्ट उद्रेक के पत्र को पढ़ने से अत्यंत दुख हुआ। इधर यथार्थ स्थिति का बोध करा देना उचित समझता हूँ।

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की प्रांतीय सभाएँ (शाखाएँ) दक्षिण के चारों राज्यों में संस्थापित हैं जो, केंद्रीय सभा, मद्रास के तत्वावधान में हिंदी-प्रचार कर रही हैं। केंद्रीय सभा की प्रमुख योजनाएँ तथा गतिविधियाँ एक प्रमाणीकृत कार्यकारिणी समिति द्वारा निर्धारित एवं परामर्शित हुआ करती हैं। इस समिति के सदस्यों में चारों दक्षिणी राज्यों के लब्धप्रतिष्ठ गांधीवादी हिंदी-प्रेमी (हिंदी-भाषी नहीं) व्यक्ति होते हैं, जो बहुधा वकील, डाक्टर, समाजसेवी आदि प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित लोग हैं। इन लोगों की जनसाधारण में ही नहीं, सरकारी-ग़ैरसरकारी संस्थानों में भी पहुँच और पूछ है। ये हिंदी न समझ सकने पर भी हिंदी के प्रेमी होते हैं और हिंदी प्रचार के भरपूर सहायक होते हैं। उस समिति में हिंदी जानने वाले सदस्य भी हैं, जो अल्पसंख्यक होते हैं। ऐसे सदस्यों की कार्यकारिणी समिति प्रत्येक प्रांतीय सभा की अपनी-अपनी अलग होती है। वहाँ के अहिंदीभाषी (हिंदी न जानने वाले) हिंदी-प्रेमी सदस्यों के सहयोग से उन प्रांतों में हिंदी-प्रचार का कार्य हो रहा है। इस दिशा में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा ने बहुत श्लाघनीय कार्य किया है। यों तो यहाँ के गतिरोधों और हिंदी-विरोधी आंदोलनों के ज़बर्दस्त फैलाव को देखते हुए सभा की साधना का मूल्य और अधिक ही आँका जाता है।

सभा की कार्यकारिणी समिति की बैठक की कार्यवाही के विवरण अंग्रेज़ी में केवल उन अहिंदीभाषी सदस्यों के लिए तैयार किये जाते हैं। इधर हिंदी में कार्यवाही नहीं होती है, किंतु कार्यवाही के विवरण तथा प्रतिवेदन, प्रस्ताव आदि हिंदी में तैयार किये जाते हैं। उनके संक्षिप्त रूप या कभी-कभी समग्र रूप केंद्रीय सभा की मुखपत्रिका 'हिंदी प्रचार समाचार' में नियमतः प्रकाशित होते हैं, जो हज़ारों हिंदी-प्रचारकों के पास प्रतिमास पहुँचती है।

कार्यकारिणी समिति की बैठक की कार्यवाही को पूर्णतया हिंदी में चलाना फ़िलहाल असाध्य है। हिंदी जानने वाले व्यक्ति ही उक्त समिति के सदस्य चुने जायें, ऐसा नियमन करना, अच्छा लगने पर भी, व्यावहारिक नहीं हो सकता। सभा का मुख्य उद्देश्य है कि दक्षिण में अधिकाधिक लोगों में हिंदी भाषा का थोड़ा-बहुत प्रचार हो, और साथ-साथ दक्षिणी भाषाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के संवर्द्धन में भी यत्किंचित योग दे। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए जिन सज्जनों के संबल और सहारे लेने से काम में प्रगति हो सके, उनका तिरस्कार, इस कारण से कि वे हिंदी नहीं जानते हैं, कदापि नहीं हो सकता है। मुख्यतया उक्त समिति के सदस्य, सभा के हिंदी-प्रचारकों तथा अनुदाताओं से चुने जाते हैं। और यह भी एक सुलभ मार्ग है कि कोई भी प्रतिष्ठित हिंदी-प्रेमी पाँच सौ रुपये का अनुदान दे कर उक्त समिति का सदस्य हो सकता है। ऐसी हालत में, उस समिति की बैठक में केवल हिंदी का उपयोग करना हास्यास्पद होगा।

जैसे पित्ती जी ने आरोप लगाया कि 'अपना काम अंग्रेज़ी में चलाने वाली यह संस्था है'—बिलकुल ग़लत है। सभा के समस्त आंतरिक कार्यकलाप हिंदी में ही होते हैं। विवशतावश कुछ पत्र-व्यवहार (हिंदी न जानने वालों के साथ) अंग्रेज़ी में होता है।

पित्ती जी के उस निम्नस्तर के पत्र से कुप्रभावित हो कर संपादकीय वक्तव्य में लिखा गया है '. . .हिंदी-प्रचार का डंका पीटते हुए हर प्रकार के व्यवहार में एक ऐसी भाषा का प्रयोग करना, जो हिंदी के आसन पर कुंडली मार कर बैठी हुई है, दूसरी बात। . . .अब यदि हिंदी-प्रचार का बीड़ा उठाना है और अंग्रेज़ी को व्यवहार की भाषा के रूप में बरतना बद-नीयती नहीं, और भूलचूक या अनवधभी नाता नहीं, तो क्या है? पाखंड?'—यह आप (ऐसे 'श्रेष्ठ' संपादकीय के पाठक) खुद सोचें।

मान्य बंधु! आपकी (हमारी भी होगी भविष्य में) सूर-शोभित, तुलसी-विलसित, वीरगाथा-गर्जित, बहुप्रदेश-प्रचलित हिंदी के सिंहासन पर अंग्रेज़ी 'हिंदी के साथ व्यभिचार करने वाली' अहिंदी वालों की हिंदी प्रचार सभा या ऐसी सभाओं के कारण कुंडली मार कर नहीं बैठी हुई है। वह शासकवर्गीय भाषा अपने बल पर बैठी थी और इसलिए भी बैठी थी कि हिंदी वालों ने अपनी मातृभाषा (हिंदी) के साथ किये . . . (पित्ती जी का वह प्रिय शब्द इधर लीजिए) . . . के कारण, और आज भी उसी कारण का प्रभाव पा कर बैठी हुई है; मेरा अनुमान है कि और भी दो-तीन दशक तक बैठी ही रहेगी। (मैं ऐसा शाप नहीं देता हूँ, ऐसा होने की इच्छा भी नहीं रखता हूँ।)

इधर एक ज्वलंत सत्य का निवेदन कर देना प्रासंगिक समझता हूँ : अधिकांश तथा-कथित हिंदी वाले अपनी संतानों को पढ़ायी के लिए कान्वेंट में ही भेजा करते हैं, बाद को उन हिंदी वाली (कान्वेंटी) संतानों के लिए इस संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक स्वतंत्र गणराज्य की यह राजधानी महामहिम हिंदी उतनी ही श्रमसाध्य तथा दुरूह हो जाती है, जितनी इधर के अहिंदी वाले हिंदी छात्रों के लिए है।

मैं इधर 'हिंदीभाषी' के बदले 'हिंदी वाले' का प्रयोग इसी हेतु कर रहा हूँ कि हम हिंदी वाले न होने पर भी हिंदी जानते हैं, बोलते हैं, लिखते हैं, सिखाते भी हैं। अतः 'हिंदीभाषी' होने का अधिकार हमें भी प्राप्त है। यह भी मानने की बात है कि कई अहिंदी वाले हिंदी-भाषी हिंदी वालों के समान, कहीं-कहीं उनसे बढ़ कर भी, अच्छा बोलते हैं, लिखते हैं और सिखाते भी हैं—हिंदी में! 'हिंदी वालों' से मेरा तात्पर्य है, जिनकी मातृभाषा हिंदी हो वे, और वे भी जो हिंदी के दंभी कठमुल्ले होते हैं।

अपने प्रिय बंधु उन हिंदी वालों से—हाँ, पित्ती जी जैसे रोषाविष्टों से भी—मैं सविनय

[शेष पृष्ठ १०६ पर]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफ़ेद दाग़

सतत प्रयत्न एवम अत्यधिक परिश्रम के बाद तैयार की गई हमारी परीक्षित दवा से हज़ारों रोगियों ने रोगमुक्त होकर प्रशंसा-पत्र भेजे हैं। यदि इस रोग से पीड़ित हों तो आज ही दवा मँगाने के लिए लिखें। प्रचारार्थ १०,००० रोगियों को दवा मुफ्त देने का प्रबंध किया गया है।

●

आयुर्वेद सेवाश्रम (एच)
पोस्ट—कतरी सराय (गया)

फील (हाथी) पाँव

हमारी आयुर्वेदिक दवा के सेवन से विना चीड़ फाड़ तथा विना इंजेक्शन के यह रोग अच्छा हो जाता है। यदि रोग से पीड़ित हों तो आज ही दवा मँगा लें। प्रचारार्थ १००० रोगियों को आधी कीमत पर ही दवा दी जायेगी। विवरण पत्रिका मुफ्त मँगायें।

●

बनर्जी फार्मेसी (एच)
पोस्ट—कतरी सराय (गया)

स्थापित : १८९०

तार : नमकीन **टेलीफोन : ५१७६**

जीवन तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए सदैव शुद्ध देशी घृत द्वारा निर्मित खाद्य पदार्थों का प्रयोग कीजिए

शुद्ध देशी घी द्वारा निर्मित
स्वादिष्ट नमकीन के प्रसिद्ध विक्रेता

हरी राम एण्ड संस
१६, लोकनाथ, इलाहाबाद

सभी प्रकार की नमकीन आर्डर देने पर देश में सर्वत्र पार्सल द्वारा भेजी जाती है।

बिस्कुट के लिए...पालिश के लिए
तेल या वेजीटेबिल घी के लिए
जिस काम के लिए भी
टिन के डिब्बों की जरूरत पड़े
गोल, चौकोर, सादे या छापेदार,
आप हमें लिखिए...

मेटल कन्टेनर्स प्राइवेट लि०
ई–१३, उद्योग नगर
नैनी, इलाहाबाद

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगले १० वर्षों की विश्वसनीय लीज़ पर

ज्ञानोदय

एक	*नई*
समकालीन	*कहानी की*
कथा-नगर	*शोभायात्रा*

- इस कथा नगर में १६ सेक्टर हैं : असमिया, उर्दू, उड़िया, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, नेपाली, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी और हिन्दी के।
- हर सेक्टर में अलग-अलग नाम के भवन हैं : गल्परेइ गल्प, माँ-पुत्तर, असे, अंधाराचा अर्थ मंजड्र तुणि, स्नेहितुलु, यह रचना : वह रचना, शप्पथ . . .
- हर कथा-भवन पर नेम-प्लेट लगी हैं : शंकर, संदीपन चट्टोपाध्याय, अजीत कौर, नवतेजसिंह, सुरेश जोशी, चन्द्रकान्त बक्षी, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, विजया राजाध्यक्ष, गुनो सामताणी, अरविन्द गोखले, बलराज मैनरा, मोहनदत्त पंत, वासुदेवन नायर, कुटुम्बा राव, रंगनादन ती० ज० रा०, फणीश्वरनाथ रेणु . . .
- 'समकालीन कथा-विश्लेषण' के सभाभवन में आपको मिल सकते हैं : जैनेन्द्रकुमार, अश्क, इलाचन्द्र जोशी, कर्तारसिंह दुग्गल, अमृता प्रीतम, गुलाबदास ब्रोकर, शिवकुमार जोशी, लालपुष्प, मोहन कल्पना, कृष्णचन्दर, अब्बास, विमल मित्र, प्रेमेन्द्र मित्र, एम० एस० कृष्णमूर्ति, मल्लेश्वर राव, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि।
- 'कथान्तर' काफ़ी-हाउस में इनकी मेज़ें सुरक्षित हैं : कमलेश्वर, मासूम रज़ा राही, श्रवण कुमार वर्मा, गंगाधर गाड़गील, मधु राय, मोतीलाल जोतवाणी, शौरिराजन, शक्ति, रवीन्द्र कालिया, विमल आदि।
- 'कथा-दिशा' के चौराहे पर किसी से भी आपकी मुलाक़ात हो सकती है : शिवप्रसाद सिंह लक्ष्मीनारायण लाल, प्रेम कपूर, सोभावीरा, शानी, परेश, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, शैलेश मटियानी, मुद्राराक्षस, मधुकर गंगाधर, प्रयाग शुक्ल, हृदयेश आदि से।
- वहाँ एक 'ला बोहिम' भी है——बालकृष्ण राव, मन्मथनाथ गुप्त, मलयज, कंचनकुमार वहाँ चर्चा पर चर्चा कर रहे हैं।
- कुछ नीली रोशनियाँ ये हैं : मूल त्रिकोण का फेर, नई कहानी की शोभायात्रा, कहानी : भाषा-वैज्ञानिक की दराज़ में, इतिहास, समय और कहानी, कथा-अलबम, ५० साल हिन्दी कहानी के . . .
- कुछ सूचनाएँ : पाठक और ग्राहक के रूप में हर भाषा और हर वेष के व्यक्ति का स्वागत। नो प्रोहिबिशन। ४०० सुमुद्रित पृष्ठों, २५ से अधिक कहानियों, संग्रहणीय परिसंवादों, विवादास्पद प्रश्नों का यह विशेषांक पहली नवम्बर को उपलब्ध। दिसम्बर पूरक-विशेषांक।

ज्ञानोदय——९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता——२७ से नवम्बर में प्रकाश्य 'समकालीन भारतीय कहानी विशेषांक' के बारे में पूछिये। वितरण कार्यालय भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गा-कुण्ड रोड, वाराणसी को १० रुपया भेज कर वर्ष भर के लिए ग्राहक बन कर, २ रु० का विशेषांक साधारण मूल्य में प्राप्त कीजिए।

एकमात्र वितरक हैं : बेनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी, बम्बई–१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या आप

मुक्ता से

पूरी तरह परिचित हैं ?

मुक्ता के हर अंक में :

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों का निर्भीक लेखाजोखा—जो हिंदी की किसी अन्य पत्रिका में आपको शायद ही मिले। दलबंदी एवं तथाकथित वादों को चुनौती देने वाला स्वस्थ साहित्य—जो आप का भरपूर मनोरंजन करेगा, प्रेरणा देगा और मानसिक स्तर ऊँचा उठाएगा। ज्ञानविज्ञान के नये-नये विषयों पर बिल्कुल नयी सामग्री—जो आप को आधुनिक बनाए रखने में सबसे अधिक योग देगी।

सरिता सामाजिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र में सबसे आगे है, और उसकी पूरक मुक्ता राजनीति, कला व ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में

आज ही नमूने की प्रति के लिए निम्न पते पर लिखिए :

मुक्ता • रानी झांसी रोड • नयी दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय विद्या भवन की हिन्दी पाक्षिक पत्रिका

भारती

[भवन की पत्रिका]

अब सर्वस्वीकृत रूप से हिन्दी की एकमात्र सांस्कृतिक पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी है। उसे पढ़ना आपके लिए अनिवार्य है; क्योंकि :

- 'भारती' भारतीय धर्म, अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, लोक-जीवन, संस्कृति और साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका होने के नाते, केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं है। उसमें भारत के सभी प्रदेशों और भाषाओं के प्रतिनिधि कवियों, कथाकारों और विचारकों की कृतियों का समावेश होता है।
- हमारी दृढ़ प्रतीति है, कि आज की मरणोन्मुख मानवता का परित्राण भारत माँ के हाथों ही होगा। विश्व-मानवता के आगामी विकास का नेतृत्व भारत ही करेगा। इसीसे **'भारती'** के पृष्ठों में संसार के सभी विभिन्न देशों के अग्रदूत चिन्ता-स्वामियों, सांस्कृतिक नेताओं, मानव हितैषियों और साहित्यकारों की शक्तिशाली आवाजों का संगम होता है।
- अवतारों, योगियों और महापुरुषों की प्रेरक जीवन कथाएँ; जाने-अनजाने सन्तों, भक्तों, मर्मियों के रोचक जीवन-वृत्त; अलौकिक अनुभवों और दैवी चमत्कारों की सच्ची घटनाओं से संबंधित लेख; मरणोत्तर जीवन, पूर्व जन्म-स्मृति और अगोचर लोकों से सम्पर्क संबंधी खोजपूर्ण लेख; विज्ञान की नवीनतम प्रगति और भावी मानवता के सर्वाङ्गीण विकास के सूचक लेख; तांत्रिक और यौगिक साधना पर वैज्ञानिक प्रकाश डालनेवाले लेख तथा धर्म और विज्ञान के समन्वय पर गहन चिन्तन और खोजपूर्ण लेख **'भारती'** के अपने विशेष आकर्षण हैं।
- **'भारती'** ऊँचे स्तर के पाठकों की बौद्धिक भूख तो तृप्त करती ही है, पर वह सबसे पहले सामान्य जन की पत्रिका है। ज्ञान-विज्ञान की ऊँची से ऊँची बात को वह सरल, सुबोध बना कर सामान्य जन तक पहुँचाती है। **'भारती'** की सामग्री एक बारगी ही रोचक, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होती है।
- **'भारती'** का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है।

१ प्रति का मूल्य ३० न. पै.

भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई – ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा का सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक कोश

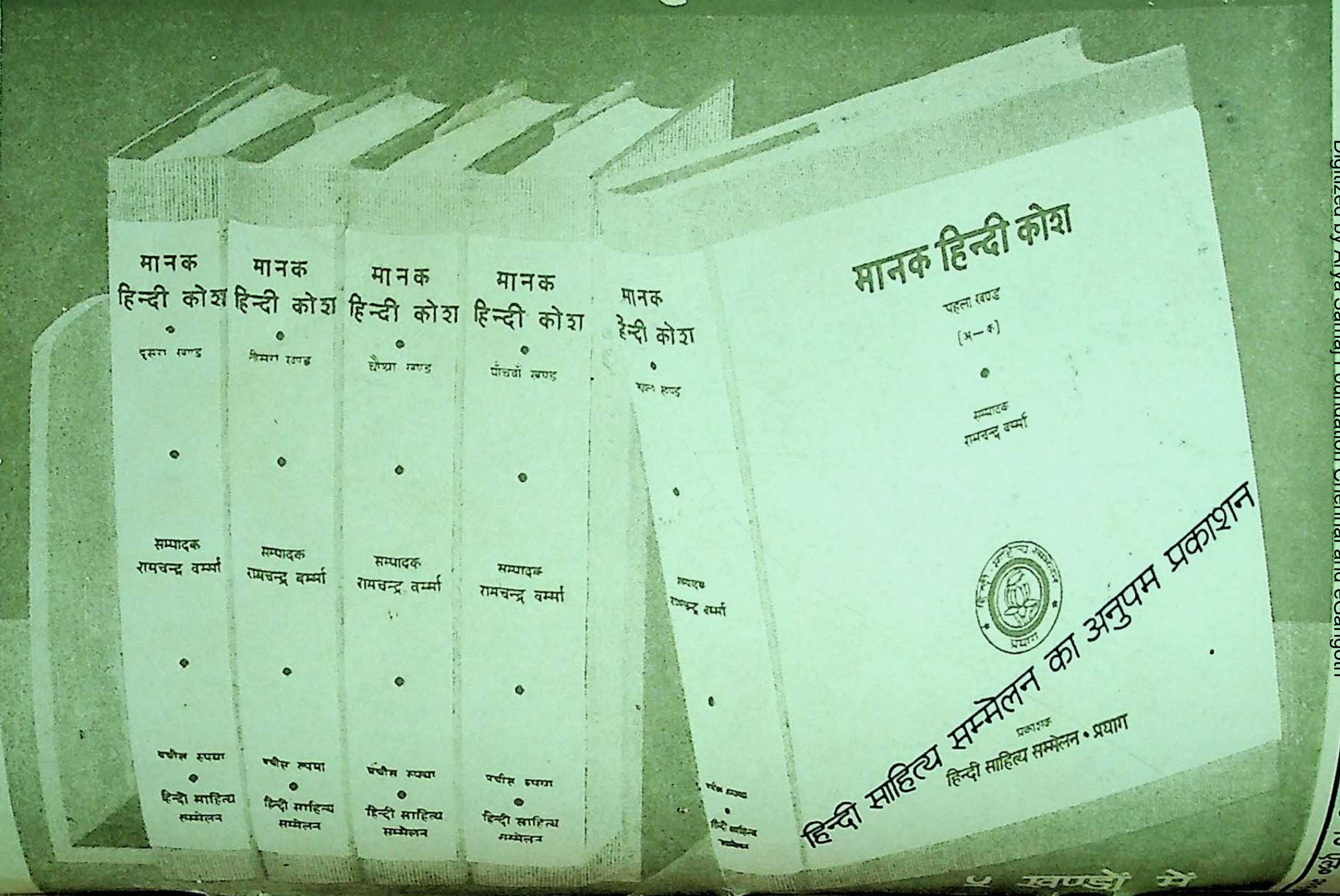

५ खण्डों में

प्रथम तीन खण्ड प्रकाशित

आकार

डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

प्रथम खण्ड – २१९४८

द्वितीय खण्ड – २११२७

तृतीय खण्ड – २३६५३

पृष्ठ संख्या

प्रथम खण्ड – ६१८

द्वितीय खण्ड – ५९९

तृतीय खण्ड – ६७०

•

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपए

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

रजिस्टर्ड नं० एल० ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

संपादक - बालकृष्ण राव

वर्ष १ : अंक ८
दिसंबर १९६४

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय विद्या भवन की हिन्दी पाक्षिक पत्रिका

भारती

[भवन की पत्रिका]

अब सर्वस्वीकृत रूप से हिन्दी की एकमात्र सांस्कृतिक पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी है। उसे पढ़ना आपके लिए अनिवार्य है; क्योंकि :

- 'भारती' भारतीय धर्म, अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, लोक-जीवन, संस्कृति और साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका होने के नाते, केवल हिन्दी तक ही सीमित नहीं है। उसमें भारत के सभी प्रदेशों और भाषाओं के प्रतिनिधि कवियों, कथाकारों और विचारकों की कृतियों का समावेश होता है।

- हमारी दृढ़ प्रतीति है, कि आज की मरणोन्मुख मानवता का परित्राण भारत माँ के हाथों ही होगा। विश्व-मानवता के आगामी विकास का नेतृत्व भारत ही करेगा। इसीसे **'भारती'** के पृष्ठों में संसार के सभी विभिन्न देशों के अग्रदूत चिन्ता-स्वामियों, सांस्कृतिक नेताओं, मानव हितैषियों और साहित्यकारों की शक्तिशाली आवाजों का संगम होता है।

- अवतारों, योगियों और महापुरुषों की प्रेरक जीवन कथाएँ; जाने-अनजाने सन्तों, भक्तों, मर्मियों के रोचक जीवन-वृत्त; अलौकिक अनुभवों और दैवी चमत्कारों की सच्ची घटनाओं से संबंधित लेख; मरणोत्तर जीवन, पूर्व जन्म-स्मृति और अगोचर लोकों से सम्पर्क संबंधी खोजपूर्ण लेख; विज्ञान की नवीनतम प्रगति और भावी मानवता के सर्वाङ्गीण विकास के सूचक लेख; तांत्रिक और यौगिक साधना पर वैज्ञानिक प्रकाश डालनेवाले लेख तथा धर्म और विज्ञान के समन्वय पर गहन चिन्तन और खोजपूर्ण लेख **'भारती'** के अपने विशेष आकर्षण हैं।

- **'भारती'** ऊँचे स्तर के पाठकों की बौद्धिक भूख तो तृप्त करती ही है, पर वह सबसे पहले सामान्य जन की पत्रिका है। ज्ञान-विज्ञान की ऊँची से ऊँची बात को वह सरल, सुबोध बना कर सामान्य जन तक पहुँचाती है। **'भारती'** की सामग्री एक बारगी ही रोचक, मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होती है।

- **'भारती'** का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है।

१ प्रति का मूल्य ३० न. पै.

भारतीय विद्या भवन, चौपाटी रोड, बम्बई – ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत सरकार की ओर से भेंट
गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष १ : अंक ८

दिसंबर १९६४

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

संपादकीय ३

मुक्तिबोध की स्मृति में ६ अज्ञेय, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह

लेख

काव्य में गीत-तत्व की सनातनता १५ गंगाप्रसाद पांडेय

ऐतिहासिक चिंतन-प्रक्रिया और कल्पना ३० गोविंदजी

साहित्यवाचस्पति बख्शी जी : कुछ निकट से ५१ अशोककुमार झा

कविताएँ

माया-दर्पण २२ श्रीकांत वर्मा

तीन छोटी कविताएँ ४२ कृष्णनंदन 'पीयूष'

छायाएँ गिरती हैं; ग्रीष्म ४३ प्रभात

कहानी-पुराख्यान

आश्रित ९ ज्योत्स्ना देवधर

राजधर्म २५ गोस्वामी रामबालक

अंधड़ और छप्पर ४४ भक्त विनायक

सहवर्ती साहित्य

सिंधी भाषा और साहित्य ५७ एन० एन० बठेजा

दो कविताएँ ६० परसराम ज़िया; दयाल 'आशा'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भारत सरकार के ओर से भेंट

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष १ : अंक ५
दिसंबर १९६४

संपादकीय ३

मुक्तिबोध की स्मृति में ६ अज्ञेय, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह

लेख

काव्य में गीत-तत्व की सनातनता १५ गंगाप्रसाद पांडेय
ऐतिहासिक चिंतन-प्रक्रिया और कल्पना ३० गोविंदजी
साहित्यवाचस्पति बख्शी जी : कुछ निकट से ५१ अशोककुमार झा

कविताएँ

माया-दर्पण २२ श्रीकांत वर्मा
तीन छोटी कविताएँ ४२ कृष्णनंदन 'पीयूष'
छायाएँ गिरती हैं; ग्रीष्म ४३ प्रभात

कहानी-पुराख्यान

आश्रित ९ ज्योत्स्ना देवधर
राजधर्म २५ गोस्वामी रामबालक
अंधड़ और छप्पर ४४ भक्त विनायक

सहवर्ती साहित्य

सिंधी भाषा और साहित्य ५७ एन० एन० बठेजा
दो कविताएँ ६० परसराम जिया; दयाल 'आशा'

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैंकुंठनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

संपादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया
वार्षिक : दस रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

का नवाँ अंक

प्रस्तुत कर रहा है :

- 'कुछ कैफ़ियत'--जैनेन्द्र के विचार तथा वासुदेव-शरण अग्रवाल और किशोरीदास वाजपेयी के ज्ञानवर्धक लेख।
- पंत, दिनकर और सर्वेश्वर की कविताएँ।
- कुँवरनारायण की प्रतीकात्मक व्यंग्य-कहानी।
- केशवचंद्र वर्मा द्वारा 'वाङ्मय परिमर्दनम्'।
- रवींद्र कालिया द्वारा प्रस्तुत पंजाबी का 'सहवर्ती साहित्य'।
- नवीन-कृत 'हम विषपायी जनम के' पर भारतभूषण अग्रवाल की विवेचना।
- गोष्ठी-प्रसंग, डायरी, समीक्षा तथा पुनर्विचार।

गाँव का गौरव (कहानी) ६२ लोकनाथ जेटले

विवेचना और समीक्षाएँ

'शहर में घूमता आईना' ६८ बच्चनसिंह
गोष्ठी-प्रसंग : 'विवेचना' ७७ विवेचक
प्रत्यूष की भटकी किरन यायावरी ८१ भारतभूषण अग्रवाल
कुतुबन-कृत मृगावती ८१ माताप्रसाद गुप्त

प्रतिपत्तिका

आज के संकट में एक खास आदमी की जिम्मेदारी ८४ रघुवीर सहाय
पी० ई० एन० द्वारा आयोजित लेखक-सम्मेलन ९१ महेशप्रसाद जायसवाल

प्रत्यालोचन-पुनर्विचार

शमशेर. . .आईने के पीछे ९८ श्याम परमार
'बाँस का पुल' और लक्ष्मीकांत वर्मा १०२ अमीक़ हनफ़ी

पाठकों के पत्र १०८

●●

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

●

आवरण-चित्र : लक्ष्मीचंद्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

●●

२६ जनवरी १९६५ और हमारी तैयारियाँ

२६ जनवरी १९६५ के लिए अब पूरे दो महीने भी नहीं हैं। उस दिन हिंदी औपचारिक, वैधिक रूप से भारत की राजभाषा बन जायगी। करोड़ों भारतवासियों की दृष्टि में उनका देश सच्चे और पूरे अर्थ में उसी दिन स्वतंत्र होगा, उसी दिन मदनमोहन मालवीय और पुरुषोत्तमदास टंडन की भगीरथ-साधना सफल होगी। राम का राज्याभिषेक उनके युवराज-पद पर प्रतिष्ठित किये जाने के संकल्प के चौदह वर्ष बाद हुआ था; हिंदी राजभाषा के रूप में स्वीकृत किये जाने के पंद्रह वर्ष बाद अपना पद ग्रहण करेगी। निश्चय ही भारत के इतिहास की महत्वपूर्ण तिथियों में २६ जनवरी १९६५ का एक विशिष्ट स्थान है—अपने अनेकानेक शताब्दियों के इतिहास में भारत कभी जनता के द्वारा, जनता की अपनी भाषा के माध्यम से, शासित नहीं हुआ था। व्यावहारिक, राजनीतिक अर्थ में देश का स्वाधीन होना उसके जन-मानस की मुक्ति की तुलना में ओछा ही ठहरेगा। अतः २६ जनवरी १९६५ को १५ अगस्त १९४७ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण तिथि मानना उचित होगा।

पर क्या सचमुच हम इस तिथि को इतना महत्व दे रहे हैं? समस्त भारतीय जनता की बात न भी करें, अपनी दृष्टि केवल हिंदीभाषी प्रदेशों तक ही सीमित रखें, तो भी क्या हम यह कह सकते हैं कि लोग बड़े उत्साह के साथ २६ जनवरी १९६५ की प्रतीक्षा कर रहे हैं? अपने चारों ओर हमें कहीं, कोई लक्षण इस उत्साह के दिखायी देते हैं? और यदि नहीं, तो क्यों नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर देना गंतव्य और गति का तुलनात्मक परीक्षण करना है। पिछले पंद्रह वर्षों से अपने गंतव्य की ओर हम जिस गति से बढ़ते रहे हैं वह यही देख कर जानी जा सकती है कि हम आज उस दायित्व को उठाने के लिए कितने तैयार हैं जो २६ जनवरी १९६५ से हमारे कंधों पर आ जायगा। इसी तैयारी के लिए न हमने पंद्रह वर्षों का समय लिया था? तो फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब जब कि चौदह वर्ष और दस महीने तैयारी करते बीत चुके हैं, क्या हम तैयार हैं ? शायद ही कोई इसके उत्तर में स्पष्ट और दृढ़ स्वर में 'हाँ' कहने का साहस करे।—पर नहीं, इसके उत्तर में शायद यह कहा जायगा कि **"बात हमारे तैयार होने की नहीं थी। हम तो शुरू से ही तैयार थे। दिक़्क़त जो थी वह तो इसकी थी कि हमारी भाषा ही तैयार नहीं थी, उसे ठीक-ठाक कर के, गढ़-छील के, बना-सँवार के, इस योग्य बनाना था कि वह एक विराट आधुनिक देश की राजभाषा बन सके। पंद्रह वर्ष का समय इसी काम के लिए लिया गया था, और वह नाकाफ़ी साबित हुआ। हिंदी ने तरक़्क़ी बहुतेरी की है, मगर अभी वह बात पैदा नहीं हो पायी जिसके बग़ैर काम नहीं चल सकता। हिंदी कुछ दिन अंग्रेज़ी के साथ चले, धीरे-धीरे अंग्रेज़ी की जगह उससे काम लिया जाय, तो ज्यों-ज्यों वह काम लायक़ साबित होने लगेगी, दफ़्तरों में चलने लगेगी, त्यों-त्यों अंग्रेज़ी की जगह लेती जायगी।"**

मानो कोई ऐसा नया कारख़ाना या ऐसी नयी प्रयोगशाला शुरू करने की बात हो जिसे चलाने के लिए ज़रूरी तकनीकी जानकारी रखने वाले अभियंता और वैज्ञानिक भारत में नहीं हैं। मानो विदेश से विशेषज्ञ बुलाये गये हैं, ऊँची-ऊँची तनख़ाहों पर नियुक्त किये गये हैं, और अब यह चाहिए कि हमारे होनहार अभियंता, कारीगर और वैज्ञानिक इन विदेशी उस्तादों के साथ काम करें, उन्हें काम करते देखें, उनसे सीखें, इस लायक़ बनें कि जब वे न रहें तब सारा काम ख़ुद सम्हाल सकें। पंद्रह वर्ष का समय इन सबको कार्यदक्ष बनाने के लिए यथेष्ट नहीं था—इतने दिनों में तो वे इस क़ाबिल हो पाये हैं कि काम सीखना शुरू करें। और फिर इसी की क्या ज़रूरत है कि विदेशी उस्ताद चले ही जायँ? यह स्वदेश-विदेश वाली बात भी कोई बात है ? हम युग-युग से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मानने वाले क्या आज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' से लुढ़क कर 'कुटुम्बकमेव वसुधा' के अंधकूप में गिर जायँगे ? कहाँ की बुद्धिमानी है यह ? इसके सिवा यह भी तो सोचना है कि कहीं अहिंदी-भाषी बिगड़ न खड़े हों, देश का संघटन ही न ख़तरे में पड़ जाय। अंग्रेज़ी को अभी रहने दिया जाय, धीरे-धीरे, रेंग-रेंग कर, सरक-सरक कर, बिना खटपट किये, बिना किसी को चौंकाये, खिझाये, नाराज़ किये, कालांतर में हिंदी अपनी जगह पहुँच ही जायगी। इसमें तो कोई शक है ही नहीं कि एक न एक दिन हिंदी इस देश की राजभाषा हो कर रहेगी—गांधी जी तो गांधी जी, जवाहरलाल जी भी यही कह गये हैं। तो फिर परेशानी किस बात की है, उतावली की क्या ज़रूरत है ? माना कि २६ जनवरी १९६५ को कुछ होना चाहिए, कुछ कहा जाना चाहिए, कुछ किया जाना चाहिए, जिससे यह मालूम हो कि संविधान के आदेश का पालन हुआ, कि नया युग शुरू हो गया। तो ठीक है, उतना भर कहने-करने का इंतज़ाम कर लिया गया है। स्वराष्ट्र-मंत्री नंदा जी ने साफ़-साफ़ कह तो दिया है कि भारत सरकार २६ जनवरी १९६५ से हिंदी को राजभाषा बनाने के लिए कटिबद्ध है।

गत ६ अक्तूबर को 'हिंदी सलाहकार समिति' की बैठक में बोलते हुए नंदा जी ने कहा कि समिति का यह सुझाव वे स्वीकार करते हैं कि सरकार एक परिपत्र प्रकाशित कर के 'हिंदी की क़ानूनी स्थिति' को स्पष्ट कर दे—ताकि इस बारे में फैली सारी ग़लतफ़हमी दूर हो जाय। (चौदह वर्ष दस महीने 'ग़लतफ़हमी' फैली रही, अब एक वक्तव्य से वह दूर कर दी जायगी!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सो भी तब जब कि 'हिंदी की क़ाननी स्थिति' को व्यावहारिक स्तर पर स्वतः स्पष्ट बनाने की नौबत आ गयी है !)

इस बैठक में चार उपसमितियों द्वारा की गयी कुछ सिफ़ारिशें स्वीकृत हुईं जिनमें से जो विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती है वह इस आशय की है कि स्वराष्ट्र मंत्रालय सभी मंत्रालयों से एक विशेष प्रतिवेदन प्राप्त करे जिसमें प्रत्येक मंत्रालय यह बताये कि उसने अब तक 'हिंदी के क्रमिक प्रयोग के लिए' क्या-क्या उपाय किये और आगे क्या-क्या करने जा रहा है। (जब तक यह प्रतिवेदन तैयार हो कर स्वराष्ट्र मंत्रालय में पहुँचेगा तब तक शायद २६ जनवरी १९६५ एक दम सिर पर आ चुकी होगी। और जब तक उस पर विचारादि की प्रक्रिया पूरी होगी तब तक तो शायद. . .। पर नहीं, उतावली की क्या ज़रूरत है—कालोह्ययं निरवधिः।)

इससे जनता ख़ुश न होगी क्योंकि जनता को क्या पता कि किस-किस तरह के प्रतिवेदन कौन किससे मँगाता रहता है। आयोजन ऐसा होना चाहिए कि जनता को भी मालूम हो जाय कि २६ जनवरी १९६५ आ गयी—और संविधान के आदेश का पालन होने लगा। इसलिए **"२६ जनवरी १९६५ के बाद संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए जितने भी फ़ार्म आदि छापे जायँ उनमें हिंदी पहले आनी जाहिए और अंग्रेज़ी उसके बाद।"** और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा क्यों किया जाना चाहिए : **"मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह वांछनीय है कि २७ जनवरी १९६५ को इस प्रकार के कुछ फ़ार्म जारी किये जायँ।"** अगली स्वीकृति में यह उद्देश्य (कि कुछ स्पष्ट दीख पड़ने-समझ में आने वाली बात की जानी चाहिए) और भी साफ़ हो जाती है : **"२७ जनवरी १९६५ से सभी मंत्रालयों से हिंदी भाषाभाषी प्रदेशों में कुछ पत्र हिंदी में भेजे जायँ, जिससे कि लोगों को यह पता चल जाय कि हिंदी ने संघ की राजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है।"**

यह है असली बात : 'लोगों को पता चल जाय' ! लोगों को पता चले तो कैसे—क्योंकि गंतव्य से हम कोसों दूर हैं और भ्रम इसका उत्पन्न करना है कि गंतव्य तक पहुँच गये, इसलिए ये सारे आयोजन किये जा रहे हैं। तैयारी की तो यह हालत है कि आज भी हिंदीभाषी प्रदेशों के आकाशवाणी केंद्र हिंदी में वार्ता प्रसारित करने के लिए हिंदी के लेखकों के पास अनुबंधपत्र अंग्रेज़ी में भेजते हैं। और क्यों न भेजें ? कितने हिंदी वाले उन्हें इस कारण अस्वीकृत करते हैं कि वे हिंदी में नहीं हैं ? देश का कौन-सा काम है जो हिंदी के माध्यम से न करने के कारण नहीं हो पा रहा है ? किसके सलाम बंद हैं, किसके पयाम बंद हैं ? तो फिर मजबूरी किसे, किस तरह की है ? काफ़ी है कि जो भी किया जा रहा है वही हो रहा है, वर्ना २६ जनवरी १९६५ के बाद भी लोगों को पता तक न चल पाता कि हिंदी ने संघ की राजभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है। अकबर इलाहाबादी का शेर याद आता है। २६ जनवरी १९६५ के बाद हम हिंदी के बारे में वही कहने की स्थिति में हो जायँगे जो अकबर ने मिसेज़ बेसेंट के लिए कहा था :

अब मिसेज बेसेंट नज्मों में कहानी बन गयीं,
राज हम पायें न पायें वह तो रानी बन गयीं।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की स्मृति में

चुकती साँसें

●●

(१० सितंबर १९६४ को लिखित भावचित्र, जब मुक्तिबोध अचेतनावस्था में पड़े थे)

कोई एक कारवाँ हमसे हो कर गुज़र जाता है। और हम सोयें रहते हैं। यह कितनी बड़ी बात हो जाती है। हवा हवा होती है। हमें उसका ख़याल नहीं रहता। ज़बान पर तीखी शिकायत, फिर भी चुप। लहकता हुआ जलवा आँखों में। दामन पर ख़ून के दाग़। बात बोलते हुए। पहाड़ माथे पर टूटता हुआ। दिल में रक्त-शिराओं जैसे फूलते हुए जोंक।

और हम सोचते हैं—दर्द बस हमीं को होता है। परेशानियाँ हमारी ही जान खाती हैं। दूसरा कोई मरता भी रहे तो यकीन नहीं होता। हमें हरदम एक ग़लत अंदाज़ हो जाता है। और फिर तो सब ग़लत—यह दर्पण तक अंधा हुआ रहता है। मछली मछली को खाती है। साँप अपना अंडा ख़ुद पी जाता है। और सब ठीक-ठाक चलता है। कोई किसी का बच्चा चुरा लेता है। गाना सिखा कर उससे भीख मँगवाता है। (और वह कला को पेट पर ओढ़े चला करता है।) हमारी सभ्य भौंहों पर ज़रा बल पड़ता है। हम कुछ पैसे फेंक आगे बढ़ जाते हैं। कहते हुए—सब बदल जायगा। आदमी, मगर, काहिल-का-काहिल रह जायगा। और इस तरह आदमी से भिन्न हुए रहते हैं। जैसे आदमी नहीं हों।

और कुछ नहीं होता है। मीनारें उठती हैं, गिरती हैं। नदी बढ़ियाती है, सूखती है। ऋतुएँ बदलती हैं। और मौसम नये-नये रंग दिखलाता है। मगर हम वैसे ही चादर ताने रहते हैं। बाज़ार-भाव उठता है, गिरता है। फिर भी कोई बात नहीं होती। ग्रहण लगता है, उगरह भी होता है। सूरज की रोशनी में कमी नहीं होती। अंधकार, तौ भी, तगड़ा हुआ रहता है।

और कोई शख़्स दिन-रात जूझते हुए चलता है। हम अपनी जगह छाँह किये रहते हैं। या फिर, उसी की कोशिश में हाथ-पैर मारते हैं। जब उसकी साँस चुक जाती है, रुक कर ज़रा थाह ले लेते हैं। हुआ तो दबे-दबे यह भी कह लेते हैं—ग़ज़ब बात हो गयी! यह कैसी—कितनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी घटना है ! और कछुए जैसे अपने में, अपनी समझदारी में आखिर सिमट जाते हैं—यह जो आज की घटना है, नयी बात नहीं। ऐसा कब नहीं हुआ है—होता है !

—कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह,
२९ रसा रोड ईस्ट, फ़र्स्ट लेन, कलकत्ता-३३।

आत्मा के मित्र को स्नेहांजलि

●●

(दिल्ली में हुई शोकसभा में पठित वक्तव्य)

यह सभा, एक बंधु के निधन पर, एक कवि के अपने रचना-क्षेत्र से उठ जाने पर, दुख प्रकट करने और शोक-संतप्त परिवार को हम सब की समवेदना पहुँचाने के लिए एकत्र हुई है। बंधु की स्मृति से अभिभूत हो जाना स्वाभाविक है; कवि के कृतित्व के मूल्यांकन का यह अवसर नहीं है। गजानन माधव मुक्तिबोध की स्मृति में दो फूल चढ़ाते हुए, और उनके परिवार के दुख में साझा बटाते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि मेरी समझ में यह मुक्तिबोध के काव्य-कृतित्व की विशेष शक्ति थी कि हम उसे पढ़ते हुए भी 'बंधु' को 'कवि' से अलग नहीं कर सकते : उनके काव्य में हम कवित्व का उत्कर्ष ठीक उसी स्थल पर पाते हैं जहाँ हम उसमें बंधुत्व के भाव का तीव्रतर स्पंदन अनुभव करते हैं. . . .

मुक्तिबोध की पहली कविता मैंने पचीस-एक वर्ष पहले पढ़ी थी। यह अकस्मात नहीं कि उन पहले-पहल पढ़ी हुई कविताओं में जो मेरे मन में बैठ गयी उसका शीर्षक था—'आत्मा के मित्र मेरे'। उनकी अंतिम कविता जो मैंने पढ़ी वह सन १९६३ की लिखी हुई थी। और मुझे उन्होंने इस वर्ष के आरंभ में भेजी थी। इसका शीर्षक था—'एक आत्म-वक्तव्य'। इस लंबे अंतराल में हमारा मिलना कभी-कबाह ही होता रहा, पत्र-व्यवहार भी बहुत कम हुआ : पर जब नहीं हुआ तब कहीं कुछ टूट नहीं दीखी और जब फिर शुरू हुआ तो यह नहीं लगा कि कोई दूरी थी जिसे पाटना आवश्यक है। निजी संपर्क में बंधुत्व की यह सहजता ही मुझे मुक्तिबोध का सबसे उल्लेखनीय गुण जान पड़ता रहा—और मेरे लिए तो विशेष मूल्यवान गुण, क्योंकि मुझसे तो यह अपवाद-रूप ही सधता है जबकि वह हर किसी को वह सहजता दे सकते थे।

यह सहजता उनके काव्य पर भी छायी थी। उसमें अनगढ़ भी था, एक रूखापन भी, पर यह सहज भाव इस रूखेपन को भी उनके काव्य की शक्ति बना देता था। हर कवि अन्वेषी होता है; कुछ वस्तु का अन्वेषण करते हैं, कुछ समाज का, कुछ के और कई अन्वेषण हो सकते हैं। मुक्तिबोध (मेरी समझ में, और कई समीक्षकों की राय के बावजूद) आत्मान्वेषण के कवि थे। मैं तो इस बात को उनके काव्य और उनके कविता-संबंधी वक्तव्यों से प्रमाणित मानता हूँ। पर अभी इसका उल्लेख विवाद उठाने के लिए नहीं, उनके काव्य के सबसे बड़े गुण की ओर संकेत करने के लिए कर रहा हूँ। मुक्तिबोध आत्मान्वेषण के कवि थे, पर यह आत्मान्वेषण अपनी किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टता की खोज नहीं था, यह अपने उस रूप की खोज था जो कवि को पूरे समाज से, मानव मात्र से, मिला दे। कोई सोच सकता है कि कवि को आत्मान्वेषी कहना उसकी अवमानना करना है, पर मैं इसे कठिनतर यात्रा समझता हूँ और कवि मुक्तिबोध का विशेष सम्मान इसलिए करता हूँ कि वह आजीवन इस कृच्छ्र साधना में लगे रहे : अपने भीतर पैठना, पर पैठ कर उसे बाहर लाना जो अपना नहीं, सब का है। यह किसी के लिए भी कठिन कार्य है; मुक्तिबोध की परिस्थितियों में और भी कठिन था, पर वह निष्ठापूर्वक उसमें लगे रहे। 'आत्म-वक्तव्य' में उन्होंने लिखा था :

कुचले गये इरादों के बाक़ी बचे धड़
अधकटे पैरों ही से लात मार कर
अपने जैसे दूसरों के लिए
सब करते हैं दरवाज़े बंद....
अँधियाली गलियों में घूमता है
तड़के ही, रोज़ कोई मौत का पठान
माँगता है ज़िंदगी जीने का ब्याज;
अनजाना कर्ज़,
माँगता है, चुकारे में, प्राणों का मांस....

इन पंक्तियों की व्यथा से उनके संघर्ष का कुछ अनुमान हो सकता है। मेरी धारणा है कि उनका अन्वेषण सफल भी हुआ : वे अपने उस रूप को पहचान भी सके और दूसरों तक पहुँचा भी सके। इसका संतोष और विश्वास उनकी इधर की कविताओं की लंबाई और बिखराव के बावजूद उनमें झलकता है। वे हमारे बीच से असमय चले गये, पर यह सोच कर मुझे कुछ सांत्वना मिलती है कि वे कम से कम वहाँ तक पहुँच गये थे जहाँ कवि पूर्ण होता है। उस पूर्ण कवि का कृतित्व हम नहीं पाते रह सके, यह हमारा दुर्भाग्य है। पर उसकी उपलब्धि का स्पर्श हमें मिला है और मिलता रहेगा :

आत्मवत् हो जाय,
ऐसी जिस मनस्वी की मनीषा,
वह हमारा मित्र है,
माता-पिता पत्नी-सुहृद पीछे रहे हैं छूट
उन सब के अकेले अग्र में जो चल रहा है
वही तो आत्मा का मित्र है।

उस आत्मा के मित्र को, उस मित्र की आत्मा को मैं अपनी स्नेहांजलि अर्पित करता हूँ।

—'अज्ञेय',

डी १/२३ सत्य मार्ग, चाणक्यपुरी, नयी दिल्ली-१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योत्स्ना देवधर

••

कहानी

आश्रित

मालूम नहीं कब, शायद कल ही, या शायद आज ही, या हो सकता है अभी ही, लेकिन मेरे आँखें खोलने से ज़रूर पहले ही धुंधली संध्या कमरे में प्रवेश कर चुकी थी। मालूम नहीं मैं कब होश में आयी थी लेकिन उदास शाम मुझसे पहले कमरे में आ चुकी थी। आँखें मैंने खोलीं तो लेकिन मुझे सब कुछ अपरिचित-सा लगा था। सामने की खिड़की बंद थी। खुले आकाश को देखने की अदम्य इच्छा उठी मन में, लेकिन खिड़की पर जैसे काँच नहीं, टिन लगा हो। सब कुछ धुंधला था, मैला था, बीमार था। कहीं भी ज़िंदगी का उच्छ्वास नहीं था। लगा जैसे मैं भी साँस नहीं ले रही हूँ। ज़ोर से साँस लेने का प्रयत्न किया तो सीने में ताज़ी हवा के लिए जगह ही नहीं थी शायद। खिड़की का परदा खिड़की से जिस तरह चिपका पड़ा था, वैसे ही मेरा सीना, मेरे फेफड़े एकदम सिमट कर मेरे शरीर से चिपके पड़े थे। मुँह का स्वाद कड़ुवा था, बेहद कड़ुवा। मुँह जैसे नरमाई, गिलाई के सूख जाने से रेगिस्तान बन गया था। जीभ पर रेत बिछी थी। मेरे नरम, रसीले होंठों पर किसी जानवर की खाल जम गयी थी।

मेरा मन उदास-उदास हो गया, ग्लानि से भर आया। थक कर मैंने आँखें बंद कर लीं।

"अभी-अभी तो आँखें खोली थीं, फिर से बंद कर लीं।"—पिता जी के शब्द सुदूर से कानों पर आ पड़े।

"आज सुबह, जब से होश में आयी है, यही हालत है। जागती है, थक कर सो जाती है।"—माँ ने मेरे रूखे बालों पर हाथ फेरते हुए कहा।

"भगवान की कृपा, नहीं तो दीपा हमें बस छोड़ कर ही चली थी।"—पिता जी की थकी, धीमी आवाज़ आयी।

आँखें खोल कर मैं बोली: "पानी . . . ."

"ग्लूकोज डाल कर दूध पिला दो थोड़ा-सा।"—पिता जी ने कहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माँ गयी और पिता जी माला जपने लगे।

अचानक मेरे कानों पर किसी की हँसी, किसी की खिलखिलाहट पड़ी। लगा, यह तो कोई दूसरी दुनिया है, जहाँ सब सुखी हैं, कोई बीमार नहीं, कोई दर्द से कराह नहीं रहा। वहाँ तो ख़ुशियाँ मनायी जा रही हैं। साथ ही मिठाई की विशिष्ट ख़ुशबू आयी। शायद कोई पूरियाँ तल रहा था। सारा वातावरण घी के सुगंध से भरा था। और अचानक अनेक दिनों की सोयी भूख जाग उठी। पीठ से चिपका पेट जैसे भक्ष्य ढूंढ़ने लगा। इस समय तो दुनिया की सारी मिठाई, सारी पूरियाँ मैं अकेली ही खा लेती।

माँ आयी। बड़ी आशा से मैंने मुँह खोला तो माँ ने दूध नहीं, ग्लूकोज़ मिला पानी मुँह में डाला। मैंने अपने होंठ भींच लिये। माँ का काँपता हाथ मुँह तक आ कर रुक गया। पानी की कुछ बूंदें मेरे गले पर पड़ीं। मैं बेहद चिढ़ उठी। माँ ने चम्मच कप में रख कर अपने पल्लू से मेरा गला पोंछा। मैंने नाराज़ हो कर गरदन मोड़ ली। सीने पर रखे मेरे हाथ पर माँ के आँसू टपक पड़े। उन बूंदों को किसी ने नहीं पोंछा।

हम तीनों चुप थे कि फिर एक बार हँसी की गूँज से सारा घर भर गया।

माँ अपने आप को न बचा सकी। फूट-फूट कर रो पड़ी। पिता जी की ओर मुड़ कर बोली: "सुन रहे हो हँसी? मेवा-मिठाई बनायी जा रही है। दिवाली मनाएंगे। जानते हो, मेरी बेटी पूरे दो सप्ताह के बाद होश में आयी है। और तुम्हारे बेटे, बहुएँ, तुम्हारी भावज, भाई, भतीजे, सब दिवाली मना रहे हैं। हँस रहे हैं। मेरी दीपू के लिए दूध नहीं है और वहाँ मिठाइयाँ बन रही हैं। भगवान, यह सब देखने के पहले मैं ही क्यों न मर गयी!"

पिता जी उठे। माँ के पास आ कर बोले: "चुप हो जाओ, सुशीला। दीपा बहुत थक गयी है। तुम रोओगी तो उसे फिर से बुख़ार हो आएगा।"

मुड़ते हुए पिता जी बोले: "दीपा, अपनी माँ-सी सहनशील है, समझदार है।"

माँ ने आँखें पोंछ लीं। वे मेरे शरीर पर हाथ फेरती रहीं।

मेरी हड्डियों का ढाँचा दुखने लगा था। लगा, उठ कर चलने लगूँ तो एक-एक हड्डी बिखर जायगी। माँ का वाक्य मैं मन ही मन दोहरा रही थी, मर जाती तो कितना अच्छा होता। मेरा यहाँ कोई नहीं।"

और अचानक मुझे श्यामू की याद आयी।

"माँ, श्यामू नहीं दीख रहा?"—मैंने पूछा।

"जमाई बाबू आये थे। तुम्हारी सेहत एकदम बिगड़ गयी, हाथ की नाड़ी छूट गयी थी, तब उन्हें तार दे कर बुलाया था। आठ दिन रहे बेचारे। छुट्टी नहीं थी। चले जाना पड़ा। बेटी, नौकरी तो नहीं छोड़ी जा सकती। जाते समय श्यामू को लेते गये। दीपू, उस बच्चे की यहाँ देखभाल कौन करता? तुम्हारी बीमारी ने मेरी तो कमर ही तोड़ डाली। तुम्हारी जेठानी से हिला हुआ है, वे ले गये उसे अपने साथ।"—माँ ने कहा।

"आज सुबह तार दे दिया है कि तुम होश में आ गयी हो और अब ठीक हो, छुट्टी मिल गयी तो शायद आ भी जाएँ।"—पिता जी बोले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरी आँखों से आँसुओं की धारा फूट पड़ी। एकदम एकाकी, अनाथ, बेसहारा अनुभव किया मैंने अपने को। मेरे जीने-मरने का किसी को सुख-दुख नहीं हैं। माँ और पिता जी भी सफ़ाई दे रहे हैं। व्यर्थ है सब, झूठ है सब। बस सच यही है कि मेरी किसी को परवाह नहीं, माया, ममता, स्नेह नहीं। मर जाती तो कोई रोता तक नहीं। नौकरी बड़ी थी, मैं नगण्य! दूसरी बीवी मिलना आसान है, दूसरी नौकरी मिलना आसान नहीं। गये, और मेरे बेटे को भी साथ ले गये। वाह! मर जाती तो मेरी चिता में आग कौन देता? जाओ, सब चले जाओ और जा कर हँसो, मिठाइयाँ खाओ, गुलछर्रे उड़ाओ।

. . . .और मैं फूट-फूट कर रोने लगी। माँ और पिता जी घबरा उठे। माँ तो चिल्ला उठी : "रमेश . . . . रमेश . . . ."

रमेश भैया आये। बदन पर सिल्क का कुरता था। नयी धोती थी। मैंने आँखें भींच लीं।

"जाओ रमेश, डाक्टर को बुला लाओ। दीपा की हालत ठीक नहीं है।"

रमेश भैया बगलें झाँकने लगे। बोले : "इस समय तो डाक्टर मिलना मुश्किल ही है। कल सुबह बुलवा लूँगा।"

सुना और मेरा स्वाभिमान चोट खा कर जाग उठा। मैं एक ग़रीब की बीबी हूँ, इसलिए मुझसे इतनी रुखाई की जा रही है। अब पिता जी भी भैया के आश्रित बने बैठे हैं। डाक्टर को देने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं, इसलिए आनाकानी की जा रही है। बोली : "भैया, मैं एकदम ठीक हूँ। डाक्टर की कोई आवश्यकता नहीं।"

मुझे अपने आप पर अचरज हो रहा था। यह तो मेरी हमेशा की तेज़ आवाज़ थी। कहीं भी तो कोई बीमारी के थकान के लक्षण नहीं थे।

भैया चले गये।

माँ की ओर मुड़ कर मैंने कहा : "माँ, मैं अच्छी हूँ, एकदम अच्छी। चार दिन बाद ससुराल चली जाऊँगी।"

कम से कम दो महीने तो मुझे पलँग से उतरते लग जाएँगे, यह बात मुझे महसूस हो रही थी, माँ को भी मालूम थी। लेकिन मैंने कहा और माँ ने भी उत्तर दिया : "हाँ बेटी, जरूर जाना। अपने घर जल्द चली जाना।"

कमरे में अँधेरा प्रत्येक क्षण बढ़ता जा रहा था। हम तीनों चुप थे। पिता जी माला फेर रहे थे। बस उसी की हल्की-सी आवाज़ अचानक आ जाती और कुछ नहीं। अँधेरा भी अनबोला बढ़ता जा रहा था।

कोई आया, धीरे-से आया। आहट पा कर हम तीनों ने उस ओर देखा। कोई स्त्री थी। पिता जी उठ कर बाहर चले गये। माँ ने बत्ती जलायी।

काली, ठिगनी, दुबली-पतली इस बदसूरत औरत को देख कर मेरा जी अधिक उदास हो गया। लगा, दुनिया का सारा अशुभ इस कमरे में इकट्ठा हो गया है। भूख तो कब की मर चुकी थी। मुँह और भी कड़वा हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इन्हें तीरथ देने आयी हूँ . . .और पूजा का प्रसाद भी।"—उस औरत ने कहा। मुझे लगा कि किसी ने गाना गुनगुनाया। बेहद मीठी आवाज़ थी उसकी।

"प्रसाद तो क्या खाएगी बेचारी, आज ही होश में आयी है। हाँ, तीरथ मुँह में डाल दो।" —इतना कह कर माँ भी कमरे से बाहर चली गयीं।"

वह स्त्री मेरे पास आयी। अपना काला, आकारहीन हाथ बढ़ाते हुए बोली: "तीरथ लायी हूँ।"

लेकिन मेरी आँखों में परिचय न पा कर वह संकोचवश वैसे ही खड़ी रही।

कुछ क्षण मौन बीता। मैं उसकी ओर एकदम देख रही थी। बदन पर पुरानी, फटी साड़ी थी। ब्लाउज़ के रंग का पता नहीं चल रहा था। शरीर पर कोई गहना नहीं था। हाथों में काँच की चूड़ियाँ थीं। गले में मंगलसूत्र। बस। मोटी, छोटी-छोटी उँगलियों में अँगूठी नहीं थी।

काफ़ी कोशिश की, लेकिन मैं उसे पहचान न सकी।

"मैं लक्ष्मी,"—आखिर वह बेचारी अपना परिचय देते हुए बोली।

कालचक्र ज़ोर से घूमा और पांडुरंग की दुबली-पतली, साँवली आकृति मेरी आँखों के सामने स्पष्ट हो उठी। अपने बचपन में मैं जिसके साथ खेलती थी, वह पांडुरंग,—हमारे घर का आश्रित, ठाकुर जी की पूजा करने वाला पुजारी। पिता जी ने अपने वैभव-काल में अनेकों को आश्रय दिया था। कितने ही ग़रीब विद्यार्थी भोजन करने के लिए हमारे यहाँ आते थे। पांडुरंग को भी पिता जी ने मैट्रिक तक पढ़ाया, उसे नौकरी दिलवा दी। उसकी शादी में हर तरह की मदद की। उसी पांडुरंग की यह पत्नी है—लक्ष्मी।

मेरी आँखों में परिचय पा कर वह हँसी। हँसी निर्मल थी, बच्चों-सी निष्कपट, भोली।

"मनौती थी. . . .पूजा की. . . .आज ही. . . .तीरथ लायी हूँ।"—अटपटे टूटे शब्दों में वह बोली।

"कैसी मनौती ? माँ बनने जा रही हो ?"—न जाने क्यों चुभती आवाज़ में मैंने पूछा।

उसकी छोटी-छोटी आँखों में पानी भर आया। बोली : "नहीं दीदी, अभी तक गोद खाली है, शायद जन्म भर खाली ही रहेगी।"

मैं लज्जित थी। इस बीमारी ने मेरा शरीर खा डाला था, और मेरा शांत, प्रसन्न स्वभाव भी शायद।

मैंने मुँह खोला। बड़े जतन के साथ लक्ष्मी ने मेरे मुँह में तीरथ डाला।

"इन्होंने मृत्युंजय का पाठ किया था। पिछले कई दिनों से एकभुक्त हैं।"

"लक्ष्मी, इतना कड़ा अनुष्ठान क्यों ? पेट में गर्भ नहीं टिक पाता तो डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। ऐसी बातों में विज्ञान का आधार अधिक लेना चाहिए, धर्म का कम।"

लक्ष्मी ने अपने मोटे-से होंठ भींच लिये। उसके काले चेहरे पर तिरस्कार की घटा घिर आयी। क्षण भर रुक कर बोली :

"मैं जाती हूँ। खाना-वाना निबटना है। वे थक गये हैं। एकदम दुबला गये हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी नाराज़गी देख कर अचानक मेरे मन में उसके प्रति स्नेह उमड़ आया। उसके हाथ को छू कर पूछ बैठी :

"लक्ष्मी, तुमने भी व्रत रखा था? तुम भी एकमुक्त थीं?"

"हाँ, अनुष्ठान उन्होंने किया था। उपवास दोनों ने किया।"

"लक्ष्मी, आखिर बात क्या है? अनुष्ठान अकेले का, व्रत दोनों का, और तीरथ मुझे, तीसरे को?"

"हाँ, क्योंकि सब आपके लिए था।"

"मेरे लिए?"—मैंने चकरा कर पूछा।

"हाँ दीदी, आप काफ़ी बीमार थीं। बेहोश थीं। पता चला, तभी से उन्होंने मृत्युंजय का जप-तप शुरू किया। आज आप होश में आयीं तो पूजा की। तीरथ और प्रसाद आपको देने के बाद ही भोजन करने का निश्चय था।"

"लक्ष्मी, मुझे माफ़ कर दो।"—स्नेह और प्यार के बोझ से मैं दब गयी थी। मुझे हिचकी बँध गयी।

"दीदी, तुम्हारे इस निष्कपट स्वभाव पर ही वे तुम्हें इतना मानते हैं, तुम पर मुग्ध हैं!" —मेरे घुटने पर अपना हाथ फेरते हुए लक्ष्मी बोली।

मैंने अपना हाथ बढ़ा कर उसकी गोद में रख दिया। मेरा गोरा-गोरा दुबला-पतला हाथ उसकी फटी पुरानी साड़ी से स्नेह माँग रहा था, प्यार-दुलार, अपनत्व माँग रहा था। अचानक लगा, यह मेरा हाथ नहीं, उसकी फटी साड़ी से उसका असली रंग दीख रहा था। सफ़ेद, स्वच्छ, सश्रद्ध मन दीख रहा था।

मेरा हाथ अपने छोटे-छोटे आकारहीन हाथों में ले कर हौले से दबाते हुए वह बोली : "दीदी, कितनी मुलायम हो तुम! रेशमी साड़ी-सी!"

लक्ष्मी अपना अपमान भूल चुकी थी। वह नाराज़ नहीं थी। मेरी दुष्ट चोट वह पी गयी थी। इस कुरूप नारी के मन के इस दैवी रूप के सामने मैं नतमस्तक हो उठी। अपने प्रति ग्लानि से मेरा मन भर आया, साथ-साथ आँखें भी।

"रोओ मत दीदी! उन्हें कहूँगी तो वे रो पड़ेंगे। इन दिनों एकदम थक गये हैं। दुबला गये हैं। दीदी, वे बीमार पड़ गये तो मैं गरीब कहाँ जाऊँगी, क्या करूँगी?"

"लक्ष्मी, पांडुरंग खुद क्यों नहीं आया?"

अनजाने में फिर से चोट कर बैठी। बोल जाने के बाद पता चला।

लक्ष्मी चुप थी। उसके हाथ को धीरे दबाते हुए मैं बोली :

"कहने का मतलब है कि लक्ष्मी, तुम दोनों आते तो और भी अच्छा होता।"

"हाँ, मैंने आग्रह किया लेकिन उनका आना आपको अच्छा न लगे शायद, इस डर से आये नहीं।

"वाह यह भी कोई बात है!"

लेकिन मैं झूठ बोली थी। कई साल हो गये, मैंने उसकी पूछ-ताछ न की थी। उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शादी में शरीक़ होने का उसका बड़ा विनीत पत्र आया था, लेकिन मैं अपनी गृहस्थी में व्यस्त थी। बहाना बना कर गयी नहीं, न उसे कोई उपहार ही भेजा था। पत्र भी लिखा तो पिता जी को, उसे नहीं। सचमुच, मेरे जीवन में उसे कहीं भी तो कोई स्थान नहीं था।

लक्ष्मी शायद सारी बातों से परिचित थी। बोली : "दीदी, आप बड़े लोग हैं, हम गरीब। उन्होंने आपके घर का नमक खाया है। आप लोगों ने उन्हें आश्रय दिया, आप ही उनके सब नाते-रिश्ते हैं। आपकी बीमारी के बारे में सुना और होश-हवाश खो बैठे। घंटों ठाकुर जी के सामने पड़े रोते रहते, गिड़गिड़ा कर कहते : "भगवन, मेरी उम्र दीपा को लग जाए, उसे ठीक कर दो, चाहे तो मुझे उठा लो. . . ."

—कहते-कहते लक्ष्मी रो पड़ी।

"और लक्ष्मी, तुम ? तुम्हारे मन में क्रोध या द्वेष नहीं सुलग उठा ? तुमने अपने पति का तिरस्कार नहीं किया ?"

झट से मेरे होंठो पर अपना हाथ रखते हुए बोली : "चुप करो, बहन ! उनका तिरस्कार करूँ और नरक में जा पड़ूँ !"

यह पतिभक्ति, निष्ठा, श्रद्धा मुझ-जैसी आज की नारी के लिए एकदम नयी थी। लगा, लक्ष्मी ने यह विश्वास कहाँ से पाया ! यह अनोखी शक्ति, यह दैवी गुण इस कुरूप, दुबली-पतली नारी में कहाँ छुपे पड़े हैं ! भगवन ! लाख-लाख शुक्र है, मैं बच गयी। लक्ष्मी के लिए मुझे बचना ही पड़ा। भगवन, इस नारी के मंगलसूत्र के तेज से तुम भी डर गये ! दीपा के प्राण तुम उठा न पाये !

"लक्ष्मी, पांडुरंग से कहना, मैंने उसे बुलाया है। उसे कहना, लक्ष्मी, कि उसके पैरों की धूलि माथे पर चढ़ाये बिना मैं इस बिस्तर से उठ नहीं सकती। लक्ष्मी मैं बहुत-बहुत थक गयी हूँ और बहुत जल्द ससुराल जाना चाहती हूँ। कल सुबह ही पांडुरंग को भेज देना।"

वह उठी, मेरे थके मस्तक पर अपना हाथ फेरते हुए बोली : "जुग-जुग जिओ बहना, सुख से जिओ।"

"हाँ, लक्ष्मी, सुख से जिऊँगी, तुम-जैसी पतिव्रता का आशीर्वाद झूठ नहीं होता।"

"ना दीदी, ना, मैं खुद आशीर्वाद माँग रही हूँ। आप सुखी रहेंगी तो वे भी खुश रहेंगे, और उनकी खुशी ही मेरा सुख-सौभाग्य है।"

लक्ष्मी चली गयी। लगा, कहूँ : "लक्ष्मी, रुको, पहले तुम्हारी पदधूलि उठा लूँ।"

लेकिन वह चली गयी थी।

—८५०१२ 'शीतल',
शिवाजी नगर, पुणे-४।

● ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगाप्रसाद पांडेय

काव्य में गीत-तत्व की सनातनता

रागात्मक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति मानव की ही नहीं, जीव-मात्र की जीवन-सहचरी है। प्रभात की स्निग्ध स्वर्णिम किरण का स्पर्श पाते ही चिड़ियाँ आनंद-विभोर हो कर चहकने तथा फुदकने लगती हैं। बादलों को घुमड़ते-घिरते देख कर मस्त मोर नाचने-कूदने लगते हैं। आम्र-मंजरियों के नवांकुरों को देखते ही कोकिल का गान मुखरित हो उठता है। कोकिल, मोर आदि पक्षियों के गान और नृत्य जब स्वतःसिद्ध हैं, तब सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मानव के नृत्य-गान की सहजता में संदेह का अवकाश ही नहीं रह जाता। मनुष्य ने भी अपने रागात्मक भावों का प्रथम प्रकाशन ध्वनि एवं अंग-भंगिमा के ही माध्यम से किया होगा। वस्तुतः उसकी यह अभिव्यक्ति प्राकृतिक है। प्रकृत्या मूल गायक होने के नाते ही मनुष्य पशु-पक्षियों की वाणी से स्वरों के स्वरूप और संगीत के विधान की व्यवस्था करने में सफल हुआ होगा, ऐसा अनुमान स्वाभाविक है।

यों तो मनुष्य के वाह्य और अंतर्जगत से संबद्ध अनुभूतियों की विविधता-विचित्रता तथा उनकी सघन जटिलता की स्पष्ट बोधगम्यता के लिए कोई भी स्थूल माध्यम कभी पूर्णतया सफल और सक्षम नहीं हो सकता—सर्वोत्तम माध्यम भाषा भी नहीं, क्योंकि वह स्वयं भी भाव-व्यंजना का उपकरण मात्र ही तो है? वस्तुतः किसी भी अनुभूति की शब्दबद्ध अभिव्यक्ति मूल अनुभूति का प्रतिबिंब ही उपस्थित कर सकती है। वास्तव में सार्थक से सार्थक शब्द-रूप भी मूलानुभूति का छाया-रूप ही हो सकता है, सच्चा स्वरूप नहीं। फिर भी अन्य माध्यमों की अपेक्षा वाणी के द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति अधिक स्थायित्व रखती है, यह भी निश्चित है।

मानव की आदि उपलब्ध वाणी वेद है। वेद में भाव-प्रकाशन की आदि विधा गीतों का आधिक्य है। इसीलिए वेदों का एक नाम छंद भी है। वेद मंत्रद्रष्टा कवियों के गीत हैं। सामवेद वैदिक गीत-विकास का वह रूप उपस्थित करता है जिसके अनुसार सामगान प्रत्येक आत्मा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिव्याप्त माना गया है। भगवान कृष्ण ने अपने को वेदों में सामवेद बताया है, अप्रत्यक्ष रूप से यह गीतों की ही महत्ता का प्रतिपादन है।

वैदिक युग सामूहिक संस्कृति का युग था। उस युग के आनंद-विषाद भी सामाजिक थे, अतः उनकी अभिव्यक्ति भी सामूहिक थी। आशय यह कि वाद्ययंत्रों के साथ वेदों के सामूहिक गान का विधान था। इससे स्पष्ट है कि वैदिक गीतों के पहले मौखिक रूप से गाये जाने वाले लोकगीतों की कोई न कोई परंपरा अवश्य ही रही होगी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

स्वयं वैदिक काल में भी गान के दो प्रमुख प्रकारों का प्रचलन था—एक ग्रामगान और दूसरा अरण्यगान। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रामगान लोकगीतों से संबंधित था, क्योंकि इसके द्वारा सामूहिक रागात्मिका वृत्ति के उद्रेक का ही प्रयत्न किया जाता था। अरण्यगान में वैयक्तिक चेतना के उन्मेष का प्रयत्न पाया जाता है। जब वैदिक कवि यह गीत गाता है: "**गीर्भिर्वरुण सीमहि**" (=हे मेरे वरणीय! मैं गीत से तुम्हें बाँधता हूँ) तब उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक नहीं, व्यक्तिगत ही कही जायगी। आगे वह कहता है:

सेमं नः स्तोमया गह्युपेदं सवनं सुतम्।
गौरो न तृषितः पिब।

(=प्यासा गौर मृग जैसे जलाशय से जल पीता है, वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय हो कर तृप्ति का अनुभव करो।) यत्र-तत्र ऐसी वैयक्तिक उद्भावनाओं के अतिरिक्त वेदों में भाव-प्रकाशन गौण तथा विचार अथवा तत्व-प्रकाशन ही प्रमुख है।

वेदों के पश्चात विरचित काव्य वाल्मीकीय रामायण की आधारशिला ही गीत-तत्व है। क्रौंच-वध-कातर क्रौंची के करुण क्रंदन के कारण आदिकवि की विगलित करुणा अनुष्टुप गीत में फूट पड़ी:

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

नरमेध, गोमेध तथा अश्वमेध आदि की सामूहिक स्वीकृति और बहिर्दर्शन की मान्यता के बीच आदि कवि के हृदय में क्षुद्र दीन क्रौंची की क्रंदन-ध्वनि का प्रवेश वैयक्तिक भावोन्मेष और अंतर्दर्शन की प्राणप्रतिष्ठा का प्रमाण है। कवि का न केवल विद्रोह वरन विश्वास भी अटल है:

पाद-बद्ध समान अक्षर तंत्र-गेय-समर्थ,
श्लोक यह, शोकार्त उर का हो न सकता व्यर्थ।

विशेषता यह है कि गीत-रचना के साथ ही कवि ने गीत की परिभाषा भी स्पष्ट कर दी है। हृदय के उल्लास अथवा विषाद की तीव्रानुभूति की अभिव्यक्ति ही गीत का प्रमुख लक्षण है। इस प्रकार रामायण में यद्यपि गीत-तत्व प्रचुरता से पाया जाता है, तो भी उसे गीति काव्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की संज्ञा नहीं दी जा सकती। गीत तथा आख्यान का मिश्रण होने के कारण गीत की आत्मनिष्ठता का इसमें अभाव है।

कालक्रम से गीतों का विकास होता रहा और उनकी दो धाराएँ स्पष्ट हो चलीं—एक का विकास संगीत के शास्त्रीय विधान के साथ हुआ और दूसरी का भावप्राण काव्य के रूप में।

दुखवादी बौद्धों ने वैदिक अवैयक्तिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता पर बल दिया। निवृत्ति-मार्गी होने के कारण संगीत के प्रति भी उनमें सहज विराग पाया जाता है, किंतु वैयक्तिक चेतना तथा भावोन्मेष से पूर्ण आत्मनिष्ठा से संबद्ध गीतों का अस्तित्व थेर और थेरी गाथाओं में अक्षुण्ण है। गीतों में वैराग्य-जनित वैयक्तिक भावना का उद्रेक इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है।

संस्कृत महाकाव्यों के लक्षण इस प्रकार बनाये गये कि उनमें गीतों का प्रवेश ही कठिन हो गया। वाल्मीकि की तरह कालिदास ने भी विद्रोह किया और अत्यंत क्षीण कथा-काया में अपनी रागात्मक अनुभूति का आवेश भर कर 'मेघदूत' की रचना की, जिसे गीतिकाव्य का गौरव दिया जाने लगा। अपनी भाव-विभोर अवस्था में यह सारे संसार को भाव-विह्वल समझ कर मानव-हृदय के सुख-दुखात्मक भावों की तन्मय अभिव्यक्ति करता है। जब वह कहता है :

> **त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-**
> **मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामिकर्तुम्।**
> **अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यतेमे**
> **क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥**

तब पाषाण से भी पाषाण हृदय रो उठता है और यक्ष के साथ सहसा तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। गीतिकाव्य की यही विशेषता होती है। फिर भी गीत की पूर्णता का श्रेय 'मेघदूत' को नहीं मिल सकता, क्योंकि कथा का परायापन बीच-बीच में व्यवधान उपस्थित करता चलता है। यों मेघदूत में गीतितत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

कालिदास के पश्चात जयदेव का 'गीतगोविंद' आता है। इसे भी साधारणतया गीतिकाव्य माना जाता है, पर संगीत-निर्वाह और वर्णन का आग्रह इसमें इतना अधिक है कि विशुद्ध आत्मानुभूति की अभिव्यंजना खंडित हो जाती है। नाटकीय दृश्यों का समावेश और वर्णन का इतिवृत्तात्मक मोह गीतिकाव्य में अपेक्षित काव्यत्व के खर्व का कारण सिद्ध होता है। पंडित राजजगन्नाथ में गीतिकाव्यत्व का अधिक उन्मेष दिखायी पड़ता है। 'गीतगोविंद' में छंदबद्ध काव्य की गेयता का आधिक्य अवश्य ही सर्वाधिक पाया जाता है।

हिंदी साहित्य के प्रारंभ काल से ही वीर प्रबंधकाव्य और वीरगीतों (बैलेड्ज़) की परंपरा पायी जाती है। प्रबंधकाव्यों के बीच में भी गीतों को उचित अधिकार मिलता रहा है। परंतु वीरगीत भी गाथाओं का आधार ले कर ही चलते रहे हैं, इसलिए गीततत्व के संगीत और काव्यत्व दोनों का अस्तित्व इनमें संरक्षित है। वीरकाव्य के मूल विषय युद्ध और प्रेम में से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल प्रेम को ले कर गीत-रचना का सूत्रपात विद्यापति ने किया। वस्तुतः विद्यापति को हिंदी का प्रथम गीतकार मानना चाहिए।

गीतकाव्य में वस्तुतत्व का उतना महत्व नहीं, जितना भावातिरेक की अभिव्यक्ति का है, क्योंकि भावतत्व ही गीत की आत्मा है। विद्यापति ने अपने गीतों में संगीतात्मक काव्य-विधान से दूर हट कर आत्मीयता, आत्मनिष्ठा तथा संवेदनशीलता की प्रतिष्ठा की, पर माध्यम की पौराणिकता के कारण अंतर्दशा की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति में उन्हें भी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। स्वभावतः भाव और संगीत, विषय और विधान की अन्विति का उनमें भी अभाव है। फिर भी गीतों की काव्योचित स्वतंत्र परंपरा का विकास विद्यापति के गीतों से ही होता है, क्योंकि गीतों के प्राणाधार तत्व रागात्मक आवेश की आकुल अभिव्यक्ति विद्यापति के गीतों में बहुलता से पायी जाती है। वैष्णव शृंगार के मूल में निहित मानवीय सौंदर्य-बोध का यह आग्रह गीत-वृत्ति के प्रकाशन में अनन्य सहायक सिद्ध हुआ, इसमें संदेह नहीं।

सूर का 'सूरसागर' जयदेव और विद्यापति के गीतों का ही विकसित रूप जान पड़ता है। यद्यपि सूर ने भी राधाकृष्ण को आलंबन बनाया है, तथापि स्वानुभूतिपरक आत्माभिव्यंजना का उनमें आधिक्य है। इनके गीतों की तीव्रता, मार्मिकता और विदग्धता माध्यम को दबा कर वैयक्तिकता को उभारने में सक्षम है। गोस्वामी तुलसीदास के गीतों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि लोकसंग्रही मनोवृत्ति के कारण वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति का आग्रह उनमें नहीं के बराबर है।

कबीर की स्थिति इन दोनों के बीच की है। सूर-तुलसी की कलात्मक निपुणता और साहित्यिकता उनमें कम है, किंतु रागात्मक अनुभूति की तीव्रता और भावावेश दोनों से अधिक है। कबीर की धार्मिक भावना के भीतर उसकी वैयक्तिक मार्मिकता वंशी में स्वरग्राम की भाँति अंतर्निहित है। उनके गीत प्रायः वैयक्तिक विरह-मिलन, हास-रुदन, सुख-दुख के संवेश से संचरित जान पड़ते हैं :

> **साँईं बिन दरद करेजो होय।**
> **दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया कासे कहूँ दुख रोय।।**
> **आधी रतियाँ पिछले पहरवाँ साईं बिना तरस तरस रही सोय।**
> **कहत कबीर सुनाँ भाई प्यारे साँईं मिले सुख होय।।**

इस गीत में संगीत और अनुभूति का समान प्रभाव स्पष्ट है। भावना का सामाजिक आधार वैयक्तिकता से आच्छादित है। मीराँ के गीत निश्चय ही भावतन्मयता और रागरंजना में कबीर से भी आगे हैं। मीराँ के गीतों में कृष्णोन्मुखता और संगीतात्मकता केवल भावोन्मेष की सहायक मात्र है, प्रमुखता मूल वैयक्तिक भाव की ही पायी जाती है। संभवतः इसीलिए महादेवी जी ने कहा है : **"मीराँ की व्यथासिक्त पदावली तो सारे गीत-जगत की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है।"** वास्तव में मीराँ के गीतों का सौंदर्य उपासना-पद्धति और संगीत में नहीं, वरन भावात्मकता में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिकाल में गीत छंद-विधान और चमत्कार-प्रदर्शन की अधिकता ने गीति काव्य का विकास रोक-सा दिया और कविता एक बँधी परिपाटी में कावा काटने लगी। अलंकारों के उदाहरण उपस्थित करने की झक में कवियों की स्वतंत्र भाव-चेतना मंद हो गयी। फलस्वरूप भाव-प्रवण गीतरचना से यह युग प्रायः सर्वथा वंचित रह गया।

इस अधःपतन के पश्चात आधुनिक काल के वैतालिक भारतेंदु का उदय हुआ। मनोभावों की पुनःप्रतिष्ठा में भारतेंदु के गीतों का महत्व निश्चित है, परंतु काव्य की दृष्टि से किसी नवीन उन्मेष का परिचय इनमें नहीं मिलता। उनके गीत प्रायः भाव-प्रसार में जितने सचेष्ट हैं, संगीत की रक्षा में भी उतने ही सजग।

द्विवेदी-युग में भाषा-परिवर्तन और सामाजिक सुधारों की नैतिकता का आग्रह इतना कठोर रहा कि कोमलप्राण गीतों की रचना का प्रश्न ही सामने नहीं आया। जो गीत-सृष्टि हुई भी, वह विषय-विचार की प्रधानता से इतनी बोझिल है कि उसमें मुक्त भाव-संचरण का अवकाश नहीं है।

वास्तव में छायावाद गीतों की पूर्ण प्राण-प्रतिष्ठा का युग है। पिछली गीत-परंपरा में भावानुकूल संगीत की योजना अनिवार्य मानी जाती थी और परिणामतः रसों के अनुकूल छंद-विधान ही स्वीकृत था। छायावाद ने इस परंपरा को छोड़ कर शब्दों में अंतर्निहित संगीत उभार कर अनुभूति की अभिव्यंजना के साथ संयोजित कर दिया। इस स्थिति में काव्य का संगीत-विधान काव्य-विधान के अंतर्गत समाहित हो जाता है। इसी कारण छायावादी गीतों में संगीत स्थापित या आरोपित नहीं, स्वयं भावावेग के भीतर का ध्वन्यात्मक प्रवाह मात्र है। गीति-काव्य की यही चरम परिणति और उसके विकास की उच्चतम सीमा है।

सामाजिक और भौतिक विज्ञान जिस प्रकार हमारी चेतना को नयी दिशा और विस्तार देता है, उसी प्रकार हमारा भाव-विज्ञान (साहित्य) हमारी भावना को गहराई और सघनता। हमारा भाव-जगत, हमारे सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, मिलन-विरह और उद्वेग-उल्लास से जितना संलग्न है, उतना जीवन-जगत की बौद्धिक स्थितियों से नहीं। इसीलिए काव्य का प्रमुख निकष अनुभूति की गहराई, व्यापकता और उसकी अभिनवता ही मानी जाती है। काव्य अभिव्यक्ति-अनुभूति के, विषयवस्तु के सौंदर्य के साथ उसकी विषयातीत आत्मा का आभास भी देता चलता है, और यही उसकी चरम सफलता भी है। इस दृष्टि से छायावाद ने जीवन और जगत में बिखरे सौंदर्य और उसकी आत्मा—प्रेमवृत्ति—की आनंदाभिव्यक्ति में जो सफलता एवं कुशलता प्राप्त की है, वह हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है।

काव्य के ऐतिहासिक आलोक में संचरण करते हुए जब हम छायायुग की सीमा का स्पर्श करते हैं तब उसकी आत्मीयता से हमारा मन प्रसन्न और प्राण पुलकित हो उठते हैं। इतिहास में प्रथम बार इस युग के कवि ने धर्म, राधा, 'कन्हाई-सुमिरन के बहाने' तथा 'स्वामिनः रंजनार्थ' के कृत्रिम प्रचलित माध्यमों को छोड़ कर अपने आत्मस्थ भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार सीधे और स्वाभाविक तन्मयता के साथ की कि उसके साथ सहज तादात्म्य की अनुभूति और अनन्य आत्मीयता का भाव सबका सहसा अपना हो उठा। कवि की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रागात्मक अनुभूति से समन्वित होने के कारण हमारी वृत्तियों का नितांत निर्वैयक्तिक होना कठिन है। इस आवरण को उतार फेंकने के कारण छायावाद में वैयक्तिक भाव-वृत्तियों का संक्रमण स्वाभाविक ही कहा जाएगा। संभवतः इसीलिए छायावाद में गीत-तत्व का प्राधान्य है। बराबर महादेवी जी के शब्दों में : **"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"** ऐसे गीतों का जो स्वाभाविक स्वरूप छायावाद में उपलब्ध होता है, वह अन्यतम है। रागात्मक अनुभूति और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति से पूर्ण छायावाद का गीति-वैभव काव्य, संगीत और चित्र की संतुलित एवं एकान्वित स्थिति को रक्षात्मक विन्यास देने में पूर्णतया सफल और सार्थक है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका सौंदर्य तथा प्रभाव संगीत में नहीं, इनकी भाव-तन्मयता में निहित रहता है।

इस युग की गीत-चेतना संगीत का सहयोग केवल लय-प्रसार और भाव-विस्तार के भीतर वांछित अनुभूति की प्रतिष्ठा के लिए ही स्वीकार करती है। इसी कारण संगीत की कसौटी पर चाहे ये गीत खरे न भी उतरें, पर भाव-बोध और अर्थ-विधान के अनुरूप बिंब-निर्माण की महिमा से मंडित हैं। अंतरानुभूति की अभिव्यक्ति ही इनका चरम साध्य है, जो गीत का प्रमुख प्राण-प्रवेश है। इन गीतों के प्रभाव-प्रेषण के लिए किसी वाद्य यंत्र की आवश्यकता नहीं। इनकी आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति के द्वारा इनमें अंतर्निहित संगीत स्वतः मुखरित हो उठता है। आशय यह कि संगीत इन गीतों का आत्मज है, अलंकरण या उपकरण नहीं। रसात्मक तथा रागात्मक अनुभूति की प्रधानता ही इनका परम सौंदर्य है।

गीतकार की तीव्र भावना अनुभूति की प्रकृति-अभिव्यक्ति के स्वरूप को अपने साँचे में ढाल कर इस प्रकार उपस्थित होती है जिसमें गीतों की बाह्य एकरूपता के भीतर विविधता का ऐसा अनुबंध रहता है कि भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों के स्पंदन को झंकृत करने में समर्थ होता है। मानव-जीवन में सामान्यतः और कवि-जीवन में विशेषतः अंतश्चेतना और अंतर्वृत्ति का प्रभाव अनिवार्य रहता है, क्योंकि मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया में सामाजिक आधार रखते हुए भी वैयक्तिक ही होती हैं। सहसा प्रदीप्त हो उठने वाले अनुभूत क्षणों के संवेदनशील आवेश से अनुप्राणित हो कर ही मनुष्य की अंतर्वृत्तियाँ जीवंत रहती हैं और गीत में गीतकार इन्हीं वृत्तियों की अभिव्यक्ति करता है। संस्कार रूप में स्थित वासना का आस्वादन भी स्वानुभूति के आधार पर ही संभव है, अन्यथा नहीं।

काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय-श्रेणियों के बीच में गीति-मुक्तक एक सजल-कोमल मेघखंड है, जो न उनसे दब कर टूटता है और न बँध कर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंग-स्नात हो कर ऊँची चोटियों का श्रृंगार कर आता है और हर झोंके पर उड़-उड़ कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पंदन पहुँचाता है। संभवतः इसीलिए गीत को काव्य का सौंदर्य या श्रृंगार भी कहा गया है। छायावाद गीतों की दृष्टि से गीति-काव्य का मणिमुकुट है, इसमें संदेह नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की कविता में गीत-तत्व के प्रति एक प्रतिक्रिया का प्रचलन पुनः दिखायी पड़ता है। स्वर, ताल तथा लय की संगति का विरोध काव्य को गद्य के साँचें में ढालने के लिए उत्सुक है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गद्य में प्रभाव की जितनी मात्रा रहती है उतनी प्रवाह की नहीं, इसीलिए काव्य का कार्य प्रभाव और प्रवाह दोनों की साधना है। गति एवं संचलन के भीतर समता की रक्षा का विधान ही लय है, जो विश्व की प्रत्येक नैसर्गिक प्रक्रिया के भीतर सन्निहित है। अतः लय ही गति है और गति ही जीवन। वस्तुतः जीवन की अभिव्यक्ति में लय का नितांत अभाव मृत्यु-पूजा के अतिरिक्त और कुछ नहीं, यह निर्विवाद है। गीति-सृष्टि की शाश्वता का यह स्वर-संधान स्मरणीय है :

घिरती रहे रात।
न पथ रुँधती ये गहनतम शिलाएँ,
न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशाएँ,
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर बात।
घिरती रहे रात।

(महादेवी)

—साहित्यकार संसद,
रसूलाबाद, इलाहाबाद।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकांत वर्मा

माया-दर्पण

देर से उठ कर
छत पर सर धोती
खड़ी हुई है
देखते ही देखते
बड़ी हुई है
मेरी प्रतिभा
लड़ते-झगड़ते
मैं आ पहुँचा हूँ
उखड़ते-उखड़ते
भी
मैंने
रोप ही दिये पैर
बैर
मुझे लेना था
पता नहीं
कब क्या लियाथा
क्या देना था!
अपना एकमात्र इस्तेमालयहीकिया था
एक सुई की तरह
अपने को
अपने परिवार से निकाल कर
तुम्हारे जीर्ण जीवन को सिया था।
(दोनों हाथों में सम्हाल
अपने ओठों से
छुला कर)

बहते हुए पानी में झुला कर
अपने पैर
मैं अनुभव कर रहा हूँ। सब कुछ
बस छू कर
चला जाता है
छला जाता है
आकाश भी
सूर्य से
जो दूसरे दिन
आता नहीं है
कोई और सूर्य भेज देता है।
विजेता है
कौन
और
किसकी पराजय है—
सारा संसार अपने कामों में
फँसाये अपनी अँगुलियाँ
उधेड़बुन करता है।
डरता है
मझसे
मेरा पड़ोस।
मैं अपनी करतूतों का दरोगा हूँ।
नहीं, एक रोजनामचा हूँ
मुझमें मेरे अपराध
हूबहू कविताओं-से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्ज हैं।
मर्ज हैं
जितने
उनसे ज्यादा इलाज हैं।
मेरे पास हैं कुछ कुत्ता-दिनों की
छायाएँ
और बिल्ली-रातों के
अंदाज हैं।
मैं इन दिनों और रातों का
क्या करूँ?
मैं अपने दिनों और रातों का
क्या करूँ?
मेरे लिए तुमसे भी बड़ा
यह सवाल है।
यह एक चाल है;
मैं हरेक के साथ
शतरंज खेल रहा हूँ
मैं अपने ऊलजुलूल
एकांत में
सारी पृथ्वी को बेल रहा हूँ।
मैं हरेक नदी के साथ
सो रहा हूँ
मैं हरेक पहाड़
ढो रहा हूँ
मैं सुखी
हो रहा हूँ
मैं दुखी
हो रहा हूँ
मैं सुखी-दुखी हो कर
दुखी-सुखी
हो रहा हूँ
मैं न जाने किस कंदरा में
जा कर चिल्लाता हूँ : मैं
हो रहा हूँ। मैं

हो रहा हूँ।
अनुगूँज नहीं जाती
लपलपाती
मेरे पीछे
चली आ रही है।
चली आए।
मुझे अभी कई लड़कियों से
करना है प्रेम
मुझे अभी कई कुंडों में
करना है स्नान
अभी कई तहखानों की
करनी है सैर
मेरा सारा शरीर सूख चुका
मगर साबित हैं
पैर।
मैं अपना अंधकार, अपना सारा अंधकार
गंदे कपड़ों की
एक गठरी की तरह
फेंक सकता हूँ।
मैं अपनी मार खायी हुई
पीठ
सेंक सकता हूँ
धूप में
बेटियाँ और बहुएँ
सूप में
अपनी-अपनी
आयु के
दाने
बिन
रही
हैं
सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं।
क्या मैं भी दिन गिनूँ?
अपने निरानंद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेंक और भाग और लीद रहे गधे से
मैं पूछ कर
आगे बढ़ जाता हूँ।
मगर ख़बरदार! मुझे कवि मत कहो।
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ।
मैं कविताएँ बकता नहीं हूँ।
मैं थकता नहीं हूँ
कोसते।
सरदी में अपनी संतान को
केवल अपनी
हिम्मत की रजाई में लपेट कर
पोसते
ग़रीबों के मुहल्ले से निकल कर
मैं
एक बंद नगर के दरवाज़े पर
खड़ा हूँ
मैं कई साल से
पता नहीं अपनी या किसकी
शर्म में
गड़ा हूँ :
तुमने मेरी शर्म नहीं देखी!
मैं मात कर
सकता हूँ
महिलाओं को।
मैं जानता हूँ
सारी दुनिया के
बनबिलावों को
हमेशा से जो बैठे हैं
ताक में।
काफ़ी दिनों से मैं
अनुभव करता हूँ तकलीफ़
अपनी
नाक में।
मुझे पैदा होना था अमीर घराने में!
अमीर घराने में
पैदा होने की यह आकांक्षा
साथ-साथ
बड़ी होती है।
हरेक मोड़ पर
एक प्रेमिका की तरह
मृत्यु
खड़ी होती है।

शरीरांत के पहले मैं सब कुछ निचोड़ कर
उसको दे जाऊँगा जो भी मुझे मिलेगा। मैं यह
अच्छी तरह जानता हूँ, किसी के न होने से
कुछ भी नहीं होता; मेरे न होने से कुछ भी नहीं
हिलेगा। मेरे पास कुर्सी भी नहीं जो ख़ाली हो।
मनुष्य वकील हो, नेता हो, संत हो, मवाली हो
—किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता।

नाटक की समाप्ति पर
आँसू मत बहाओ।
रेल की खिड़की से
हाथ मत हिलाओ।

●

—९४ नार्थ एवेन्यू,
नयी दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोस्वामी रामबालक

●●

पुराख्यान

राजधर्म

एक दिन राजा जनक ने रात में यह स्वप्न देखा :

शत्रुओं की एक विशाल सेना ने उनकी राजधानी मिथिला को चारों ओर से घेर लिया है। वे युद्ध में परास्त हो कर भाग गये और कई दिनों तक वन में इधर-उधर भटकते रहे। अंत में वे भूख से बहुत व्याकुल, एक नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने द्वार-द्वार पर भीख माँग कर कुछ अन्न जमा किया। उसे ले कर वे सड़क के किनारे एक हाँडी में खिचड़ी पकाने बैठे। खिचड़ी जब पक गयी, तो राजा बाजार में घी माँगने चले। आखिर हाथ पसारने पर थोड़ा-सा घी भी मिल गया। उसे वे बहुत सम्हाल कर ले आये और हाथ-पैर धो कर खिचड़ी उतारने बैठे। इतने में कहीं से दो साँड़ लड़ते हुए उधर आ निकले। उनके धक्के से राजा की हाँडी गिर गयी। उनकी सारी मेहनत देखते-देखते मिट्टी में मिल गयी। भाग्य का यह खेल देख कर राजा जनक अत्यंत खिन्न हो गये। वे अपने वैभव के दिनों का स्मरण कर के दुर्दिन का भयंकर दृश्य देखने लगे। एक दिन था जब संसार की सारी संपत्तियाँ उनके चरणों पर लोटती थीं। और इसी जीवन में एक दिन ऐसा भी आया कि उन्हें एक-एक दाने के लिए तरसना पड़ रहा है। अपनी दुर्गति पर इस प्रकार विचार करते-करते राजा को अपने अंधकारमय भविष्य का ध्यान आया। उन्हें सारी दिशाएँ शून्य दिखायी पड़ीं और लगा, संसार में पद-पद पर विपत्तियाँ मुँह खोले खड़ी हैं।

स्वप्न में दुर्दैवग्रस्त राजा सिर पीट कर रोना ही चाहते थे कि उनकी आँखें खुल गयीं। देखा तो सामने न सड़क थी, न टूटी-फूटी हाँडी। उन्होंने अपने को सजे-सजाये शयनागार में सोने की पलँग पर आराम से लेटे पाया। आसपास दास-दासियों का दल सिर झुकाये, हाथ जोड़े खड़ा था। कोई पंखा झलता था और कोई हाथ-मुँह धोने के लिए महाराज के आगे गुलाबजल बढ़ाता था। एक ओर प्रभाती गायी जा रही थी; दूसरी ओर त्रिपाठियों का दल मंगलपाठ करता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा जनक अपने ऐश्वर्य का प्रत्यक्ष रूप देख कर बड़े आश्चर्य में पड़ गये और आँखें मूंद कर स्वप्न की दुर्दशा पर विचार करने लगे। उनके मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि जो कुछ स्वप्न में दिखायी पड़ा है, उसको सत्य मानूँ या जो अब दिखायी पड़ रहा है, उसको ? बहुत देर तक वे इसी उधेड़-बुन में पड़े रहे और कुछ भी निश्चय नहीं कर पाये। विकट समस्या थी।

राजा मन में भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क करते रहे। राजसभा में पहुँचने पर उन्होंने बड़ी गंभीरता से अपने प्रसिद्ध पंडितों को इस प्रश्न का उत्तर देने को कहा : "यह सत्य है कि वह ?"

पंडितों को सारी बात का पता तो था नहीं, इसलिए वे इस गूढ़ पहेली को कैसे सुलझाते! सब के सब एक वाक्य में उलझ गये। राजा इसके अतिरिक्त विशेष कुछ बताते नहीं थे। दिन भर बुद्धिपीड़न के पश्चात् पंडितों ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कुछ दिनों का समय माँगा। समय मिल गया।

फिर क्या था। बड़े-बड़े शास्त्रों का मंथन शुरू हुआ। व्यग्रचित्त राजा जनक ने बाहर से भी अनेक धुरंधर पंडितों को बुला कर उसी समस्या में जोत दिया। इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दिये बिना न तो किसी को घर जाने की अनुमति थी, न किसी और बात की चिंता करने की।

समय बीतने लगा।

एक दिन राजा जनक पालकी में घूमने निकले। उनके आगे घोड़े पर राजमंत्री और पीछे अनेक सवार चल रहे थे। नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों की सैर करने के बाद राजा ने एक संकीर्ण गली में जाने की इच्छा प्रकट की। राजमंत्री आगे बढ़ कर लोगों को रास्ते से हटाने लगे। तब तक पालकी गली के द्वार पर रुकी रही। मंत्री जी की दृष्टि गली में बैठे हुए एक महाकुरूप नवयुवक पर पड़ी। उन्होंने चिल्ला कर सक्रोध कहा : "अरे! कौन है? दूर हट, महाराजाधिराज की सवारी आ रही है।"

नवयुवक भी तन गया। बैठे ही बैठे तिरस्कारपूर्वक उत्तर दिया : "क्या तू अंधा है? देखता नहीं, यहाँ एक आदमी बैठा है? मैं अपनी जगह से क्यों हटूँ? राजा के वास्ते यदि रास्ता कम है तो उनसे कहो, सवारी दूसरे रास्ते से ले जाएँ; नहीं तो क्या पैदल चलना. . . ."

मंत्री जी तिलमिला उठे। बात काटी गयी थी। किंतु उन्होंने स्वयं बल-प्रयोग करना उचित नहीं समझा और तत्काल लौट कर सब कुछ राजा जनक से कह सुनाया।

राजमंत्री विवश हो कर उस नवयुवक के पास गये और नम्रतापूर्वक बोले : "ब्रह्मचारी जी! पास ही मिथिलानरेश अपनी पालकी में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं. . . .।"

नवयुवक ने वक्र-दृष्टि से मंत्री की ओर देख कर कर्कश स्वर में कहा : "जाओ-जाओ, अपने राजा-महाराजा से कह दो, मैं उससे अभी मिलने नहीं आ सकता. . . ."।

राजमंत्री ने भय दिखाते हुए चेताया : "पर यह महाराज की आज्ञा है. . . ."

"हाँ-हाँ, सुन लिया।"—नवयुवक बोला : "यदि वह न्यायासन पर विराजमान होता तो सच है, किसी को भी अपने सामने साधिकार बुलवा सकता था। लेकिन इस समय तो वह जनमार्ग पर खड़ा है। यहाँ भी वह अपने को राजा और मुझे एक निर्बल और तुच्छ व्यक्ति समझ कर अपने पास आने की आज्ञा देता है! क्या यह उचित है?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आप क्या कहते हैं?"—मंत्री अभी अनुनय में लगा था।

"ऐसा व्यक्ति जो स्वयं न्याय के मार्ग पर नहीं चलता, दूसरों को कैसे चलाएगा?"—वह कुरूप ब्रह्मचारी बोलता गया: "जाओ, राजा को बता दो, सार्वजनिक स्थान में सबके अधिकार बराबर हैं। मैं उसके इस अनुचित आदेश का पालन कभी नहीं कर सकता।"

मंत्री जी लाल-पीले हो कर लौट आये और राजा से कहने लगे: "महाराज! वह बड़ा ही दुर्मुख और उद्दंड है। लात का देवता बात से नहीं मानेगा। आज्ञा हो तो बँधवा कर घसीट लाऊँ।"

किंतु राजा जनक किंचित भी उत्तेजित नहीं हुए। वे उस नवयुवक के पास पैदल पहुँचे। उन्होंने सविनय पूछा: "श्रीमान, मैं आपका परिचय चाहता हूँ। आप कौन हैं, किस प्रयोजन से यहाँ पधारे हैं?"

नवयुवक ने भी सावधानी से कहा: "मैं विप्रवर कहोड पुत्र का अष्टावक्र हूँ। मैंने सुना है कि राजा जनक के किसी जटिल प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर कोई भी पंडित नहीं दे पा रहा है। इसलिए राजा यह सोचते रहे हैं कि इस देश में अब कोई विद्वान नहीं रह गया। सो मैं उनका संशय मिटा कर यहाँ की विद्वन्मंडली का मान बचाने आया हूँ।"

राजा के हर्ष और विस्मय का ठिकाना न रहा। वे उस नवयुवक को दूसरे दिन राजसभा में पधारने का सादर निमंत्रण दे कर वापस चले गये।

दूसरे दिन अष्टावक्र ठीक समय पर राजसभा में पहुँचे। वहाँ पचासों शास्त्रशूर महापंडित राजा को घेर कर बैठे थे।

अष्टावक्र का पहला पैर दरबार में पड़ा था कि सब के सब खिलखिला पड़े। व्यंग्यमय हँसी से सारा दरबार गूँज उठा।

अष्टावक्र एक तो अल्पवयस्क थे, दूसरे महाकुरूप। उनका छोटा-सा शरीर आठ जगह से टेढ़ा-मेढ़ा, बेडौल और भद्दा था। और ऐसा व्यक्ति पंडितों की नाक रखने आया था। पर उन्हें हँसते देख कर अष्टावक्र भी अट्टहास करने लगे। राजा जनक को बड़ा विस्मय हुआ। अष्टावक्र की ओर अभिमुख हो कर वे बोले: "विप्रदेव! मेरे पंडितों के हँसने का तो एक कारण है, लेकिन आपके हँसने का कारण मैं नहीं समझ सका।"

अष्टावक्र ने कहा: "महाराज! मेरे हँसने का भी एक कारण है।...."—हँसने वालों की ओर अपनी अँगुली उठा कर वे बोले: "मैं इस मूर्ख-मंडली को देख कर हँस रहा हूँ। आश्चर्य ही है! ऐसे मूर्खों की सहायता से आप कैसे इतना बड़ा राज्य चलाते हैं? इनमें तो कुछ भी बुद्धि-विवेक नहीं है। यदि होता तो मेरे बाह्य रूप पर दृष्टि न डालते। ज्ञानी का परिचय उसके ऊपरी अंगों से नहीं, बुद्धि तत्व से मिलता है। भूखा आदमी अन्न को मुख्य मानता है, न कि बरतन को। प्यासा आदमी जल को महत्व देता है, न कि अच्छे-बुरे पात्र को। खेद है कि ये पंडित नामी जीव मनुष्य की परीक्षा करना भी नहीं जानते। मेरा तो शरीर ही टेढ़ा है, लेकिन इनकी तो बुद्धि ही टेढ़ी जान पड़ती है। राजन! यही मेरे हँसने का कारण है।"

इस फटकार को सुन कर पंडितगण चुप हो गये। सभी बगलें झाँकने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टावक्र ने राजा से उनका वह प्रश्न पूछा। राजा जनक ने अपना प्रश्न दुहराया : "यह सत्य है कि वह ?"

अष्टावक्र क्षण भर के लिए मौन रहे। फिर मुस्कराते हुए बोले : "राजन ! जैसा प्रश्न है, वैसा ही उत्तर भी होना चाहिए। . . . तो सुनिए। जैसा यह है, ठीक वैसा ही वह भी है।"

राजा ने कहा : "आपके इस उत्तर से तो मेरी शंका नहीं मिटी।"

अष्टावक्र ने भी उत्तर दिया : "लेकिन यही आपके प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर है। इसे समझने की चेष्टा कीजिए। आपकी भूल यह है कि आप एक संदेह में उलझ गये और सीधी-सी बात को स्पष्ट न बता कर गोलमाल शब्दों में पहेली बुझाने लगे। यदि इन पंडितों के आगे आप सारी बातें खोल कर रख देते, तो संभवतः इनमें से कोई न कोई आपके चित्त का भ्रम दूर कर देता। अब पहले आप अपने प्रश्न का रहस्य बताइए। उसके बाद मैं अपने उत्तर की व्याख्या करूँगा।"

राजा जनक ने स्वप्न का सारा वृत्तांत बता कर अष्टावक्र से पूछा : "पंडित जी ! अब बताइए कि मैं स्वप्न की बातों को सत्य मानूँ या प्रत्यक्ष जीवन को ?"

"मैंने ठीक उत्तर दिया है। दोनों में कोई भेद नहीं। . . ."—अष्टावक्र बोले : "जैसा स्वप्न था, वैसा ही यह संसार भी है। दोनों ही मिथ्या और क्षणभंगुर हैं। इसका प्रमाण यह है कि स्वप्न में आपको जो दुख हुआ था और जागने के बाद जो सुख, दोनों ही इस समय सुलभ नहीं हैं। आप उनका ध्यान कर सकते हैं, उन्हें अब पा नहीं सकते। स्वप्न और संसार में अंतर इतना ही है कि एक की असत्यता शीघ्र ही ज्ञात हो जाती है, दूसरे की देर में। मेरा तो विश्वास है कि संसार के स्वरूप का बोध कराने के लिए ही भगवान ने स्वप्न-संसार की सृष्टि की है।"

अष्टावक्र के उत्तर से राजा को थोड़ी-बहुत शांति मिली। उन्होंने फिर पूछा : "ज्ञानी जी ! यदि यह सब सचमुच ही मिथ्या है, तो आखिर सत्य क्या है ?"

अष्टावक्र ने कहा : "सत्य तो केवल वह है, जो इन सबका अनुभव करता है। उसे जानने-पहचानने का यत्न कीजिए। उसका नाम है ब्रह्म या आत्मा। ज्ञान होने पर मनुष्य उलझनों में नहीं फँसता।"

राजा मान गये कि अष्टावक्र आयु और शरीर से छोटे हो कर भी विद्या-बुद्धि से महान एवं सच्चे सद्गुरु हैं। उन्होंने श्रद्धापूर्वक उनसे ज्ञान का उपदेश देने का आग्रह किया।

अष्टावक्र ने सगर्व कहा : "राजन ! मैंने अभी तक आपको जितना ज्ञान दिया है, उसकी गुरुदक्षिणा दे कर तब आगे कुछ माँगिए।"

राजा जनक ने तुरंत हीरे-मोती और सुवर्ण से भरे कई थाल मँगवा कर अष्टावक्र के सामने रख दिये। किंतु अष्टावक्र सारी राजसंपत्ति को ठुकराते हुए बोले : "जनक ! हम यहाँ धन या मान के लोभ से नहीं आये हैं। हमें तो यह प्रमाणित करना था कि हमारा देश विद्वानों से शून्य नहीं है। यदि आप मेरे उपदेश से सचमुच संतुष्ट हैं, तो मैं जो कुछ मागूँ, बस वही मुझे दीजिए।"

राजा इसके लिए तैयार हो गये।

तब अष्टावक्र ने कहा : "आप मुझे शुद्ध हृदय से अपना तन-मन-धन तीनों समर्पित कीजिए।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा जनक ने उनके आगे पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर दिया।

उसी समय कहीं से एक कष्ट-पीड़ित दीन-हीन ब्राह्मण रोता-गाता राजसभा में आया। राजा ने उसके दुख का वृत्तांत पूछना चाहा, लेकिन तुरंत ही उन्हें ध्यान आया कि मैं तो अपने अंग प्रत्यंग दूसरे को दे चुका हूँ। अतएव स्वेच्छा से मुंह खोलना भी ठीक न होगा। वे चुप रहे। ब्राह्मण बारंबार अपनी कष्ट-कथा सुना कर राजा से धन की याचना करने लगा। राजा ने सोचा कि सामने जो धन पड़ा है, उसीमें से कुछ दे दूं। किंतु उसी क्षण उन्हें ध्यान आया कि धन पर भी तो अब दूसरे का अधिकार है। वे चुप ही रहे। राजा का यह व्यवहार देख कर ब्राह्मण भरी सभा में उनको धिक्कारने लगा। बहुत खरी-खोटी सुनाया। राजा को इससे बड़ा दुख हुआ। पर वे तत्काल यह सोच कर स्वस्थचित्त हो गये कि मैं अपना मन भी तो दूसरे को सौंप चुका हूँ। अतएव किसी की व्यक्तिगत बातों से प्रभावित होना अनुचित है। वे चुपचाप शांत ही रहे।

अष्टावक्र ध्यान से उनकी ओर देख रहे थे। शांत खड़े राजा से उन्होंने पूछा : "आप कौन हैं?"

राजा ने कहा : "जनक।"

अष्टावक्र ने फिर पूछा : "इस शरीर में जनक जी कहाँ रहते हैं—पेट में, सिर में या मुँह में?"

राजा कुछ नहीं बता पाये। तब अष्टावक्र ने कहा : "अब आप ब्रह्मज्ञान का रहस्य अवश्य समझ गये होंगे।"

राजा 'मेरा मुझमें कुछ नहीं' का अनुभव करते हुए बोले : "गुरुदेव! अब तो मैं सर्वस्व त्यागकर वन को जाना चाहता हूँ। यहाँ रहने की इच्छा नहीं होती।"

अष्टावक्र ने पूछा : "आपके पास क्या बचा है, जिसे त्याग कर संन्यास लीजिएगा?"

राजा फिर चुप हो गये। अष्टावक्र पुनः बोले : "राजा जनक! आप अपने तन-मन-धन को अब अपना न समझ कर उसे मेरी वस्तु समझिए। अपका सर्वस्व अब पराया हो चुका है। उसकी ममता छोड़ दीजिए। अब मैं आपके हाथों में इसको उसी भाँति सौंपता हूँ, जैसे कोई किसी को अपनी थाती सम्हाल कर रखने के लिए देता है। अपने तन-मन-धन को अपनी नहीं, दूसरे की वस्तु समझ कर उसकी यत्नपूर्वक रक्षा कीजिए। अहंकार त्याग कर सबमें अपने को और अपने में सब को देखिए। यही आप जसे लोकनेता का राजधर्म है और यही ब्रह्मज्ञान है। देहधारी हो कर भी आप विदेह बन कर एकाग्रचित्त हो कर्तव्य-धर्म करें।"

ज्ञानकुंज, दूधपूरा,
समस्तीपुर, दरभंगा।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोविंदजी

ऐतिहासिक चिंतन-प्रक्रिया और कल्पना

इतिहास में कल्पना का संबंध इस लोक के मानवीय कार्यों और उनके परिणामों के अवबोधन से रहता है। इतिहास-संरचना में प्रयुक्त कल्पना को विद्वानों ने 'इतिहासमूलक कल्पना' नाम दिया है। इतिहासमूलक कल्पना से एम० वाइट का तात्पर्य है **"अतीत के भीतर प्रविष्ट होने, उसे समझने तथा उसका पुर्नविधान करने की आकांक्षा।"** टी० रोपर ने **'इतिहासमूलक कल्पना'** की व्याख्या करते हुए उसे विदेशीय तथा सुदूर अतीत के व्यक्तियों की चेतना में अनुप्रविष्ट हो सकने की क्षमता बताया है। उसके कथनानुसार इसका प्रयोग करने का आशय है ऐसे लोगों की चेतनाओं और भावनाओं में हमें प्रवेश दिला देना जो कि एक विशेष दृष्टि से हमसे अत्यधिक पृथक होते हैं। उसका विश्वास है कि यदि हम अतीत की यथावत उपस्थापना की जगह उसकी अपने संदर्भ में महत्वपूर्ण उपस्थापना चाहते हैं तो यह अनिवार्य है।[1] इतिहासमूलक कल्पना के लिए डिल्थे ने अवबोधन ('अंडरस्टैंडिंग') शब्द का प्रयोग किया है और जैसा कि एच० पी० रिकमैन का विचार है, रोपर की 'इतिहासमूलक कल्पना' की धारणा डिल्थे की 'अवबोधन' की धारणा से अभिन्न है।[2] रोपर के अनुसार 'इतिहासमूलक कल्पना' ही इतिहासकार की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह इतिहास के साक्ष्यों के संचयन, व्यवस्थापन तथा व्याख्या में समर्थ हो कर अतीत को बोधगम्य बनाता है।

ऐतिहासिक अनुसंधान में कल्पना के प्रयोग की बात ऐसी है जो अनेक प्रकार के प्रश्नों को जन्म देती है। क्या यह अनुशासनबद्ध उपागम (डिसिप्लिड एप्रोच) का आधार बन सकती है? ऐतिहासिक साक्ष्यों अथवा प्रमाणों के संग्रहण-संचय तथा व्याख्या में यह कौन-सी भूमिका

---

[1] **'मीनिंग इन हिस्ट्री', एच० पी० रिकमैन द्वारा संपादित, पृष्ठ ४३।**

[2] **वही, पृष्ठ ४३-४४।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनीत करती है? ये प्रश्न ऐसे हैं जिन पर, इस संदर्भ में, विचार-विमर्श करना आवश्यक है।

यों तो कल्पना का क्षेत्र अत्यंत विशाल है किंतु विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रयोग अनुशासन की विभिन्न मात्राओं में किया जाता है। दिवास्वप्न अथवा रोमांस-लेखन में यह प्रायः अनियंत्रित होती है किंतु विज्ञान संबंधी सिद्धांत-परिकल्पन अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान में उनके विभिन्न प्रकार की बौद्धिक प्रक्रियाओं से संबद्ध तथा प्राप्त उपकरणों से संबंधित होने के कारण इसका नियंत्रित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, वह इतिहासकार, जो कल्पनात्मक रूप से किसी ऐतिहासिक चरित्र के मस्तिष्क में अथवा किसी युग की आत्मा में प्रवेश पा लेने का दावा करता है और किसी व्यक्ति या युग के विचारों, अभिप्रायों अथवा भावनाओं का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण प्रस्तुत करता है, उसके लिए अपने निष्कर्ष की पुष्टि में तत्कालीन पत्रों, व्याख्यानों तथा समसामयिक उल्लेखों के रूप में प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐतिहासिक चिंतन एक दृष्टि से ज्ञान की तरह है। अपने समुचित उद्देश्य के लिए चिंतन का प्रत्येक प्रकार कोई न कोई विशिष्टता रखता है। यहाँ इस क्षण, इस कमरे में बैठे हुए जिस वस्तु का मुझे प्रत्यक्ष बोध होता है, वह यह कमरा है, यह टेबुल है, यह काग़ज़ है, यह क़लम है। इतिहासकार जिस वस्तु का चिंतन करता है, वह अशोक अथवा अकबर है, उसके क्रिया-कलाप हैं, उसकी नीति है। ऐतिहासिक चिंतन का प्रतिपाद्य विषय वे घटनाएँ हैं जिनका घटित होना समाप्त हो चुका है और घटित होने की अवस्थाएँ अब अस्तित्व में नहीं रह गयी हैं। घटनाएँ केवल उसी अवस्था में ऐतिहासिक चिंतन की परिधि में आती हैं जब वे और अधिक प्रत्यक्ष बोधगम्य नहीं रह जातीं। अतः ज्ञान के वे संपूर्ण सिद्धांत, जो प्रत्यक्ष परिचय को ही ज्ञान-तत्व समझते हैं, इतिहास को असंभाव्य बना देते हैं।

दूसरी दृष्टि से, इतिहास, विज्ञान के सदृश होता है, क्योंकि दोनों में ज्ञान अथवा जानकारी तर्कसिद्ध होती है। किंतु जहाँ विज्ञान अव्यक्त सामान्य स्थापनाओं के जगत में निवास करता है जो एक अर्थ में प्रत्येक स्थल पर हैं और दूसरे अर्थ में कहीं नहीं हैं; जो एक अर्थ में सभी समय में हैं और दूसरे अर्थ में किसी समय में नहीं हैं; वहाँ इतिहासकार उन्हीं वस्तुओं एवं कार्यों के संबंध में विचार-विमर्श करता है अथवा तार्किक ढंग से निष्कर्ष निकालता है जो अव्यक्त न हो कर यथार्थ और ठोस होते हैं, सार्वजनीन न हो कर वैयक्तिक होते हैं। वे काल और स्थान की सीमा से परे न हो कर उससे बँधे होते हैं—किंतु वह काल और स्थान 'अब' और 'यहाँ' न हो कर 'तब' और 'वहाँ' होता है। अतः इतिहास को उन सिद्धांतों के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता जिनके अनुसार ज्ञान का विषय अमूर्त और स्थिर होता है।

इतिहास के पीछे एक सामान्य ज्ञान-सिद्धांत रहता है जिसके अनुसार इतिहास में दो मूलभूत बातें होती हैं—स्मृति तथा प्रमाण-पुरुष या आप्त वचन। यदि कोई घटना या कार्यावस्था ऐतिहासिक रूप में ज्ञात है तो सर्वप्रथम उससे कोई अवश्य ही परिचित हुआ होगा; फिर, उसने उसको अपनी स्मृति में सुरक्षित रखा होगा; फिर उसने उसको किसी अन्य व्यक्ति से कहा होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा लिपिबद्ध कर दिया होगा ; और अंत में उस दूसरे व्यक्ति ने पहले व्यक्ति के कथन को सत्य स्वीकार कर लिया होगा। इस प्रकार इतिहास, किसी अन्य की स्मृति पर विश्वास करना है। विश्वास करने वाला इतिहासकार है और जिस पर विश्वास किया गया वह उसका प्रमाण-पुरुष और उसका कथन आप्त वचन है।

यह सिद्धांत ध्वनित करता है कि ऐतिहासिक सत्य, जहाँ तक वह इतिहासकार को किसी भी दशा में सुलभ है, उसे केवल इसलिए सुलभ है, क्योंकि वह अपने प्रमाण-पुरुषों के पूर्व निष्पन्न वचनों के अंतर्गत बने-बनाये रूप में विद्यमान रहता है। ये वचन अथवा कथन उसके लिए एक पवित्र पाठ सदृश होते हैं जिनका मूल्य पूर्णतः उस पाठ-परंपरा की अखंडता पर आधारित रहता है जिसे वे प्रस्तुत करते हैं। अतः उसको उसमें किसी भी प्रकार का सम्मिश्रण नहीं करना चाहिए, और न परिवर्तन-परिवर्धन करना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार इसके अतिरिक्त जो सबसे बड़ी बात है वह यह है कि इतिहासकार को कभी भी उसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि वह अपने आप ही संचयन करने तथा यह निश्चित करने का साहस करता है कि उसके प्रमाण-पुरुषों के कुछ कथन महत्वपूर्ण हैं और कुछ महत्वहीन, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि वह अपने प्रमाण-पुरुषों की आलोचना कर रहा है और कोई अन्य निष्कर्ष निकाल रहा है। सिद्धांत के अनुसार उसका यह कार्य निश्चित ही ऐसा है जिसको करने का उसको अधिकार नहीं। यदि वह उनमें कुछ जोड़ता है, अपने निर्माण-कौशल के प्रदर्शन हेतु कुछ प्रक्षेप करता है और उन्हें अपने ज्ञान के अतिरिक्त रूप में स्वीकार करता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह किसी कारणवश प्रमाण-पुरुष के कथनों की अपेक्षा किसी अन्य बात पर विश्वास कर रहा है। उसका यह कार्य भी सिद्धांतानुसार ही उसकी अधिकार-सीमा के बाहर है। सर्वाधिक चिंतनीय अवस्था तब की है जब कि वह अपने प्रमाण-पुरुषों का प्रतिवाद करता है और यह निश्चय करने का साहस करता है कि प्रमाण-पुरुषों ने तथ्यों को ग़लत ढंग से प्रस्तुत किया है; वह उनके कथनों को अविश्वसनीय समझ कर उनको अस्वीकार करते हुए विपरीत बातों पर विश्वास करता है और अपनी पद्धति के नियमों के विपरीत एक निम्नतम कोटि का अपराध करता है। संभव है कि प्रमाण-पुरुष वाचाल एवं अर्थवादी रहा हो, अस्थिरमति, इधर-उधर की तथा द्वेषपूर्ण बातें करने वाला रहा हो; यह भी संभव है कि उसने जान-बूझ कर या अनजान में ही तथ्यों को ग़लत ढंग से प्रस्तुत किया हो, किंतु इन सब दोषों के सम्मुख इतिहासकार निरुपाय है। इस सिद्धांतानुसार जो कुछ उसके प्रमाण-पुरुष ने कह दिया है, इतिहासकार के लिए वही सत्य है और संपूर्ण प्राप्त सत्य है, और कुछ नहीं।

सामान्य ज्ञान-सिद्धांत के आधार पर निकाले गये इतिहास के जिन परिणामों की चर्चा ऊपर की गयी है, उसे कोई भी इतिहासकार संभवतः स्वीकार नहीं करेगा। प्रत्येक इतिहासकार यह जानता है कि अवसर पाने पर वह प्रमाण-पुरुष के कथनों में उपर्युक्त तीनों पद्धतियों के अनुसरण-क्रम में अपनी ओर से कुछ न कुछ सम्मिश्रण करता है। वह उनमें से जिन्हें महत्वपूर्ण समझता है, उनका चयन करता है और शेष को छोड़ देता है। वह उन बातों को अंतर्विष्ट करता है जो प्रमाण-पुरुषों द्वारा स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी हैं। वह जिन आप्त वचनों को मिथ्या समझता है, उनका संशोधन अथवा अस्वीकरण कर आलोचना करता है। वस्तुतः प्रत्येक इतिहासकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य ज्ञान-सिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी संचयन, निर्माण तथा आलोचनाओं के अपने निजी अधिकारों का प्रयोग करता है। निस्संदेह उसके ये अधिकार तथाकथित सिद्धांत के प्रतिकूल हैं, किंतु प्रमाण-पुरुषों के कथनों की असंगतियों एवं प्रतिवादों को यथासंभव कम करने के लिए उसकी कार्य-पद्धति के ये अपरिहार्य अंग हैं। इतिहासकार द्वारा अपने इन निजी अधिकारों का प्रयोग एक प्रकार का बौद्धिक विद्रोह है जिसको करने के लिए वह प्रमाण-पुरुषों की असामान्य असंगतियों द्वारा बाध्य कर दिया जाता है, फिर भी जो उसकी स्वाभाविक, शांतिमय एवं आस्थावान शासन-पद्धति को विशृंखल नहीं बनाता।

इतिहासमूलक कल्पना अथवा कॉलिंगउड की शब्दावली में ऐतिहासिक चिंतन की वैयक्तिक स्वतंत्रता अपने सर्वाधिक सहज रूप में संचयन-कार्य में देखी जा सकती है। वह इतिहासकार, जो सामान्य ज्ञान-सिद्धांत के अनुसार कार्य करने तथा अपने प्रमाण-पुरुष के कथनों को ठीक उसी रूप में पुनर्प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, एक ऐसे परिदृश्य-चित्रकार के समान होता है जो चित्रकला के उस सिद्धांतानुसार कार्य करने का प्रयत्न करता है जिसका लक्ष्य प्रकृति का अनुकरण करना है। परिदृश्य का अंकन करते समय चित्रकार प्राकृतिक वस्तुओं के वास्तविक रूप-रंग का अनुकरण तो करता है किंतु ऐसा करते समय वह सर्वदा संचयन, सरलीकरण तथा व्यवस्थापन का आधार लेता है। चित्र में जो कुछ अंकित होता है, उसका उत्तरदायी प्रकृति नहीं, वरन कलाकार होता है। इसी प्रकार कोई भी इतिहासकार, चाहे वह अति सामान्य ही क्यों न हो, अपने प्रमाण-पुरुषों का केवल अनुकरण ही नहीं करता। यद्यपि वह अपने मन से भी कोई चीज़ नहीं भरता है, किंतु वह उन बातों को हमेशा छोड़ देता है जिन्हें आवश्यक नहीं समझता। अतः जब वह इतिहास लिखता है तो उसमें वर्णित बातों का उत्तरदायी वह होता है न कि प्रमाण-पुरुष। इस प्रश्न पर वह स्वतंत्र है।[३]

इतिहासकार के संचयन-कार्य के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वह अगणित घटनाओं में से, जो काल की अनंत प्रक्रिया में घटित होती हैं, क्या चुने और क्या छोड़ दे, किसे ऐतिहासिक दृष्टि से संगत माने और किसे असंगत। जैसा कि ऊपर हम संकेत कर चुके हैं, इतिहासकार अपने अनुशीलन-विषय में से जो कुछ चयन करता है, उसमें स्पष्ट रूप से व्यक्तिपरकता होती है। वह उनमें से अपनी रुचि, शिक्षा-दीक्षा, संस्कार तथा प्रकृति के अनुकूल ही चयन करता है और संभवतः अपने युग के पूर्वग्रह से भी प्रभावित रहता है। यह संचयन देश और काल, अनुसंधान-सीमा तथा अध्ययन पक्ष की ओर संकेत करता है जो व्यवहारतः आवश्यक है, किंतु सिद्धांततः कम महत्व का होता है। यह इतिहासकार की निजी सीमाओं को प्रदर्शित करता है जो इतिहास में विभिन्न घटनाओं के तुलनात्मक महत्व के संबंध में किसी निर्णय की ओर संकेत नहीं करता।

अब प्रश्न रह जाता है कि इतिहासकार महत्व एवं संगति की दृष्टि से कैसे संचयन करे? जैसा कि डिल्थे ने कहा है, अवबोधन अथवा इतिहासमूलक कल्पना हमें जीवन के भीतर पैठने

---

[३] **आर० जी० कॉलिंगउड : 'आइडिया आफ़ हिस्ट्री', पृष्ठ ३६-३७।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अंतर्दृष्टि देती है और संचयन, जो महत्व का निर्धारण करता है, जिये हुए मानव-जीवन का अनुगामी होता है। मानव-जीवन में अगणित घटनाएँ घटित होती हैं, किंतु उनमें जो अप्रमुख होती हैं, उन्हें हम भूल जाते हैं; जो प्रमुख होती हैं, जो व्यक्ति को विकास के पंथ पर आगे बढ़ाती हैं, जो युग पर अपनी छाप छोड़ जाती हैं तथा स्मृति में जम जाती हैं, वे निर्दिष्ट होती हैं और कभी-कभी लिख ली जाती हैं। जब हम किसी व्यक्ति, समूह अथवा किसी युग के संबंध में विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि न्यूनाधिक मात्रा में वे उन मूल्यों और आदर्शों के चारों ओर केंद्रित रहते हैं जो महत्वपूर्ण होने के अधिकारी होते हैं। सबल कारणों तथा कारण-समूहों द्वारा विषयी-गत रूप से अधिकृत तथा इतिहासकार की कल्पना द्वारा गृहीत ये मूल्य और आदर्श तथ्यों की महत्ता और संगति के विषयगत निर्धारण के लिए कम से कम सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं—हालाँ कि वे सिद्धांत ही सब कुछ नहीं हैं। इस बात को सही ढंग से रखने के लिए यह पूछना कि इतिहास में अर्थशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र कैसे महत्वपूर्ण हैं, अति सूक्ष्म तथा संभवतः असंगत प्रश्न है। किंतु प्राप्त प्रमाणों पर इतिहासमूलक कल्पना के प्रयोग द्वारा हम यह निश्चय करने में समर्थ हो सकते हैं कि धर्म ने इतिहास में निश्चित भाग लिया है। तब, वैयक्तिक धर्म अथवा युग-धर्म की विशेषताओं को जानना तथा धर्म की कसौटी पर तथ्यों का मूल्यांकन और संचयन अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। एक ऐतिहासिक वातावरण में राजनीतिक दिशा-निर्देश करने वाले सूत्र प्रदान कर सकती है, तो दूसरे युग में अर्थशास्त्र उसका महत्वपूर्ण भाग सिद्ध हो सकता है। दूसरे शब्दों में, इतिहासकार तथ्यों के संचयन तथा वर्गीकरण में अप्रसिद्ध घटनाओं से प्रारंभ नहीं करता है। जिस ऐतिहासिक घटना-धारा के मूल-स्रोत का पता लगाने का वह प्रयत्न करता है, वह पहले ही उस धारा में भाग लेने वाले व्यक्तियों द्वारा अभिप्रायपूर्णता के साथ अनुभव किया जा चुका है, उन्होंने पहले ही तथ्यों का संचयन तथा उनकी व्याख्या एवं अपने कार्यों का मूल्यांकन कर दिया है। ये व्याख्याएँ तथा मूल्यांकन इतिहासकार के लिए केवल आँखों-देखे ऐतिहासिक वर्णन के रूप में ही वहाँ नहीं हैं वरन वैधानिक नियमों, व्यापारिक व्यवहारों, स्मृतिपत्रों, आलेखों, धर्मोपदेशों, कविताओं, चित्रों आदि के रूप में भी सुरक्षित हैं। चूँकि इतिहासकार इन प्रमाण-सामग्रियों की व्याख्या कल्पनात्मक रूप से करता है, अतः वह केवल अपरिचित व्यक्तियों के मस्तिष्क में ही प्रवेश नहीं करता, वरन घटनाओं के बीच के संबंधों तथा स्वरूपों को भी उसी रूप में ग्रहण करता है जिस रूप में वे भाग लेने वाले व्यक्तियों के सम्मुख आये थे।[४]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐतिहासिक चिंतन की वैयक्तिक स्वतंत्रता सर्वाधिक सहज रूप में तथ्यों के संचयन-कार्य में देखी जा सकती है। इतिहासकार की इस स्वतंत्रता का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट प्रदर्शन उसके ऐतिहासिक निर्माण में पाया जाता है। मान लीजिए कि इतिहासकार के प्रमाण-पुरुष किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया की बीच की अवस्था को अवर्णित छोड़ देते हैं और केवल इधर और उधर की अवस्था को ही बताते हैं। तब, बीच की अवस्था को वह अपनी कल्पना द्वारा ही पूर्ण कर सकता है। इतिहासकार का यह चित्र-भाग, यद्यपि वह इसमें अपने

---

[४] एच० पी० रिकमैन : मीनिंग इन हिस्ट्री, पृष्ठ ४७-४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण-पुरुषों के प्रत्यक्ष कथनांशों को रख सकता है, उसके उन निजी कथनों से भी युक्त होता है जो उसके अपने सिद्धांतानुसार, उसकी अपनी पद्धति तथा प्रसंगानुकूलता के प्रनियमों के अनुसार तर्कपूर्ण एवं अनुमानात्मक होते हैं। अपने कार्य के इस भाग में वह अपने प्रमाण-पुरुषों पर कभी भी आधारित नहीं रहता। अपने कथनों का प्रमाण वह स्वयं अपने आप होता है और अपनी ही शक्तियों पर आश्रित रहता है।

इतिहासकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता का सर्वाधिक स्पष्ट रूप उसकी इतिहास विषयक आलोचना में पाया जाता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए प्रयोग द्वारा प्रकृति को सताता है और तब विज्ञान को एक समुचित पद्धति मिल जाती है, उसी प्रकार इतिहास भी तब अपनी एक तर्कसंगत व्यवस्था पा लेता है जबकि इतिहासकार अपने प्रमाण-पुरुषों को कठघरे में खड़ा कर के प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों द्वारा उनसे अनेक ऐसी सूचनाएँ निकलवा लेता है जिनको उन लोगों ने अपने आप्त वचनों में इसलिए नहीं व्यक्त किया, क्योंकि वे उनको छिपाना चाहते थे अथवा उनको उनका ज्ञान ही नहीं था।

यहाँ इतिहासकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता अपने पूर्ण रूप में व्यंजित होती है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि एक इतिहासकार के गुणों से समन्वित होने के कारण उसमें यह सामर्थ्य है कि वह अपने प्रमाण-पुरुषों द्वारा कथित किसी बात को निश्चित रूप से अस्वीकार दे और उसके स्थान पर किसी दूसरी बात को प्रस्थापित कर दे। यदि ऐसा संभव है तो ऐतिहासिक सत्य की कसौटी यह बात नहीं हो सकती कि अमुक बात किसी प्रमाण-पुरुष द्वारा कथित है। प्रमाण-पुरुष की यह तथा-कथित विश्वसनीयता और उसके कथन ऐसे हैं जो विवादास्पद हैं। इतिहासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रश्न का उत्तर स्वयं दे। अतएव यदि वह अपने प्रमाण-पुरुष द्वारा कथित बात को स्वीकार कर लेता है तो वह अपने बल पर स्वीकार करता है। इसलिए स्वीकार करता है कि वह उसके ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इतिहास को 'स्मृति' और 'प्रमाण-पुरुष' पर संस्थापित करने वाला सामान्य ज्ञान सिद्धांत कमज़ोर भित्ति पर आधारित और भ्रमपूर्ण है। इतिहासकार के लिए कोई प्रमाण-पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि तथाकथित प्रमाण-पुरुष उसी अभिमत पर दृढ़ रहते हैं जिसे केवल इतिहासकार प्रस्तुत कर सकता है। फिर भी, सामान्य ज्ञान-सिद्धांत किसी विशिष्ट तथा सापेक्ष सत्य के संबंध में बलपूर्वक कह सकता है। और चूंकि इतिहास अपने प्रमाण-पुरुष पर आधारित नहीं होता, अतएव वह स्मृति पर भी आधारित नहीं है। इतिहासकार उन तथ्यों एवं घटनाओं की पुनः खोज कर सकता है, जो इस अर्थ में पूर्णतः विस्मृत कर दी गयी हैं कि उनसे संबंधित कोई भी कथन प्रत्यक्षदर्शियों की अटूट परंपरा द्वारा उसके पास नहीं पहुँचा है। वह उन घटनाओं का भी अनुसंधान कर सकता है जिनके घटित होने का ज्ञान उसके अनुसंधान के पहले किसी को भी नहीं था। यह कार्य वह कुछ तो अपने उपलब्ध साधनों में आये हुए कथनों की आलोचनात्मक व्याख्या द्वारा करता है और कुछ अलिखित साधनों के प्रयोग द्वारा। आप्त वचनों या लिखित साधनों का भी वह विभिन्न प्रकार की संगतियों से वास्तविक अर्थ निर्धारित करता है, क्योंकि उसके बिना उनका या तो कोई अर्थ ही नहीं रहता अथवा उन्हें किसी भी अर्थ में ग्रहण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा सकता है। अर्थ-निर्धारण की समस्या यद्यपि भाषा की समस्या है तथापि उसका समाधान इतिहासकार को ही करना पड़ता है। निश्चित रूप से उसके ये कार्य इतिहासमूलक कल्पना के ही अधीनस्थ रहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक सत्य की कसौटी क्या है? सामान्य ज्ञान-सिद्धांतानुसार यह इतिहासकार द्वारा प्रस्तुत कथनों तथा उसके प्रमाण-पुरुषों एवं आप्त वचनों का पारस्परिक ऐक्य है, किंतु जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, यह उत्तर भी भ्रमपूर्ण है। प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रेडले ने 'दि प्रीसपोज़ीशन ऑफ़ क्रिटिकल हिस्ट्री' नामक अपने एक प्रारंभिक निबंध में इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। यद्यपि बाद में वे उस उत्तर से संतुष्ट नहीं रहे, फिर भी वह उत्तर ऐसा नहीं है, जिसे विवेकरहित कहा जा सके। प्रस्तुत प्रश्न के संबंध में ब्रेडले महोदय का उत्तर था कि हमारा सांसारिक अनुभव यह शिक्षा देता है कि कुछ घटनाएँ घटित होती हैं और कुछ नहीं घटित होतीं। यह अनुभव ही वह कसौटी है जिस पर इतिहासकार अपने प्रमाण-पुरुषों के कथनों को कस कर उनकी सत्यता की परख करता है। यदि उसके प्रमाण-पुरुष उससे कहते हैं कि अमुक प्रकार की घटनाएँ घटित हुईं जो इतिहासकार के अनुभव के अनुसार नहीं घटित होती हैं, तो वह उन पर अविश्वास करने के लिए मजबूर है, और वे घटनाएँ, जिनकी सूचना वे देते हैं, ऐसी हैं जो उसके अनुभव के अनुसार घटित होती हैं तो वह उनको स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र हैं।[१]

ब्रेडले महोदय के इस मत के विरोध में कई आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। जैसा कि कॉलिंगउड ने संकेत किया है, प्रस्तावित मापदंड अथवा कसौटी यह नहीं है कि क्या घटित हुआ, वरन यह है कि क्या घटित हो सका। वास्तव में यह काव्य में स्वीकारणीय अरस्तू के मापदंड के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतएव यह इतिहास और कथा के भेद को स्पष्ट करने की क्षमता नहीं रखता। इस प्रकार यह मापदंड एक इतिहासकार के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए भी है। अतः यह आलोचनात्मक इतिहास की कसौटी अथवा मापदंड नहीं हो सकता।

दूसरी बात जिसकी ओर कालिंगउड ने संकेत किया है वह यह है कि चूँकि यह मापदंड या कसौटी यह नहीं बता सकती कि क्या घटित हुआ, अतः उसके लिए हमें सूचना देने वाले के आधारभूत कथनों पर ही विश्वास करना रह जाता है। जब हम उसका उपयोग करते हैं तो उन सभी बातों को स्वीकार कर लेते हैं जिसे सूचना देने वाला बतलाता है, बशर्ते कि उनमें संभावना की तनिक भी गुंजाइश हो। यह अपने प्रमाण-पुरुषों पर अपराध लगाना नहीं है, वरन उनकी बातों को आँख मूंद कर स्वीकार कर लेना है जो इतिहास की आलोचनात्मक प्रकृति के विपरीत है।

कॉलिंगउड ने एक तीसरी बात भी ब्रेडले महोदय के मत के विरोध में प्रस्तुत की है। उसके मतानुसार इतिहासकार का उस संसार का अनुभव जिसमें वह रहता है उसे उसके प्रमाण-पुरुषों के केवल उन्हीं कथनों के परीक्षण में (निषेधात्मक रूप में भी) सहयोग दे सकता है, जहाँ

---

[१] आर० जी० कालिंगउड : आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, पृष्ठ २३८-९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक वे इतिहास से संबंधित नहीं हैं, वरन प्रकृति से संबंधित है जिसका कोई इतिहास नहीं। प्राकृतिक नियम हमेशा से यथावत रहे हैं। आज जो कुछ प्रकृति के विपरीत है वह दो हज़ार वर्ष पूर्व भी प्रकृति के विपरीत था। किंतु मनुष्य-जीवन की प्राकृतिक परिस्थितियों से भिन्न, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ विभिन्न युगों में एक दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि प्रत्येक युग की परिस्थितियों पर एक ही सिद्धांत लागू नहीं हो सकता।[६] अतएव ब्रेडले महोदय की ऐतिहासिक सत्य की कसौटी पूर्णतया तर्कसम्मत नहीं कही जा सकती।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इतिहासकार को अपने प्रमाण-पुरुषों के कथनों में से महत्वपूर्ण एवं प्रमुख कथनों के संचयन के अतिरिक्त दो पद्धतियों से अपने प्रमाण-पुरुषों के कथनों की सीमा का अतिक्रमण करना चाहिए। प्रथम पद्धति आलोचनात्मक है, जिसकी व्याख्या का प्रयत्न ब्रेडले महोदय ने किया है तथा दूसरी पद्धति रचनात्मक है। जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, रचनात्मक इतिहास, प्रमाण-पुरुषों के कथनों तथा उनके द्वारा संकेतित अन्य कथनों के बीच प्रक्षेप (इंटरपोलेशन) है। तदनुसार, यदि हमारे प्रमाण-पुरुष यह कहते हैं कि महात्मा बुद्ध एक दिन वैशाली में थे और बाद के किसी दिन पाटलिपुत्र में थे और इन दोनों स्थानों के बीच उनकी यात्रा के संबंध में कुछ नहीं बताते, तो हम अपने विवेक से उस बीच की उनकी यात्रा को कल्पना से पूरा कर सकते हैं।

प्रक्षेप के इस कार्य में दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं। प्रथमतः, यह किसी प्रकार, स्वच्छंद अथवा मात्र काल्पनिक नहीं हैं वरन अपरिहार्य हैं। कांट की शब्दावली में इसे 'प्रागनुभव' (अ प्रॉयराइ) कह सकते हैं। यदि हम महात्मा बुद्ध के कार्यों के वृतांत्तों को अपने काल्पनिक विवरणों, जैसे उन मनुष्यों के नाम जिनसे बुद्ध मार्ग में मिले थे, उनके पारस्परिक संवाद आदि से भरते हैं तो यह संरचना स्वच्छंद होगी। वास्तव में यह ऐसी संरचना होगी जो ऐतिहासिक उपन्यासकार द्वारा की जाती है। किंतु यदि इतिहासकार की संरचना में ऐसी ही बातें सम्मिलित हैं जिनको साक्ष्य के आधार पर मान लेना अनिवार्य हो जाता है तो यह एक प्रकार का यथार्थ ऐतिहासिक निर्माण है जिसके बिना इतिहास हो ही नहीं सकता। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इतिहास के रचनाक्रम में साक्ष्य स्वयं अपने को विस्तारित और संगठित करने की प्रेरणा इतिहासकार को देता है। जो इतिहासकार साक्ष्य का जितना अनुसरण करता है, वह उतना ही प्रामाणिक माना जाता है।

द्वितीयतः, इस पद्धति में जो कुछ निर्णीत है वह अनिवार्यतः काल्पनिक है। यदि हम समुद्र की ओर दृष्टिपात करते हैं और एक पोत को देखते हैं; और पाँच मिनट पश्चात पुनः दृष्टिपात करते हैं और एक अन्य स्थान पर उसे देखते हैं तो हम इस बीच की अवस्था की, जिसे हम नहीं देख रहे थे, कल्पना करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि हमसे कहा जाता है कि बुद्ध अमुक क्रमिक कालों में अमुक-अमुक स्थानों पर रहे तो हम एक स्थान से दूसरे स्थान की उनकी यात्रा की कल्पना करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

---

[६] वही, पृष्ठ ३९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कॉलिंगउड ने उपर्युक्त दोनों विशेषताओं से समन्वित इतिहासकार की इस क्रिया-शक्ति को 'प्रागनुभव कल्पना' नाम दिया है। वस्तुतः यह 'प्रागनुभव कल्पना' ही इतिहासकार की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह प्रमाण-पुरुष के कथनों के बीच के रिक्त स्थानों को भर सकता है और ऐतिहासिक वर्णनों अथवा वृत्तांतों के नैरंतर्य को बनाये रख सकता है। इतिहासकार को अपनी कल्पना का प्रयोग करना चाहिए, यह एक सामान्य प्रकरण है। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मेकाले ने अपने 'इतिहास' शीर्षक एक निबंध में लिखा है : "अपने वर्णन को प्रभावशाली एवं आकर्षक बनाने के लिए एक कुशल इतिहासकार में सशक्त कल्पना का होना अति आवश्यक है।"[७] किंतु इस प्रकार का कथन इतिहास-संरचना में इतिहासमूलक कल्पना के योगदान का अल्पानुमान करता है जो वास्तव में आलंकारिक नहीं वरन रचनामूलक होती है। इसके बिना इतिहासकार के पास अलंकृत करने के लिए कोई वृत्तांत ही नहीं रह जाता। इतिहास-संरचना में यह कल्पना अनिवार्य है जो स्वच्छंद कल्पना की भाँति चंचल एवं अस्थिर न हो कर अपने 'प्रागनुभव' रूप में इतिहास विषयक रचना का संपूर्ण कार्य संपादित करती है।

इस संबंध में यहाँ दो भ्रांत धारणाओं के उत्पन्न हो जाने की संभावना है। प्रथम तो यह सोचा जा सकता है कि कल्पना द्वारा हम केवल उसी को अपने समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं जो अवास्तविक और काल्पनिक है। यह धारणा एकांगी और एकपक्षीय है। इतिहास-संरचना में इस प्रकार की कल्पना का न तो कोई महत्व है, न कोई उपयोग। यदि मैं यह कल्पना करता हूँ कि मेरा एक मित्र, जो थोड़े समय पहले मेरे घर से गया है, अब अपने घर में प्रविष्ट हो रहा है तो मेरी यह कल्पित बात घटना की यथार्थता पर अविश्वास करने का कोई कारण उपस्थित नहीं करती।

द्वितीयतः, 'प्रागनुभव कल्पना' का उल्लेख असंगत या असद्भासपूर्ण प्रतीत हो सकता है। क्योंकि यह सोचा जा सकता है कि कल्पना मूलतः चंचल, उच्छृंखल एवं अस्थिर मन की अस्थिर उपज है। यह धारणा भी एकांगी है। इतिहास संबंधी कार्य के अतिरिक्त 'प्रागनुभव कल्पना' के दो अन्य महत्वपूर्ण कार्य हैं। एक कार्य स्वतंत्र है किंतु किसी भी अर्थ में उच्छृंखल नहीं है, जैसे कलाकार का परिकल्पन। एक उपन्यासकार उपन्यास-लेखन में किसी कहानी की रचना करता है जिससे विविध पात्र विविध रूप में आ कर कहानी में भाग लेते हैं। यद्यपि सभी पात्र और घटनाएँ सामान्य रूप से काल्पनिक होती हैं तथापि उपन्यासकार का संपूर्ण उद्देश्य कार्यरत चरित्रों तथा विकसित होती हुई घटनाओं को उनकी आंतरिक आवश्यकता द्वारा निश्चित क्रम में प्रदर्शित करना होता है। कथा, यदि वह एक अच्छी कथा है तो, जिस रूप में विकसित होती है उसकी अपेक्षा किसी अन्य रूप में वह विकसित हो ही नहीं सकती; और जिस प्रकार उसका विकास होता है उससे भिन्न प्रकार के विकसन की कल्पना उपन्यासकार कर ही नहीं सकता। इस विषय में इसी के सदृश अन्य दूसरी कलाओं में भी 'प्रागनुभव कल्पना' कार्य करती है। प्रागनुभव कल्पना का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है संभव बोधक्षमता के विषयों का, जो वास्तव में

---

[७] मेकाले : 'एसे ऑन हिस्ट्री', पृष्ठ ७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूत नहीं हैं, प्रस्तुतीकरण तथा संपूर्ति। इसे हम प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक परिकल्पना कह सकते हैं। जैसे पृथ्वी के अंतर्गत अथवा चंद्रमा के पृष्ठ भाग के प्रत्यक्ष दर्शन की कल्पना करना। इतिहास-मूलक कल्पना, इन कल्पनाओं से प्रागनुभव होने के अर्थ में भिन्न नहीं है, वरन इस अर्थ में भिन्न है कि उसका विषय अतीत है जो हमारी संभव बोधक्षमता से परे है। यद्यपि अब उस अतीत का अस्तित्व नहीं है, किंतु कल्पना द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है।

इस प्रकार, इतिहासकार द्वारा निर्मित अपने विषय का चित्र, चाहे वह घटनाओं की शृंखला का हो अथवा कार्यों की अतीतावस्था का, उसके प्रमाण-पुरुषों के कथनों द्वारा प्रस्तुत निश्चित रूप से निर्धारित बिंदुओं के बीच फैले हुए कल्पनात्मक संरचना के एक जाल की तरह प्रतीत होता है; और यदि ये बिंदु अत्यधिक समीपस्थ हैं तथा प्रत्येक से उसके आसन्न बिंदु पर ताने हुए जाल-सूत्र सतर्कता के साथ प्रागनुभव कल्पना द्वारा—कभी भी केवल स्वच्छंद कल्पना द्वारा नहीं—बनाये जाते हैं तो संपूर्ण चित्र इन सामग्रियों पर पुनर्विचार करने से निरंतर सत्य प्रमाणित होता है और यथार्थ का प्रदर्शन अधिक स्पष्टता से करते हैं। इस संदर्भ में यह बात स्मरणीय है कि प्रमाण-पुरुषों के कथनों द्वारा निर्धारित बिंदु, जिन पर इतिहासकार अपनी इतिहासमूलक कल्पना का जाल बनाता है, तभी तक यथार्थ एवं वास्तविक हैं जब तक कि वे उसके आलोचनात्मक चिंतन की सीमा में आते हैं। उसके बाहर उनका कोई महत्व नहीं; अतः वे असत्य से भिन्न नहीं हैं।

स्वयं ऐतिहासिक चिंतन के अतिरिक्त अन्य ऐसा कुछ नहीं है जिस पर पुनर्विचार करने से उसके परिणाम या निष्कर्ष सत्य प्रमाणित हो सकते हों। इतिहासकार ठीक उसी ढंग से सोचता है जिस ढंग से जासूसी उपन्यास का नायक सोचता है। जिस प्रकार जासूसी उपन्यास का नायक विविध प्रकार के प्राप्त संकेतों द्वारा अपराध-घटना का एक काल्पनिक चित्र निर्मित करता है और अपराधी का निश्चय करता है, उसी प्रकार इतिहासकार भी इतिहास की प्राप्तव्य सामग्री द्वारा इतिहास के संपूर्ण चित्र का अपनी कल्पना से निर्माण कर उसकी सत्यता को प्रदर्शित करता है। प्रारंभ में यह सत्य समर्थन की प्रतीक्षा करता हुआ एक सिद्धांत मात्र होता है जो शून्य से उद्भूत होता है। जासूस के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उस साहित्यिक रूप (जासूसी उपन्यास) की स्वीकृत पद्धतियाँ आदेश देती हैं कि: जब उसकी रचना पूर्ण हो जाएगी तब अपराधी किसी परिस्थिति विशेष में आ कर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा और उस परिस्थिति विशेष का औचित्य शका से परे हो जायेगा। किंतु इतिहासकार जासूस की अपेक्षा कम भाग्यशाली होता है। यदि अब तक के प्राप्तव्य सूचनाओं एवं प्रमाणों के अध्ययन के पश्चात उसे यह निश्चय हो जाय कि कालिदास के नाटकों को भास ने लिखा अथवा अशोक ने अपने पिता की हत्या के पश्चात शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया तो उसे इस तथ्य को स्वीकार करने वाला उनका कोई स्वहस्तलिखित प्रमाण पाना आवश्यक है। अन्यथा वह अपने निष्कर्षों को किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकेगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इतिहासकार प्रमाण-पुरुषों द्वारा निर्धारित घटना-बिंदुओं के बीच की दूरी को अपनी कल्पनात्मक संरचना-जाल से भरता है। कल्पनात्मक संरचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का संपूर्ण दायित्व तो उस पर रहता ही है, प्रमाण-पुरुषों द्वारा कथित घटना-बिंदुओं के निर्धारण का दायित्व भी अपरोक्ष रूप से उसी पर रहता है। अपने तथाकथित प्रमाण-पुरुषों के कथनों को चाहे तो वह स्वीकार करे या अस्वीकार करे, उन्हें संशोधित करे, या उनकी पुनर्व्याख्या करे; वास्तव में प्रमाण-पुरुषों के कथनों की सम्यक आलोचना करने के पश्चात जिस वर्णित वस्तु की रूपरेखा वह तैयार करता है, उसका दायित्व उसी पर होता है। उसकी वर्णित वस्तु या कथन की कसौटी यह बात कदापि नहीं हो सकती कि वह प्रमाण-पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार, इतिहासकार द्वारा निर्मित अतीत का चित्र उसकी निजी प्रागनुभव कल्पना की उपज है जिसकी अपनी संरचना में प्रयुक्त साधनों का औचित्य-प्रदर्शन आवश्यक है। ये साधन वस्तुतः मूल स्रोत होते हैं, अर्थात उन पर केवल इसलिए विश्वास किया जाता है कि वे इतिहासकार की दृष्टि में न्यायसंगत हैं। क्योंकि कोई भी साधन या स्रोत दोषपूर्ण हो सकता है, हो सकता है कि अभिलेख पढ़ने वाले ने ग़लत पढ़ा हो अथवा असावधान संगतराश ने ग़लत लिख दिया हो। कुशल इतिहासकार को इसी प्रकार के दोषों तथा अन्य भ्रांत कथनों का अनुसंधान एवं संशोधन करना होता है। वह ऐसा केवल तभी कर सकता है जबकि इस बात पर वह विचार करे कि अतीत का वह चित्र जिसकी ओर साक्ष्य उसे ले जाते हैं, तर्कसंगत, समुचित अविच्छिन्न तथा सार्थक है। प्रागनुभव कल्पना, जो इतिहास की संरचना करती है, इतिहास की समालोचना के साधन भी प्रस्तुत करती है।

बाह्य साधनों से संग्रहीत किंतु स्वतंत्र, इतिहासकार द्वारा निर्मित, अतीत का चित्र इस प्रकार प्रत्येक विवरण में एक काल्पनिक चित्र होता है और प्रत्येक बिंदु पर इसका प्रयोजन प्रागनुभव कल्पना का प्रयोजन होता है। जो कुछ भी उसके भीतर समाविष्ट होता है, वह इसलिए नहीं कि उसकी कल्पना निश्चेष्ट रूप से उसे स्वीकार कर लेती है, वरन इसलिए कि वह उसको सक्रिय रूप से चाहती है, उसकी माँग करती है।

यहाँ इतिहासकार और उपन्यासकार के बीच का सादृश्य, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। दोनों के कार्य-व्यापार का लक्ष्य एक ऐसा चित्र बनाना होता है जो कुछ अंशों में घटनाओं का विवरण होता है, तथा कुछ अंशों में परिस्थितियों का वर्णन, भावनाओं का प्रदर्शन एवं चरित्रों का विश्लेषण। प्रत्येक का लक्ष्य अपने चित्र को पूर्ण रूप से सामंजस्यपूर्ण एवं सुसंगत बनाना होता है जहाँ प्रत्येक चरित्र और प्रत्येक परिस्थिति शेष से ऐसी बँधी हुई होती है कि वह चरित्र इस परिस्थिति में वैसा कर ही नहीं सकता वरन करता है। हम दूसरे रूप में उसके करने की कल्पना भी नहीं कर सकते। उपन्यास तथा इतिहास दोनों ही बोधगम्य और सार्थक होने चाहिए। दोनों के लिए जो कुछ आवश्यक है उसके अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। दोनों अवस्थाओं में इस आवश्यकता की निर्णायिका है कल्पना-शक्ति। उपन्यास और इतिहास दोनों ही आत्मव्याख्यात्मक, आत्मौचित्यविधायक तथा आत्मशासित सक्रियता की उपज हैं और दोनों स्थिति में यह सक्रियता प्रागनुभव कल्पना है।

जहाँ तक कल्पना के कार्य का संबंध है, इतिहासकार तथा उपन्यासकार के कार्यों में कोई भेद नहीं है। भेद उनमें यह है कि इतिहासकार का चित्र सत्य का प्रकाशन करता है। उपन्यास-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार के सम्मुख केवल एक कार्य होता है। वह कार्य है ऐसे सामंजस्यपूर्ण एवं संश्लिष्ट चित्र का निर्माण जो बोधगम्य एवं सार्थक हो। इतिहासकार का दुहरा कार्य होता है और दोनों को उसे करना पड़ता है। उसे उन परिस्थितियों तथा घटनाओं का चित्र निर्मित करना होता है जैसा वे वस्तुतः रहीं तथा घटित हुई थीं। यह अतिरिक्त अनिवार्यता उस पर रचना-प्रणाली के कुछ विशिष्ट नियमों के पालन का दायित्व आरोपित करती है जिससे उपन्यासकार या कलाकार मुक्त रहता है। हाँ, यदि उपन्यासकार ऐतिहासिक कथावस्तु को लेता है तो उसे भी कुछ अंशों में दुहरा दायित्व निभाना पड़ता है।

इतिहास में (अन्य गंभीर विषयों में भी) कोई भी उपलब्धि अंतिम नहीं होती। किसी भी समस्या को सुलझाने के निमित्त प्राप्तव्य प्रमाण ऐतिहासिक पद्धति के प्रत्येक परिवर्तन तथा इतिहासकारों के सामर्थ्य-सीमा के उतार-चढ़ाव के साथ बदलते रहते हैं। जिन सिद्धांतों की कसौटी पर प्रमाण परखे तथा व्याख्यापित किये जाते हैं, वे भी बदलते रहते हैं; क्योंकि प्रमाण की व्याख्या करना एक ऐसा कार्य है जिसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तत्संबंधी अपने संपूर्ण ज्ञान अर्थात इतिहास विषयक ज्ञान, मानव और प्रकृति के ज्ञान, गणित के ज्ञान, दर्शन के ज्ञान आदि को प्रस्तुत करे। और, मात्र ज्ञान ही क्यों, प्रत्येक प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों और स्वत्वों का प्रस्तुतीकरण भी आवश्यक है, और ये सब चीज़ें ऐसी हैं जो निरंतर परिवर्तित होती रहती हैं।

किंतु न तो इतिहासविषयक ज्ञान का उपादान अर्थात बोधक्षमता की सीमा में आने वाला वर्तमान सामग्री का विवरण और न प्रमाणों की व्याख्या में सहयोग देने वाली इतिहासकार की प्रतिभा ही उसके ऐतिहासिक सत्य की कसौटी प्रस्तुत कर सकती है! जैसा कॉलिंगउड ने संकेत किया है, इस सत्य की कसौटी वस्तुतः अतीत के काल्पनिक चित्र का निदर्शन, इतिहास का प्रत्यय स्वयं ही है। इतिहास का यह प्रत्यय या विचार अंतर्जात एवं प्रागनुभव है। यह मनोवैज्ञानिक कारणों की एक आकस्मिक उपज नहीं है। यह एक ऐसी भावना है, एक ऐसी मानसिक रूपरेखा है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान का अंग बना कर रखता है। इस कोटि की अन्य भावनाओं अथवा विचारों की भाँति यह एक ऐसा विचार है जो अनुभूत तथ्यों के ठीक-ठीक समरूप नहीं होता। कोई भी इतिहासकार, चाहे वह कितना भी निष्ठापूर्वक और दीर्घ अवधि तक कार्य करे, यह नहीं कह सकता कि उसका कार्य अंतिम रूप से पूर्ण हो गया है और उसके द्वारा निर्मित अतीत का चित्र ठीक वैसा ही है जैसा उसे होना चाहिए। किंतु वह भावना अथवा कल्पना, जो इतिहास की धारा को शासित करती है, स्पष्ट, युक्तिपूर्ण एवं सार्वभौमिक होती है, हालाँकि इतिहासकार के कार्य के परिणाम, दोषपूर्ण एवं अपूर्ण हो सकते हैं। वस्तुतः यह भावना इतिहासमूलक कल्पना का एक आदर्श है जो चिंतन के आत्मावलंबी, आत्मनिश्चायक एवं आत्मसमर्थक रूप की भाँति होती है।[८]

—६८ रामबाग, इलाहाबाद-३।

---

[८] **कॉलिंगउड : आइडिया ऑफ़ हिस्ट्री, पृष्ठ २४८–९।**

६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णनंदन 'पीयूष'

तीन छोटी कविताएँ

आकाशदीप

चलो न,
आकाशगंगा में नहा आयें हम दोनों;
कलंकी बादलों ने तुम्हें छूआ भर था
(मुझे तो बिजलियों ने डँस ही लिया था)
फिर भी हम जीवित रहे;
समय की नील सर्पिल लहरियों में नाव खेते रहे
दूर का कोई स्वप्नवाही पोत कहीं भटक न जाये,
इसीलिए तूफ़ान में भी हम आकाशदीप बालते रहे

उपेक्षा

रोज ही कितने पत्र तुम्हें लिखता हूँ :
दूर जाने वाला हर दिशा-भ्रमित खग
मेरा ही संदेशा ले जाता है;
रात की तनहाई में जाती हुई हवा से पूछना,
मेरा ही संदेश वह ढोती है;
पर एक तुम हो !
जो उत्तर क्या दे पायीं ?
पत्र पढ़-पढ़ कर फेंक दिये जो तुमने,
वही मेरी मेज पर धूल बन लौट आयी ! !

सहज ज्ञान

सत्य सदा नन्हा होता है
वट-वृक्ष के बीज-सा,
व्याख्या होती है बड़ी--
डालियाँ, पत्ते-छायातप-सी !
पर हम जो छतरी तानने वाले हैं
व्याख्या को ही ज्ञान समझते हैं,
अन्वय, टीका, भाष्य को ही
सत्य की पहिचान समझते हैं !
अजीब बात है यह :
टहनियों को ही मूल मान बैठे हैं :
अपने अज्ञान को ही ज्ञान मान ऐंठे हैं ! !

मिरजान हाट,
भागलपुर-१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभात

●●

छायाएँ गिरती हैं

●

हाँ, हो हताश। फिर ललक भरे। फिर स्पंदित
हलके, हलके, हलके
छलके कंपन में,
मन्मथित, तीव्र भावावेगों में
व्याकुल, व्याकुल, व्याकुल,
तुम किसको ढूँढ़ रही हो
तुम किसको ढूँढ़ रहे हो
नारी, नारी, नारी
और पुरुष-शिशु ?
आओ,
आओ संगीत-लयों में लिपटे हम खो जायें
सूखे, हरियाले मैदानों के पार
नदियों के तट पर बैठे
हौले-हौले हम चले जाँय अंधे गर्भों में
संगीत, रहःआलाप रहें, पदचाप रहें
लयबद्ध साथ उठती-गिरती
उठती-गिरती
वेलाएँ रहें समय देती
बेछोर, दिशाएँ सदा रहें राहें गढ़ती
हम रहें मकानों में आश्वस्त, सुरक्षित
चिमनियाँ सुबह औ' शाम
धूँआ नभ में बिखेरती रहें...
वह गिरती है,
वह उठा रहा है उसको बाँहों से, झुक कर
रुक कर, रुक कर, रुक कर,
वह उठती है...
पाँवों में हो कर लोट-पोट वह
बाल नोचता है अपने,
वह नहीं पिघलती;
तनी खड़ी है एक दिशा में देख रही है,
फिर बालों में उँगलियाँ फँसा
उसको समेट लेती है अपने वक्षस्थल में।
छायाएँ गिरती हैं...
हम गुज़र रहे हैं एक दूसरे की बगलों से
सदा-सदा से, संध्या की धुँधली छाया में
संधिप्रकाश, प्रकाश, प्रकाश
वेला में
हो कर हताश। फिर ललक भरे। फिर स्पंदित
हलके, हलके, हलके
छलके कंपन में,
मन्मथित, तीव्र भावावेगों में
व्याकुल, व्याकुल, व्याकुल,
तुम किसको ढूँढ़ रही हो
तुम किसको ढूँढ़ रहे हो
नारी, नारी, नारी
और पुरुष-शिशु ?

ग्रीष्म

●

पत्तों के अंतहीन
गिरने के सदृश
लिखीं मैंने
कविताएँ।
बहुत दिनों से
मैंने नहीं लिखी कविता कोई भी।
पर लगता है (शब्दहीन...)
अब भी कहीं
गिर रहे हैं पत्तों पर पत्ते!...

●

८८८ कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद-३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्त विनायक

●

कहानी

अंधड़ और छप्पर

—"ए बुड्ढे, केवल पाँच ईंट लाता है और पटकता है इतनी ज़ोर से कि....बंद कर देंगे कल से।"

"अरे राजा...."—आगे परमेसुरी कुछ कह नहीं सका। मूँछों में ही हँसा कि इकट्ठा की हुई सुर्ती की पीक से लार टपक पड़ी। खखार कर ज़ोर से थूका और सिर से गमछा उतार कर मुँह पोंछ लिया। बगल में खिलखिला कर ईंटें पटकते हुए मंजी ने कहा: "हट रे बुढ़वा।"

ज़िंदगी में केवल दो काम किया है परमेसुरी ने—गाड़ी हाँकना और कहानी कहना। और इनमें उसे कलाकार का आनंद मिला है। अगर उसकी जवानी में इनमें से कोई एक छूट जाता तो वह ज़िंदा न रहता। अब तो दोनों में से एक भी नहीं रहा, पर वह ज़िंदा है। ज़िंदा ही नहीं, जीवित रहने की पूरी लालसा उसके मन में है, और किसी से कम नहीं। ईंटें ढोना वह क्या जाने?

अपनी गाड़ीवानी की ज़िंदगी में मंजी जैसी कितनी छोकरियों को बोली बोलते हुए उसने रुला कर छोड़ा है, कितनी को लुभा कर अपने गले पर। दूर से ही घसियारिनों को देख कर बिरहे की कोई कड़ी उभारता। दायें हाथ का कुहनी के आगे का हिस्सा खुरपी सहित उनके सिर पर रहता और वे परमेसुरी की गाड़ी की ओर मुँह कर के खड़ी हो जातीं। उनके बीच से टेरता और टिटकारता निकल जाता वह—धीना वाला गाड़ीवान।

एक पेड़ की आड़ में बैठ कर परमेसुरी सुस्ताने लगा। दूर पर ही मंजी अपनी सहेलियों के साथ तमाशा देखने के लिए खड़ी हो गयी।

"अरे बुड्ढ़ा, भगवान के काम में भी जँगरचोरी करता है! कैसे पचेगा?"

दोपहर में काम बंद हुआ तो वह मंगला को देखने के लिए गिरता-पड़ता भगा। सचमुच, इसकी आधी तेज़ी से भी वह भगवान के मंदिर के लिए ईंटें नहीं ढोता रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचते ही बुड्ढा टटोल कर लड़के का शरीर देखने लगा। वह एक पुश्तैनी पंखे से हवा कर रहा था : "कहीं दरद तो नहीं है ?"

"नहीं काका।"

"तबीयत खूब हल्की है ?"

"एकदम।"––फिर उसने हुलास के साथ पूछा : "आज तो रोटी-जूस मिलेगा काका ?"

"जरूर !"––कहते हुए परमेसुरी वहीं खटिया की पाटी पकड़ कर बैठ गया। आया था तभी से, बहुत ज़ोर की धूप लगने के कारण आँखों से दिखायी नहीं पड़ रहा था। अब धीरे-धीरे कुछ सूझने लगा। वह मंगला के हाथ से ले कर पंखा झलने लगा।

"मैं बहुत दुबरा गया काका ?"

"हाड़ रहेगा तो मांस हो जायेगा।"––वह फिर बायें हाथ से लड़के का शरीर टटोलने लगा : "एकदम गल गये।"

दोनों के बीच बहुत देर तक बातें होती रहीं। विषय बराबर बदलते रहे। उसी दौरान में परमेसुरी ने एक बार फिर हीरा के मरने की बात आँखें पोछते हुए चलायी। यह भी बताया कि उसके मरने के बाद किस प्रकार तुम्हारी माँ तुम्हें ले कर भगी जा रही थी। पर गाँव वालों ने पकड़ा। मैंने तुम्हें छीन लिया। फिर भी वह रुकी नहीं, चली गयी। एक बार फिर परमेसुरी ने मंगला का मुँह चूम लिया। "तुम्हें ले कर चली जाती तो मेरा बंस ही डूब गया होता। मुझे कौन पानी देता ?"––बुड्ढे ने यह भी विचार प्रकट किया कि अगले साल तुम्हारा ब्याह ज़रूर कर दूंगा। ज़िंदगी का कोई ठिकाना नहीं, कब लुढ़क जाऊँ ! जीते जी तुम दोनों को एक साथ देख लूं।

अगर बात नहीं हुई तो केवल एक विषय पर। जानते हुए भी दोनों ही मौन रहे। चर्चा करने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ी। पता नहीं, किसे कहाँ चोट लग जाय ! मंगला में इतना साहस नहीं हुआ कि पूछ सके, काका कुछ खाया। और बुड्ढे की इतनी हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि अपनी ओर से कह दे, बेटा शाम को जूस दिया जायेगा।

परमेसुरी की वारिस वाली बात पर मंगला अपना दिमाग़ लड़ा रहा था।––किसके लिए ? कौन-सी ऐसी संपत्ति गँजी है, जिसे बेलसना है। क्या भूखों मरने के लिए भी आदमी को वारिस चाहिए ? माँ के साथ चला गया होता तो. . . .पर वहाँ कौन-सा राज रजता ? पराया बाप ! यहाँ कुछ भी है तो खून का रिश्ता है।

मंगला क़स्बे के हाई स्कूल में पढ़ता है। एक साल फेल नहीं हुआ होता तो इस वर्ष फ़ाइनल परीक्षा की तैयारी करता। सात-आठ बरस की अवस्था तक क़स्बे में घूम-घूम कर पैसा माँगता और गाली-गलौज करता। आँखें मटका-मटका कर सिनेमा के गाने रस ले-ले कर गाता। कोई नयी बात––सजे-सँवरे जोड़े, ओहार पड़े इक्के-रिक्शे––देखता तो दूसरी ओर मुँह कर के सीटी मारता। परमेसुरी बुलाने जाता तो उसे चिढ़ाते हुए उड़नछू हो जाता। सूरज-डूबे, कभी-कभार घंटों रात गये, घर लौटता। परमेसुरी खाना नहीं देता, रस्सी में बाँध कर खूब पीटता। मंगला थूक कर चाटता तो कहीं जा कर छूटता। पर सुबह उठते ही सारी प्रतिज्ञा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूट जाती। लेकिन रमाधीन दूबे के पाले जो पड़ा तो उन्होंने कूट कर उसे आदमी बना दिया। अपने स्कूल में ज़बरदस्ती उसका नाम दर्ज़ किया। एकाध किताब-कापी की मदद कर देते, किसी लड़के से ही माँग कर। जब तक उनके स्कूल में रहा, फ़ीस माफ़ थी। जवानी में एक बार दूबे महाराज की ऊख परमेसुरी ने मिल तक पहुँचायी थी, उसकी नेकी वे ज़िंदगी भर मानते रहे।

अब तो मंगला सयाना ही नहीं, लोगों की दृष्टि में समझदार भी हो गया है। कभी-कभार परमेसुरी ख़ुद कहता है, तुम्हारी उमिर में हम लोग दिन-भर गुल्ली-डंडा खेलते थे। वह अपनी उस उम्र की कितनी ही रोमांचकारी घटनाएँ नमक-मिर्च लगा कर घंटों सुनाता है। दोनों मित्र-भाव से रस लेते हैं। छुट्टी के दिनों में ख़ुद रिक्शा चलाता है मंगला। दस-पंद्रह दिन दशहरे-दीवाली की छुट्टी, डेढ़ महीने का ग्रीष्मावकाश। इतने का उपयोग वह मिहनत करके पैसा कमाने में करता है, ताकि पढ़ाई के दिनों में किसी तरह बीत सके। उसी में बूढ़े का भी तो गुजर करना है। कुछ करने लायक़ नहीं है, लेकिन छाया तो किये हुए है।

मंगला के पानी माँगने पर परमेसुरी ने अलमुनिया के गिलास में हँडिया से पानी उँड़ेल कर दिया। वह गटर-गटर पी गया। बूढ़ा वहीं पसर कर सो गया।

दो घंटे बाद परमेसुरी निकला तो मंगला से कहता गया, संझा बेला जल्दी ही लौटूंगा। ज्यादे हड़बड़ाना नहीं। आसमान की ओर देखा तो काफ़ी धुंध दिखायी दे रहा था।

पैसे की लालच में एक दिन ख़ूब जम कर रिक्शा चला देने के कारण मंगला की तबीयत ख़राब हो गयी। धूप में शहर से क़स्बे का दो चक्कर लगाया। उस दिन गर्मी ख़ूब बढ़ गयी थी। रिक्शा खड़ा कर के नाली में दोनों पैर डाल कर ठंढाता रहा, ताव लग गया। आज पनरहिया हो रहा है, कमाई तो सब खतम, कर्ज ने भी धावा बोल दिया है। लाचार हो कर परमेसुरी को कुछ करना पड़ा। अपने तो भूखों भी रह सकता है। पर मंगला के लिए कुछ जुगाड़ बैठाना चाहिए। गोबरधन साहु के यहाँ धरम का काम चल रहा है। वहीं लगा-लपटा कुछ पा जाता है। कोई हिसाब नहीं, वही चना-चबेना भर को।

गोबरधन साह. . . .गोबरा. . . .टिकुलिया पाढ़ा की कितनी ही बातें घुमड़ती हैं, परमेसुरी के मन में। टिकुलिया पाढ़ा बहुत बड़ा अड्डा हो गया था, परमेसुरी के गाड़ीवानी के दिनों में. . . .यह नाम कैसे पड़ा? बस इतना मालूम है, गोबरा एक औरत भगा कर ले आया और सड़क के किनारे, दो ही दिनों में आम से लगी एक मामूली-सी दुकान खड़ी कर ली। बीबी और दूकान दोनों को ख़ूब सजाता। मूँगफली, लेमनचूस, गुड़, रेवड़ी, लकठा, तरह-तरह का भूँजा सजा कर बैठती वह और उसके माथे पर पैसे बराबर (नये नहीं) टिकुली. . . .

क़स्बे के मनचले छोकरे और स्कूली लड़कों के लिए तो वह एक ख़ासा अड्डा हो गया था। खेत की ओर निकले हुए किसान भी दो-चार मिनट हँस-बोल लेते। आटा, चावल, आलू, गोइठा आदि भी रखने लगी। रात को भी राही-बटोही रुकने लगे।

परमेसुरी साथियों सहित रात का बसेरा वहीं लेता। लिट्टी-चोखा लगता और कहानी जहाँ से छूटी रहती, फिर उठायी जाती। रानी सारंगा, सोरठी-बृजभार, राजा ढोलन, सब उसकी ज़बान पर, क्षेपक के साथ। ख़ूब रस ले-ले कर पात्रों को गालियाँ देते हुए कहता। बीच-बीच में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाते समय फूली वाली आँख को चाँपे कानों में उँगली डाल कर ललकारता, तीर की तरह स्वर ऊपर चढ़ता और आसमान में मँड़राने लगता। आसपास के चार-छह गाँव के लोग कान लगाते, चला है धीना वाला. . . .

. . . .सिव के मंदिर में सदाबिरिज बैठा होगा। मेरा नान्हे का मीत, संरगा ने मन में सोचा और कहाँरों से बोली :

गोड़ तोर लागीला अगिला कँहरवा ये प्यारे
सुनि लेहु अरज हमार जी,
तनी एक डड़िया छिपवता ये बाबा प्यारे
सीव पूजनि हम जाब जी।

क़स्वाती छोकरों ने जब गोवरा के ख़िलाफ़ बखेंड़ा खड़ा किया तो परमेसुरी ही उनके सामने डटा था। गोवरा बो ने आड़ में ले जा कर कहा था : मैं तुम्हारी नेकी कभी नहीं भूलूँगी। उसकी टिकुली चमक रही थी, दाँत खिले हुए थे और आँखें हँस रही थीं।

तीन दिन घूमते रहने पर भी जब कहीं कर्ज़ नहीं मिला तो राधाकृष्ण के मंदिर पर काम करने चला परमेसुरी। गोबरधन साह ईंट नहीं छूने देते थे : "तू तो एक लड़का बरोबर भी काम नहीं करेगा। चार पैसे को मँहगा है।"

"पुन्न होगा सरकार। छोकड़े को जूस देना है।"

"पुन्य ले कर क्या करेंगे ?"

अब तो गोवरा नहीं, गोबरधन साह हो गया है। टिकुलियापाढ़ा कभी का उजड़ चुका। क़स्बे में एक बड़ी-सी आढ़त खुल गयी है। उन्हीं के यहाँ परमेसुरी को भी दो पैसा मिल जाता है। गोबरा ने रोज़गार शुरू किया था। परमेसुरी अपनी रोज़ी के फेर में रहता। दस-बीस नहीं, पचास साल तक हाड़-तोर मेहनत की है परमेसुरी ने। उसी में पसीने के साथ उसका सब कुछ बह गया। और उतने ही समय में डंडी मारने वाला गोबरा, गोबरधन साह हो गया। लेकिन परमेसुरी का क्या क़सूर ? वह हरदम पसीना बहाने के लिए तैयार है। मूँछों का गुर्रा दिये, तोंद पर हाथ फेरते कभी-कभी गोबरधन साह निकलते, तो कमर झुकाये हुए परमेसुरी उनका मुँह ताकता रह जाता, कोई बात कहने के लिए। परमेसुरी के लिए केवल जवानी थी, ज़िंदगी नहीं।

आसमान का धुंध और गहरा होता जा रहा था। उसका मन रह-रह कर मंगला पर टिक जाता। छप्पर बिल्कुल गल चुका है। किसी ओर से आड़ भी नहीं है। ज़रा पहले निकल चलता तो इधर-उधर से रस्सी बाँध कर ठीक कर देता। नहीं फिर आज घर भी उजड़ा। पर पैसा मिलने वाला है, चुपके जा भी नहीं सकते। उसी पैसे के भरोसे आज रोटी-जूस देना है।

परमेसुरी को सात आने पैसे मिले, दो दिनों के। लाख चिरौरी करने पर भी अठन्नी नहीं हुई, दो पैसा और मिल गया। उतने में ही भगवान से दुआ देने को मनाता हुआ वह दुकान की ओर चला। रास्ते में कौलूसिंह मिल गये, बचपन के लँगोटिया यार। रेलवे में पैटमैन थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिटायर हो कर घर आये हैं, पिंसिन मिलती है। परमेसुरी से साल-छह महीने छोटे हैं, पर हैं अभी काफ़ी हट्टे-कट्टे।

दोनों आदमी मिले तो परमेसुरी मँहगी की शिकायत करने लगा : "हर चीज़ में दो आना छह पैसा बढ़ा दिया है बनियों ने। किरासिन तेल की कुछ न पूछो। पाँच आने बोतल से सीधे साढ़े सात आने कर दिया है। लूट मची है, लूट। और चीजों के बिना तो काम भी चल सकता है, पर तेल विना कैसे चलेगा ?"

परमेसुरी मैली रस्सी में बँधी छूछी गंदी घरिया हाथ में लटकाये हुए था।

कौलूसिंह दीन-दुनिया की अधिक ख़बर रखते थे। बनियों की दुकान पर कभी अखबार पढ़ लेते। स्टेशन पर जाते तो गपसड़ाका में राजनीति-अर्थनीति की चर्चा सुनते। कुछ बोल भी देते: "सभी चीज़ों पर हर साल टैक्स बढ़ रहा है। सामान क्यों न मंहगा मिलेगा !"

"लेकिन किरासिन बिना काम कैसे चलेगा ?"—परमेसुरी ने भुनभुनाते हुए कहा: "आज अँजोरिया भी नहीं है।"

"मंगला की हालत कैसी है ?"

"ठीक है। कह तो रहा है, भूख लगी है। उसी के लिए दो दिन से मर रहा हूँ। अब हियाव एकदम नहीं करता।"

"हाँ,"—कौलूसिंह ने हुँकारी भरी: "और देशों में बूढ़ों को गुजारा मिलता है। जवानी में खटने के बाद आदमी कुछ दिन चैन करता है। पर यहाँ तो वही हय-हय खच-खच मरते दम तक।"

"आराम कहाँ,"—कहते हुए परमेसुरी ने पैर आगे बढ़ाया। आज कौलूसिंह से उसे ईर्ष्या हो रही थी। ज़िंदगी में उन्होंने सरकार का काम किया, उन्हें पिंसिन मिलती है। पर जितना मैंने किया, उतना वे सात जन्म में नहीं किये। वे तो साल में महीने पंद्रह दिन की छुट्टी ले कर आते और आराम से घर रहते। मेरे लिए तो आराम गऊमाँस। और मुझे बुढ़ापे में क्या मिला ? मेरे बच्चे के लिए पाव भर पिसान मोहाल है। मैंने सरकार का काम नहीं किया, लेकिन आराम भी नहीं किया। कोई मेरी हड्डियों से पूछे. . .परमेसुरी हीरा को पहले गाड़ीवान बनाना चाहता था। पर बाद में कौलूसिंह की पैंटमैनी पर लट्टू हो गया। कौलूसिंह ने खुद लड़के को भर्ती कराने का ज़िम्मा लिया था, पहले महीने की तनख़्वाह की शर्त पर। लेकिन उस साल हैज़े में हीरा जाता रहा, परमेसुरी को ठोकर खाना बदा था जो।

आसमान का रंग और खराब होने लगा। परमेसुरी तेज़ी से घर की ओर बढ़ा। अँधेरा-सा छाने लगा था।

पहुँचते ही मंगला की देह और माथा छुआ : "अब तो एकदम ठीक है।"

"काका, जोरों की भूख लगी है।"—मंगला बड़ा ही ख़ुश नज़र आ रहा था। परमेसुरी सामान जुटाने लगा। "काका, जो मुझे करना चाहिए, वह तुम्हें करना पड़ रहा है। बुढ़ापे में यही आराम दे रहा हूँ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सब ठीक है।"—बुड्ढा रसोई में जुट गया। ढिबरी उठा कर देखा तो तेल नदारद। अब पछतावा होने लगा, क्यों न ले लिया, जो ही महँगा-सहता मिल रहा था। अब कैसे काम चलेगा? पर लेता कैसे? पिछला बकिऔता भी तो काट लिया। केवल डेढ़ पाव आटा दिया है! चार पैसा परोरा के लिए भी नहीं छोड़ा।

परमेसुरी ने चूल्हा जलाया और दाल की हँड़िया उस पर रख दी। आँच खूब तेज़ लगा रहा था जिसमें ज़रा भी देर न हो। दाल में उबाल आ गया। वह सीझने लगी। पर देखते ही देखते अंधड़ आ गया। ऐसे में चूल्हा जला रखना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। एक भी चिनगारी उड़ी तो छप्पर जलते देर नहीं लगेगी। उसने चूल्हा बुझा दिया और दाल भीतर रख दी।

"हवा पट पड़ने दो, अभी बनाते हैं। घबड़ाना नहीं।"

मंगला ने कुछ भी नहीं कहा। पर अंधड़ का वेग बढ़ने लगा। छप्पर काफ़ी पुराना था। ज़ोरों से हिलता। बाहर से ढेरों धूल झोंक उठती।

"दाल अच्छी तरह से ढँक दो काका। धूल पड़ जाएगी तो खाने लायक नहीं रहेगी।"

परमेसुरी को सूझ नहीं रहा था। उसकी आँखें धूल से भर गयी थीं। उधर से चूर भी गिरता। फिर भी आँखें मलते हुए उठा। दाल को एक ओर अच्छी तरह ढँक कर रख दिया और थाली का आटा एक गमछी में बाँधने लगा। गमछी काफ़ी फट चुकी थी। किसी प्रकार एक कोने में आटा बाँध लिया।

अंधड़ रह-रह कर ज़ोर पकड़ रहा था। परमेसुरी मन ही मन डर रहा था, कहीं छप्पर न उड़ जाय या गिर पड़े और उसी के नीचे दोनों दब जायँ। अभी-अभी एक ऐसा तेज़ झोंका आया कि एक ही साथ दो टट्टियाँ कुछ दूर घसीट ले गया, क़रीब आठ-दस हाथ दूर।

अब बूँदें भी गिरने लगीं। परमेसुरी को और भी डर लगा। टट्टियाँ उड़ चुकी थीं। पानी पड़ते ही बौछार आने लगेगी। लड़का भीग जाएगा। बड़ी मुसीबत हुई। अब क्या किया जाय? देखते ही देखते बूँदें तेज़ पड़ने लगीं। अब तो किसी के दालान में भी भाग कर नहीं जा सकते। बौछार आने लगी। क्या करे बूढ़ा? उसने मंगला की चारपाई आड़ में खींची। पर अब आड़ कहाँ? हर जगह तो खुली थी। कहीं भी बौछार पहुँच सकती थी। उसने एक टाट बिछा कर लड़के को ज़मीन पर लिटा दिया। बौछार की ओर चारपाई खड़ी कर दी। फिर भी बौछार वहाँ तक कुछ न कुछ पहुँच जाती थी। परमेसुरी को जो भी दो-चार कपड़े मिले, उसने मंगला के ऊपर डाल दिया। रह-रह कर बिजली कौंध जाती। मंगला की दृष्टि पड़ी तो परमेसुरी चारपाई का गोड़ा पकड़े नंगा खड़ा था। उसने अपनी आँखें नहीं बंद कीं। सोचा, ऐसे ही बिजली चौंके तो काका को देखता रहूँ।

परमेसुरी रह-रह कर मंगला से पूछ लेता : "बौछार तो नहीं आ रही है? ठीक तो हो?" और फिर कपड़ों के भीतर हाथ डाल कर उसका शरीर टटोलने लगता। बिजली की कौंध में बूढ़े का नंगा शरीर मंगला की आँखों के सामने नाच उठता। वह परमेसुरी की ज़िंदगी भर की कमाई का हिसाब बैठा रहा था, कि वह एक साबूत झोपड़ी भी नहीं कर सका।

"काका, बौछार आ रही है,"—मंगला ने टूटी आवाज़ में कहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब बूढ़ा क्या करे? उसने तो आड़ करने का बहुत प्रयत्न किया। पर अब चौआई बहने लगी। किसी तरफ़ से भी झोंका आ जाता, इसलिए बचाव बहुत मुश्किल हो गया था। परमेसुरी ने स्पर्श से अनुभव किया कि मंगला के ऊपर का टाट कुछ-कुछ गीला हो गया है। चारपाई को इधर-उधर खिसकाते समय उसने ज़मीन पर पानी अनुभव किया। अब तो उसके प्रमाण सूख गये। वह मंगला के चारों ओर टटोलने लगा, पर अभी ज़मीन सूखी लग रही थी। अब उसे पता चला कि बौछार से काफ़ी पानी भीतर आ रहा है और ज़मीन पर सोने लायक़ एकदम नहीं।

लाचार हो कर उसने खटिया बिछा दी और मंगला को उसी पर कर दिया। चारपाई टालते वक़्त पैर लग जाने के कारण दाल लुढ़क गयी। पर उसके लिए दाल की चिंता एकदम नहीं रह गयी थी। उसने फिर मंगला का शरीर एक बार टटोला। उसे कुछ गरम-सा लगा। उसने महसूस किया कि लड़के का पूरा बचाव नहीं कर पा रहा हूँ। अगर बुख़ार दुहराया तो फिर भगवान ही बचायें। बौछार भी बढ़ती ही जा रही थी।

उसने सोचा, उड़ी हुई टट्टियों को खींच लाये। कुछ आड़ हो जाएगा। बाहर चला तो कहीं सूझ नहीं रहा था। तब तक मंगला की आवाज़ आयी, ऊपर से पानी चू रहा है। तभी हवा का एक इतना तेज़ झोंका आया कि परमेसुरी को लगा जैसे उसके पैर बँध गये। उसे कोई भारी चीज़ गिरने की आवाज़ सुनायी पड़ी। छप्पर तो नहीं उड़ा। और वह आगे न बढ़ कर मंगला की ओर दौड़ा।

"काका, शायद मलहवा आम की डार गिरी है...."

—द्वारा श्री देवदत्त तिवारी,
३२१।८, रसा रोड ईस्ट, फर्स्ट लेन,
कलकत्ता - ३३।

••

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशोककुमार झा

●●

रेखाचित्र

साहित्यवाचस्पति बख्शी जी–कुछ निकट से

साहित्यिक महत्व के स्थानों का भारतीय मानचित्र कहीं नज़र नहीं आता। यदि भविष्य में ऐसा कभी हुआ तो मध्यप्रदेश राज्य के दुर्ग ज़िले में स्थित खैरागढ़ नामक एक छोटे-से क़स्बे को उसमें एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा। छत्तीसगढ़ अंचल का यही तो वह साहित्यिक तीर्थ है जहाँ बाबू पुन्नालाल बख्शी ने अपने घर जन्म लिये बालक का नाम रखा पदुमलाल। सन १८९४ ई० में जन्मा यही बालक आगे चल कर अपने स्थान का भगीरथ सिद्ध हुआ जिसने साहित्याकाश की गौरवगंगा को खैरागढ़ की ओर प्रवाहित कर दिया। कायस्थों के बख्शी परिवार की साहित्यिक पौराणिक एवं ब्राह्मण भक्ति की धर्मनिष्ठ परंपरा की पृष्ठभूमि में पले-बढ़े बालक का एक आचार्य बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

लेकिन हिंदी के तत्कालीन नामधारी लेखकों एवं पत्रकारों को उस समय एक घोर आश्चर्य अवश्य हुआ था जब स्वर्गीय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक सच्चे जौहरी की तरह इस हीरे को पहचाना और अपनी 'सरस्वती' की विरासत इनके हाथों सौंप दी। बख्शी जी उन दिनों मुश्किल से पचीस-तीस के रहे होंगे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक हो कर उन्होंने राजनंदगाँव के स्टेट हाई स्कूल में मास्टरी कर ली थी। इसी बीच अपने लेखों के माध्यम से उन्होंने आचार्यप्रवर द्विवेदी जी को इतना प्रभावित किया था कि जब उन्हें अनिद्रा रोग बुरी तरह सताने लगा और सरस्वती-संपादन के कार्यभार से मुक्त होना उनके लिए अनिवार्य हो गया और एतदर्थ इलाहाबाद के इंडियन प्रेस वालों ने उनसे ही अपना उत्तराधिकारी के चुनने को कहा तो उन्होंने बख्शी जी का ही नाम प्रस्तावित कर दिया। हिंदी के नामधारी लेखक और पत्रकार अवाक रह गये जब उन्होंने सुना कि सरस्वती-संपादन के लिए द्विवेदी जी ने एक ऐसे अपरिपक्व नवयुवक को चुन लिया है जो मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ अंचल का निवासी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बख्शी जी के 'सरस्वती'-संपादक नियुक्त होने के बाद ही लेखकों ने उनसे असहयोग आरंभ कर दिया। ये बख्शी जी की अग्निपरीक्षा के दिन थे और स्व० द्विवेदी जी के निर्वाचनयोग्यता को भी चुनौती थी। बख्शी जी डिगे नहीं। अविचल रूप से उन्होंने बिना किसी कटुता के इन परिस्थितियों का सामना किया और दिन-दिन भर, रात-रात भर परिश्रम कर के उन्होंने 'सरस्वती' की शुद्ध, उदात्त एवं निर्मल परंपरा का निर्वाह किया, छद्म नामों से अनेक लेख लिखे और कितने ही नये लेखक तैयार किये। और फिर तो धीरे-धीरे 'सरस्वती' की अकलुष निर्मल धारा में वे लोग भी अवगाहन करने लगे जिन्होंने बख्शी जी को मझधार में छोड़ कर कुछ दिनों पहले किनाराकसी कर ली थी। लेकिन इस घनघोर परिश्रम ने बख्शी जी के स्वास्थ्य को कुछ ऐसा चौपट कर दिया कि कई बार उन्हें 'सरस्वती' का संपादन छोड़ कर अपने घर वापस जाना पड़ा।

बख्शी जी को पढ़ने का नशा है। उनके छोटे-से गाँव खैरागढ़ के पुस्तकालय में विपुल संख्या में उच्च कोटि की पुस्तकें हैं। इस अवस्था में भी प्रति दिन सुबह-शाम बख्शी जी को कल-बल करते किशोरों के मध्य अविचल रूप से किसी पत्रिका अथवा किसी पुस्तक में तल्लीन देखा जा सकता है। बच्चों का शोरगुल उनके अध्ययन में कोई व्याघात नहीं पहुँचाता। एक बार पढ़ने की एकाग्रता के संबंध में उन्होंने मुझे बताया था: "यदि मैं पढ़ना चाहूँ तो बगल में बजते नगाड़ों से भी मुझे कोई कष्ट नहीं होता।"

कुछ वर्षों तक बख्शी जी ने खैरागढ़ राजपरिवार के कई लोगों को साहित्यिक दीक्षा भी दी थी। शायद उन दिनों वे किसी राजकुमारी को पढ़ाया करते थे। एक शाम जब वे पहुँचे तो किताबों की एक आलमारी में उलझ गये। उलटते-पलटते क़रीब हजार पृष्ठों वाली किसी भारी-भरकम किताब पर वे अटके। शायद किसी पाश्चात्य लेखक का कोई उपन्यास था। कुछ समय तो आलमारी के सामने खड़े-खड़े ही उसके कितने पृष्ठ पलटते गये। कुछ थकावट महसूस हुई तो पास रखी आरामकुर्सी पर बैठ गये। न जाने कब कौन बिजली जला गया: और बख्शी जी पढ़ते गये—पढ़ते गये। उपन्यास जब समाप्त हुआ तो एक विशिष्ट संतोष एवं आनंद की दृष्टि से पुस्तक बंद करते हुए जो उन्होंने ऊपर देखा तो घड़ी रात के ग्यारह बजा रही थी। कोई आधी नींद से जागा तो देखा—अरे, बख्शी जी तो अभी तक घर नहीं गये।

स्कूल-कालेज के दुष्ट छोकरे ऐसे व्यक्तियों की इन निजी विशिष्टताओं को बढ़ा-चढ़ा कर बताने से भला कब चूकने वाले। बख्शी जी की ऐसी पढ़ाई को ले कर उन्होंने खैरागढ़ में एक गप्प छोड़ रखी है: जैसी की बख्शी जी की नित्य की आदत है, वे खैरागढ़ से डोंगरगढ़ जाने वाली सड़क पर एक दिन घूमने जा रहे थे। हाथ में कोई मोटी-सी पुस्तक थी। आमनेर के रपटा से जो उन्होंने पढ़ाई शुरू की तो किताब खत्म होने पर उन्होंने देखा कि चौबीस मील की दूरी पर स्थित डोंगरगढ़ तक वे जा निकले हैं।

बख्शी जी संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य एवं दर्शनशास्त्र के स्नातक हैं। बी० ए० के बाद बख्शी जी ने विश्वविद्यालय तो छोड़ ही दिया लेकिन पढ़ने का नशा कभी उतरा नहीं। कभी बँगला सीखी तो ये रवींद्र, बंकिम और शरत के साहित्य को मूल रूप में पढ़ा। हमेशा वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ न कुछ पढ़ते ही रहे। घर पर रहते हुए तीन बार उन्होंने एम० ए० की तैयारी की और हर बार अलग-अलग विषय में। लेकिन नियति को यह स्वीकार नहीं था कि बख्शी जी को डाक्टर होने के लिए एम० ए० करना पड़े। पहली बार उन्होंने अंग्रेज़ी में एम० ए० की तैयारी की थी, दूसरी बार संस्कृत में और तीसरी बार दर्शनशास्त्र में, लेकिन कभी वे स्वयं बीमार हो गये तो कभी उनका कोई पुत्र अस्वस्थ हो गया और कभी आखिरी गाड़ी ही छूट गयी। फिर भी इन तीनों विषयों के स्नातकोत्तर अध्ययन ने बख्शी जी को एक पारंगत विद्वान अवश्य बना दिया और इसीलिए उन्हें सहज ही आचार्यत्व भी मिल गया। आज तो राजनंदगाँव के दिग्विजय महाविद्यालय का हिंदी विभाग बख्शी जी के आचार्यत्व में धन्य है और सागर विश्वविद्यालय भी गौरवान्वित है जिसके द्वारा प्रदत्त 'डॉक्टरेट' उन्होंने स्वीकार किया है।

सारल्य और विनय की तो मिसाल हैं बख्शी जी। एक अति साधारण धोती—काफ़ी ऊपर, क़रीब-क़रीब घुटनों तक उठी हुई, और एक अत्यंत साधारण पापलिन का कुर्ता—सामने बटन वाला नहीं, एक ओर कंधे पर नाड़े वाला, और घिस कर टेढ़ी-सी हो गयी चप्पल, आँखों पर मोटे फ्रेम तथा बहुत मोटे काँच का चश्मा और सिर पर छोटे-छोटे बाल-आधे से ज़्यादा पके हुए जो काफ़ी दिनों से ट्रिमिंग न होने के कारण कान की कलियों पर काफ़ी आगे-पीछे नज़र आते हैं। अपने ऊँचे माथे पर बख्शी जी प्रायः अपनी उँगलियाँ फेरते रहते हैं। कभी-कभी तो यह क्रिया इतनी तेज़ हो जाती है कि सामने वाले दर्शक को लगे, बख्शी जी घनघोर सिरदर्द से परेशान हैं। लेकिन ऐसा कुछ नहीं होता। वे जब भी ऐसा कुछ करते दीख पड़ें, आप निश्चित जानिए, शास्त्रीय मस्तिष्क के अजस्र स्रोत से कोई नव्य ज्ञानधारा फूटने वाली है।

बड़ों के प्रति आदर और सम्मान कोई बख्शी जी से सीखे। बालक पदुमलाल जब साहित्य के आचार्य हो गये तो एक बार किसी विशुद्धतावादी सज्जन ने उनसे कहा : "बख्शी जी, आपका नाम भाषा के शुद्ध शब्द पद्म का विकृत रूप है। आप अपने को पद्मलाल क्यों नहीं कहते?" बख्शी जी की आँखें सजल हो उठीं। शायद उनमें माँ की ममता और पिता का प्यार अपना प्यारा बेटा ढूँढ़ रहा हो। उन्होंने कहा : "यह नाम मुझे अपने माता-पिता के द्वारा दिया गया है। कितने प्यार से वे लोग मुझे इसी नाम से पुकारा करते थे। इसे शुद्धता-विशुद्धता की कसौटी पर कसने वाला मैं कौन हूँ?"

बख्शी जी उन लोगों में से नहीं हैं जिन पर कोई नयी बात जुनून की तरह सवार हो और फिर वह उतर जाय। वे स्थिरमति हैं और जिस काम में लगते हैं उसमें निष्ठा, लगन और रुचि से लगे रहते हैं। इसीलिए कभी उनकी गति तेज़ और कभी मंद नहीं होती। वे संतुलित चाल से चलने के आदी हैं। आज की तेज़ रफ़्तार से वे बहुत घबराते हैं। हमारे विद्यालय के स्नेह सम्मेलन के लिए बख्शी जी एक बार आमंत्रित किये गये। बंबई मेल से क़रीब छह घंटे की सफ़र के बाद शाम को साढ़े सात-आठ बजे वे बड़े आराम से रायगढ़ पहुँच सकते थे। लेकिन उनकी सूचना मिली कि वे रात को साढ़े बारह बजे वाली पैसेंजर से रायगढ़ पहुंचेंगे। हम सब स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर हाज़िर थे। जब गाड़ी आयी तो तमाम पहले और दूसरे दर्जे के डिब्बे छान मारे। कुछ निराश-से छात्रगण जब एक दूसरे की ओर देखने लगे तभी मैंने देखा, बख्शी जी बंद कालर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोट पहने, हाथ में बिस्तर लिये कुछ दूर खड़े हैं। नमस्कार इत्यादि के पश्चात मैंने कहा: "पैंसेजर की यात्रा से तो आपको काफ़ी तकलीफ हुई होगी। मेल से आते तो तनिक भी कष्ट न होता।" उनका जवाब था: "मुझे मेल की तेज़ रफ्तार से बड़ी घबराहट होती है, न जाने कैसा-कैसा लगता है। इसीलिए मैं हमेशा पैसेंजर से ही यात्रा करता हूँ।"

और बख्शी जी की अनौपचारिकता का क्या कहना। सामने वाला चाहे कितना भी अकिंचन क्यों न हो, चाँद छूने के लिए कभी अपने को बौना महसूस नहीं करता। मास्टर जी-मास्टर जी करते सभी लोग बख्शी जी के सान्निध्य एवं साहचर्य का आनंद प्राप्त करते हैं। सारी बस्ती उन्हें मास्टर जी ही कहती है। यहाँ तक कि स्वयं उनकी पत्नी, घर के बच्चे और बच्चों के बच्चे भी। 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि, कालेज की प्रोफ़ेसरी और विश्वविद्यालय की डॉक्टरेट से भी बख्शी जी की 'मास्टरी' में कोई फ़र्क नहीं आया। आप आज भी उन्हें मथुरा टेलर या ऐसे ही किसी अन्य अति साधारण व्यक्ति के साथ पूरी तन्मयता से ब्रिज के खेल में मशग़ूल देख सकते हैं। उनकी बेतक़ल्लुफी का एक दृष्टांत प्रस्तुत है।

जब हमारे विद्यालय के स्नेह-सम्मेलन के लिए वे रायगढ़ आये तो प्रिंसिपल साहब तमाम अध्यापकों और छात्रों के साथ उनके स्वागत के लिए प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे और बाहर एक अच्छी-सी कार और बख्शी जी को ठहराने के लिए नगर के उस सर्वोत्कृष्ट भवन 'सेवाकुंज' का इंतज़ाम था जिसे तमाम मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों और राष्ट्रपति तक के स्वागत का सौभाग्य मिल चुका है। बख्शी जी से साक्षात्कार हुआ ही था कि मेरे नमन के उत्तर में उन्होंने छूटते ही कहा: "क्यों, हमें अपने यहाँ ही ठहराओगे न?" मैं क्या कहता और क्या न कहता! अपने यहाँ चलने को कहता तो इतने परिश्रम से किया गया 'सेवाकुंज' का सारा इंतज़ाम बेकार हो जाता और यह भी कैसे कह देता कि अपने यहाँ नहीं, कहीं और ले चलना है। सामने प्रिंसिपल साहब खड़े थे! मेरा धर्मसंकट समझते हुए उन्होंने कहा: "एक बहुत अच्छे स्थान 'सेवाकुंज' में हम लोगों ने आपका प्रबंध किया है।" आख़िर बख्शी जी वहीं ले जाये गये। लेकिन दूसरे ही दिन एक छात्र को ले कर बख्शी जी मेरे यहाँ आ गये। कहने लगे: "इतनी भव्यता और अतिशय आतिथ्य से मुझे कैसा-कैसा लगता है। मैं तो तुम्हारे यहाँ ही ठहरूँगा।" और फिर वे दूसरे दिन तक मेरे साथ ही रहे। उस दिन रायगढ़ के एक-एक साहित्यकार को उन्होंने पूछा। उनकी सूची में श्री आनंदी सहाय से ले कर बंदे अली फ़ातिमी, डा० गोविंदप्रसाद शर्मा, मुकुटधर पांडेय, स्व० वनमालीप्रसाद शुक्ल और पं० लोचनप्रसाद पांडेय तक के नाम थे। अंतिम दो साहित्यकारों को उन्होंने विशेष रूप से पूछा। वे दोनों 'सरस्वती' के पुराने लेखक रह चुके थे। और शाम होते-होते उन्होंने उन दोनों से मिलने की इच्छा भी प्रकट की। स्व० पांडेय जी और शुक्ल जी तो बख्शी जी को अपने बीच पा कर अतीत की स्मृतियों में खो गये।

यों तो अपने लोग और पुरानी स्मृतियों से जुड़ा अपना पुराना स्थान सबको प्यारा होता है, लेकिन बख्शी जी इन सब पर जान देते हैं। सागर विश्वविद्यालय ने जब उन्हें 'डॉक्टर' की उपाधि से सम्मानित करने का निश्चय किया तो अपने नवयुवक शिष्यों के आग्रह पर बख्शी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी किसी तरह उपाधि ग्रहण करने सागर जाने के लिए तैयार हुए। उन्हीं शिष्यों का आग्रह था कि बख्शी जी 'शेव' भी करा लें। वे तैयार भी हो गये लेकिन गप्पें हाँकने के जातीय गुणों में पारंगत उनका प्रिय नापित निश्चित समय तक पहुँच नहीं पाया। बस, बख्शी जी ने उस दिन से दाढ़ी ही बढ़ा ली, लेकिन किसी दूसरे नाई से उन्होंने 'शेव' नहीं कराया। और अब तो अपनी अधपकी पतली-सी दाढ़ी में बख्शी जी की निस्पृहता और उभर आयी है तथा वे तॉल्स्तॉय एवं टैगोर की परंपरा के एक संत ही लगते हैं। अपने लोगों से बख्शी जी का यह लगाव शायद उनकी एक कमज़ोरी भी बन गया और वे कुछ ऐसे होमसिक हो गये कि खैरागढ़-राजनंदगाँव छोड़ कर अधिक दिनों के लिए कहीं रह ही न सके। शायद यह भी एक प्रमुख कारण रहा हो जिससे इलाहाबाद में उनका स्वास्थ्य ख़राब रहने लगा और 'सरस्वती' का संपादन छोड़ कर उन्हें कई बार घर आ जाना पड़ा। और अंतिम बार तो इंडियन प्रेस वालों ने बख्शी जी को यह सुविधा भी दी कि वे खैरागढ़ में रहते हुए ही 'सरस्वती' का संपादन कर दिया करें। लेकिन बख्शी जी का हाथ इतना कँपने लगा कि वे कुछ लिख ही नहीं सकते थे। इंडियन प्रेस वालों ने उन्हें एक लिपिक की भी सुविधा दे दी। कुछ दिनों तक बख्शी जी ने इसी तरह 'सरस्वती' का संपादन किया लेकिन लिपिक की लिखाई भी अशुद्धियों से मुक्त न होने के कारण बख्शी जी को बड़ा असंतोष रहता और इसलिए सरस्वती-संपादन से उन्होंने सन १९५४ ई० में अवकाश ले लिया।

बख्शी जी की एक दूसरी कमज़ोरी है उनका क्रोध, जिसे दस-बीस साल में किसी ने शायद एक-आध बार देखा हो। लेकिन ग़ुस्सा जब उन्हें आया है तो दस-दस और सौ-सौ रुपयों के नोट तक उन्होंने फाड़ डाले हैं। चाय और धूम्रपान की अतिशयता भी बख्शी जी पर खूब हावी है। जब कभी उनके साथ डेढ़-दो घंटे का सौभाग्य मिलता, बस, इतनी ही देर में चाय के दो-तीन दौर हो जाते। बगल में उनकी प्रिय सिगरेट सीज़र्स और एक विशिष्ट बीड़ी के दो-दो पैकेट माचिस की डिब्बी के साथ रखे होते हैं। बीड़ी और सिगरेट के ये पैकेट 'घर के अंदर' और 'घर के बाहर' जैसा कोई फ़र्क नहीं जानते। एक बीड़ी और उसके बाद एक सिगरेट, बस, यही क्रम अबाध रूप से चलता रहता है। न जाने कितने पैकेट सीज़र्स और बीड़ियों के बख्शी जी एक दिन में फूंक जाते हैं। कुछ साल पहले उन्हें गले में जो भयंकर बीमारी हो गयी थी, जिसे कई विशेषज्ञों ने कैंसर भी कह दिया था, उसका कारण भी शायद यही 'चेन स्मोकिंग' ही रहा हो।

बख्शी जी अत्यंत धर्मभीरु हैं और ब्राह्मणों के प्रति उनकी श्रद्धा अलौकिक है। एक दिन चाय की मेरी जूठी खाली प्यालियाँ अंदर ले जाने के लिए उनके घर के कुछ बच्चे आये तो बख्शी जी ने उनसे कहा : "जाव, पी लेव, पंडित जी के जूठा है—तर जाहू।"

बख्शी जी महान आस्तिक हैं। जीवन-संघर्ष के कठिन क्षणों में वे प्रायः खैरागढ़ के रुक्खड़ महादेव के सुनसान मंदिर में देखे जा सकते हैं। कई बार रुक्खड़ स्वामी की रहस्यमयी अनुकंपा का उन्हें निजी अनुभव है। शायद यही कारण हो, बख्शी जी के व्यक्तित्व में शंकर की सरलता और फक्कड़पन की अमिट छाप है। खैरागढ़ की कटुता का गरल पचा कर आज तो वे सचमुच नीलकंठ बन चुके हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बख्शी जी को पुनर्जन्म में भी गहरा विश्वास है। एक बार उनके ही घर में सामने एक बच्ची को देख कर मैंने पूछा : "ये कौन, मास्टर जी ?" बख्शी जी अधमुँदी आँखों से मुस्कराते हुए कहने लगे : "हमार महतारी हैं। एक बार हमका सपना दइन कि हम आवथन। हम कहेन, अब आवथौ जब हमार मरे के दिन आय है। का करहू अब आय के।. . . .हमार महतारी के नाम रहै मंटोरा। बड़ा शरम आवै उनका ये नाम से। एक बार अस्पताल माँ डाक्टर जब उनका नाम पूछिन तौ झट्टै कहिन—मनोरमा। तौ हमहूँ इनका नाम रखेन मनोरमा। ये हमार नतनिन हैं—हमार महतारी।"

'पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी' एक ऐसा नाम है जिससे हिंदी एवं अहिंदीभाषी समस्त छात्र-जगत परिचित है। माध्यमिक कक्षाओं से ले कर विश्वविद्यालय-स्तर तक की पाठ्यपुस्तकें बख्शी जी ने तैयार की हैं। बंगाल, आसाम, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश—इन सारे राज्यों में बख्शी जी की पाठ्य-पुस्तकें चलती हैं। यदि इन सब की रायल्टी उन्हें मिलती होती तो आज वे एक पूँजीपति साहित्यकार होते। लेकिन अपने अवधूत फक्कड़पन के कारण तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति से कुछ भी अधिक उन्होंने कभी चाहा ही नहीं। जब कभी गृहस्थी में शादी-ब्याह जैसा मोटे खर्चे का कोई काम आया—उन्होंने अपने लेखों के ढेर से कुछ चुनी हुई सामग्री निकाल ली—एक किताब तैयार हो गयी और ज़रूरत की रक़म पर चटपट किसी प्रकाशक से सौदा तय हुआ।

बख्शी जी कथा-साहित्य के बड़े प्रेमी हैं। टॉमस हार्डी, रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र, एंतन चेखोव और ताल्स्तॉय की प्रशंसा करते उनका मुँह सूखता है। एक बार वे कहने लगे: "मैंने अपने बचपने में देवकीनंदन जी की 'चंद्रकांता' पढ़ी थी। तब से न जाने उसे कितनी बार पढ़ गया हूँ। आज भी पढ़ता हूँ तो वही आनंद प्राप्त होता है जो पहली बार पढ़ने से मिला था। खत्री जी की शैली में जादू है। उपन्यास और कहानियों में ऐसी चुंबकीय शक्ति तो होनी ही चाहिए।" कथा-साहित्य के एक सच्चे आचार्य की तरह बख्शी जी ने हिंदी कथा-साहित्य के इतिहास को एक औपन्यासिक परिवेश में 'कथाचक्र' नाम से प्रस्तुत किया है। कथा-साहित्य के समीक्षात्मक इतिहास की इसमें एक अद्भुत, अभिनव, रोचक प्रणाली देखने को मिलेगी।

यों तो बख्शी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में कुछ कविताएँ भी लिखीं और कहानियाँ भी। उनकी कहानी 'झलमला' पारिवारिक सौहार्द एवं मधुर स्मृतियों के प्रस्तुतीकरण में आज भी अपना सानी नहीं रखती। अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य विमर्श' में बख्शी जी ने साहित्यशास्त्र संबंधी शाश्वत प्रश्नों का समाधान भी प्रस्तुत किया है—और वह भी अत्यंत सहज, सुबोध शैली में। लेकिन साहित्य-वाटिका की जिस क्यारी को बख्शी जी ने सर्वाधिक सजाया-सँवारा है, वह है वैयक्तिक निबंध। साहित्य की इसी विधा के माध्यम से उन्होंने हिंदी को उसका चार्ल्स लैंब प्रदान किया है।

—रायगढ़ (म० प्र०)।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहवर्ती साहित्य

●●

सिंधी

एन० एन० बठेजा

●

सिंधी भाषा और साहित्य

सिंधु सभ्यता की प्राचीनता का कुछ परिचय 'मोअन जो दड़ो' से मिलता है जिसका काल ईसा से ३००० वर्ष पूर्व माना जाता है। ऋग्वेद में 'सिंधु' शब्द का कई बार प्रयोग आने से माना जाता है कि वेदों का आरंभ भी सिंधु देश में सिंधु नद के तट पर ही हुआ है। उस समय सिंध प्रांत, पंजाब, कश्मीर और कंधार आदि सिंधु देश में ही सम्मिलित थे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय भी सिंधु देश की सीमा के अंतर्गत माना जाता था। देवल ऋषि, पतंजलि और पाणिनि का प्रादुर्भाव भी इसी प्रांत में माना जाता है। ५१६ ई०-पू० में ईरानियों ने इस देश पर आक्रमण किया जिन्होंने 'सिंधु' शब्द को 'हिंदु' में बदल दिया और सारे देश का नाम 'हिंदुस्तान' पड़ गया।

३३० ई०-पू० में सिकंदर ने इस देश पर आक्रमण किया। उसके बाद चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक ने भी इस देश पर राज्य किया। अतः पाली में लिखे बौद्ध साहित्य का इस भाषा पर प्रभाव पड़ा। मीरपुर खास नामक नगर में खोदे हुए खंडहर 'काहू जो दड़ो' इस प्रमाण को पुष्ट करते हैं।

हिंदू राजाओं का राज्य इस प्रांत में ७१२ ईसवी तक रहा। उसके बाद अरबों की सेना ने ब्राह्मण-वंश के अंतिम अधिपति दाहरसेन को जीत कर धार्मिक अत्याचार मचाया जिसके कारण बहुत से हिंदू सिंध छोड़ कर कच्छ, सौराष्ट्र, राजस्थान और गुजरात की तरफ़ चले गये। ऐसी ही स्थिति अंग्रेज़ों की दासता से देश की मुक्ति होने पर उससे जुड़े हुए बँटवारे के फलस्वरूप पैदा हुई जब कि लगभग २० लाख हिंदू सिंध छोड़ कर भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में जा बसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजकल की सिंधी भाषा का स्वरूप, जो व्राचड अपभ्रंश की शाखा मानी जाती है, अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ ग्यारहवीं शताब्दी में स्थिर हुआ। डॉ० ट्रंप, कैप्टन स्टैक और ग्रियर्सन आदि के मतानुसार सिंधी का संस्कृत से संबंध अन्य भाषाओं से भी अधिक निकटता का है।

सिंधी साहित्य का आधुनिक इतिहास लगभग १७०० ईसवी से आरंभ होता है। काज़ी काज़न, शाह अब्दुल करीम, शाह अब्दुल लतीफ़ भिटाई, सचल, रोहल, सामी, बेकस, दलपति आदि सिंधी साहित्य के आदि कवि हैं। किशिनचंद बेवस इस पीढ़ी के अंतिम कवि तथा सिंधी कविता की आधुनिक धारा के प्रवर्तक हैं।

बँटवारे के पश्चात जो अच्छे कवि जीवित रहे और भारत में आये, वे हैं लेखराज अज़ीज़, सोभराज फ़ानी, परसराम ज़िया, हरूमल सदारंगाणी (खादिम), नारायण श्याम, हूँदराज दुखायल, राम पंजवाणी, प्रभु छुगाणी, हरी दिलगीर, देवनदास आज़ाद, खीअलदास फ़ानी आदि। १९४८ के बाद कविता-क्षेत्र को जिन्होंने अपनाया है उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं अर्जुन शाह, आंचल शर्मा, सुगन आहूजा, कृष्ण राही, मोती प्रकाश, दयाल आशा, गोवर्धन महबूवाणी आदि।

सिंधी गद्य तथा कहानी-साहित्य के १९२३ से प्रवर्तक हैं श्री जेठमल परसराम, लालचंद जगत्याणी, नारायणदास मलकाणी, भेरूमल मेहरचंद, परमानंद, मेवाराम आदि, जिनके बाद प्रभदास भेरूमल, अमरलाल हिङोराणी, आसानंद मामतोरा, उत्तम, ईश्वर आंचल, तीर्थ वसंत, कुमारी पोपटी हीरानंदाणी, राम पंजवाणी, सुगन आहूजा, सुंदरी उत्तमचंदाणी, कीर्त बाबाणी, कलाप्रकाश, कला रीझसिंघाणी, कृष्ण खटवाणी, गोविंद माल्ही, लोकनाथ जेटले, मोतीप्रकाश, मोहन कल्पना, चंद्रा आध्वाणी, ईश्वरी जोतवाणी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

सिंधी की पहली कहानी मुंशी उधाराम थाँवरदास मीरचंदाणी की लिखी हुई 'राइ दियाच और सोरठ' थी जिसको कैप्टन स्टैक ने देवनागरी लिपि में १९४९ में अपनी व्याकरण की पुस्तक में प्रकाशित किया। दीवान केवलराम सलामतराम और मिर्ज़ा कलीच वेग के नाम भी आरंभिक कहानी-लेखकों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास-साहित्य में भी राम पंजवाणी, गोविंद माल्ही, पोपटी हीरानंदाणी, सुंदरी उत्तमचंदाणी, चंदूलाल जयसिंघाणी आदि के कई सामाजिक तथा राजनीतिक उपन्यास लोकप्रिय हैं।

श्री जैरामदास दौलतराम बिहार के राजपाल रह कर, सारा जीवन राजनीति में बिता कर भी वृद्धावस्था में सिंधी भाषा की खोज में लगे हुए हैं।

प्रिंसिपल लालसिंह अजवाणी अँग्रेज़ी के विद्वान और महत्वपूर्ण आलोचक हैं। आपकी आलोचना तीव्र और सारगर्भित होती है। 'उछल', 'मिट्टीअ जा पुतला' आदि आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। प्रोफ़ेसर मंघाराम मलकाणी ने नाटक, काव्य, इतिहास, एकांकी, आख्यान, ध्वनिनाट्य आदि लिख कर सिंधी साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त किया है।

प्रोफ़ेसर राम पंजवाणी लोकगीतों द्वारा देश-विदेश में जा कर सिंधी भाषा की सेवा की है। नाटक, कहानी, कविता, उपन्यास आदि सभी साहित्यिक क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'आहे नाहे', 'गौतम बुद्ध', 'अनोखा आज़मूदा' आदि आपकी लोकप्रिय कृतियाँ हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रोफ़ेसर लेखराज 'अज़ीज़' एक उच्च कोटि के कवि और साथ ही तीव्र आलोचक भी हैं। 'कुल्याते अज़ीज़', 'शाहराणी शम-अ', 'सुराही' आदि उनकी मुख्य कृतियाँ हैं।

प्रोफ़ेसर कल्याण आदवाणी ने भारत में आकर सन १९५८ में 'शाह जो रसालो' का संपूर्ण प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है। शाह, सामी, सचल पर आपने प्रामाणिक आलोचनात्मक प्रबंध भी लिखे हैं। आपका 'अभिज्ञान शाकुंतल' का सिंधी अनुवाद भी बहुत लोकप्रिय हुआ है। 'राज़ व नियाज़' में उन्होंने सिंधी में दोहा छंद का पुनरुद्धार किया है।

तीर्थ वसंत ने 'कँवर भगत' की सुप्रसिद्ध जीवनी लिखी है। 'चिणजूँ', 'वसंत-वर्षा' आदि आपकी अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

स्वर्गीय परसराम ज़िया की कविताएँ बहुत ही लोकप्रिय रही हैं। आप अपनी बच्चों की कविताओं के लिए भी विख्यात हैं।

सर्वतोमुखी प्रतिभा से संपन्न प्रोफ़ेसर कुमारी पोपटी हीरानंदाणी की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं : 'हिकु पुष्पु पंद्रह मुखिड़ियूँ', 'मंजू', 'हसरतानि जी तुर्बत', 'स्त्री समाज', 'रंगीन ज़माने जूँ ग़मगीन कहाण्यूँ' आदि। डॉक्टर हरूमल सदारंगाणी 'ख़ादिम' ने सिंधी में रुबाइयाँ और कभी-कभी कहानी और निबंध लिखे हैं। श्री दयाराम वसणगल मीरचंदाणी ने सिंधी के व्याकरण की दो प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। हूँदराज 'दुखायल' विनोबा भावे के संग से प्रभावित भूमि-उद्धार, देश-भक्ति तथा लोकगीतों के निर्माता तथा प्रचारक हैं। प्रोफ़ेसर चेतन माड़ीवाला की पुस्तक 'साँभरि जे दर्सिनीअ ताँ' सिंधी साहित्य में पहली आत्मकथात्मक पुस्तक है। वे ऐतिहासिक विषयों के भी प्रामाणिक लेखक हैं डॉक्टर लक्ष्मण खूबचंदाणी पूना विश्वविद्यालय में सिंधी विभाग के अध्यक्ष हैं। भाषा-विज्ञान से संबद्ध आपके कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉक्टर एन० एच० साम्ताणी काशी विश्वविद्यालय में पाली के प्राध्यापक हैं। साथ ही वे 'सिंधु लोक' नामक सिंधी का एक मासिक पत्र निकाल रहे हैं। नारायण भारती ने लोकगीतों के संग्रह की तीन-चार पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

गोवर्धन महबूबाणी की भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत 'लात्यूँ' और 'नयी वस्ती' के अतिरिक्त 'जीवन जोति' और 'दादीअ जूँ आखाण्यूँ' अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। के० एच० नागराणी का उपन्यास 'अमर दीप' बहुत प्रसिद्ध है।

यहाँ स्वर्गीय परसराम 'ज़िया' की एक कविता का तथा उनके अनुयायी दयाल 'आशा' की एक ग़ज़ल का अनुवाद दिया जा रहा है। कहानी लोकनाथ जेटले की प्रस्तुत की जा रही है।

—जयहिंद कालेज,
बंबई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

मैं क्या चाहता?

परसराम 'ज़िया'

पता नहीं मैं मौन में क्या कहना हूँ चाहता
रहस्य शायद शांति का प्रकट करना चाहता

पश्चात्ताप के आँसुओ ! वेग से बहते चलो
गंगा-जल से दोषों के धब्बे धोना चाहता

जो मरता है वह जीता है, मैं न जीना चाहता
इसी कारण इस दुनिया में नहीं मरना चाहता

हँसता हूँ एक बार तो सौ बार रोना पड़ता है
क्या करें ऐसी हँसी को, इसलिए रोना चाहता

साक़ी भर दे जाम मुझको, शोक भुलाना चाहता
वेदना को घोल कर मैं प्याले में पीना चाहता

प्रियतम यदि करुणा करे, शूल फिर कैसे मिले ?
इसलिए अकरुण उसको देखना हूँ चाहता

मैं तो यही चाहता, समझे-बूझे न कोई मुझे
क्योंकि समझ-बूझ के समय से मैं भागना हूँ चाहता

प्रेम में मैं मौन रह कर कोलाहल मचाना चाहता
अणु-अणु की मुखर जिह्वा एक बार बनना चाहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गगन-मंडल में आह निष्फल पहुँच कर वापस मुड़ी
तूफ़ान बन कर हठ उसी का मिट्टी में मिलाना चाहता

बिंदु हूँ मैं सिंधु बनने की प्रबल आशा मुझे
स्वयं बन कर अथाह सागर जग को डुबाना चाहता

ग़ज़ल

•

दयाल 'आशा'

प्रेम साने स्निग्ध जन हम
केवल स्नेह का क्रय करते हैं।
मुँह मोड़ गये विलग हो तुम
हम अंत तक निभाते आते हैं।

दुखोद्गार समय का किसी से करें हम क्यों
सानंद उसे सौ बार सहने वाले हैं।

जीवन में हमने न किसी को सताया
किया प्रेम मानो घोर पातक वाले हैं।

अनुराग का मद भरा है नयनों में
बंदी बना दो हम दंड पाने वाले हैं।

सांसारिक औषधि का न हम पर प्रभाव कोई
सदा विरह में बीमार रहने वाले हैं।

जगत में जीने की कोई 'आशा' रही ना
केवल कृपा आपकी चाहने वाले हैं।

•

अनु० : एन० एन० बठेजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकनाथ जेटले

●

कहानी

गाँव का गौरव

उस दिन का वातावरण गंभीर था। जहाँ नित्य हावभाव, प्रफुल्लता और चमक-दमक रहती थी, उसी दिन वहाँ मानों मृत्यु की छाया फैली हुई थी। गाँव के सभी पंच और बनजारे बैठे हुए थे। किंतु सभी की गरदनें झुकी हुई थीं और आकृति से विवशता टपक रही थी।

सामने गदेलों पर तकियों के सहारे बाहर तीन नाटे व्यक्ति बैठे हुए थे जिनकी तोंदें बाहर निकली हुई थीं। वर्ण उनका गौर था और गदेलों पर ऐसे भारी-भरकम पड़े हुए थे मानों दीवारें गिरी पड़ी हों। वैसे तो वे शिष्ट दीखते थे किंतु आँखों में कोई तग़ादा नज़र आ रहा था।

कुछ समय की चुप्पी के बाद मौन वातावरण में क्षोभ उत्पन्न कर एक व्यक्ति ने कहा : "क्यों भाई, रकम थोक खाताबही में लिख दें? नगद भुगतान करो या सीधा जवाब दो। दो-दो वर्ष तक खाता चालू नहीं रह सकता।"

उसकी भर्त्सना ने अधिक घबराहट पैदा कर दी। व्याकुल चेहरों पर मृत्यु की रेखा खिंच गयी। दृष्टि धरातल में लीन हो गयी। वातावरण क्षुब्ध हो उठा।

अढ़तियों के पास एक शिष्ट पुरुष बैठा था। सिर पर सफेद पगड़ी, गले में दुपट्टा। उज्वल पहनाव और उससे अधिक उज्वल छवि थी उसकी। दर्शनीय व्यक्ति, किंतु आकृति बुढ़ापे से जर्जरित। यह व्यक्ति किसी गंभीर विचारधारा में निमग्न हो गया। अढ़तिये की झिड़की सुन कर वह चौंक उठा। गरदन को ऊपर उठाया। प्रथम क्षण में चेहरे पर खिन्नता थी तो दूसरे पल में मुस्कराहट छा गयी। मुख पर आभा उमड़ पड़ी। स्वाभिमान की रेखाएँ मुंह पर झलकने लगीं। उसने विश्वस्त स्वर में कहा : "नहीं, डूबी रकम के खाते में नहीं लिखना। दमड़ी-दमड़ी का हिसाब चुका देंगे।"

"माना, जैसी रबी में हुई, तैसी खरीफ़ में भी होगी।"—अढ़तिये ने अपनी तोंद हिलाते हुए कहा : "रकम रोकड़ निकाल कर यहाँ ढेर कर दो। हुंडी का हिसाब अब नहीं चलेगा। कल सूर्योदय से पहले ऋण का भुगतान करना होगा।"

"ऐसा ही होगा।"—मुखिया ने कहा : "हिसाब फैलाओ, जुमला हिसाब कितना बैठता है?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बनजारों से पूछ लीजिए, सामने बैठे हैं। एक-एक से पूछ लीजिए कि उनके मद में कितनी रकम है। फिर जोड़ लगा दीजिए।"

सब से पूछा गया। किसी के मदे सात सौ, किसी के प्रति एक हज़ार, किसी के खाते बारह सौ निकले। कुल मिला कर पंद्रह हज़ार रुपये निकले।

"पंद्रह हज़ार. . ."—मुखिया से चीख निकल गयी। किंतु दूसरे क्षण में उसने अपने को सम्हाल लिया और कहा : "रकम पाई-पाई सूद सहित दी जायगी। इसमें कोई मीन-मेख नहीं होगा।"

पंच और अढ़तिये विस्मय में थे कि मुखिया पंद्रह हज़ार रुपये नक़द आख़िर लाएगा कहाँ से। उनकी यह इच्छा न थी कि मुखिया किसी ग़ैर के आगे जा कर हाथ फैलाए और याचक बने। किंतु ऐसा ग़ैर व्यक्ति भी तो वहाँ पास-पड़ोस में नहीं था। हाँ, आरेजन गाँव वाला एक सेठ गंगा-राम कौड़ीदार था। उसके पास रोकड़ तो बहुत थी किंतु सूद कमर तोड़ने वाला था। दस दे कर पंद्रह का सोना बंधक कर लेगा। घर और गहने गिरवी कर देगा। किंतु ऐसे कृपण के आगे मुखिया हाथ कैसे फैलाए! नहीं-नहीं, पंचों को यह स्थिति ठीक नहीं जँची। जो कंजूस कौड़ियों का भी लेखा-जोखा रखता है, उसके आगे मुखिया याचक बने! कदापि नहीं।

पंचों ने आपस में कानाफूसी की और प्रत्येक बनजारे ने कहा : "औरतों के आभूषण देंगे,—किंतु मुखिया को किसी के पास कदापि नहीं जाने देंगे।" एक पंच ने उठ कर कहा : "हम अपनी गृहणियों के आभूषण ले आते हैं और अढ़तियों के आगे धरते हैं। रोकड़ के बदले सोना ले।"

मुखिया ने धैर्य से कहा : "रामजी भला करेंगे। चिंता नहीं करो। निश्चिंत हो कर अपने बच्चों के साथ विश्राम करो। कल सवेरे सात बजे फिर पंचायत इकट्ठी होगी। अढ़तियों को कौड़ी-दमड़ी का हिसाब चुकता कर दूंगा।"

पंच और बनजारे उठ खड़े हुए। किंतु उनके पाँव आगे चलने को नहीं करते थे। उनको पता था कि मुखिया के पास इतने नक़द रुपये तो हैं नहीं, फिर सवेरे तक वह इतनी रक़म कहाँ से लाएगा। सभी बहुत ही परेशान थे। इतने में अढ़तिये भी उठ कर चलने लगे। थोड़ा आगे बढ़े तो एक व्यक्ति बाशामल भी उनके साथ हो लिया। बाशामल भी गाँव का एक पंच था। उसको अढ़तियों के पीछे जाते देख कर एक पंच ने कहा : "हो तू के कुत्ते की तरह पूंछ लटकाता लोरता जा रहा है। बेहूदा, ढीठ! समझता है कि हम उसे जानते ही नहीं। उसकी नस-नस का हमें पता है। चला है गाँव की पगड़ी उतारने! कुत्तों के समान उसे नहीं किया तो देख लेना।"

मुखिया की बैठक खाली हो गयी। पंच और बनिये सब अपने-अपने घर चले गये। मुखिया अकेला रह गया और कुछ सोचता रहा।

कंबर गाँव लाड़काणा (सिंध) जिले में, लाड़काणा के बाद दूसरे नंबर में व्यापार की मंडी थी। बीस-पचीस गाँव पास में थे। सौदागरी अच्छी होती थी। सवेरे गाँवों से बनिये गधे और घोड़े दौड़ाते आते और अपने काम की चीज़ें ले कर अपने गाँवों को लौट जाते थे। नगर में धान की सैकड़ों बैलगाड़ियाँ आतीं। अनाज की मंडी में बहुत ही चहल-पहल लगी रहती। नानबाइयों के देगचों पर खुरपियों की ठनाठन लगी रहती। फेरीवालों की बन पड़ती थी। पल भर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके खोमचे खाली हो जाते थे। झट से दाढ़ियाँ झुला कर बाज़ार में घूमने वाले लोग वाणिज्य की वस्तुएँ खरीदते थे। यहाँ वहाँ सब जगह दाढ़ियों का झुरमुट बन जाता। कंबर के बाज़ार, वाह! वाह! देखने योग्य थे।

यहाँ के व्यापारी अपना माल सक्खर या शिकारपुर से लेते थे। व्यापारी प्रथा के अनुसार माल उधार-पट्टे पर लेते थे। फ़सल उतरने पर अढ़तियों के द्वारा रक़म सेठियों को पहुँचा देते थे। किंतु दुर्भाग्यवश उस वर्ष रबी की फ़सल नहीं हुई थी। इसलिए बनजारे उस वर्ष के बकाये का भुगतान नहीं कर सके। फिर दूसरी बार भी बाहर से माल उधार पर ले आये। बनिये विश्वासपात्र थे। पीढ़ियों से सेठियों के साथ उनका लेन-देन होता रहा था। किंतु हाल ही में कंबर के पाँच-छह बड़े व्यापारी धान के सट्टे में बड़ी हानि पा चुके थे। और दिवालिया होने की नौबत पर पहुँच चुके थे।

ख़रीफ़ की फ़सल को भी पाले ने चौपट कर दिया था। बनिये असमंजस में पड़ गये। इस दशा का लाभ उठा कर बाशामल ने अढ़तियों और सेठियों को भड़का कर कहा: "कंबर गाँव के बनिये दिवालिये बन चुके हैं, फ़सल चौपट हो गयी है और अपना उधार डूबा समझो।"

बाशामल भी नगर का एक शिष्ट व्यक्ति था किंतु मुखिया से उसकी कुछ अनबन हो गयी थी। बाहर से उसने कुछ भी सूचित नहीं किया किंतु भीतर ही भीतर वह कुढ़ता था और मुखिया को नीचा दिखाने की योजनाएँ सोचता रहता था और यह अवसर पा कर उसने आँच सुलगा दी।

मुखिया ने रात को नौ बजे अपनी घोड़ी तैयार की। इससे पहले उसने अपने कामदार को मश्की घोड़े पर रवाना किया। कामदार हवा से होड़ बद कर घोड़े को उड़ाता चला। मुखिया पीछे से घोड़ी पर तेज़ गति से जा रहा था। मुखिया नवाब ग़ैबीखान के पास जा रहा था। नवाब ग़ैबीखान सिंध के नवाबों का अग्रणी था। बड़ी संपत्ति का स्वामी। ग़ैबी देरे से ले कर बाँध तक सारी भूमि उसकी थी। भूमि की कोई थाह नहीं थी। मीलों में फैली हुई थी। वार्षिक आय भी कई लाखों की थी।

ग़ैबी देरे का गाँव खीरथर पर्वत की तराई में था। गाँव छोटा था किंतु था बहुत ही दर्शनीय: नवाब ने गाँव का आकार भी बदल दिया था। गाँव के सभी मकान पक्की ईंटों से बने हुए थे। कच्ची ईंटों का एक भी मकान नहीं था। बाज़ार भी मनोहर था। कौन कहेगा कि यह गाँव है! शोभनीय पक्की ईंटों वाला वह एक छोटा-सा नगर दीखता था। नवाब के पास करोड़ों की संपत्ति थी। उनको स्वयं पता नहीं था कि उनके पास कितनी संपत्ति और नकदी तथा आभूषण थे। नवाब के ज़ेवरात का हिसाब तोलों में नहीं, मनों में लगाया जाता था। तराजू से ही उनकी तोल की जाती थी। लाड़काणा और कराची की सभी बैंकों में नवाब के खाते में बहुत-सी रक़म जमा थी।

नवाब स्वयं तो करोड़ों का स्वामी था ही, उसके गाँव के बनिये भी संपन्न थे। प्रत्येक के पास कम से कम आधे लाख की संपत्ति थी। मुसलमान भी सभी आनंद में थे। बनिये संपन्न हुए नवाब की कृपा से। नवाब का एक उसूल था। वह साल भर एक ही बनिये से सौदे-सुलुफ़ का व्यवहार करता था। बस एक वर्ष में ही वह बनिया संपन्न हो जाता था। दूसरे वर्ष नवाब लेन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायगा(?) बनिये से करता तो वह भी समृद्ध हो जाता था। इसी प्रकार प्रति वर्ष अपने गाँव के किसी का(?) बनिये से ही पारी-पारी से व्यवहार करता था। इसलिए गाँव के सभी बनिये धनाढ्य थे।

नवाब की शान-शौक़त का क्या कहना! कहते हैं, जब सर ग्राहम सिंध के गवर्नर हो कर आये, तब ग़ैबीख़ान से उसके कोट में मिलने गये। यह भी कहा जाता है कि नवाब ने कोट के द्वार से अपने महल तक चाँदी के रुपये बिछा दिये। वे रुपये उसने फिर गाँव के किसानों, मज़दूरों, ग्वालों, भैंस चराने वालों और ऊँट चलाने वालों को बाँट दिये। लेडी ग्राहम के लिए कराची से ख़ास हीरों से जड़ा दस हज़ार रुपये का चंदनहार मँगा कर उसने उसे भेंट किया था और सर ग्राहम को एक ऐसा देसी तमंचा सौग़ात में दिया था जिसका दस्ता हीरों से जड़ा हुआ था। इसके बदले में सर ग्राहम ने उनकी समग्र भूमि का कर माफ़ कर दिया। ऐसा था वह नवाब ग़ैबीख़ान।

मुखिया का जो कामदार पहले वहाँ रवाना हुआ था, वह रात को साढ़े बारह बजे घोड़ी को सरपट भगाता नवाब के कोट पर पहुँचा। बाहर चौकीदार खड़े थे। कामदार ने चौकीदारों को मुखिया के आने की सूचना दी। पहरेदार विस्मय में पड़ गये कि मुखिया स्वयं आधी रात को आ रहा है, इसलिए उन्होंने तुरंत ही कोट के भीतर सूचना भेज दी।

नवाब के दीवान ने, जो नवाब के पास किसी समय भी जा सकता था, जब मुखिया का आना सुना तब तुरंत ही उठ कर खड़ा हुआ और नवाब के विशेष प्रासाद में सूचना भेजी। दासियों ने भीतर सूचना दी। आखिर नवाब ने जो मुखिया का आना सुना तो वह अपना जूता भी भूल गया। नंगे पाँव, बग़ल में पाग दबा कर लपकता कोट से बाहर आया। पीछे से दीवान और कोट के भीतर रहने वाले सभी बनिये, कामदार तथा अन्य विशेष व्यक्ति आ रहे थे। नवाब के प्रसन्नता की कोई सीमा न थी। वह कहने लगा: "सुबहान अल्ला! वल् रब्ब दा फ़सल वेखो। बावन गोठाँ दा मुखी, पिंड जुल आया सी, बलें-बलें। अज किथों मींह उठा सी।" (= ईश्वर धन्य है! प्रभु की कृपा तो देखो। बावन गाँवों का मुखिया स्वयं पधार रहा है। वाह जी वाह! आज कहाँ से वृष्टि आ रही है।)

नवाब पाँव बढ़ाता गाँव से बाहर निकला तो उसने देखा कि मुखिया की घोड़ी भी चौकड़ी मारती आ रही थी। नवाब ने आगे बढ़ कर मुखिया का स्वागत किया और स्वयं घोड़ी की लगाम पकड़ी। मुखिया नीचे उतरा तो नवाब ने थोड़ा झुक कर उसे गले लगाया और अपना कंधा पहले मुखिया के बायें, फिर दायें कंधे पर लाया। इस प्रकार कई बार कंधों का परिवर्तन हुआ। मुखिया भी उसी प्रकार अपने कंधे को घुमा रहा था।

नवाब ने कहा: "ख़ुदा दी मेहर, अज सादी तक़दीर खुल गयी सी। मुखी साहिब, तुसाँ बंदे पै मेहर कीती सी। भली आये, जी आये, सादा नूर ठंडा! (= ईश्वर की कृपा, आज हमारा भाग्योदय हुआ है! मुखी साहेब, आपने हम अनुचर पर कृपा की है, भले पधारे जी, आये, हमारे नेत्र शीतल हो गये।)

मुखिया, नवाब और दूसरे सब मिल कर कोट में आये और एक विशेष कमरे में आ कर बैठे। औपचारिक आवभगत आरंभ हुई। मुखिया ने कहा: "नवाब साहिब प्रसन्न हो, चाक-चौबंद, बाल-बच्चे, भाई-भाई, ढोर-ढोठे..."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवाब उत्तर में कहता गया : "रब्ब दा फ़ज़ल, अल्ला दर दुआ, मालक दी मेहर... लोग बंदे, गुलाम..." र के

मुखिया तब तक कहता रहा: "ख़ैर सलाह, ताज़ी, हृष्ट-पुष्ट, बाल-बच्चे, गं भैंसे..."

"खुदा ख़ैर करे। मुखी साहिब। सादा नसीब खुल गया। सी जो तुसाँ पिंड बंदे पै निवाज़श कीती सी। हुण तुसी खेवेदे की ?"

मुखिया ने उत्तर दिया : "इस समय खाने-पीने की आवश्यकता नहीं। मुझे सूर्योदय से पहले अपने गाँव में वापस पहुँचना है। किसी आवश्यक कार्य से मैं यहाँ आया हूँ।"

"भले आये, जी आये, करो हुकुम करो मुखिया साहिब !"

मुखिया ने नवाब को समस्त वार्ता ज्यों की त्यों सुना दी। विना किसी विलंब के नवाब ने अपने दीवान को आज्ञा दी। रुपयों की बोरियाँ भरी जाने लगीं, जिनको घोड़ों की पीठ पर लादा गया। किंतु नवाब मुखिया को छोड़ना नहीं चाहता था। उसने कहा : "आप ऐसे कैसे जायेंगे ! न कुछ खाया न पिया !" अंततः नवाब ने उसे ताजा दूध चाँदी के वर्तन में पिलाया और उससे बचन लिया कि थोड़े ही दिनों में फिर आ कर उसका आतिथ्य स्वीकार करेगा।

मुखिया रात को तीन बजे गैबी देरे से वापस सवार हुआ और अरुणोदय से पूर्व आ कर उसने अपनी बैठक में प्रवेश किया। रुपयों की बोरियाँ बैठक के एक कोने में इकट्ठी करा कर चद्दरों से ढँका दीं।

सात बजे से पहले ही पंच और बनिये आ कर इकट्ठे हुए। बिचारे बनजारे शून्यमनस्क, उद्विग्न और शोकातुर थे। रात भर उनको नींद नहीं आयी थी। नगर और मुखिया के सम्मान का प्रश्न था। एक बार यदि सेठियों को समय पर रक़म नहीं मिली तो सारे नगर का दिसावर में विश्वास उठ जायगा। बनिये उधार नहीं ले सकेंगे, उनकी हुंडी का कोई भरोसा नहीं करेगा। व्यापार नष्ट हो जायगा। लेन-देन ढीला पड़ जायगा। एक तरफ़ नगर का गौरव नहीं रहेगा तो दूसरी ओर आर्थिक दशा बिगड़ जायगी। बड़ी समस्या थी।

सब पंच और बनिये भगवान का स्मरण करते मुखिया की बैठक पर जमा हो गये। सब असमंजस में थे कि आखिर क्या होगा। उनको यह पता ही नहीं था कि रात के अँधेरे में काया ही पलट गयी थी।

आख़िर मुखिया आया। सबने उनका स्वागत किया किंतु चेहरे सबके उतरे हुए तथा मुस्कानरहित थे। मुखिया की आकृति भी गंभीर और शांत थी। स्वाभिमान की रेखाएँ उसके आनन पर झलक रही थीं। गरदन ऊँची थी और आँखों में संतोष-भरी चमक। बनियों को कुछ आश्वासन हुआ किंतु रात भर में धन कहाँ से आया होगा। दमड़ी-कौड़ी कैसे चुकायी जायगी ? उनकी समझ में कुछ नहीं आता था। मन में व्याकुलता थी तो हृदय में शोक।

सब अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। मुखिया ने भी अपना आसन ग्रहण किया। अढ़तिये तूलों के सहारे बैठे थे। बैठक में सन्नाटा छाया हुआ था। कोई तिनका गिरता तो भी स्पष्ट शब्द होता। बिचारे पंचों की साँस फूल रही थी। अढ़तिये अपनी तोंद पर हाथ फिरा रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय[illegible]मल के मुख पर पाजीपन छाया हुआ था। नज़र बचा कर उसने अढ़तियों की आँख का[illegible] संकेत किया।

आखिर एक अढ़तिये ने मुँह खोल कर कहा : "मुखिया साहिब, फिर क्या कहते हो?"

"श्रीमान जी! जैसी आज्ञा करें।"

"आज्ञा और कौन-सी है, रक़म निकालो।"

"श्रीमान जी, रक़म की कोई कमी नहीं। इसी क्षण लीजिए।"

"इसी क्षण लीजिए! मुखिया साहिब, मुँह से बोलने से इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। हमें तो रक़म चाहिए, दिलासा नहीं।"

मुखिया उठा, बैठक के पीछे वाले कोने की ओर चलने लगा। अढ़तिये ने उसका हाथ पकड़ कर कहा : "ऐसे हम जाने नहीं देंगे। इस तरह बहाना बना कर चल दो, यह कदापि नहीं हो सकता।"

मुखिया ने आश्वस्त स्वर से कहा : "ज़रा शांति रखिए, रुपये बहुत हैं।"

"शांति काहे की? अपने वचन का पालन करो।"

मुखिया ने कहा : "जी हाँ, अवश्य, कृपा कर के मेरे हाथ को छोड़ दीजिए।"

अढ़तिये ने हाथ छोड़ा। मुखिया बैठक के पीछे वाले कोने में गया। अढ़तिये मुँह घुमा कर देखने लगे। पंच और बनजारे बहुत ही उत्कंठित दीखते थे। सबका दम मानो घुटा हुआ था। सबका श्वास नेत्रों में स्थिर था।

इतने में मुखिया ने ढेर पर से चादर हटायी और यह क्या. . .सब अचंभे में पड़ गये, सबकी आँखें फैल गयीं। अपनी दृष्टि पर किसी को विश्वास नहीं होता था। अढ़तिये आँखें मल कर रुपयों को देखते थे और रुपये देख कर आँखों को मलते थे। फिर रुपये देखते, फिर आँखें मलते।

मुखिया ने कहा : "कलदार तैयार हैं। ठोंक-बजा कर ले लीजिए।" अढ़तियों और बाशा-मल के छक्के छूट गये। पंचों के मुख पर मुस्कराहट आ गयी। होंठ खिल उठे। गौरव से गरदनें ऊँची हो गयीं। अढ़तिये हक्के-बक्के हो गये। क्षण भर में कलदार खनकने लगे और बोरियाँ भरी जाने लगीं।

नगर में देखो तो नवजीवन का संचार हो गया। सब के चेहरे प्रफुल्लित हो उठे। आनंद-प्रमोद छा गया। चौक-चौक पर प्रसाद और मीठा जल बँटने लगा। गुड़ मंडी, अनाज मंडी, सब्जी बाज़ार और बजाज बाज़ार में मीठे चावलों के देगचों में उबाल आने लगे। सारे नगर ने मिल कर पेट भर कर मिष्ठान्न से तृप्ति की। आया-गया, अपना-पराया, जाट-जुलाहों से ले कर नगर के कुत्तों ने भी पेट भर तृप्ति पा ली। गाँव की मर्यादा और गौरव की सुरक्षा हो गयी। मुखिया की पगड़ी की पैज सुरक्षित हुई।

अनु० : एन० एन० बठेजा

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेचना

बच्चनसिंह

शहर में घूमता आईना

•

उपेंद्रनाथ अश्क का उपन्यास। नीलाभ प्रकाशन।
प्रथम संस्करण सन १९६३। मूल्य: १०.००।

कथा-साहित्य की आलोचना आलोचक से व्यापक मानसिक संघटन और चिंतन की अपेक्षा रखती है। कहानी-उपन्यास की विविधताएँ और प्रयोग आलोचना के सुनिर्दिष्ट मानों पर प्रश्नचिह्न लगाते रहते हैं। कविता और नाटक के संबंध में निर्धारित मान्यताओं में कम अंतर आता है क्योंकि वे स्वयं अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील होते हैं। देखते-देखते कथानक और चरित्र के संबंध में पूर्वनिश्चित धारणाएँ ध्वस्त हो गयीं। 'टॉपलेस' वस्त्रों की तरह कथानक-चरित्रहीन उपन्यासों का अन्वेषण किया गया। और आज उपन्यास को परिभाषित करना अत्यंत कठिन हो गया है। यूरोप और अमरीका में रूप की दृष्टि से बिखरे हुए उपन्यास लिखे गये और वे जीवन को अपेक्षाकृत अधिक समग्रता तथा गहराई में आकलित करने में समर्थ हुए हैं। कथ्य के महत्व के साथ ही रूप का महत्व बँधा हुआ है। सुंदर रूप-विन्यास जीवनहीन होने पर अनाकर्षक होगा, परंतु बिखरा हुआ उपन्यास जीवंत होने के कारण सशक्त और आकर्षक होगा। सच तो यह है कि आज के जीवन को, जो पहले की तरह सुनिर्मित नहीं है, सुगठित उपन्यास अभिव्यक्त नहीं कर सकते। आज उपन्यासगत रूप का रंगारंग जीवन की अनिवार्य माँग का फल है।

'शहर में घूमता आईना' अपने रूप-विन्यास में नया होने, तथा गठित उपन्यास-परंपरा से अलग जा पड़ने के कारण अधिक लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सका है। इसमें संस्मरण, रेखा-चित्र, रिपोर्ताज, स्मृतियों, अंतर्स्मृतियों आदि का जो अंतर्भाव किया गया है वह इसे एक अनोखा रूप देता है। इससे यह प्रश्न लगा हुआ है कि : वह कौन-सा कथ्य है जिसके लिए इस नवीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायन्त्रन्यास की अनिवार्यता आ पड़ी ? क्या इसमें वस्तु और रूप का अभेद स्थापित हो का था है ? लेखक का वह कौन-सा 'विज़न' है जो इसी रूप में ही अँट सकता था, दूसरे में नहीं। स आईने में उभरने वाले चित्र किस सीमा तक एक संपूर्ण चित्र आँक पाते हैं ? और वह चित्र पाठकों की संवेदना को किस प्रकार परिष्कृत करता है ?

इस आईने में अश्क के सुपरिचित नायक चेतन का चित्र मुख्य रूप से उभरता है। जो लोग इसमें जालंधर देखते हैं वे सैरबीन देखने के पुराने अभ्यासी हैं अथवा पूरे सिने चित्र में न रम कर केवल फ़ोटोग्रैफ़ी के सहारे दुनिया का सैर कराना चाहते हैं। जालंधर चेतन से अलग नहीं है, न हो ही सकता है। कोई भी शहर जो मैं हूँ वही है। मेरे आप में जो भेद होगा वही एक शहर के संबंध में भी होगा। या यों कहिए कि यह आईना खुद चेतन है जिसमें एक-एक कर के जालंधरी छबियाँ प्रतिबिंबित होती हैं। या फिर सारे चित्रों में चेतन उभरता है। तो क्या जहाँ चेतन नहीं उभरता वहाँ का चित्र कक्ष की शोभा मात्र है ? लगता है, चेतन अंशों में चेतन है। बद्दा भी चेतन है और बांशी राम भी। चेतन कितना चेतन है, कितना बद्दा, कितना हकीम दीनानाथ, आदि इसका विचार आगे होगा। फ़िलहाल सैरबीन में उभरने वाले चित्रों को देख लिया जाय।

यह जो मुँह चियारे दिखायी पड़ता है, चौधरियों का दीसा है—नक़्शानवीस। 'वह माईया. . . .' की गाली देने वाला बद्दा है। लट्ठे की मैली कमीज़ और उटंग पायजामा पहने रामदित्ते हैं। 'ठल्लू जड़िये दा पुत्तर' दीनानाथ गंजीना-ए-अमलियात की साधना करते-करते हकीम बन बैठा है ! दो गदरायी हुई जवान लड़कियाँ देखिए—अक्की और अंबो। ये हुनर साहब रहे और ये हैं निश्तर। 'सदाकत' के खुले हुए पृष्ठ। ये बैतबाज़ गुंडे हैं। फलक पर एक ख़ूबसूरत मुसलमान लड़का दिखायी दे रहा है—हमीद। रुद्रसेन आरया गीता का अनुवाद फ़रमा रहे हैं। यह मक्खन-सा नर्म मुलायम लड़का कौन है ?—रजत। जीवट की तस्वीरें भी हैं—बिल्ला-देबू। यह खालसा होटेल है। यह बांशीधर हैं। यह आया जालंधरी योगी। यह विधवा कुंती है जो हँस रही है। यह देखिए—बेकिनार झील अर्थात चंदा। यहीं पर सैरबीन की रील चुक जाती है। मंच पर झाँक कर चले जाने वाले तो दसियों चित्र हैं—बेशुमार चेहरे हैं।

इन चरित्रों के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है—हिंदू-मुसलमानों के झगड़े, खालसा होटेल की लड़ाई, गली-कूचे का लंबा विवरण-वर्णन, ज्ञानयोग-कर्मयोग की चर्चा, सत्याग्रह आंदोलन की झलकियाँ, शेरो-शायरी आदि-आदि।

इस उपन्यास के ताने-बाने में चेतन को बुना गया है। या सारी बुनावट या टेक्स्चर चेतन है। इस बुनावट में चेतन कैसा बन पड़ा है—इसे दो तरीक़ों से देखा जायगा : एक तो स्वयं चेतन की पहचान करते हुए, दूसरे टेक्स्चर का विश्लेषण करते हुए। दोनों विवेचनाएँ प्रकारांतर से चेतन की ही व्याख्याएँ होंगी। पहले चेतन को ही देख लिया जाय। यह चेतन 'गिरती दीवारें' का चेतन है—अपनी अल्हड़ सुंदरी साली पर प्यार लुटाने वाला। चेतन वही है—अपनी सुंदरी अल्पवयस्का साली का एक अधेड़ उम्र के एकांउटेंट से विवाह कराने के लिए दायी। इस अपराध के बोध से उसे निष्कृति नहीं मिलती। अपराध-भावना के दंश से वह चारों ओर भटकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह उसके जीवन का एक छोर है तो कैरियर की समस्या दूसरा छोर। एक छोर फ्रायड के मनोविज्ञान से उलझा हुआ है तो दूसरा क्षतिपूर्ति के सिद्धांत से।

सारा उपन्यास पढ़ लेने के बाद लगता है कि चेतन वह चेतन नहीं है—उसमें बहुत परिवर्तन हो गये हैं। अब उसकी किशोर भावुकता झड़ गयी है। वह रोमैंटिक नहीं रह गया है—बल्कि कुछ-कुछ ऐंठी-रोमैंटिक हो गया है। अनंत का रोमांस, कुंती की कहानी या उसके पिता के दास्तान ऐंटी-रोमैंटिक ही हैं। ऐंटी-रोमैंटिक होने का अर्थ यह नहीं है वह बुद्धिवादी हो गया है। वह प्रौढ़ अवश्य है पर बौद्धिक परिपक्वता वय की परिपक्वता नहीं होती। उसका बुद्धिवाद उपरले स्तर का बुद्धिवाद है। जहाँ कहीं वह बुद्धिवादी की तरह से बात करता है—उसका 'मीडियाकरपन' साफ़ ज़ाहिर हो जाता है। जालंधरी योगी और उसके तर्क में दिशाओं का अंतर है पर दोनों का स्तर एक ही है।

इस सिलसिले में 'अश्क' की एक कहानी 'ठहराव' याद आती है। इस उपन्यास की परिणति वही है जो उस कहानी की है। अपने परिवेश विशेष के कारण 'ठहराव' कहानी प्रीतिकर लगती है, लेकिन इस उपन्यास की यह परिणति थकान, हार और लाचारी छोड़ जाती है। कुंती की हँसी के पीछे वैधव्य से समझौता देखना चेतन की अपनी कल्पना है—जीवन की वास्तविकता नहीं। इस आधार पर यह समझ लेना कि नीला भी अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लेगी, अयथार्थ है। कोई इन्हें आदर्शवादी कह सकता है। अंत में चेतन चंदा के आँचल में अपना सिर उसी प्रकार छिपा लेता है जिस प्रकार शुतुरमुर्ग रेत में अपनी गर्दन।

इससे एक शंका और होती है। क्या चेतन की अपराध-भावना कृत्रिम है? यह सारा भटकाव नीला के प्रति किये गये अपराध के कारण है, पर उसके कारण उसे जो दर्द पैदा होता है वह ऐसा नहीं है कि चेतन के व्यक्तित्व को मथ डाले अथवा उसे माँज कर चमका दे। नीला के प्रति उसका प्यार उसी प्रकार का था जैसा अंबो और कुंती के प्रति—निष्क्रिय और हतचेत। बद्दे और जालंधरी योगी के चमत्कार में नीला के प्यार को तो वह भूल ही बैठा। और उसका 'कैरियर'! उसके मित्रों में कोई डिप्टी कलेक्टर हो गया, कोई रेडियो स्टेशन डायरेक्टर। ऐसी स्थिति में उसे अपनी स्थिति का जो बोध हुआ है, वह अत्यंत सजीव बन पड़ा है। लगता है, इसको लेखक ने सचाई से दिया है। यह उसके जीवन का अनुभूतिमय अंश है। लेकिन जहाँ उसे कोई निश्चय करना पड़ता है, वहाँ उसके स्वर बड़े ही कमजोर प्रतीत होते हैं। दो उदाहरण लीजिए :

(१) मैं अशांत जरूर हूँ पर मैं न संसार से मुँह मोड़ सकता हूँ। मेरा ध्यान न पूर्वजन्म की ओर है, न आगामी जन्म की ओर। मैं इस जन्म को सफल और सुखी बनाना चाहता हूँ। मेरी परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं, वातावरण अच्छा नहीं, लेकिन मैं इसी में से रास्ता निकालूँगा। मुझे देर लगेगी पर मैं रास्ता जरूर निकालूँगा।

(२)....नीला जरूर चला ले जायगी....जब कुंती अपने वैधव्य से समझौता कर हँस सकती है तो नीला कैसे न हँसेगी? वह बेकार इतना सोचता है....कल लाहौर चला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायगा और अपने आपको लाहौर की ज़िंदगी में डुबो देगा। उसके पास जो है, उसे बहतर बनाने का प्रयास करेगा, जो नहीं है उसकी चिंता नहीं करेगा. . . .।

पहला उद्धरण उस समय का है जिस समय चेतन जालंधरी योगी को उत्तर देता है। दूसरा उद्धरण पुस्तक के अंतिम पृष्ठ से लिया गया है। यहाँ पुनः वह अपनी पहली बात को दुहराता है। ये वक्तव्य कहीं पर भी उसके क्रियात्मक पक्ष से जुड़ नहीं पाते। दूसरे उद्धरण के अंतिम वाक्य को कोई चाहे तो लेखक का 'विज़न' कह सकता है। आज की ज़िंदगी के परिप्रेक्ष्य में ये निश्चय एकदम बेमाने और खोखले लगते हैं।

'अश्क' ने अपने एक निबंध में यह लिखा है कि आलोचकों के सामने उपन्यास का एक नक़्शा होता है, उसका अपना 'विज़न' होता है और वे उन्हीं को खोजते हैं। इस आरोप को स्वीकार करने को मैं तैयार नहीं हूँ। आलोचक 'विज़न' की पकड़ रचना के भीतर से करता है। यदि 'अश्क' निम्न मध्य वर्ग की हार-लाचारी, समझौतावादी मनोवृत्तियों को ही चित्रित करना अपना लक्ष्य मानते हैं तो आलोचक के सामने आधुनिक जीवन-बोध की समस्या उठ खड़ी होती है। आस्था का प्रश्न झाँकने लगता है। आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह देखे कि कोई साहित्यिक कृति आधुनिक जीवन को उसकी समग्रता में कहाँ तक आँक पायी है। आज के जीवन में भी हार-लाचारी कम नहीं, पर वह चेतन की हार-लाचारी नहीं है। उसमें आस्था का तीखा स्वर भी है। चेतन में आस्था नहीं है, आस्था का दिवास्वप्न है। इसलिए यह आधुनिकता से असंपृक्त रह जाता है।

रह गयी बुनावट या टेक्सचर की बात। टेक्सचर की छानबीन चेतन की छानबीन है। अलग-अलग कथाएँ, दृश्य, घटनाएँ चेतन के माध्यम से ही प्रस्तुत की जाती हैं। और उनमें हो कर ही चेतन अपने विविध आयामों को उजागर करता है। प्रत्येक दृश्य, चित्र आदि जितनी गहराई से उससे संपृक्त होगा, उसी अनुपात में उसे सार्थक कहा जा सकता है।

चेतन और अनंत खोसले की गली के सामने से निकल कर बाज़ार की ओर जा रहे थे कि बद्दा लपक कर मिला। चेतन का मन उखड़ा हुआ था, फिर भी वह रुक गया। उसने पूछा कि इस बार तुम मैट्रिक में बैठे ? जवाब अनंत ने दिया कि पट्ठे ने सेकंड डिवीज़न मार लिया। झमानो का हंसा शरारत से बाज नहीं आया—इससे पूछो कि इसका रोल नंबर क्या है ? बद्दे ने बता दिया ४२२९। देबू काने का हवाला देते हुए जब उससे पूछा गया कि तुमने नंबर गलत बता दिया है तो उसने देबू को भद्दी गाली दी। बद्दा गली में भाग गया। अनंत और झमानो का हंसा ठहाके लगाते रहे। बद्दा चेतन से दो वर्ष बड़ा था। उसकी माँ उसे पढ़ा-लिखा कर अफ़सर बनाना चाहती थी। बद्दा अपने पड़ोसियों को आसपास के लोगों की जन्मतिथियाँ, शादी की तारीखें, हर दुर्घटना का समय बता कर चमत्कृत किया करता था। पहली बार मैट्रिक में फ़ेल होने पर उसने बहाना बनाया कि 'इनविजिलेटर' से उसकी लड़ाई हो गयी। दूसरे वर्ष फ़ेल होने की ज़िम्मेदारी उसने स्कूल टीचरों के मत्थे मढ़ दी। तीसरे वर्ष उसकी माँ ने कहा कि वह प्राइवेट परीक्षा देगा और फ़र्स्ट डिवीज़न में पास हो कर दिखा देगा। वह घर में ही पढ़ता और गली की औरतों में बैठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहता। तभी से वह बद्दा पुकारा जाने लगा। परीक्षा में उसने ऊटपटाँग उत्तर दिये और इस वर्ष भी रह गया। कई वर्ष बाद उसने अपने भाग्य को एक बार फिर आज़माया लेकिन असफल रहा। बद्दा ट्रिब्यून का पुराना अंक लिये हुए आ धमका। रोल नंबरों में एक जगह लाल पेंसिल का निशान लगा हुआ था। चेतन ने बधाई दी और बद्दे ने दाँत निपोर दिये।

यह है आईने में पड़ा एक प्रतिबिंब। देखना यह है कि क्या यह माध्यम है अथवा स्वयं में अलग एक कहानी। या दोनों है। अथवा न यह न वह। इस माध्यम से चेतन का एक पक्ष उभरता है—उसका घटिया दर्जे का वातावरण। पर सवाल है कि इस कहानी को चेतन से कैसे संबद्ध किया जाय? इसका कोई जवाब नहीं मिलता। बद्दे के माध्यम से जो कुछ कहा गया है वह न तो अपने आप में महत्व का है और न चेतन से संबद्ध हो कर भी (यदि वह किसी तरह से संबद्ध है तो) महत्वपूर्ण हो पाता है।

रामदित्ते की सगाई का क़िस्सा रोज़मर्रा की बात है। न तो उसका चिढ़ना महत्वपूर्ण है और न उसकी पत्नी का भाग जाना। इलाज के सिलसिले में एक बिलगावासी कहता है: **"इलाज वह क्या करायेगा। वह इतना भोला है कि बच्चे और पत्नी की मृत्यु को भगवान की करनी समझता है।....अरे भाई भगवान की करनी तो है, पर यह खोपड़ी में 'डिमाक' हमको मिला है, यह भी भगवान ही ने दिया है कि इसे इस्तेमाल करे।"** इस प्रकार की नीरस वार्ताओं की कमी नहीं है। फिर ये इतने घिसे-पिटे हैं कि आज के उपन्यासों में इनके लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। रामदित्ते के सिलसिले में, अनंत की एक बात पर, उसे चाचा फत्तूराम याद आ गये। पर फत्तूराम के पागलपन का वर्णन करते हुए उसके बाप के पागलपन का वर्णन भी लेखक को आवश्यक मालूम पड़ा। इन पागलों की कहानी को चेतन के इस विचार से जोड़ दिया गया है: **"इस अभावग्रस्त मुहल्ले में जहाँ अशिक्षा, असंस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था, जहाँ कई घरों में उमर भर के भूखे-प्यासे कुँवारे पड़े थे, अनाचारी, जुआरी और पागल न हों तो और क्या हों? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ घर न करें और नस्लों को खोखली न बनाती चली जाँय? कई बार जब कोई कुँवारा काफ़ी उमर गुजर जाने पर शादी करता था तो वह पहले ही यौन व्याधियों का शिकार हो चुका होता और कई बार जब किसी युवा रँडुवे की दोबारा शादी न होती तो वह बाद में उन रोगों का ग्रास बन जाता या विक्षिप्त हो कर गली-गली मारा-मारा फिरता....** इससे ऐसा लगता है कि निम्न मध्य वर्ग की विक्षिप्तता और व्याधियों का मूल कारण स्वस्थ यौन संबंधों का अभाव है। गोया इसके लिए अन्य आवश्यक भौतिक कमियाँ दायी नहीं हैं।

रामदित्ते की अपेक्षा हकीम दीनानाथ का अनुषंग अधिक महत्व का है। चेतन को उसकी याद उसके जीवन संघर्षों के संदर्भ में आती है। इसलिए यह बद्दा और रामदत्ता की तरह कटा हुआ नहीं लगता। दीनानाथ को अपने को ऊँचा उठाने की साध बहुत थी। उसे पढ़ने का भी काफ़ी शौक़ था। 'चंद्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति', 'भूतनाथ' आदि पुस्तकें उसने कभी पढ़ डाली थीं। बंगाले का जादू पढ़ कर तो अच्छा खासा जादूगर बन बैठा था। पर उसके जादुई खेल का विस्तार उसके प्रसंग में अनावश्यक ही नहीं, उपहासास्पद भी लगता है। गंजीना-ए-अमलियात की साधना का विवरण भी कम लंबा नहीं है। दालचंद और ठल्लूराम के प्रसंग रोचक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हकीम की सारी साधना 'फ़्रॉड' है। इसी अर्थ में इसके टेक्सचर के माध्यम से चेतन की एक झाँकी मिल जाती है।

हमीद और चेतन के माध्यम से चेतन अवश्य उभरता है—कुछ-कुछ भूखी पीढ़ी ('हंगरी जेनरेशन') के 'बीटनीक्स' की तरह। 'बीटनीक्स' की भूख में नये पैमाने की भी भूख है, पर चेतन ऐसा विभुक्षित है कि कोई पाप नहीं कर सकता। वह ऐसा क्षीण जन है जो निष्करुण नहीं हो पाता।

जालंधर और योगी का संबंध बहुत पुराना है। पूर्व में कामरूप और पश्चिम में जालंधर तांत्रिक योगियों का अड्डा था। जालंधरी योगी के अभाव में जालंधर का वर्णन अधूरा ही रह जाता। जालंधरी योगी के सिलसिले में चेतन योग तथा योगियों के चमत्कार के संबंध में जितने क़िस्से जानता था, सब सुना कर चुक जाना चाहता है। यह योगी भी अन्य सभी पात्रों की तरह 'मीडियाकर' है। चेतन उससे किसी माने में कम नहीं है। जैसा योगी का उपदेश, वैसा चेतन का प्रत्याखान। 'को बड़-छोट कहतं अपराधू।' न तो उपदेश में गहराई है और न जिज्ञासाओं और शंकाओं में। योगी जिस स्तर पर ईश्वर और धर्म आदि की व्याख्या करता है, चेतन के स्थिति-प्रज्ञ, ज्ञानयोग, कर्मयोग की व्याख्याएँ भी उसी स्तर पर प्रस्तुत की गयी हैं।

अपने घटिया वातावरण और साधारण विचारों में उलझे रहने पर भी चेतन कभी-कभी युगीन चेतना की झाँकी प्रस्तुत कर देता है। भागों के संबंध में वह सोचता है: पति मिला तो अधेड़, दमे का मरीज़, सगे संबंधी टुच्चे और कमीने, फिर वह तेलू के साथ भाग गयी तो क्या बुरा किया? धर्मचंद कोई लाखों की जायदाद तो छोड़ न गये थे। वह शन्नो के जूते सहती, अधेड़ देवर की वासना का शिकार बनती तो दो रोटी खाती। अपने समवयस्क, मनचीते आदमी के साथ (वह ब्राह्मण ही सही) भाग गयी तो क्या बुरा किया उसने? . . . .कुंती और चंदा से वह कितनी भिन्न थी—कितनी साहसी और कितनी दबंग. . . .लेकिन आधारभूत रूप से उसके जीवन की 'ट्रेजिडी' क्या और भी गहरी न थी—पहाड़ों के स्वतंत्र वातावरण में उड़ी फिरने वाली वह चिड़िया कहाँ कल्लोवानी मुहल्ले के उस पिंजरे में आ फंसी थी! उड़ कर वह जायगी कहाँ? एक पिंजरे से निकल कर दूसरे पिंजरे में न जा फँसेगी? वह पिंजरा—उसकी पसंद का पिंजरा—उसके लिए नंदन-कानन था। तेलू के संग वह उस वातावरण की सारी घुटन के ज़हर को अमृत जान कर पी जायगी। उसके स्वभाव में शहरों के निम्न मध्य वर्ग की दासता तो न थी, ज़िंदगी अपनी इच्छा से जी लेने की ललक तो थी, फिर वह कितनी भी बेबाक क्यों न हो . . .

वह इस प्रकार की भावना को—साहस को—पसंद करता है, लेकिन अपने संस्कारों के कारण उसे अपने भीतर उँड़ेल नहीं पाता। इस उपन्यास में अनंत एक ऐसा पात्र है जो उसके संस्कारों को सबसे अधिक कुरेदता है, सबसे अधिक खोलता है। इसलिए चेतन की समग्रता में उसका योग सबसे अधिक है। उपन्यास के समस्त 'फ़्रॉड' चरित्रों में वही एक ऐसा व्यक्ति है जो 'फ़्रॉड' से असंपृक्त और यथार्थवादी है। सच्चे अर्थ में वह ऐंटी-रोमैंटिक है, यद्यपि उसके विचार काफ़ी अनगढ़, भद्दे या 'क्रूड' हैं।

१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनंत गोया चेतन का पूरक पक्ष है और सभी के 'फ़्रॉड' को चीरने वाला पैना नश्तर। उसके व्यंग्य की तेज़ धार हल्के-गहरे स्पर्शों से प्रत्येक की कुंठा को चीरती चलती है। आरंभ में ही चेतन की साली का उल्लेख आने पर वह कहता है : **'तो दे गयी तुम्हें दाग़े-जुदाई वो भी?'** बद्दे के 'फ़्रॉड' का पर्दाफ़ाश भी वही करता है। ठल्लूराम और दालचंद की हकीमी को उलटने की उसकी शरारत भी मज़ेदार है। हकीम दीनानाथ के संबंध में उसका यह कहना कितना मौज़ूं है : **"इस साले को किसने कहा था कि जड़ियागिरी छोड़ कर हकीम बने। ठगी के लिए वही पेशा क्या बुरा था?"** उसे प्रेम-व्रेम में विश्वास नहीं है। 'मूड' के ख़राब होने के ज़िक्र चलते ही अनंत कहता : **"है मूड ख़राब होने से तुम्हारी साली अब आने से रही. . . .उसका खड़ा छोड़ो और दूसरा गाँव देखो। तुम नहीं और सही, और नहीं और सही।"** अनंत के चाबुकों का असर चेतन पर हुआ था। वह उसकी बात में तथ्य अवश्य देखता था। यह दूसरी बात है कि चंदा के प्रति वफ़ादार रहने और नीला के प्यार पाने के द्वंद्व से उसका छूट पाना कठिन था।

कुछ सार्थक दृश्यों, चरित्रों, विवरणों को छोड़ कर बहुत से विवरण-वर्णन ऐसे हैं जो किसी भी तरह इसके अंग नहीं बन पाते। कथाओं के भीतर की कथाएँ, एक पीढ़ी से आगे बढ़ कर और पीढ़ियों को समेट लेने की आकांक्षा, स्मृतियों को कुरेद कर उनसे सब कुछ वसूल कर लेने की प्रवृत्ति आदि के जटाजूट में सहृदयों की मानस-गंगा खो जाती है। उसे बाहर निकलने के लिए काफ़ी मेहनत करनी पड़ती है। उपन्यास ख़त्म करते-करते बहुत-कुछ छूट जाता है। उपन्यास को ख़त्म कर लेना भी कम श्रमसाध्य नहीं है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपन्यास का स्तर कुछ ऐसा बौद्धिक है कि वह नीरस हो गया है। बल्कि बौद्धिक न होने के कारण ही वह नीरस हो गया है। 'पैटर्न' बौद्धिक उपन्यास के लिए अधिक मौज़ूं था। इस सिलसिले में लॉरेंस डूरेल का 'फ़ोरडेकर' उपन्यास याद आ जाता है। उसमें भी अलेग्ज़ेंड्रिया का काफ़ी वर्णन है—जी उबा देने वाला वर्णन भी। लेकिन अलेग्ज़ेंड्रिया आधुनिक प्रेम की 'बारीक़ियों' के साथ उभरता है। उसके वर्णन में ऐसे प्रतीक और बिंब निर्मित होते हैं जो जीवन को उसकी पूरी गहराई में उभारते हैं।

'शहर में घूमता आईना' का एक विवरण देखिए जिसमें ताले-कुंजियाँ बनाने वालों की दुकानें थीं :

वे लोग साँचों में तरल धातु डाल कर कुंजियाँ-ताले बनाते थे। उधर लोहार का साथी छोकरा धौंकनी से चीड़ के कोयलों में हवा करता, जिन पर रखी कुठाली में धातु पिघलती, इधर लोहार साँचे को तैयार करता। जब साँचा तैयार हो जाता तो वह उसके ऊपर वाला हिस्सा उठा कर नीचे वाले हिस्से के मुँह से रेत मिली मिट्टी हटाता। साँचे के बीच में कुंजी की आकृति खुदी होती। वह लोहे की आर से साँचे के मुँह से कुंजी तक एक लकीर-सी खींच देता। तब ऊपर का हिस्सा भी इसी तरह ठीक कर रूई के फाहे से मिट्टी के तसले से कुछ मसाला ले कर साँचे पर छिड़क पेंच कस देता और उसे निहाई के साथ खड़ा कर, पैर के दबाव से सँड़सी से कुठाली उठा कर पिघली धातु उसमें उड़ेल देता। साँचे से धुंआ उठने लगता और जले मसाले और रेत की बू फैल जाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुठाली को वापस अँगीठी पर रख, उसमें और धातु के टुकड़े डाल, वह साँचे को तख्ते पर रखता, उस पर दो-एक मुक्के मार, साँचा खोल कर सधे हुए हाथों से ऊपर का हिस्सा उठा लेता। निचले भाग में ढली हुई कुंजी चमकती, जिसके सिरे से धातु की एक लकीर साँचे के मुंह तक आते हुए धातु का एक गुमटा-सा बन जाती। तब साँचे के दोनों ओर से कुछ हल्के से ठकोर कर वह उसे दोनों हाथों में ले ऐसे उलटता कि कुंजी बाहर जा गिरती और साँचे की रेत जरा भी न हिलती। तब सँडसी से कुंजी को उठा कर वह पानी से भरी मिट्टी की छोटी-सी नाँद में डुबोता। 'शूं' की आवाज होती। धुँआ और लोहगंध उठ कर नथुनों में भर जाती। फिर वह छेनी और हथौड़े की एक ही चोट से धातु का गुमटा अलग कर देता, नयी बनी कुंजी को दायीं ओर कुंजियों के ढेर पर फेंक देता और साँचे से मसाला मिली जली रेत अलग कर उसे फिर सान कर साँचे में भरता।

माना कि इस प्रक्रिया में चेतन को बेहद आकर्षण था। स्कूल या कालेज से आते समय, वहाँ रुक कर, वह घंटों इसे देखा करता था। इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन की स्मृति बड़ी ही तीव्र है। ताला-कुंजी बनाने की प्रक्रिया उसे अद्भुत रूप से कंठस्थ है। गोया वह इसका रोज पाठ करता रहा है। इस विस्तार का प्रयोजन? इसे पूरे उपन्यास के संदर्भ में कैसे लिया जाय?

पाठकों के लिए इसका प्रतीकात्मक अर्थ समझना कठिन था। इसलिए उसे लेखक ने खुद समझा दिया है: **"साँचे में पड़ी, नयी ढली कुंजी, चमकती कुंजी उसे सदा नवजात शिशु-सी लगती और जब लोहार साँचे के मुँह पर बन जाने वाले गुमटे और कुंजी के बीच की पतली-सी पत्ती काटता तो उसे लगता जैसे किसी शिशु की नाल कट रही है।"** उस वर्णन से प्रतीक का न उभर पाना वर्णन की असमर्थता का द्योतक है। यदि शास्त्रीय शब्दावली का उल्लेख गुनाह न हो तो इसे 'स्वशब्दवाच्यत्व दोष' कहा जायगा।

और यह है कल्लोवानी मुहल्ला :

वास्तव में कल्लोवानी मुहल्ले में तीन गलियाँ और दो चौक थे और एक लंबी गली, जिसके बीचोबीच छोटी-सी नाली बहती थी। बाजियाँवाला बाजार के खत्म होते ही यह गली बायीं ओर को मुड़ती थी। शुरू में ही एक ओर रामदित्ते हलवाई और हरलाल पंसारी की दुकान थी। उन दोनों दुकानों के बाद दो और दुकानें थी, जिनमें हरलाल पंसारी ही का सामान—अनाज की बोरियाँ, घी और तेल के कनस्तर आदि—रहता था। उनके बाद बायें हाथ को पहला चौक अंदो (आनंदो) का था। इसी में चेतन का घर था। यहीं से गली दायें हाथ सँकरी होती हुई मुड़ गयी थी। शुरू में एक भट्ठी थी, जिसमें ज्वालो महरी शाम को चने और मकई के दाने भूना करती थी। उससे जरा आगे, बायें हाथ को एक लंबी-सी गली 'गली खासलियाँ' थी, जिसमें बद्दे का घर था और आगे गली में दायें हाथ को दूर, बरने पीर तक, दीवारों का सिलसिला चला गया था, जिसके पीछे मुसलमानों के मकान थे, पर उसका कोई दरवाजा उधर गली में नहीं खुलता था। गली खासलियाँ के बाद....

यह कल्लोवानी मुहल्ले का यथातथ्य चित्र है। इससे कल्लोवानी मुहल्ले का भूगोल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभरता है। डूरेल की तरह अलग्ज़ेंड्रिया के माध्यम से जीवन अनेकमुखी आयाम नहीं। क्या यह फ़ोटोग्रैफ़िक नहीं है?

वे फ़ोटोग्रैफ़िक पुनस्सर्जन आदि को आलोचकों का क्लिक मानते हैं। उनका कहना है कि **"दैनंदिन जीवन ख़ासा 'बोरिंग' और फ़ीका"** होता है। उसे रचना में यों ढालने के लिए कि वह जैसा का तैसा भी लगे और उबाये भी नहीं, ज़बरदस्त कल्पना और कला की आवश्यकता है। उत्कृष्ट रचना पुनर्स्सर्जित ही होती है, जबकि भोड़ी, फ़ोटोग्रैफ़िक। 'शहर में घूमता आईना' के लगभग ५०० पृष्ठ उपन्यास के परंपरागत साधनों (रूमान, प्रेम, सेक्स) की मदद के बिना यदि पाठक दिलचस्पी से पढ़ जाता है और फिर भी उसे लगता है कि वह ज़िंदगी को जैसे का तैसा देख रहा है तो उसे समझना चाहिए कि लेखक ने कल्पना और कला से भरपूर काम ले कर उसे सिरजा है....

अश्क जी के इस कथन में एक स्पष्ट असंगति दिखायी पड़ती है। कल्पना और कला द्वारा सर्जित साहित्य में ज़िंदगी जैसी की तैसी दिखायी पड़े यह सर्वथा असंभव है, अमनोवैज्ञानिक है। साहित्य में यथावत ज़िंदगी का चित्रण न हो कर उसका भ्रम ('इल्यूज़न') चित्रित होता है। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत उपन्यास में ज़िंदगी का यथावत चित्र मिलता है, कल्पना द्वारा पुनर्स्सर्जित जीवन नहीं। इसकी ऊब का एक बहुत बड़ा रहस्य यही है।

ये सारे विवरण-वर्णन 'डाकुमेंट्री' हो जाते हैं। 'डाकुमेंट्री' तथ्यात्मक होती है, कल्पनात्मक नहीं। इसके माध्यम से औपन्यासिक जगत की सर्जना संभव नहीं है। आर्वेल, कोएस्लर और सार्त्र के उपन्यासों की असफलता उनके 'डाकुमेंट' में है। पर सवाल उठाया जा सकता है कि क्या तालस्ताय का 'वार ऐंड पीस' 'डाकुमेंट्री' नहीं है? उसके 'डाकुमेंट्री' होने में दो मत नहीं हैं। तब उसकी सर्वश्रेष्ठता के क्या कारण हैं? तालस्ताय के सामने ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा का भी प्रश्न था। इसलिए भी उसने इस पद्धति को अपनाया। उसकी कारयित्री प्रतिभा या कल्पना से 'डाकुमेंट्री' सजीव हो उठी है। कोरी 'डाकुमेंट्री' उपन्यास को जगह-जगह बाँध लेती है और उसका प्रवाह अवरुद्ध हो उठता है। 'डाकुमेंट्री' अपने आप में एक स्वतंत्र विधा हो सकती है, पर उपन्यास में प्रविष्ट हो कर उसे अपनी सत्ता को विलीन करना पड़ेगा। 'शहर में घूमता आईना' में उसका विलीनीकरण संभव नहीं हो पाया है।

इन वर्णनों के पक्ष में भी एक दलील दी जा सकती है कि इस प्रकार के उपन्यास में सचित्र प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि संपूर्ण उपन्यास का युगपत प्रभाव पड़ता है। समूचा उपन्यास पढ़ लेने के बाद जालंधर के अनेक आयाम एक साथ उभर आते हैं। जालंधर में पंजाब भी दिखायी देने लगता है। इस वातावरण में जीने वाले—किसी प्रकार साँस लेने वाले—प्राणी रेंगते हुए नज़र आते हैं। सारा का सारा वातावरण, माहौल अपने छलावे में उभरने लगता है—बैतबाज़, बांशीधर, जालंधरी योगी, निश्तर, हुनर, अनंत, बद्दा आदि-आदि। जेम्स ज्वॉयस के 'यूलिसिस' के संबंध में भी युगपत प्रभाव की बात कही जाती है। पर 'यूलिसिस' के एक पृष्ठ के प्रसंग अन्य पृष्ठों में उभरने वाले प्रसंगों में अंतर्भुक्त न होते हुए भी कुछ इस प्रकार से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं कि एक प्रसंग अन्य प्रसंगों को अनायास उभार देता है। अश्क जी के इस उपन्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी कुछेक प्रसंग प्रकारांतर से अन्य प्रसंगों को संकेतित करते हैं, किंतु वे बहुत कम हैं।

मैंने कहीं पर संकेतित किया है कि यह उपन्यास रूप में एकदम नया है। पर उसका वस्तुतत्व पुराना है। इस रूप के लिए वस्तु की जो नवीनता अपेक्षित थी वह इसमें नहीं है। रूप-विन्यास की नवीनता का आकर्षण पाठकों को भी एक छलावर्त में छोड़ जाता है। वह अपने दैनंदिन को बेतरतीब ढंग से एकत्र देख कर खीझ उठता है। अस्तु, आज के बुद्धिवादियों को आधुनिक चेतना से संयुक्त व्यक्तियों को यह अपील नहीं करता। चेतन का आईना आज के युग के लिए धुंध पड़ गया है।

तकनीक या शिल्प की विविधता की इसमें कमी नहीं बल्कि वह आवश्यकता से अधिक है। बारह घंटे में संपूर्ण अतीत को उभार देना—जी लेना मैं नहीं कहना चाहूँगा—अपने आपमें काफ़ी महत्वपूर्ण है। इसके लिए संस्मरणों को जुटाया गया है, रूपरेखा का चित्र बड़ी ही बारीक़ी से खींचा गया है। 'डाकुमेंट्री' द्वारा तथ्यात्मक आकलन क़िया गया है। स्मृतियों की कौंध में विगत के पृष्ठ के पृष्ठ खोले गये हैं। 'फ़्लैशबैक' का प्रचुर प्रयोग किया गया है। जगह-जगह प्रतीकात्मक योजना भी की गयी है। बिंबों को मुख्यतः चाक्षुष बिंबों को, उभारा गया है। अलग-अलग कथाओं के निर्माण द्वारा इसे परंपरा से काट कर नये सौंदर्यकी सृष्टि का प्रयास भी हुआ है। अश्क जी की भाषा का क्या पूछना ? बारीक़ से बारीक़ चित्रण में वह सहज ही समर्थ है।

इस प्रकार के अनेक उपकरणों से इस उपन्यास का भवन निर्मित किया गया है। इसके लिए देश-विदेश के शिल्पों को भी एकत्र करने की कोशिश की गयी है। काफ़ी अरसे से इसके संबंध में सोचा-विचारा गया है। ऐसी स्थिति में इसमें एक नव्यता का दीख पड़ना स्वाभाविक है। पर खेद है कि इस निर्मिति के पीछे श्रम है, श्रमिक नहीं है, शिल्प है, शिल्पी नहीं है।

हिंदी-विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

गोष्ठी-प्रसंग

●

विवेचना में 'शहर में घूमता आईना'

'विवेचना' की बैठक दिनांक ७ अक्तूबर, १९६४ को सायंकाल ६ बजे स्थानीय एनीबेसट हाल में हुई। बैठक की अध्यक्षता डॉ० विनयमोहन शर्मा ने की। डॉक्टर बच्चन सिंह ने उपेंद्रनाथ 'अश्क'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' पर अपना समीक्षात्मक निबंध पढ़ा। तदनंतर सर्वश्री अमृतराय, सुरेंद्रपाल, डॉ० रघुवंश, विश्वंभर 'मानव', गंगाप्रसाद पांडेय, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क' ने अपने विचार व्यक्त किये।

श्री अमृतराय ने कहा कि 'शहर में घूमता आईना' में जालंधर शहर की छोटी से छोटी बातों और क्रियाकलापों का ज़िक्र है। यह ज़िक्र काफ़ी लंबा है और चेतन के माध्यम से उन सारी स्थितियों को लेखक ने उभारना चाहा है। किंतु प्रश्न उठता है कि 'गिरती दीवारें' के बाद जिस बात को लेखक ने कहना चाहा है, क्या उसके लिए किसी पृथक उपन्यास के लिखे जाने की आवश्यकता थी? आपने कहा कि मेरे विचार से अश्क 'गिरती दीवारें' के उसी पुराने धरातल पर ही दौड़ रहे हैं, लेकिन इसमें उतनी कामयाबी भी नहीं मिली है। कथ्य में निश्चय ही समाज के व्यक्ति के एक नये रूप की कल्पना है। चेतन के अंदर यह चेतना अक्सर हुई है कि वह जो है उसे बदलने की ज़रूरत है। आपने कहा कि मैं डॉ० बच्चन सिंह की इस बात से सहमत नहीं हूँ कि जीवन की पुनर्रचना ही सर्जनात्मक कल्पना है। जीवन के बहुत से अनुभव छितराव और बिखराव में आते हैं। उपन्यास आत्मचरितात्मक है, यह इसलिए भी हो सकता है कि लेखक समसामयिक हैं। आत्मचरितात्मक होने में कोई दोष नहीं है, किंतु अपेक्षा इस बात की है कि आदमी अलग से अपने अनुभव को रखे। उपन्यास के बहुत से अनुभव मनोरंजक और दिलचस्प हैं। उसमें जी लगता है। उपन्यास को पढ़ने में कोई बड़ा यत्न नहीं करना पड़ता। किंतु सवाल है कि उसके बाद उपन्यास का क्या निवेदन है। यहाँ मुझे यह ज़रूर लगता है कि उपन्यास 'डाकुमेंट्री' ज़्यादा हो गया है। इसमें सर्जनात्मक स्फूर्ति कम है।

श्री सुरेंद्रपाल ने कहा कि समीक्षात्मक निबंध विद्वत्तापूर्ण है। आपने कहा कि अमृत जी ने जो बातें कहीं हैं वे लेखक के मन में भी हो सकती हैं। भूमिका में लेखक ने कहा है कि निश्चय ही यह उपन्यास हिंदी की उपन्यास-परंपरा से थोड़ा भिन्न है। यदि हम इस उपन्यास को 'गिरती दीवारें' की अगली कड़ी के रूप में देखें तो निश्चय ही यह हमें चौंकाने वाला होगा। यह उपन्यास यद्यपि 'गिरती दीवारें' का अंग है, किंतु उससे पृथक है। जहाँ तक जालंधर शहर के वर्णन का प्रश्न है, उसका वर्णन करना लेखक का उद्देश्य नहीं है। विशेष परिस्थिति में नगर का चित्रण किया गया है जो सामान्य नहीं है। चेतन ने असामान्य दशा में जो कुछ देखा है, उसी की मनोदशा में यह वर्णन उभर कर आया है। इसमें असंगतियाँ भी हैं, किंतु चेतन की मनोदशा के संदर्भ में ही जालंधर शहर का वर्णन है। यदि हम चेतन की मनोदशा से जालंधर के चित्रण को अलग कर दें तो यह वर्णन कोई महत्व नहीं रखता। चेतन की मनोदशा को समझे बिना उपन्यास को पकड़ना कठिन है। उसकी मनोदशा को समझ कर ही उपन्यास को समझा जा सकता है।

डॉ० रघुवंश ने कहा कि समीक्षात्मक निबंध में मुझे अपने चिंतन के समानांतर कुछ बातें मिली हैं, अतएव इस संदर्भ में मैं कुछ निवेदन करना चाहूँगा। उपन्यास और कहानी में कहीं न कहीं एक संबंध रहता है। केवल कहानी कहने की कला ही उपन्यास नहीं है। मैं केवल यही कहना चाहूँगा कि जब हम साहित्य के संदर्भ में विचार करें तो हमें समझना चाहिए कि मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथा कहने का ढंग ही सब कुछ नहीं है। साहित्य के संदर्भ में इन दोनों में ही एक विभाजन-रेखा रखनी चाहिए। हमें यह भी देखना चाहिए कि लेखक ने पाठकों का मनोरंजन किया है या कोई रचना की है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि सामान्य से सामान्य घटना को भी लेखक अपनी संवेदना से महत्वपूर्ण बना देता है। अश्क जी का ध्यान बहुत ही सहज, साधारण और महत्व-हीन की चीज़ों को ओर गया और उपन्यास के माध्यम से उसे उन्होंने रखा––यह एक नयी चुनौती थी। समीक्षा या साहित्यके संबंधमें केवल यही प्रश्न है कि रचना किस स्तर पर है। इसे भी देखना चाहिए। उपन्यास के पिछले अंश के बीच-बीच में तीन-चार लतीफ़े डाल दिये गये हैं, उनका वहाँ कोई विशेष संदर्भ नहीं था। बहुत-सी इसी प्रकार की चीज़ें 'बैकडोर' से आ जाती हैं, जो पाठकों के मन को अपनी ओर खींच लेती हैं, यद्यपि वहाँ उनका कोई संदर्भ नहीं होता।

श्री विश्वंभर 'मानव' ने कहा कि अश्क जी नयी लकीर खींचने वाले साहित्यकारों में नहीं बल्कि लकीर पीटने वाले साहित्यकारों में हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि यह उपन्यास 'गिरती दीवारें' का पिछला भाग है, इससे कथानक विकसित नहीं हो पाता। उपन्यास का कथा-नक एक वृत्त में घूमता है। उपन्यास पठनीय है या रोचक है, यह दूसरी बात है, लेकिन यदि हम पात्रों को ले कर चलें तो कथानक का विकास नहीं हो पाता। उपन्यास का धरातल बड़ा नहीं है। अश्क जी के पास कहने के लिए कोई नयी बात नहीं है। उन्होंने डॉ० बच्चनसिंह की समीक्षा पर उनकी ईमानदारी के लिए बधाई दी।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने कहा कि इस उपन्यास को हम 'गिरती दीवारें' का भाग मानें या न मानें, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उपन्यास का नाम है 'शहर में घूमता आईना'। यदि आप चेतन को आईना मानते हैं तो उसमें चेतना कम है, क्योंकि आईना के सामने जो कुछ भी जैसा आता है उसी का प्रतिबिंब उसमें दिखायी देगा। उसमें उसकी अपनी कोई कल्पना नहीं है। इसमें मुझे कोई नयी चुनौती नहीं लगती। अश्क जी ने जो चित्रण किया है वह कलात्मक चित्रण है या नहीं, इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। यदि चेतन को तटस्थ मान कर चलें तो उपन्यास को समझने में सुविधा होगी।

डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि निबंध की मूल स्थापना से मैं सहमत नहीं हूँ। समीक्षक का कहना है कि अश्क का यह उपन्यास एक नव शिल्प के रूप का परिचायक है। बाद में उसे वह 'डाकुमेंट्री' लगता है। इन दोनों वक्तव्यों में संगति कहाँ बैठती है? वर्णन के आधार पर इसकी चर्चा 'वार ऐंड पीस' के संदर्भ में की गयी है, किंतु मुख्य समस्या यह है कि यह वर्णन किस प्रकार का है। 'वार ऐंड पीस' का लंबा वर्णन व्यंजनाप्रधान है। अश्क जी का वर्णन वैसा नहीं है। वह किसी गहरी संवेदनशीलता को व्यक्त नहीं करता। पूरा उपन्यास वर्णनप्रधान है। और वर्णन के लिए है, सांकेतिक वर्णन नहीं है।

उपन्यास में मुझे कोई नयी चुनौती की बात नहीं लगी। उपन्यास का पूरा कथानक बारह घंटे में समाप्त हो जाता है, यह बात भी बिल्कुल ग़लत है। रूप और शिल्प की दृष्टि से उपन्यास में कोई नवीनता नहीं है। यदि शिल्प सचमुच नया होता तो कहीं न कहीं चेतना अवश्य नहीं होती। समीक्षात्मक निबंध में प्रारंभ की मान्यता अंत तक बदल जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क' ने कहा कि 'वार ऐंड पीस' आदि जिन उपन्यासों का ज़िक्र किया गया है उन्हें मैंने भी पढ़ा है और मैं भी उसे समझता हूँ। 'शहर में घूमता आईना' में केवल जालंधर का ही आईना नहीं है, यह हमारा भी आईना है। जीवन के सूत्रों को इसमें रखा गया है। आपने कहा कि जब तक कोई इस उपन्यास को कम से कम तीन बार न पढ़ ले तब तक वह इस पर मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता।

तदनंतर स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने कहा कि डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी बातों को हमारे ऊपर थोप दिया है। लेख में 'वार ऐंड पीस' के साथ समानता नहीं दिखायी गयी है, बल्कि 'डाकुमेंट्री' होने की बात के संदर्भ में उक्त बात कही गयी है। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि जब रूप नया होगा तब कथ्य भी नया होगा।

अंत में अध्यक्षपद से बोलते हुए डॉ० विनयमोहन शर्मा ने कहा कि अश्क के उपन्यास पर प्रस्तुत निबंध को आप लोगों ने ध्यान से सुना और उस पर प्रतिक्रियाएँ भी व्यक्त हुईं। उठायी गयी शंकाओं का निवारण भी समीक्षक ने कर दिया।

आईना में जो प्रतिबिंब पड़ा है वह वास्तविक प्रतिबिंब है। आईना घूमता है, इसमें जो बिंब खिंच गया है वह उपन्यास है। मेरे विचार से लेखक अपने हृदय की मसोस को व्यक्त करने के लिए ही उपन्यास लिखने को प्रेरित हुआ है। चेतन सहृदय है। उसे अपनी पत्नी की पीड़ा का भान होता है। उसमें मन में अंतर्द्वंद्व होता है। इस आईने में चेतन के हृदय की वेदना की झलक उसे दिखायी देती है। उसने केवल बारह घंटे का जीवन ही नहीं व्यक्त किया है। घटनाएँ बहुत पुरानी हैं और वे बारह घंटे की घटनाएँ नहीं हैं। उपन्यास में जालंधर के ही निम्न वर्ग का चित्र नहीं है, मैं समझता हूँ कि यह चित्र सारे पंजाब का हो सकता है। लेखक ने उन व्यक्तियों को आईने के सामने लाने का प्रयत्न किया है, जिनका जीवन कालिमा से पुता हुआ है। स्त्री का जीवन बहुत ऊँचा दिखाया गया है। वर्णन 'डाकुमेंट्री' है। सुहागरात के पहले का वर्णन बड़ा अशोभनीय लगता है। उपन्यास बहुत वर्णनात्मक हो गया है। उपन्यास किसी उपन्यास की नकल है यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने अपने किसी सहकर्मी से प्रेरणा नहीं ली है।

निबंध बहुत गंभीरता के साथ परिश्रम से लिखा गया है। किसी कृति के बारे में एक मत तो हो ही नहीं सकता। यह उसकी विशेषता है कि इस उपन्यास के बारे में अनेक मत हैं। अश्क जी का जीवन ही उपन्यासमय रहा है। आज के उपन्यासों की प्रवृत्ति 'ऐंटीस्टोरी' है। उपन्यास में कथ्य का रस तो अवश्य ही होना चाहिए। जहाँ तक इस उपन्यास के मूल्यांकन का प्रश्न है, इसे पाठकों के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

—विवेचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

•

प्रत्यूष भटकी किरण यायावरी

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का कविता-संग्रह। प्रकाशक : हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१। पृष्ठ-संख्या : ९१। मूल्य : ३.००।

अंचल के इस नवीनतम काव्य-संग्रह को पढ़ कर सबसे पहले मन में जो भाव उठा वह यह कि उनके पहले काव्य-संग्रहों (मधूलिका, अपराजिता) से यह कितना भिन्न है। मैं सोचता हूँ, किसी भी काव्य-रचना की परख के लिए यह काफ़ी अच्छी कसौटी है, क्योंकि जो कवि निरंतर सर्जनशील है और प्रति पल परिवर्तित होती दृश्यावली को भर आँखें देखता रहा है, उसकी रचना में भी तदनुरूप परिवर्तन होते रहना अनिवार्य है। और इस दृष्टि से इस संग्रह ने मुझे बड़ा ही निराश किया। प्रणय-भावना से चुचाती इन कविताओं में अंचल का वही—बिलकुल वैसा ही—रूप मिलता है जो दसियों साल पहले मिलता था। प्रतिष्ठित पेटेंट दवाइयों के नुस्खों में भी चाहे थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो गया हो, पर अंचल ने अपनी पद्य-रचना का फ़ार्मूला ज्यों का त्यों रखा है।

और मैं सोचता हूँ, इस संग्रह के संबंध में विचारणीय बात यही है। अंचल जैसा कभी-समर्थ कवि इस बुरी तरह अपने को दुहराता चला जाये, यह बात बड़ी दयनीय लगती है। दयनीय से भी अधिक यह चिंत्य है कि क्या कवि ने सचमुच ही अपनी काव्य-प्रतिभा या भावुक संवेदना को एक ऐसे कठोर शिकंजे में कस रखा है कि किशोर-सुलभ अल्हड़ प्रेम-निवेदन के अतिरिक्त जीवन और जगत का और कोई भी पहलू उसे स्पंदित नहीं करता। तिसपर यह कैशोर प्रणय-निवेदन भी एक युग पुराना रूप लिये है, क्योंकि आज के किशोर वैसे थोड़े ही रह गये हैं जैसे अंचल की कैशोरावस्था में होते थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत संग्रह की कविताओं के संगठन में वे सब गुण मौजूद हैं, जो अंचल के गुण रहे हैं—प्यास की उत्कट अभिव्यक्ति, अतिरंजित शब्दावली, ज़रा-सी बात को ढेरों पंक्तियों में फैला कर कहने की क्षमता—पर ये कविताएँ अब अधिक से अधिक कवि की निजी उपलब्धि ही कहला सकती हैं, आज की कविता को वे रत्ती भर भी संपन्न या अग्रसर नहीं करतीं। और इस कारण पुस्तक के शीर्षक में नयेपन का अंदाज़ भ्रामक ही कहा जा सकता है।

—भारतभूषण अग्रवाल,
आई/२२ जंगपुरा एक्स्टेंशन,
नयी दिल्ली-४।

कुतुबन-कृत मृगावती

डॉ० शिवगोपाल मिश्र का शोध और संपादन। प्रकाशक : हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९६३। मूल्य : ६.००।

हिंदी में जायसी के पूर्व की दो ही कृतियाँ प्राप्त रही हैं—दाऊद की 'चंदायन' तथा कुतुबन की 'मृगावती'। डॉ० शिवगोपाल मिश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने 'मृगावती' संबंधी यथोपलब्ध सामग्री के आधार पर इसका संपादन किया है।

छह-सात वर्ष पूर्व इसकी एक प्रति दिल्ली के खानकाह में प्राप्त हुई है जिसमें प्रारंभ के डेढ़ छंदों को छोड़ कर रचना के समस्त छंद हैं। इस प्रति के प्राप्त होने के अनंतर रचना का आधा छंद (दूसरे छंद का पूर्वार्ध) ही अप्राप्य रह गया है, अन्यथा रचना क्रमबद्ध रूप में और पूरी की पूरी प्राप्त हो गयी है। डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने इस प्रति का उपयोग नहीं किया है। उन्हें इस प्रति की जानकारी न रही होगी, इसकी संभावना कम ही है, क्योंकि उन्होंने संस्करण की भूमिका में रचना से संबंधित संपूर्ण साहित्य और शेष समस्त सामग्री की सूचना दी है। संभवत: उन्हें इस प्रति का पाठ उपलब्ध न हो सका, इसीलिए न उन्होंने उसका उपयोग किया और न उल्लेख ही। किंतु इस प्रति का उपयोग न कर सकने के कारण इस संस्करण में पूर्णता नहीं आ सकी है, यह एक बड़ी भारी कमी रह गयी है। अद्यावधि प्राप्त समस्त प्रतियों में कुल मिला कर ४४५ छंद मिलते हैं, किंतु प्रस्तुत संस्करण में संपादित छंद ३९० हैं और ६–७ छंद पादटिप्पणियों में दिये हुए हैं, जिन्हें मूलपाठ में ग्रहण नहीं किया गया। इस प्रकार उसमें केवल ३९७ के लगभग छंद आते हैं और ४८ के लगभग छंद नहीं आते हैं।

इसी प्रकार इस संस्करण के छंदों में क्रमबद्धता भी नहीं आ सकी है जो इस दिल्ली की प्रति के द्वारा सहज सुलभ हो गयी थी। बीकानेर में प्राप्त 'मृगावती' की प्रति उसके केवल एक अंश की है। इसी प्रकार मनेर शरीफ़ की प्रति भी एक ही अंश की है। एकडला की प्रति में खंडित रूप में यद्यपि पूरी रचना आ गयी है, किंतु उसके पत्रों पर दी हुई पुरानी पत्र-संख्याएँ प्रति के जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण त्रुटित हो गयी थीं और उसके कुछ पत्र ग़लत स्थानों पर रख उठे थे। इस कारण प्रस्तुत पाठ में अनेक छंद ग़लत स्थानों पर संकलित हो गये हैं। एकडला की यह प्रति बाद में इतनी बिखर गयी (या बिखेर दी गयी?) कि अब तो उसमें कोई चार छंद भी क्रम से नहीं रहे। यह प्रति अब वाराणसी के भारत कला भवन में पहुँच गयी है और वहाँ पर देखी जा सकती है।

प्रतियों का उपयोग डॉ० मिश्र ने पर्याप्त पूर्णता से किया है और प्राय: समस्त पाठ और पाठांतर उन्होंने ले लिये हैं। केवल तीन स्थलों (१५८।४, २२१।५, ३०६।४) पर उन्होंने अनूप संस्कृत पुस्तकालय की प्रति में एक-एक अर्धाली के न होने का जो उल्लेख किया है, वह ठीक नहीं है। ये पंक्तियाँ उक्त प्रति में मिलती हैं।

इसी प्रकार जिन छंदों का पाठ उन्होंने केवल एकडला की प्रति के आधार पर दिया है, उनके नीचे उन्होंने एक संकेत दे दिया है, किंतु छंद ८५ के नीचे किया हुआ यह संकेत अशुद्ध है, क्योंकि उसका पाठ अनूप संस्कृत पुस्तकालय की प्रति से लिया गया है। एकडला की प्रति में वह छंद प्राप्त नहीं है। यह भूल बहुत सामान्य है।

बीकानेर और एकडला की प्रतियाँ यद्यपि देवनागरी लिपि में हैं, किंतु दोनों के लिपिकर्ता शुद्ध-शुद्ध रूप में इस लिपि का उपयोग करना नहीं जानते थे, जिसके कारण इन दोनों की प्रतियाँ भूलों से भरी पड़ी हैं। डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने बड़े परिश्रमपूर्वक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनका पाठ संशोधित कर के प्रस्तुत किया है। ऐसी अशुद्ध प्रतियों से पाठ उतारने में भूलें होना स्वाभाविक है। किंतु इस प्रकार की त्रुटियाँ प्रतिलिपिकर्ता की लेखन-त्रुटि के कारण हैं, संपादक की असावधानी के कारण नहीं। शब्दों के संयोजन-विभाजन की भी कुछ अशुद्धियाँ इस संस्करण में मिलती हैं।

कहीं-कहीं पर संपादक ने पाठ को शुद्ध करने का प्रयास किया है, किंतु ऐसे कुछ स्थलों पर पाठ और भी अशुद्ध हो गया है। संशोधन के लिए व्यापक भाषा-ज्ञान की अपेक्षा होती है और पाठ-संपादन का कोई भी कार्य इसके अभाव में अच्छा नहीं हो सकता है। किंतु पाठ-संपादन के लिए साहित्य के व्यापक अध्ययन की भी अपेक्षा होती है, प्रायः लोग इस तथ्य को नहीं समझते हैं। इस तथ्य को मैं इस संस्करण के दोहे को ले कर स्पष्ट करूँगा जो है निम्नलिखित :

'कँवल पत्र' बिसाल, किये
गज कुंभ 'पयोहर' भरि।
हृदै बास 'कांती' साख,
सबै लोचन जथा ॥२००॥

इस संस्करण के अनुसार एकडला-संस्करण में 'कँवलपत्र' के स्थान पर 'पदुमपुत्रि' है, 'पयोहर' उसमें नहीं है और अनूप-संस्करण में 'कांती' के स्थान पर 'कन्या' (?) है। इस छंद का पुनर्निमित पाठ एकडला-संस्करण के अनुसार होगा :

पदुमपुत्री (पद्मपत्र) बिसाल कीये (विशाक्षीला)
गज कुंभ पयोहर भरि (गज कुंभ पयोहरे)
हिरदै (हृदये) बास (वससि) कांती (कांता)।
साख (शाखा) बेलोचन (बैरोचन) जथा (यथा)।

अनूप-संस्करण के अनुसार 'पद्मपत्र' के स्थान पर 'कमलपत्र' तथा 'कांता' के स्थान पर '(नृप)-कन्या' होगा। इस पाठ-संशोधन का आधार वैरोचन की एक कथा है जो जैन साहित्य में मिलती है। ऊपर उद्धृत पंक्तियों तथा शिवगोपाल मिश्र-संपादित पाठ ८४।७ में इसी कथा की ओर संकेत है। इस कथा के विस्तृत परिचय के लिए 'हिंदी अनुशीलन' के वर्ष १०, अंक २ के पृष्ठ ५४ पर मेरे ही लेख 'नंद बत्तीसी' को देखें।

—माताप्रसाद गुप्त,
जयपुर विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के संकट में एक ख़ास आदमी की ज़िम्मेदारी

साहित्य में आजकल बहुत से सवाल उठे हैं जिनसे वे लोग जिनको साहित्य-रचना से सच्चा मतलब था, एक बार वर्षों पहले निबट चुके थे। रचनाकार की निर्वैयक्तिकता, उसका अकेलापन, अनुभूति पर उसका नियंत्रण और शिल्प के प्रति सजगता, ये कुछ सवाल थे: और कुछ निष्कर्ष थे, जीवन में कलाकार का इच्छापूर्वक, जान-बूझ कर हिस्सा लेना और एक ख़ास तरह से हिस्सा लेना और अपने विवेक को एक क्षण के लिए भी झुंड को न सौंप देना।

आज कुछ ऐसे सवाल फिर उठ रहे हैं जिनके उत्तर में यदि हम केवल वे ही मसले शामिल करें जो उन सवालों में ऊपर से दिखते हैं तो बहुत बड़ा ख़तरा यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की मान्यताएँ और पाठक की संवेदना जहाँ तक आगे बढ़ी हैं वहाँ से भटक जायें और जिज्ञासा का जो तत्व नये पाठक में है वह असाहित्यिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल कर लिया जाय। इसकी कोशिश होती जान पड़ रही है और नये और पुराने का सवाल पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में रखना, चाहे उसको व्यर्थ सिद्ध करने के ही लिए, इसी तरह एक कोशिश है, क्योंकि सब जानते हैं कि इस वक़्त असली सवाल नयी और पुरानी का नहीं, अच्छी और विफल, युगचेतना से संपृक्त और असंपृक्त रचना का है। नये और पुराने का सवाल इस वक़्त उस समाज की चतुराई की सीधी उपज जान पड़ती है जिसके लिए साहित्य १९४७ के बाद राजनीतिक सत्ता के बचे-खुचे टुकड़े बटोरने का ज़रिया बना, यदि उसे साहित्येतर कुछ बनना ही था, तो मानवीय मान्यताओं की रक्षा में अन्याय के विरोध को आतुर व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग का साधन नहीं बना। राज्य के मन में कला और साहित्य के, विशेषतया राष्ट्रभाषा के साहित्य के प्रति संरक्षण की और कलाकार के प्रति स्वामित्व की जो भावना १९४७ में कुछ नैतिक उभयसंभव से शुरू हुई थी, आज गहरी जड़ें जमा चुकी है। १७ वर्षों में इतने अधिक साहित्यकार अपनी आत्मा का दैन्य राज्य को दिखा चुके हैं कि अब वह कला की स्वतंत्रता का नाट्य करते रहने को बहुत उत्सुक नहीं है। साथ ही, क्योंकि हिंदी बहुमत की भाषा है, इसलिए बहुमत से जुड़ी हुई मगर दूसरे दर्जे की राजनीतिक सत्ता का जो संचयन अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक होता रहा था वह भी राजा की कोपदृष्टि का शिकार हो चुका है। इस उखड़ेपन की स्थिति में हिंदी के राजनीतिक साहित्यसेवियों के सामने एक ही रास्ता है कि जो कुछ भी उनके पास सत्ता के नाम पर बचा है उसे किसी तरह बचा लें, बचाये रखें। इस संदर्भ में क्या वे सवाल उठाये जायँगे जिनके उत्तर घिसी-पिटी मान्यताओं को झकझोर डालते हों और जिन मान्यताओं को सामने लाते हों वे प्रकारांतर से सत्ता-संचयन की या झुंड के प्रति समर्पण की तमाम प्रवृत्तियों का विरोध करती हों ?

उधर आधुनिक कला अपने स्वभाव से व्यक्ति का विमोचन करती है। और आज जब रचना के अपने आंतरिक ख़तरों से कलाकार पहले से कहीं ज़्यादा आगाह है तो वह अपनी कला के सिर्फ़ उस कला-माध्यम में ही सार्थक होने की अनिवार्यता से भी अपेक्षया अधिक सचेत है। वह कला की आलोचना को कला-परंपरा से जोड़ने की ज़रूरत भी आज पहले से ज़्यादा समझता है। वह जानता है कि न झुंड का साहित्य हो सकता है न झुंड की आलोचना हो सकती है।

पर आजकल उठे हुए प्रश्नों के रूप पर यह चर्चा इसीलिए ज़रूरी है कि इनके थोथे कारणों के आधार पर ही उन्हें बिलकुल अनदेखी कर देना सही न होगा। इन सवालों से कुछ ऐसा लगता है कि कुछ लोग बहुत पिछड़ गये हैं और एक लंबी बहस के बाद आख़िरकार सही नतीजों पर आते दीखते हैं तो भी अंत में यही कहते रहना चाहते हैं कि जो हम अब मान रहे हैं वे मूल्य हमने ग़लत मूल्यों को हटा कर सबके लिए स्थापित किये हैं। इस में भी राजनीतिक कार्य-प्रणाली की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। (पंत जी की 'कला और बूढा चाँद' और दिनकर जी के विदेशी कविताओं के अनुवाद इसके उदाहरण हैं, पर शायद अनुवाद ज्यादा ईमानदार हैं क्योंकि उनमें आभार स्वीकार किया गया है।) रचनाकार की तरह आलोचक भी अपना सत्य आप खोजें तो किसी को कोई विरोध नहीं, पर उनकी दयनीय स्थिति हम समझ लें तो उनके अभिज्ञान में अधिक उपयोगी सहयोग दे सकते हैं।

एक बात और है। साहित्यालोचन में बेवक़्त सवालों का उठना आज के संकट को और यही नहीं आज के सभी बँटवारों के उन सूत्रों को भी समझने का बहुत अच्छा मौक़ा है जो इस संकट में छिपे हुए हैं। मुझे आशा है, आप मुझसे आज के संकट की परिभाषा करने को नहीं कहेंगे। वह एक ऐसी चीज़ है जो परिभाषित होते ही अपनी तीक्ष्णता खो बैठेगी या फिर संकट से भागने का रास्ता दे देगी। हद से हद मैं यह कह सकता हूँ कि आज सामूहिक कायरता मानवीय साहस के लिए हमारे देश में जितना बड़ा ख़तरा बन गयी है उतना हमारी जान में कभी न थी। आज़ादी के बाद के वर्षों में एक के बाद एक कर के व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्ति-गौरव की मान्यताएँ सामूहिक स्तर पर तोड़ी-मरोड़ी गयी हैं :

लोग या तो कृपा करते हैं या ख़ुशामद करते हैं
लोग या तो ईर्ष्या करते हैं या चुगली खाते हैं
लोग या तो शिष्टाचार करते हैं या खिसियाते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग या तो पश्चात्ताप करते हैं या घिघियाते हैं,
न कोई तारीफ़ करता है न कोई बुराई करता है
न कोई हँसता है न कोई रोता है
न कोई प्यार करता है न कोई नफ़रत।
लोग या तो दया करते हैं या घमंड--
दुनिया एक फँफुदियायी हुई सी चीज हो गयी है।
लोग कुछ नहीं करते जो करना चाहिए तो लोग करते क्या हैं
यही तो सवाल है कि लोग करते क्या हैं अगर कुछ करते हैं
लोग सिर्फ़ लोग हैं--चारों तरफ लोग, लोग, लोग
कुढ़ते हुए लोग और बिराते हुए लोग
खुजलाते हुए लोग और सहलाते हुए लोग
दुनिया एक बजबजायी हुई सी चीज़ हो गयी है।

परंतु व्यक्ति पर इस आक्रमण के विरुद्ध आज एक रोमांटिक रुदन या आतंकवादी विस्फोट दोनों ही समकालीन नहीं हैं। दोनों की साहित्यिकता कभी असंदिग्ध थी, पर पिछले वर्षों में हमारा साहित्य दोनों से उसी कारण आगे बढ़ चुका है जिस कारण उसने विचारधारा के पोषण में व्यक्ति की अरक्षा का अनुभव किया है। आज कुछ है, कोई और चीज़ ज़रूर है जो तीखे यथार्थ-बोध से अधिक कुछ की माँग करती है ताकि जो कुछ कवि के कवि होने में निहित है वह हो सके।

वह चीज़ शायद नये मानव की खोज ही है (जो कि अपने में कोई नयी चीज़ नहीं), पर उतने शुद्ध शास्त्रीय रूप में नहीं जितनी साहित्येतर विधाओं में होती है और उतने शुद्ध व्यावहारिक रूप में भी नहीं जितनी जन-राशि में आसक्त राजनीति कार्य में होती है। जैसे शिल्प में शास्त्रीय आदर्शों से आज के कवि को मतलब नहीं, वैसे ही आलोचना में भी कोरे किताबी सिद्धांत को, वह रस का हो या वाद का, वह अप्रासंगिक मानेगा। आज कवि द्वारा नये मानव की खोज उसकी निर्णय लेने की एक आंतरिक ज़िम्मेदारी और रचना-प्रक्रिया के ख़तरों के साथ ही कोई साहित्यिक महत्व की खोज हो सकती है।

पर इस ज़िम्मेदारी के बारे में थोड़ी देर बाद। अभी तो हम उन्हें देखें जो आज के संकट को देख नहीं पा रहे हैं। यह संकट हर स्तर पर--राजनीति के, कला के, विज्ञान के हर कर्ता से--कुछ तकाज़ा करता है और वह है सामूहिक कायरता के विरुद्ध व्यक्ति के साहस के प्रयोग का तकाज़ा। राजनीति में आज मान्यताओं को गड्डमड्ड और पार्टी-व्यवस्था के तीखेपन को, जो यों भी खासा कम है, कुंद करने की कोशिश—यही सामूहिक कायरता है। जो राजनीतिक चिंतक कोशिश कर रहे हैं कि मान्यताओं के दो धुर साफ़ प्रकट हो जायें—एक ओर व्यक्ति की चाहे आत्मा चाहे देह का शोषण करने वाले और दूसरी ओर व्यक्ति का सच्चा आदर करने वाले—वे राजनीतिक साहस के प्रतिनिधि हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में हमारे यहाँ राजनीतिक शैलियों का अनुसरण शायद और जगहों से ज़्यादा है, क्योंकि राष्ट्रभाषा हिंदी के नाम पर दूसरे दर्जे की राजनीतिक सत्ता छनते-छनते उन सभी गढ़ों तक पहुँच चुकी है जहाँ १९४७ से ही, विश्वविद्यालय की, साहित्य-सम्मेलन की, अकादमी की स्वतंत्रता की रक्षा की जानी चाहिए थी—हिंदी के नाम पर जो कुछ भी मिल रहा है ले कर हिंदी भाषा को, बल्कि उसके बोलने वालों को परोपजीवी बना देने का विरोध होना चाहिए था। आज जब कोई व्यक्ति, नये या पुराने के भेद को इस उद्देश्य से उठाता है कि दोनों में कुछ शाश्वत मूल्यों की समानता लिखा कर अपने जड़ को भी चेतन के साथ रख सके तो आसानी से देखा जा सकता है कि आज के संकट के मुक़ाबले उसने क्या रुख़ लिया है। क्या वह मनुष्य की परिस्थिति में (जिसमें उसकी राजनीतिक स्थिति बिलकुल शामिल है) परिवर्तन लाने के लिए कुछ कर रहा है या उसे यथावत बनाये रखने में ही अपनी रक्षा मानता है ? एक लंबी सूची उन प्रश्नों की गिनायी जा सकती है जिन पर ऐसे व्यक्ति अपना मंतव्य दें तो वे एक जाने-पहचाने राजनीतिक वर्ग से एकाकार हो जायंगे। अंततः आप देखेंगे कि उस राजनीतिक वर्ग की मान्यताएँ सत्तारूढ़ दल की मान्यताएँ हैं, उनमें विद्रोह नहीं है बल्कि किसी तरह दूसरों के विद्रोह में गड्डमड्ड करने का प्रयत्न है। इस तरह वह जो कहता है कि वही श्रेष्ठ साहित्य है जिसे एक संरक्षित और सत्ता-पोषी प्रतिष्ठान में स्वीकृत आलोचना-पद्धति से देखने पर ही 'ठोस' नतीजे निकाले जा सकें, वह जिस क्षण अपनी संवेदना को एक ख़ास तरह के निर्जीव सोद्देश्य साहित्य के हवाले कर देता है उसी क्षण अपने को एक ऐसी बौद्धिक हदबंदी के हवाले भी कर देता है जिसमें मनुष्य की नियति को रूप देने वाली मान्यताओं की खोज नहीं है। इसलिए नहीं है कि वह खोज आज के संदर्भ में अंततः एक उथल-पुथल तक ले जाती है। जो राजनीतिक भी है और जिसमें उस व्यक्ति के लिए हिस्सा लेना कष्टदायक और लेने से बचना मुश्किल हो सकता है। इस साहित्यिक वर्ग में भी मान्यताओं को दो धुर छोरों पर न जाने देने की वैसी ही कोशिश है जैसी सत्तारूढ़ दल में है।

पर आज के संकट में सब से तीखा अहसास तो यह है कि हम लेखक और बुद्धिजीवी देश की इस घुटन को तोड़ने में शामिल नहीं हो रहे हैं। हममें से बहुतेरे आज़ादी के समय से ही उन मूल्यों के लिए चिंतित होते रहे हैं जिनके बारे में हमें डर था कि वे अनपढ़, ग़रीब और ग़ुलाम मनोवृत्ति वाले देश में आर्थिक-राजनीतिक शक्ति के बढ़ते हुए संचयन से कुचली जा सकती हैं। १९४७ के बाद के कुछ वर्षों में जब तक आर्थिक उत्पादन के साधन उस स्तर तक विकसित नहीं हुए जहाँ से वे घनीभूत होना शुरू कर सकें, यह चिंता दबी रही, बहुधा भारतीय मानस की उस शुभैषिणी मोदमयी तस्वीर के पीछे दुबकी रही जो हमारे स्वप्नों की तस्वीर थी। व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए जो संघर्ष होता भी रहा वह एक घोषित शत्रु—मार्क्सवादी—होता रहा जो खुले-आम समूहपूजक था और व्यक्ति-विद्वेषी था, और निपट अकेला था। एक अंश में या उसीसे संघर्ष की उपलब्धि है—अर्थात उस अंश में जिसमें वह संघर्ष भारतीय पुनरुत्थान की विकृति नहीं था—कि अपने कलाकार की रक्षा के लिए साहित्यकार ने रचना-प्रक्रिया को समझने पर ज़्यादा ध्यान दिया, आत्मचेतन हुआ। वह आत्मचेतन होने में अपने से भाग नहीं रहा था, अपने को खोज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा था। पर जैसे-जैसे सरकारी और ग़ैरसरकारी दोनों क्षेत्रों में सत्ता ग़रीब देश की आर्थिक समृद्धि के वितरण पर अधिकाधिक निर्भर होती गयी, वैसे-वैसे यह भी प्रकट होता गया—या कहूँ कि होते जाना चाहिए था—कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष में मुख्य प्रतिद्वंद्वी वही नहीं है जो व्यक्ति की पराधीनता का खुले आम क़ायल है। आज अपने देश में जाति के, भाषा के, धर्म के नाम पर और इसलिए साहित्य के नाम पर भी, सत्ता के लिए अकेले व्यक्ति को कुचलने को अन्य बहुत से वर्ग अपने साधनों सहित तैयार हैं। साम्यवाद को इस काम में अब उतनी दिलचस्पी नहीं है। हर हालत में, ये ही वर्ग हैं जो सत्तारूढ़ हैं और असली डर इन्हीं से है।

इस संदर्भ में आज के कलाकार को रखें तो उसके मन में व्यक्ति की रक्षा के लिए छटपटाहट आज सत्ता से किसी न किसी रूप में असहमति का अर्थ ग्रहण कर चुकी है। यही उसकी नियति है। उसने एक स्वप्न देखा था—उसी शुभैषिणी मोदमयी भारतीय तस्वीर का—पर उसके बाद उसका बौद्धिक संघर्ष क़दम-क़दम पर राज्य के प्रति समर्पण के पत्थरों से टकराता चला है—या कभी नहीं भी चला, थक कर बैठ गया है।

आज यह थकान पहले से ज़्यादा व्यापक है और इसी की प्रतिक्रिया है कि बीच की पीढ़ी ने राजनीति से ही विद्रोह कर डाला है जब कि विरोध साहित्य के क्षेत्र में राजनीतिक शैलियों के प्रच्छन्न प्रयोग से और आग्रह राजनीति के क्षेत्र में उनके मुक्त उपयोग का होना चाहिए था।

मैंने थोड़ी देर पहले कलाकार की आंतरिक ज़िम्मेदारी और रचना-प्रक्रिया के अपने ख़तरों का नाम लिया था। साथ ही अभी मैंने कहा है कि कलाकार के लिए मेरी समझ में सही रुख़ यह है कि आज देश में कुंद होती जा रही राजनीति में तेज़ी आये, जान पड़े। अब हम असली प्रश्न पर आयें। कलाकार की आंतरिक ज़िम्मेदारी किस हद तक उसके सामाजिक योगदान में आड़े आती है? या इसे यों रखें, कि यदि वह आज के बँटवारों में—ध्रुव छोरों के उभरने में—व्यक्ति की हैसियत से सहायक होना अपने कलाकार की जीवनी-शक्ति के लिए ज़रूरी समझता है तो इस योगदान के बदले में अपनी स्वतंत्रता का कितना अंश (यदि वह अंश भाज्य है) समाज को या उसकी कार्यकारिणी—सरकार—को देता है? राजनीति ने पिछले १७ वर्षों में रचना की सभी विधाओं को ग्रस लिया है, यही अपने में यथेष्ट कारण है कि आज कलाकार राजनीति को निरर्थक मान कर न चले जैसा कि वह स्वतंत्रता के वर्ष १९४७ में या उसके आसपास के वर्षों में नहीं कर सकता था। १९५०-५१ तक साहित्यालोचना में राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिरूप मानदंडों से जो वितृष्णा उत्पन्न होने लगी थी, वह आज भी अर्थवती है, पर वह वितृष्णा राजनीति के प्रति उदासीनता में न बदल जाये यह असाहित्यक मानदंडों के ख़तरे से ज़्यादा बड़ा ख़तरा है। राजनीति से हमारे साहित्यकारों ने पिछले वर्षों में जो संबंध जोड़ा है वह राजनीतिक माध्यमों के प्रति सहानुभूति का नहीं राजनीतिक सत्ता के प्रति विनीत सखा-भाव का है। विनीत सखा-भाव राजनीति-जैसी द्वंद्वात्मक प्रणाली की जड़ें काटता रहा है और संसदीय प्रतिपक्ष जैसी अनिवार्य पद्धति को मद्धिम करता रहा है। यह अनुभव करने में जितनी देर हम आज कर रहे हैं उतनी ही देर हम उन सामाजिक मान्यताओं के निथराव में लगा रहे हैं जिनके लिए अपनी आसक्ति हम, कितने भी राजनीति-विरोधी हो जायें, भूल नहीं सकेंगे। यह मेरी समझ में भारतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान की एक नियामक परिस्थिति है कि हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व राजनीति के माध्यम से अपने उद्घाटन की माँग करता है—सब समय जानते हुए कि वह संपूर्णता प्राप्त करते ही अर्थहीन हो जायगा, एक और भी व्यापक विश्व-अनुभव बन जायेगा। इस माँग से सहानुभूति न रखना कला के लिए एक प्रकार का उपहास सिद्ध हो रहा है, क्योंकि ठीक-ठीक न जानने के कारण कि किस अर्थ में राजनीति-सामाजिक कार्यों में हिस्सेदारी कलाकार की स्वाधीनता की क्षति नहीं है, हममें से बहुत से हाथ खींच कर बैठे हुए हैं। जिनकी पाँचों उँगलियाँ घी में हैं वे राजनीति से नहीं सत्ता से प्रतिश्रुत हैं और यह नहीं देखना चाहते कि दोनों दो अलग-अलग चीज़ें हैं, भले ही उनका संभ्रम उनके सर्जनात्मक स्वातंत्र्य को इसी बहाने कुतर डाले। वैसे व्यक्ति इस प्रकार के स्वातंत्र्य की ज़रूरत भी स्वीकार करते हैं या नहीं, यह जानना कठिन है।

यहाँ से हम कुछ अधिक व्यक्तिगत स्तर पर कलाकार की आंतरिक ज़िम्मेदारी को देखना शुरू करें तो पहले उठाये हुए प्रश्न पर आ जायेंगे। इस ज़िम्मेदारी का राजनीति से कोई संबंध नहीं है, केवल उसे किसी विशेष विचारधारा के अधीन नहीं होनी चाहिए। जो चीज़ इस परिस्थिति को निर्धारित करती है, वह विचारधारा से कहीं ज़्यादा व्यापक चेतना है—एक अखिल आलोचनात्मक मानव-चेतना है। गोष्ठी-प्रिय हिंदी लेखक को शायद यह बताना उसको चिढ़ाना न होगा कि इस चेतना की शर्त भारतीय संस्कृति का पांडित्य नहीं, सामूहिक जीवन में पूर्णतर योगदान है: जीवन की समग्रता और व्यापकता में, उसके विविध उपकरणों में, इच्छा कर के, परिश्रम कर के हिस्सा लेना आधुनिक साहित्यकार की मौलिक शर्त है। यों हिस्सा लेने वाला व्यक्ति दोहरी रचना करता है—पर उसकी रचना-पद्धति जीवन के अन्य कर्मियों से भिन्न होने के कारण उसका जीवन भी एक विशिष्ट जीवन होता है।

अब, क्या कर के वह जीवन हम जी सकते हैं? इसके तो उतने ही उत्तर होने चाहिए जितने कवि: हिस्सा लेने को बहरहाल हर एक मुक्त है। उसमें जो सामाजिक बाधाएँ आती हैं वे भी हर एक के लिए हैं और राज्य से या समाज से बिना किसी तरह की रियायत माँगे हुए भी कवि को उन्हें औरों की तरह झेलना और उनसे लड़ना है, पर निश्चय ही औरों की तरह केवल हिस्सा ले लेना कवि का लक्ष्य नहीं है—वह क्रिया तो केवल एक तैयारी है—उसकी रचनात्मक प्रक्रिया का अलग-अलग घटनाओं में सूत्रपात है।

इसके आगे इस सिद्धांत का कोई साधारणीकरण नहीं हो सकता—वह प्रक्रिया एक वैशिष्ट्य है और इससे आगे इसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। वह एक कवि में एक-सी होती हुई भी बार-बार नये स्तरों तक पहुँच सकती है और नयी रचनाएँ कर सकती है। जो एक बार व्यक्ति की हैसियत से समकालीन उथल-पुथल में योग दे चुका है, रचना करते हुए कवि की हैसियत से वह दुबारा योग देता है: अपनी शक्तिभर, छोटे-छोटे विविध अंशों में दुबारा योग देने में ही उसकी सार्थकता है और यह सार्थकता तभी है जब वह योगदान कला के स्तर पर हो। केवल स्थापना, घोषणा या नारेबाज़ी का मौक़ा जीवन में और जगह बहुत है और वहीं उसका फ़ायदा उठाना भी मना नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह आज का लेखक सिर्फ़ अपने प्रति ज़िम्मेदार नहीं है, पर वह सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी पर लिखता है। आग्रह उसमें सिर्फ़ अपने माध्यम के लिए है। वह राजनीति में हिस्सा लेता है पर लेखन छोड़ कर राजनीतिक विचारधाराओं के क्षेत्र में राजनीतिक विधियों से अपना रचनात्मक काम नहीं करने लगता। इसके मूल में उसका वही अकेलापन है जिसके बल पर वह जिस समय देखे उसी समय सत्य को कह सकता है––द्रष्टा हो सकता है, राजनीतिक शैली के बंधनों में बँध कर "कहने का उचित अवसर" नहीं ढूँढ़ता रहता (जिस हद तक ढूँढ़ता है उस हद तक वह इस अपूर्ण संसार का ही जीव है) और किसी आलोचक को यह अधिकार नहीं लेने देता कि वह उसकी रचना में अपने (आलोचक के) सत्य के न होने की शिकायत कर सके।

वह किसी का जवाब देने नहीं खड़ा होता है। जो किसी ने कहा है उसका खंडन करना उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं है। यह देखना है कि यदि खंडन करता है तो अंत में क्या विचार किसी के लिए बच रहता है। बड़े से बड़ा राजनीतिज्ञ विद्वान और धर्मात्मा उसकी आलोचना से परे नहीं, पर उसका स्थान लेने का उसका प्रयोजन नहीं है। उसका अपना स्थान है और वह जानता है कि मनुष्य से मनुष्य के नये संबंध में उसने मनुष्य के लिए क्या किया है। जैसे कि :

मानता हूँ बंधु यह आभार
तुम न होते तो न शायद जान पाता
इस व्यथा से भी कठिन है व्यथा से उद्धार
मानता हूँ बंधु यह आभार

—दो व्यक्तियों का यह संबंध जिसमें 'दूसरे' के संघर्ष की अनुभूति है—एक नये साहसी मानव-व्यक्तित्व की खोज में पाया गया है। जब वह कहता है :

किंतु धिक् मेरी व्यथा को
जो और अधिक दया ही माँगती रही
बंदिनी नारी की दया, जो केवल तन का समर्पण है

—तो स्त्री के लिए आदर के सदियों पुराने ढोंग से ज़्यादा सच्चा जान पड़ता है और जब माँगता है कि :

शक्ति दो, बल दो हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर
घर तक पहुँचा आयें
कोट की पीठ मैली न हो ऐसी दो व्यथा
शक्ति दो

तो वह पीड़ा का सैद्धांतिक, वादपरक या रोमांटिक निबटारा नहीं करता, उसे समझने और उससे जुड़े दूसरे व्यक्ति के अनुभव से न भागने की इच्छा करता है। ये कुछ निजी उदाहरण हैं और यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण देने का विशेष प्रयोजन भी नहीं। यदि बिना मतवाद में पड़े आप नया साहित्य पढ़ते रहे हों तो स्वयं ऐसे स्थलों से परिचित होंगे जहाँ व्यक्ति की गरिमा का कोरा आदर्शवादी प्रचार नहीं है, व्यक्ति और व्यक्ति के संबंध को ज़्यादा खरा, खुला बनाने की खोज है, उसमें जो कुछ घटिया है, उसे देखने का साहस है और यह एक निष्ठा के साथ और, एक बहुत ग़लत समझे गये शब्द ही सही, 'आस्था' के साथ है।

सुनो सुनो, बातों का शोर
शोर के बीच एक गूंज है जिसे सब दूसरों से
छिपाते हैं। कितनी नंगी और कितनी बेलौस।
मगर आवाज़ जीवन का धर्म है इसलिए मढ़ी हुई करतालें
चुमकारता, न क्या हुआ करता हूँ,
बचाते हैं। लेकिन मैं जो कि सिर्फ़ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न
सुनता हूँ और दे दिया जाता हूँ।

यदि इसमें आलोचक को किसी राजनीतिक विचारधारा की तो दूर, किसी सामाजिक आग्रह की भी धारणा नहीं दीखती तो मान कर चला जा सकता है कि कवि ने कम से कम एक कठिन शर्त—वर्तमान समाज के प्रति ज़िम्मेदार रहते हुए सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी पर लिखने की शर्त—पूरी कर ली है और वह कम से कम एक बार तो सही समझा गया है।

पर साथ ही एक और चीज़ हुई है। साहित्य के बाहर वह किस हद तक समाज से प्रतिश्रुत रहा है, हमेशा के लिए आलोचक की कचहरी से बाहर का मुक़दमा बन गया है।

रघुवीर सहाय,
—पी–३१ नयी दिल्ली साउथ एक्सटेंशन,
नयी दिल्ली–१६।

गोष्ठी-प्रसंग | पी० ई० एन० द्वारा आयोजित लेखक-सम्मेलन

भारत में राष्ट्रीय एकता के अभाव और आवश्यकता का लेखा-जोखा अब इतने व्यापक रूप से होने लगा है कि चारों ओर 'अखिल भारतीय' विशेषण सुनायी देने लगा है। अखिल भारतीय युवक सम्मेलन, अखिल भारतीय साधु सम्मेलन, अखिल भारतीय पत्रकार सम्मेलन या अखिल भारतीय हलवाई सम्मेलन हो, सब अखंड भारत का नारा लगा कर प्रारंभ और संपन्न होते हैं। अब 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' भी उस दिन लखनऊ में अखिल भारतीयता का दावा ले कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। इस सम्मेलन का आयोजन किया था अंतर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० की (सुविधा के लिए 'पेन' अर्थात 'क़लम' भी कहा जाता है जो यहाँ विशेष सार्थक है) भारतीय शाखा ने।

पी० ई० एन० एक प्रकार का साहित्यिक क्लब है जिसका जन्म सन १९२१ में इंग्लैंड में हुआ था। इसका मुख्य प्रयोजन है लेखकों को संगठित कर के विचार-विनिमय, सहयोग और सद्भावना को प्रोत्साहन देना ताकि देश-विदेश के लेखक और विचारक अंतर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव और शांति के विकास में भी सहायता दे सकें। प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं से विचलित यूरोप के साहित्यिकों ने राष्ट्रवाद के उद्दाम प्रवाह को रोकने के लिए अंतर्राष्ट्रीयता के इस यज्ञ में अपना भी हव्य देना चाहा। इसके लिए आवश्यक था कि यूरोप की लगभग दो दर्जन भाषाओं में लिखने वाले लेखक एक दूसरे से केवल पुस्तकों के ज़रिये ही नहीं प्रत्यक्ष भी मिलें और यूरोपीय संस्कृति के धरातल को नये सिरे से टटोलें। इस बीच विज्ञान की तेज़ रफ़्तार ने समाज में नयी विषमताओं, समस्याओं, समाधानों और अनेक विरोधी मूल्यों को भी जन्म दिया। नये लेखकों की साहित्यिक रिश्तेदारी पुराने लेखकों के साथ होते हुए भी उनका मानसिक अलगाव १९३० के बाद स्पष्ट उभर आया। इस संकट का पहले से आभास पाने वाले सजग साहित्यकारों ने पी० ई० एन० के महत्व को विशेष रूप से समझा, उसका उपयोग किया और कुछ ही वर्षों में यूरोप ही नहीं, एशिया और अमरीका में भी इसकी कई शाखाएँ खुल गयीं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अलावा राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी पी० ई० एन० ने साहित्यिक गतिविधियों और लेखकों की प्रवृत्तियों को प्रभावित किया। इंग्लैंड में जन्मने के कारण शुरू से ही इस क्लब का रंग अंग्रेज़ी रहा है, उस पर अंग्रेज़ी सभ्यता और साहित्यकारों का प्रभुत्व रहा है। किंतु पश्चिमी देशों की स्वाभाविक राष्ट्रीयता ने अपने-अपने पी० ई० एन० क्लबों को अंग्रज़ियत के निरर्थक तत्वों से मुक्त रखा। थियोसोफ़िकल सोसायटी की एक उत्साही विदेशी महिला श्रीमती सोफ़िया वाडिया के प्रयत्न से १९३४ में भारत में भी पी० ई० एन० क्लब खुला। बहुभाषी देश में ऐसे क्लब का महत्व निर्विवाद था। रवींद्रनाथ ठाकुर उसके प्रथम अध्यक्ष बने। सरोजिनी नायडू, रामानंद चटर्जी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, जवाहरलाल नेहरू इत्यादि इससे तत्काल संबद्ध हो गये। गुलाम देश में अंतर्राष्ट्रीयता का जो रूप बन जाया करता है वही हमारे देश में भी हुआ। पी० ई० एन० अंग्रेज़ी में लिखने वालों का चोचला बन गयी। इसके प्रायः सभी सदस्य भारतीय होते हुए भी भाषा, शैली, विचारधारा या सर्जनात्मक प्रेरणा की दृष्टि से पश्चिम के—ख़ास तौर से इंग्लैंड के—बहुत निकट थे। प्रेमचंद, शरच्चंद्र या जयशंकर 'प्रसाद' की गति वहाँ न थी। अतएव प्रारंभ से ही भारतीय पी० ई० एन० की बनावट और आत्मा दोनों स्वदेशी से अधिक विदेशी ही रही आयी है। उसके कार्यक्रमों का एकमात्र माध्यम अंग्रेज़ी है। उस पर भी भरसक इंग्लैंड की अंग्रेज़ी। इसलिए क्लब की सभाओं में जो जितने अंग्रेज़ी लहजे और उतार-चढ़ाव से अपनी भारतीय अंग्रेज़ी बोल सकता है उसका पी० ई० एन० में उतना ही अधिक स्वागत और सम्मान है। लखनऊ के पी० ई० एन० सम्मेलन में—जिसे अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन कह कर पुकारा गया—तो ऐसा लगा कि भारतीय साहित्य पर नहीं, अंग्रेज़ी उच्चारण और भाषण पर 'सिंपोज़ियम' हो रहा है। भारतीय पी० ई० एन० की ऐसी गतिविधियों में सबसे सक्रिय हैं स्वयं मदाम (लोग हिंदी में भी उन्हें अब श्रीमती नहीं कहते) सोफ़िया वाडिया। सक्रिय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही नहीं हैं वे, उस पर पूरा पहरा भी देती हैं। चार दिन के अधिवेशन में वे अनावश्यकता को भी आवश्यक बना कर प्रत्येक बैठक में सभापति के साथ ठीक बग़ल में मंच पर विराजतीं और अपनी इच्छानुसार सभापति को भूल कर माइक पर जा कर अपनी आलंकारिक अंग्रेज़ी का तोहफ़ा श्रोताओं को बाँटने लगतीं। क्यों, किस प्रसंग में, किस आशय से, यह पूरी बात सुन जाने के बाद भी न मालूम होता। अंग्रेज़ियत केवल भाषा तक ही सीमित नहीं थी। समस्त सम्मेलन का परिवेश ही उसका प्रतिनिधित्व बड़ी वफ़ादारी से कर रहा था। १५ भारतीय भाषाओं में लिखने वाले प्रतिनिधियों का सम्मिलन चार दिन तक हुआ––वह भी हिंदी जगत की राजधानी लखनऊ में। किंतु एक भी भारतीय भाषा का शब्द नहीं सुनायी दिया। हिंदी का भी नहीं।

बहरहाल, लखनऊ में अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के नाम से एक सम्मेलन हुआ। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं।

(१) लगभग ८० प्रतिनिधियों में शायद तीन या चार लेखक ही ऐसे थे जो अपनी भाषा के श्रेष्ठ और ख्यातिप्राप्त साहित्यकार थे।

(२) ८० प्रतिनिधियों में लगभग १० प्रतिनिधि ही विशुद्ध साहित्यिक वृत्ति के थे। बाक़ी अध्यापक थे––प्रोफ़सर, लेक्चरर, मास्टर, यहाँ तक कि क्लर्क और तमाशबीन भी। इनमें २० केवल डॉक्टर (पी- एच० डी० और डी० लिट०) थे।

(३) प्रायः सभी प्रतिनिधि किसी न किसी रूप से अंग्रेज़ी से संबंधित थे। कोई अंग्रेज़ी का अध्यापक, कोई अंग्रेज़ी का लेखक, कोई अंग्रेज़ी का भाषणबाज़ तो कोई अंग्रेज़ी का एम० ए० ही। जो इनमें से कुछ नहीं थे वे या तो अंग्रेज़ी के उपासक थे या विदेश हो आये थे।

(४) अपनी सुविधा के लिए अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन ने भारतीय संविधान को शायद फ़िलहाल बिसरा कर १५ राष्ट्रीय भाषाओं में अंग्रेज़ी, मैथिली और सिंधी को शामिल कर लिया। इन पर लेख पढ़े गये। विवाद हुए। बदले में असमीया को बिरादरी से अलग रखा गया।

(५) हिंदी जगत की छाती पर मंच बना कर भी सम्मेलन के आयोजकों ने हिंदी भाषा में कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम अन्य भाषा-भाषियों के सामने नहीं प्रस्तुत किया। दो नाटक खेले गये—एक बँगला में और एक अंग्रेज़ी में।

(६) सम्मेलन का उद्घाटन राज्यपाल ने और समापन मुख्य मंत्री ने किया। लखनऊ और उत्तरप्रदेश के कुछेक वरिष्ठ साहित्यकार मुँह उठाये उनको ताकते बैठे रहे।

(७) छह विचारगोष्ठियों में से एक का भी सभापतित्व करने का अवसर हिंदी के किसी लेखक को नहीं दिया गया। लगता है उत्तर प्रदेश की मुख्य मंत्री को पी० ई० एन० ने हिंदीभाषी नहीं माना। अन्यथा समापन समारोह किसी और से कराया जाता।

(८) प्रतिनिधियों को शत प्रति शत पंजाबी भोजन और बंगाली मिठाई खिलायी गयी। मुझे स्मरण है, अन्नमलाई नगर में आयोजित ओरिएंटल कॉनफ़रेंस में भारतीयों को ही नहीं, कुछ विदेशियों को भी सांबर, इडली वग़ैरह खाना पड़ा था।

(९) सम्मेलन में चार अंग्रेज़ीभाषी—दो अमरीकी और दो अंग्रेज़—प्रतिनिधि थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंतु इनमें से एक ने भी, भारतीय साहित्य पर तो दूर की बात, शेक्सपियर पर हुई विचारगोष्ठी में अपना मौन व्रत भंग नहीं किया।

(१०) स्व० मामा वरेरकर को श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। नेहरू जी को भी लेखक के रूप में काँपती आवाज़ से स्मरण किया गया। किंतु राहुल सांकृत्यायन, रघुवीर, नेपाली और अभी-अभी गुज़र गये मुक्तिबोध को ग़लती से भी नहीं याद किया गया।

ऐसी ही न जाने कितनी ख़ूबियाँ थीं लखनऊ के अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन की।

पहली विचारगोष्ठी हुई 'लेखक और सार्वजनिक माध्यम (मास मीडिया)' पर। चार प्रबंध पढ़ गये। सबका अपना-अपना पहलू था। हिंदी की ओर से बालकृष्ण राव ने 'लेखक और रेडियो' पर संक्षिप्त किंतु विचार-उद्बोधक लेख पढ़ा। अंग्रेज़ी में ही—तिस पर राव साहब की अंग्रेज़ी। कभी लगता बी० बी० सी० बोल रहा है तो कभी लगता आकाशवाणी का संशोधन हो रहा है। लेख के प्रारंभ में राव साहब ने हिंदी में न बोल सकने पर मलाल प्रकट किया तो मदाम वाडिया के रीबीले चेहरे पर व्यंग्य की चोट साफ़ नज़र आयी। आगे उन्होंने जब और सुना तो मुझे लगा मानों वे अपने आप से कह रही हों : "अरे, तुम हिंदी के कवि ऐसी अंग्रेज़ी कहाँ से चुरा लाये ?" दोपहर भोजन पर कुछ दक्षिणी बंधुओं ने कहा : "यह बालकृष्ण राव तो पुराना आई० सी० एस० था।" लेखक सम्मेलन की कैसी बिडंबना ! यह किसी को न पता था कि राव साहब सबसे पहले कवि—हिंदी के ही सही—थे, बाद में कुछ और थे। किसी वक्ता या प्रतिनिधि का परिचय कराने का कष्ट आयोजकों ने नहीं किया। केवल दूसरे दिन अख़बारों से मालूम होता था कि कल सबेरे या शाम कौन बोल रहा है। पता नहीं पी० ई० एन० अपनी किस जादुई लकड़ी से भारतीय लेखकों को संगठित कर के देश में राष्ट्रीय एकता का और विश्व में मानवीय प्रभुसत्ता का पोषण करना चाहती है।

दूसरी विचार गोष्ठी का विषय था 'रंगमंच विधान और राष्ट्रीय थियेटर के लिए नाटक-रचना'। पहली बार सभापति डॉ० राधाकमल मुखर्जी ने भारतीय लोकनाट्यों और बँगला के नाटककारों का उल्लेख कर पी० ई० एन० में भारतीयता का पुट दिया। चर्चा संपूर्ण भारतीय नाटकों और नाट्यकला की थी। किंतु बँगला के गिरीश घोष, शिशिर भादुड़ी आदि को छोड़ भारतीय भाषा के किसी अन्य नाटककार या अभिनेता को स्मरण नहीं किया गया। मामा वरेरकर, रामकुमार वर्मा या पृथ्वीराज कपूर को अनदेखा कर दिया गया। इसमें भी चार प्रबंध पढ़े गये। तमिल के नागराज राव ने संस्कृत नाटकों का वर्णन शुरू किया तो आधा घंटा निकल गया। सभापति ने घंटी बजा कर उन्हें बैठा दिया। बाक़ी प्रबंधों और परिसंवाद में केवल सैद्धांतिक चर्चा ही हुई। शेक्सपियर, इब्सन, बर्नार्ड शॉ और टेनेसी विलियम्स के नाम कानों से अवश्य टकराये। लेकिन भारतीय पृष्ठभूमि को ले कर हिंदी, बँगला या मलयालम के नाटकों और नाटककारों की समस्याओं और उपलब्धियों पर प्रकाश किसी ने नहीं डाला। राष्ट्रीय थियेटर की तीन घंटे तक विवेचना हुई। लेकिन राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की आत्मा ग़रीब अनपढ़ जनता की ओर किसी आलोचक की कृपादृष्टि नहीं गयी।

तीसरी बैठक 'साहित्यालोचन की अवस्था' पर हुई और दिन भर हुई। १५ भाषाओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधियों ने अपने-अपने साहित्य का हिसाब पेश किया। गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ लेखक मनसुख-लाल झवेरी का प्रबंध बहुत विवेचनात्मक न होते हुए भी लेखकसुलभ संवेदन से लिखा गया था। अंग्रेज़ी ढंग से सत्यं, शिवं और सुंदरं की आवश्यकता पर बल दिया गया था। पंजाबी के प्रोफ़ेसर तालिब ने सराहनीय ईमानदारी लेकिन अनुदारता से स्वीकार किया कि पंजाबी साहित्य का सर्जन दरअसल अभी एक नयी घटना ही मानी जानी चाहिए। प्रबंध-लेखन की दृष्टि से कदाचित यह प्रबंध सर्वोत्तम था। तमिल के सुपरिचित साहित्यकार सुब्रह्मण्यम ने साहित्यालोचन की वर्तमान अवस्था पर एकदम मौलिक शंका उठायी कि पश्चिमी परिभाषा के अनुसार आधुनिक भारतीय साहित्य में साहित्यालोचन कितना और कैसा है? क्या संस्कृत की परिभाषा और परंपरा के अनुसार रचित आलोचना-साहित्य को उससे अलग रखा जाना चाहिए? अंततः वे न जाने किस दार्शनिक मार्ग से इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि वस्तुतः प्रत्येक लेखक अपने आप में आलोचक भी है। बाद में मैंने उनसे छेड़खानी की तो वे इस बात को मान गये कि दरअसल प्रत्येक लेखक आलोचक नहीं अपितु प्रत्येक आलोचक लेखक ज़रूर हो सकता है। और यदि वह आलोचक होता भी है तो जीवन का आलोचक होता है, साहित्य का नहीं। तमिल के विद्वान ने यह कह कर बात समाप्त की कि ऐसी महत्वपूर्ण बातें मैं मंच पर नहीं कहता। हिंदी साहित्यालोचन की वर्तमान अवस्था पर राजेंद्र अवस्थी ने प्रबंध पढ़ा जो आलोचक की नहीं लेखक की दृष्टि से लिखा गया था—वह भी नयी पीढ़ी के लेखक की दृष्टि से। अतएव उसमें पुरानी पीढ़ी वाले आलोचकों की शिकायत थी ही। अवस्थी जी के अनुसार हिंदी के नये लेखकों की आलोचकों द्वारा जानबूझ कर उपेक्षा की जाती है। उनकी रचनाओं का सही मूल्यांकन तो दूर की बात, उन पर समुचित विचार तक नहीं किया जाता। पुराने लोग नौजवानों को गंभीरता से लेते ही नहीं। अतएव नया लेखक निराश हो कर अपनी आलोचना स्वयं करता है। पहली बार मालूम हुआ—अवस्थी जी से—कि निराश लेखक आत्मालोचक बन जाता है। अन्यथा अभी तक तो यह सुनता रहा हूँ कि वह आलोचक बन कर ही रह जाता है। नौजवानों की पैरवी करते हुए अवस्थी जी शायद यह भूल गये थे कि हिंदी के नयी पीढ़ी के लेखक वस्तुतः अपनी आलोचना नहीं, एक दूसरे की आलोचना अवश्य करते रहे हैं। किसी वक्ता ने जोश में आ कर एक अमरीकी लेखक का उद्धरण दिया कि अमरीकी साहित्य के पहले अमरीकी साहित्यालोचन की सृष्टि होनी चाहिए तभी वह श्रेष्ठ होगा। अर्थात बात 'पहले मुर्गी या अंडा' वाली पहेली पर समाप्त हो रही थी कि हिंदी के एक और जाने-अनजाने नौजवान माधवसिंह दीपक ने माइक पर अवस्थी जी के साहस की दाद दे डाली, कि वे हिंदी के हो कर भी हिंदी वालों को जली-कटी सुना सकते हैं। दीपक जी के ख़ून ने और ज़ोर मारा तो यह भी कह डाला कि ख़ास तौर से हिंदी वाले अंग्रेज़ी से घृणा करते हैं और इसलिए अंग्रेज़ी साहित्य न पढ़ कर अपना अज्ञान बढ़ा रहे हैं। बाद में मालूम हुआ कि दीपक महाशय भी अंग्रेज़ी के एम० ए० हैं। पूरी गोष्ठी एक प्रबल स्वर से समाप्त हुई कि भारतीय साहित्य की आलोचना केवल आधुनिक है और पश्चिम की नक़ल है। संस्कृत आलोचना के सिद्धांतों के अनुसार जो आलोचना-साहित्य है उसे आलोचना—पाश्चात्य कसौटी पर—माना नहीं जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे दिन एक विचारगोष्ठी शेक्सपियर पर हुई। कारण ? क्योंकि इन दिनों शेक्सपियर की चौथी शताब्दी मनायी जा रही है। वही 'ग्रीक ट्रैजेडी', 'नाटक सम्राट', 'हेमलेट' इत्यादि की प्रतिध्वनि गूँजी और निर्धारित समय से काफ़ी पहले गोष्ठी उठ गयी। कोई बोलने वाला ही नहीं बचा। सबने अपनी-अपनी श्रद्धांजलि दी। किसी ने शेक्सपियर को अत्यधिक तूल देने पर रोष प्रकट किया। उनको बल दिया लखनऊ विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने यह कह कर कि शेक्सपियर का अध्ययन हमारे यहाँ कालेजों और विश्वविद्यालयों में अनिवार्य नहीं होना चाहिए। लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० राव सभापति थे, सो उन्होंने लोकतंत्र की दुहाई दे कर कहा कि हमारा देश लोकतंत्रवादी है। हम जब चाहेंगे अपने पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर सकते हैं। यह थी शेक्सपियर पर विचारगोष्ठी।

सब मिला कर सामान्यतः विचारगोष्ठियों के 'हाईलाइट्स' निम्नलिखित थे :

(१) विद्वानों द्वारा लिखे गये और पढ़े गये प्रबंधों को मौलिक और शोधपूर्ण रचना होने की आशा की गयी थी। किंतु प्रायः सभी 'पेपर' सामान्य सिद्धांतों और कुछ लेखकों के नामों की सूची मात्र थे। इस पर तुर्रा यह कि ये सभी 'पेपर' पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते हैं।

(२) अध्यापकों, डॉक्टरों की भरमार होने के कारण सारा वातावरण साहित्यिक या बौद्धिक से अधिक 'क्लास रूम' वाला रहा।

(३) पूरे सम्मेलन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी थी कि आधुनिक युग की विशेष सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं आया। मार्क्सवाद, दो विश्वयुद्ध, फ़ायडवाद, परमाणु-शक्ति और एशिया में चीनी-शक्ति के अभ्युदय ने साहित्य, समाज और अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव डाला, भारतीय साहित्य में प्रगतिशील तत्वों का विकास और पोषण कैसे और कितना हुआ है, इनका किसी भी प्रसंग में किसी ने अप्रत्यक्ष संकेत तक नहीं किया। इनकी चर्चा के बिना आधुनिक भारतीय साहित्य की—जिसमें प्रेमचंद, यशपाल, निराला, कृष्णचंदर, नजरुल इस्लाम जन्म ले चुके हैं—गोष्ठी कैसे हो सकती है, इसका अनुमान मुझ जैसे प्रत्यक्षदर्शी को ही हो सकता है।

(४) मराठी के एक नौजवान लेखक-पत्रकार नडकर्णी ने दो विराट बातें कहीं : (क) पत्रकारिता को राजनीति से दूर रहना चाहिए; (ख) हमें राष्ट्रीय थियेटर की आवश्यकता नहीं है। सुन कर लगा, बंबई के फ़िल्म उद्योग का कोई एजेंट बोल रहा है—भारतीय नौजवान लेखक नहीं।

(५) अंत में मुख्यमंत्री सुचेता कृपलानी को कहना पड़ा कि लेखकों पर सामाजिक दायित्व किसी समाजसेवी, राजनीतिक कार्यकर्ता या अर्थशास्त्री से कम नहीं है। ज़ाहिर था कि सुचेता जी को सम्मेलन की तब तक की प्रवृत्तियाँ शायद केवल वाग्विलास-सी लगीं।

(६) साधारण से साधारण बात भी जब अंग्रेज़ी में कही जाती है तो असाधारण बन जाती है।

ऐसे सम्मेलनों में जाने का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि ईमानदार बुद्धि का व्यक्ति यह विश्वास करने को बाध्य होता है कि भारतीय लेखक वही है जो भारतीय साहित्य के साथ ही साथ भारत का, भारतीय जनता का, उसके दर्दों और मुस्कराहटों का भी प्रतिनिधित्व करता हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पी० ई० एन० की आत्मा भारतीय आत्मा से कितनी अलग, बेमेल और अपरिचित है, इस ज्ञानका लखनऊ के अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन ने भली भाँति करा दिया। तथापि पी० ई० एन० का अस्तित्व निरर्थक नहीं है। भारतीय साहित्य-जगत के लिए—विशेषकर हिंदी जगत के लिए—वह एक चुनौती है कि जो तुम अभी तक नहीं कर पाये वह मैं कर रहा हूँ, चाहे तुम्हें अच्छा लगे या न लगे। हमारे देश में केवल भूमिगत दूरियाँ नहीं हैं। उसमें भाषागत, साहित्यगत, मानसिक और आध्यात्मिक दूरियाँ भी हैं। इन दूरियों को छोटी करने का महती काम सबसे अधिक लेखकों के भाग में ही पड़ा है। फिर भी हम लोग आज़ादी के इतने साल बाद भी अखिल भारतीय साहित्य का कोई एक संगठित प्लेटफ़ार्म नहीं वना सके। हिंदी साहित्य सम्मेलन, भारतीय हिंदी परिषद इत्यादि के क्षेत्र अभी तक बहुत सीमित रहे हैं। ये संस्थाएँ स्वयं हिंदी के अधिकार और शान की रक्षा नहीं कर पा रही हैं, आगे की बात तो दूर रही। अन्यथा यह कैसे होता कि जिस भाषा में भारत की सबसे अधिक संतान बोलती, समझती, पढ़ती और लिखती हैं, जिस भाषा में सबसे अधिक भारतीय पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, जिस भाषा को राष्ट्र और राज्यभाषा माना गया है, जिस भाषा के घर में अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन आयोजित हो, उसी भाषा का सबसे कम प्रतिनिधित्व उस सम्मेलन में हो। पी० ई० एन० के उद्देश्य अवांछनीय नहीं हैं। यह भारत के अंग्रेज़ी लेखकों की संस्था नहीं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यव्यस्त साहित्यिक क्लब है जो अपने स्थान पर ठीक है। आवश्यकता है उसके भारतीयकरण की, देशीकरण की। और फिर उसके सूत्र को पकड़ कर एक ठोस अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन की स्थापना की जा सकती है। ऐसे सम्मेलन में ही भारत की भाषाओं, साहित्यों और साहित्यकारों को वास्तविक प्रतिनिधित्व और आदर प्राप्त हो सकेगा और तभी भारत की आत्मा साहित्य के माध्यम से अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में बोल पायेगी। देश के राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में यह कदाचित सबसे महत्वपूर्ण प्रगति होगी। लखनऊ अधिवेशन के अंत में एक हंगेरियन महिला ने—जो बरसों से बंबई में रह रही हैं और एक भारतीय पति की पत्नी और तीन भारतीय बच्चों की माँ हैं—कह ही दिया : "कहाँ है आपका 'नेशनल इंटीग्रेशन'? सब अंग्रेज़ी है—भाषा, मनोभाव, व्यवहार, लहजा, ज्ञान, सब कुछ। भारत के भाषावार पुनर्गठन से क्या लाभ हुआ?" लखनऊ से विदा होते समय मेरे मन में यह प्रश्न, यह चुनौती बार-बार गूँज रही थी। हालाँकि इन सबसे ऊपर मेरे मन में एक और प्रश्न उठ रहा था : "कहाँ है अखिल भारतीय साहित्य, अखिल भारतीय भाषा और अखिल भारतीय साहित्यकार?"

—महेशप्रसाद जायसवाल,
नारायण निवास, टीकमगढ़
(म० प्र०)

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यालोचन : पुनर्विचार

●●

शमशेर....
आईने के पीछे

शमशेर के संबंध में 'माध्यम' के तीसरे अंक में प्रकाशित विजयदेवनारायण साही का लेख पढ़ कर

●

शमशेर की कविताओं को पढ़ कर लगता है कि न केवल उसका प्रगतिवाद हाशिये तक सीमित है, बल्कि उसका अपना निजत्व ही अंतर्विरोधों की मलार्मीय विडंबना सहित हाशिये पर अनिश्चय की स्थिति में खड़ा है। पच्चीस-तीस वर्ष की काव्य-साधना की द्योतक, 'कुछ कविताएँ' (१९५९) और 'कुछ और कविताएँ' (१९६१) संकलनों में प्रकाशित, लगभग ८४ रचनाएँ शमशेर की काव्यानुभूति के गठाव को पर्याप्त सही तरीक़े से अनावृत करती हैं। उस पर लिखे गये लेखों में काफ़ी कुछ कहा गया है। कुछ में कविताओं से अधिक कविताओं के बिंबों की चर्चा की गयी। उसे संवेदनाओं का कवि बताया गया। (द्रष्टव्य 'कृति', अक्टूबर, १९५८ में प्रकाशित गजानन माधव मुक्तिबोध और नामवर सिंह के लेख।) कुछ तटस्थ और उपादेय लेख भी सामने आये। 'कल्पना' (१४२) में द्रष्टव्य बालकृष्णराव का लेख. और सद्यःप्रकाशित साही का विवेचन।) कुल मिला कर परिणाम यह हुआ कि शमशेर के काव्य-व्यक्तित्व को जो रूप प्राप्त हुआ वह वास्तविकता से काफ़ी भिन्न हो गया।

वस्तुतः शमशेर एक सीधा-साधा प्रेमी व्यक्ति है, पर उसकी काव्यात्मक-प्रक्रिया तनिक भी सहज नहीं लगती। उसकी काव्यानुभूति की संरचना अंतर्विरोधों की भूमिका पर आधृत है जहाँ भीतर ही भीतर कई चक्र हैं, लिजलिजे प्रेम की पीड़ा है, आहों का धुँधलका, व्याकुलता, छटपटाहट और निषेधात्मक उपलब्धियाँ हैं। शमशेर ने क्या नहीं लिखा—ग़ज़लें, मुक्तक, गीत, काव्य-पत्र, व्यक्तियों की स्मृति में काव्यांजलियाँ, शहीदों की बरसी पर कविताएँ, प्रशस्तियाँ, सिफ़नी, शादी के मौक़े पर कहे जाने वाले शेर, लोकगीत की शैली में गीत, रुबाइयाँ, राजनयिक कविताएँ, मार्क्सवाद से उठ कर शमशेरीय ढंग की रचनाएँ, भावचित्र, आदि ? जब कि इतने व्यापक केनवास के होते हुए भी शमशेर के पास कहने के लिए बहुत कम है। एक ही तरह का सिलसिला कई कविताओं में फलता हुआ जान पड़ता है। लगता है, साही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात ठीक है : **"शमशेर ने एक ही कविता बार-बार लिखी है।"** दरअसल शमशेर बड़ी साँसत में है। उसे **'चिनक-चिनक कर मीठा दर्द-सा होता रहता है।'** वह एक **'धुंधली बादल रेखा पर टिका हुआ'** है, अनिश्चय की हालत में, नकारात्मक मुद्रा में, बहुत ही सहमे हुए समर्पित भाव से :

होश में सम्हल कर
फिर गिरा
मर्माहत आदर्शों के स्थल पर
अस्थिर मैं तम घिरा।

(जिंदगी का प्यार : 'कुछ और कविताएँ', पृ० ४९)

यह स्थिति शमशेर के संतुलन को हिला देती है। उसकी साफ़गोई स्वयं इस प्रक्रिया में अजीब तरह से पेश आती है। उसका सामाजिक दायित्व यहाँ विलुप्त होता जान पड़ता है। शमशेर की व्यंजना इस स्थिति में धुंधली छतों और 'छायाओं की मेहराबों' के नज़दीक चली आती है। शाम, आसमान, गुलाब और चाँदनी की दुनिया में बंद होती नशीली पलकों, अधखुली अँगड़ाइयों, सुरमई गहराइयों और गद्य के आलम में भटक कर उसका नितांत प्रेमी व्यक्तित्व रोमांटिक छायावादियों की शक्ल में उभर कर सामने आता है (गोकि शमशेर अनेक अंशों में वैचारिक और शिल्प दोनों दृष्टियों से छायावादी नहीं है)। उपलब्धियों का संबंध तब न तो प्रतीकों से रहता है, न बौद्धिक संचेतना से। उसकी **'र्‌हेटरिक या छंदोबद्ध पत्रकारिता'** बिना किसी फ़ार्म या शैली की सजगता के अपने निजी तरीक़ से काम करती है। बल्कि इस घुलन-चिह्न पर शमशेर अनायास ही महादेवी वर्मा के-से दर्द को व्यक्त करता जान पड़ता है। भाषा भी वहाँ अनुगामिनी हो जाती है (**"भेद उषा ने दिये सब खोल। हृदय के कुल भाव। रात्रि के, अनमोल"**)। उसमें नयापन नहीं रहता। **'घनीभूत पीड़ा'** (**--'कुछ कविताएँ', पृ० ४६**) के साथ जो तीन रेखाचित्र दिये हैं, वे वस्तुतः शमशेर के अवचेतन में बैठी महादेवी के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। धूमिल चित्रशैली के इर्दगिर्द उसका मानस बेचैनी से घूमता है। इस संदर्भ में शमशेर के देखने की क्रिया बिंबों तक नहीं, बल्कि उनमें खुद को मिला देने के आग्रह तक पहुँचती है। उसे छायावाद के किनारों तक वह खींच लेती है, जहाँ वह ऐसी भाषा का उपयोग करता है जिसे उत्तर छायावादियों ने छोड़ दिया था :

स्वप्न-जड़ित-मुद्रामयि
शिथिल-करुण !
हरो मोह-ताप, समुद
स्मर-उर वर :
हरो मोह-ताप---
और और कस उभर ;

(एक मुद्रा से : 'कुछ और कविताएँ', पृ० ५८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शमशेर का संयम (?), जैसा कि स्वयं उस ने कहा है, **'सचाई का अपना ख़ास रूप'** नहीं रख पाता। **'अभिव्यक्ति अपनी ओर से सच्ची हो, यही मात्र मेरी कोशिश रही' (--भूमिका; 'कुछ और कविताएँ')**। पर ऐसा होता नहीं। शमशेर स्वयं ही अपनी विडंबना के कारण गफ़लत में पड़ जाता है।

एक और बात। नामवर सिंह की बात मुझे जँचती नहीं कि **'शमशेर का अनुशासन नयी कविता में आदर्श है।'** वह शायद कभी रहा ही नहीं। विकासोन्मुख कविता के लिए किसी के आदर्श स्थायी नहीं होते। आज जब कि 'नयी कविता' परिपक्व स्थिति से गुज़रती हुई अपने कथ्य और शिल्प में दुहराती जा रही है, तब यह परख लेना और भी सरल हो जाता है कि शमशेर का हिंदी की 'नयी कविता' पर क्या प्रभाव रहा। 'अज्ञेय' की उपलब्धियों के साथ शमशेर को ले आना और भी ग़लत होगा; क्योंकि शमशेर की 'चित्रकल्पी प्रतिभा' इतनी अधिक परिष्कृत नहीं लगती कि जहाँ शब्द अपरूप हो कर ध्वनियों में अर्थ देने लगे। खुद शमशेर का कहना है: **"मेरी रुझान ज़्यादातर बिलकुल अपनी अकेली दुनिया के अंदर खिंचते चले जाने की तरफ़ रही है" (--दूसरा सप्ताह)**। और प्रकट है, शमशेर ने स्वयं ही स्वीकारा है कि उसमें **'उलझे हुए भावों को लिये हुए सपनों की-सी चित्रकारी है' (--दूसरा सप्तक)**। काव्य का यह पक्ष आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले भले ही चौंका देता रहा हो, वर्तमान में उसका अर्थ मात्र ऐतिहासिक संदर्भ तक सिमट गया है। 'सपनों की-सी चित्रकारी' पेंटिंग के न तो 'इंप्रेशनिस्ट' स्कूल से संबद्ध है, न 'एब्स्ट्रेक्ट फ़ॉर्म' या **'सर्रियलिज़्म'** से। शमशेर में आरोपित प्रभाववाद मात्र शब्द-संचयन और भावात्मक धूमच्छाया के रूप में अनुरंजित वर्ण-सादृश्य और ध्वनियों की 'सेन्सुअस' पकड़ तक पहुँचा है। इसे चित्रकला की भाषा में कहाँ तक 'इंप्रेशनिस्ट' कहा जा सकता है? यह न तो कमिंग्ज़ या लॉवेल की तरह काव्य में खिल पाया, न ठीक-ठीक सेजाँ या गोगाँ के स्तर को छू सका। वस्तुतः शमशेर पर चित्रकला का जो प्रभाव आया वह छायावादी ढंग का धूमच्छायी, स्त्रीसुलभ, रूपोमय, झिलमिल--बंगाली चित्रशैली या महादेवी के भाव-प्रवण चित्रों-सा। बहुत थोड़ी कविताएँ इस आरोप से मुक्त हैं। 'होली : रंग और दिशाएँ', 'टूटी हुई, बिखरी हुई', 'एक नीला आइना बेठोस' आदि निश्चय ही अगले ढंग की रचनाएँ हैं। फिर भी चित्रकला की प्रचलित शैलियों के काव्यगत प्रभाव को शमशेर ने कहाँ तक अपने में आत्मसात किया है, इसका अलग से परीक्षण किया जा सकता है। जैसा कि कहा है, शमशेर की काव्यानुभूति की संरचना अंतर्विरोधों की भूमिका पर आधृत है, यह बात और भी जटिल हो जाती है। बात स्पष्ट है--शमशेर में बड़ी गड्डमड्ड है। वह आंतरिक रूप से रसभोगी है। मूर्त के प्रति आवेग से आकृष्ट हो कर अपने आंतरिक संवेदन और आकुल मिज़ाज को वह ख़ास अंदाज़ से पेश करता है। उसका यह अंदाज़ ही उसका वशिष्ट्य है, जो वास्तव में कथ्य न हो कर मात्र शिल्प है। भीतर से वह रोमांटिक और द्रवित है। **('शमशेर मुख्यतः प्रणय-जीवन के प्रसंग-बद्ध रसवादी कवि हैं'--मुक्तिबोध)**। गीतकार है। उसमें आंतरिक उलझाव की अदा है। झिझक है। वह खुलता नहीं। बात की तह तक पहुँच कर बिंबों या भाव-प्रसंगों में बिखर जाता है। उन्हें 'बोल्ड' रेखाओं में सामने नहीं लाता। इसी कारण उसके अर्धचेतन में छुपे अतीत के मोह और क्लासिकल के प्रति आस्था ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे छायावाद के उत्तरार्ध में पाश्चात्य दर्शन की ओर मोड़ दिया। परिणाम ज़ाहिर है—काव्य में अस्पष्टता, दुरूहता और अंतर्विरोध। साही के शब्दों में, यहाँ मैं मानता हूँ : "एक तरह की वैष्णव भावना, अर्पित निरीहता' शमशेर की कविताओं में बराबर मौजूद है। सुंदर—मात्र सुंदर—में रस की तलाश करता शमशेर, अवचेतन मन से सचाई को ढूँढ़ता और प्रेम में पिघलते हुए निषेधात्मक रुख से मार्क्सवाद के खुरदुरे अनुशासन से बच निकलता है। वह कुछ छुपा जाना चाहता है। पकड़े जाने पर चिढ़ जाने की-सी प्रतिक्रिया करता है और जो न कहना चाहिए उसे अधिक महत्वपूर्ण मान लेता है।

छोड़ दो संपूर्ण-प्रेम
त्याग दो सब दया—सब घृणा।
खत्म हमदर्दी।
खत्म—
साथियों का साथ।

(मूँद लो आँखें : 'कुछ और कविताएँ', पृष्ठ ७२)

शमशेर के कुछ खटके हैं, जैसे हर प्रेमी के होते हैं और जिन पर अलग से चर्चा की जा सकती है। तदपि, अभी यह स्वीकार कर लेने से तनिक भी बात नहीं बनती कि शमशेर की मूल प्रवृत्ति संक्षेपीकरण एवं चित्रकलात्मक संवेदना की है। यह मान भी लिया जाय कि अपने को तराशते चलना शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा का महत्वपूर्ण पक्ष है, तो भी 'चित्रकल्पी' प्रवृत्ति ब्रशवर्क में सर्वाधिक संवेदनीय और प्रभावमय अंशों को बहुत कम अमूर्त रंग-विधा में पकड़ पाती है। कथ्य वस्तु 'इमेज' में आते-आते दूसरा ही रूप ले लेती है। सहज ही शमशेर गिरिजाकुमार माथुर की शैली में ध्वनित होने लगता है। 'उषा', 'सागरतट', 'पूरा आसमान का आसमान', 'धूप कोठरी के आइने में खड़ी' जैसी कविताओं में यह छाया स्पष्ट दीखती है।

आईने के सामने शमशेर जो कुछ है वैसा पीछे नहीं। पीछे वह साँसत में फँसा, एक पीड़ित व्यक्तित्व है जो पग-पग पर अनिश्चय ही हालत में अपनी ही तलाश करता है। फिर भी उसमें कुछ है . . . . और बहुत कुछ नहीं है। साही ने शमशेर की काव्यानुभूति को बहुत नज़दीक से तौला है। लगता है, तब भी साही को बहुत कुछ कहना शेष है। जो न कहा जा सकता उसे शमशेर की कविताओं के ज़रिए अनेकविध तरीक़ों से कसौटी पर और भी कसा जा सकता है। शमशेर ही क्यों, 'तार सप्तक' के प्रायः सभी कवियों की रचनाओं का पूर्ण आलोचनात्मक दायित्व से पुनर्मूल्यांकन होना इस वक़्त आवश्यक प्रतीत होता है। इस संदर्भ में यह भी विचार किया जा सकता है कि शमशेर को हमउम्र साथियों के साथ पहले सप्तक में स्थान क्यों न दिया गया, और क्या कारण है कि स्वयं शमशेर ने दूसरे सप्तक में गीतकारकवियों के साथ आना पसंद किया।

—श्याम परमार,
६।१३ पूर्वपटेल नगर,
नयी दिल्ली-१२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बाँस का पुल' और लक्ष्मीकांत वर्मा

माध्यम के तीसरे अंक में सर्वेश्वर के काव्य-संग्रह, 'बाँस का पुल', पर श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की 'ताज़ी' समीक्षा तीन-चार बार पढ़ी। समीक्षा के लिए समीक्षा का खासा अच्छा उदाहरण है। समीक्षा से अधिक उसमें तक़ाज़े हैं। ऐसा लगा जैसे साहित्येतर बाध्यताओं ने यह समीक्षा उनसे लिखवायी है। इस समीक्षा से सर्वेश्वर की कविताओं या नयी कविता की न तो विलक्षणता ही प्रकट होती है न लक्षणों का ही अता-पता मिलता है। वर्मा जी क्या चाहते हैं, उनकी यह समीक्षा नहीं बता पायी। क्या नहीं चाहते, यह भी अपरिचित, अपरिभाष्य और स्वनिर्मित शब्दों के जाल में इतनी उलझ गयी है कि जाल ही जाल रह गया है। फिर इस समीक्षा में चिंतन और मनन के स्तर पर समीक्षक के पैर कहीं जमते दिखायी नहीं पड़ते।

आलोच्य संग्रह की कविताओं के बारे में वर्मा जी लिखते हैं: **'विषय-वस्तु की दृष्टि से इस संग्रह में संकलित कविताएँ शायद आज से दस वर्ष पुरानी हैं।'** शब्द 'शायद' आत्मरक्षा के लिए धारण किया हुआ कवच मात्र है। वस्तुतः वर्मा जी जानते हैं कि संग्रह की कविताओं का रचना-काल १९५७ से १९६३ तक है। नयी कविता (प्रतीकवादी और प्रयोगवादी कविताओं समेत) 'बाँस का पुल' प्रकाशित होने तक कुल २०–२१ वर्ष की थी। मानव-जीवन ही नहीं, साहित्य के इतिहास में भी चौथाई सदी कोई ख़ास अहमियत या हैसियत नहीं रखती। सर्वेश्वर की कविता की उम्र १३–१४ वर्ष से अधिक नहीं है। इतने कम अर्से में वर्मा जी कैसी और कितनी तब्दीली का तक़ाज़ा कवि से करते हैं? 'सूर्योदय' शीर्षक कविता का ज़िक्र करते हुए वर्मा जी 'वही छायावादी रूढ़ि', 'वही आग्रह', 'वही पुरानी विद्रोह-मुद्रा', 'वही व्यामोह' और 'वही 'आमंत्रण' कह कर सर्वेश्वर पर 'नयी रूढ़िवादिता' का आरोप-सा लगाते हैं। पहली बात तो यह कि उद्धृत पंक्तियों और विवेचित कविता में मुझे कोई छायावादी रूढ़ि, कोई रूमानी मिज़ाज नज़र नहीं आया। आलोचक या पाठक के अपने रूमानी अध्ययन के पले मिज़ाज और छायावाद के आतंक ने इस, और इस-जैसी अन्य, कविताओं में छायावादी रूढ़ि और वह सब कुछ जो 'वही' के अंतर्गत कहा गया, देख लिया। इस समीक्षा में समीक्षक छाछ को फूंक-फूंक कर चखता नज़र आता है। दूध का जला हुआ है शायद। सर्वेश्वर ने तो कहा है, 'निडर आगे बढ़ो' लेकिन समीक्षक जी ऊपरी साम्य ही से डर गये। दूसरी बात यह है कि मन और सभ्यता की गति के अंतर को वर्मा जी किस प्रकार नज़रअंदाज़ कर गये। क्या १०–१५ वर्षों में हिंदी की नयी कविता में कोई रूढ़ि बन गयी? इतने कम अर्से में तो रूपरेखांकन भी नहीं हो पाता। मुझे याद आता है कि किसी रूसी कवि ने कहा था कि वह एक अर्से से व्योमयात्रा पर कविता लिखने की योजना बना रहा था। अभी वह कविता लिखना भी शुरू न कर पाया था कि उसने सुना कि रूस का (पहला) स्पुतनिक व्योम को चीर गया। कवि-मन विज्ञान और तकनालाजी की गति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसे प्राप्त कर सकता है ? फिर दस-पंद्रह या बीस-पचीस वर्षों में संवेदना, भावभूमि, युगचेतना, अर्थबोध या संस्कृति के स्तर पर ऐसी कौन सी महाक्रांति हुई है कि सर्वेश्वर नयी कविता से छलाँग मार कर 'ताज़ी कविता' की तरफ़ आ जाते ? (प्रगतिशील, प्रतीकवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता के बाद यह 'ताज़ी' कविता कहाँ से दबे पाँव आ गयी ? निवेदन यह भी है कि उर्दू-फ़ारसी में कोई चीज़ 'ताज़ी' नहीं होती, अलबत्ता 'ताज़ा' हो सकती है। 'ताज़ी हिंदी' मैं नहीं जानता।) मैं यह भी नहीं जानता कि 'आवेग', 'सहज' और 'गिरिशिखर' पर छायावादियों का कोई कापी राइट है। "**हेमंत की संध्या आदिम अधरों पर सुलग कर वसंत की बन जाती है**"—इसमें बेचारी 'संध्या' परकीया कैसे बन गयी ? वर्मा जी ने 'वसंत की बन जाती है' को शायद यह समझ लिया कि संध्या पहले हेमंत की जोरू थी जो अब वसंत की रखैल बन गयी। और फिर अपनी समझ को सर्वेश्वर पर आरोपित करते हुए यह लिखना कि "**उन्हें लगता है कि संध्या एक विवश परकीया है**" बड़ा दिलचस्प मज़ाक है। समझें ख़ुद और कहें कि सर्वेश्वर ने समझा है ! सर्वेश्वर ने तो इन पंक्तियों में सिर्फ़ इतना कहा है कि आदिम अधरों (उत्कंठा, लोकलाज और सभ्य समाज के भय से मुक्त, स्वाभाविक, सहज, प्रकृति-सुलभ मनुज मात्र के अधरों) पर सुलग कर (अपनी ठिठुरन, संकुचन, सिकुड़न से मुक्त हो कर) हेमंत की संध्या न रह कर वसंत की संध्या बन जाती है। यानी पतझड़ की शाम भी बहार की शाम की तरह सजीव, सरस और रंगीन मालूम होती है। लेकिन वर्मा जी को लगा कि सर्वेश्वर ने बेचारे हेमंत से छीन कर संध्या को वसंत की महारासलीला में भेज दिया। वर्मा जी शायद बिंबों और प्रतीकों को केवल शब्द-समूह या शब्द ही मानते हैं, या समीक्षा की रूढ़ियों से (हथकंडों) से बाध्य हो कर इसी रूप में सीमित रखना चाहते हैं। परकीया वाली बात भी नये कवि-आलोचक को (नयी कविता का मूल्यांकन करते हुए) कैसे सूझी ? हुआ यह है कि परंपरागत-रूढ़िवादी माहौल में पला-पढ़ा और संस्कार पाया हुआ ज़हन (आलोचक-रूप में) नयी कविता को (अवचेतनावस्था में) पुरानी आलोचना के पारिभाषिक शब्दों और विधियों से परखने लगा और यह भूल गया कि नयी कविता का कवि पुराने शब्दों और पुरानी भाषा यहाँ तक कि पुराने प्रतीकों और प्रतिमानों को भी नये अर्थ-संदर्भों में प्रयुक्त करता है। वर्मा जी अगर इस समीक्षा को लिखते वक़्त अपनी समीक्षा को कवि-की-समीक्षा बना पाते और उसे संवेदनशील सृजन से पृथक हवा-बंद-कोठरी समझने की भूल न करते तो शायद बात बन जाती।

सर्वेश्वर को 'रागात्मक ऐश्वर्य' के प्रतिनिधि कवि के रूप में वर्मा जी केवल देख पाये हैं, रागात्मक ऐश्वर्य का प्रस्फुटन सर्वेश्वर में कहाँ हुआ है इसे प्रस्थापित करने की उन्होंने जरूरत महसूस नहीं की। शायद यह सोच कर कि अज्ञेय द्वारा सहज वार्तालाप के प्रसंग में प्रयुक्त यह अभिव्यक्ति किसी परिभाषा, व्याख्या और उदाहरण की मोहताज नहीं है। रागात्मक ऐश्वर्य के उदाहरण सर्वेश्वर की जिन कविताओं से दिये हैं उनमें लीक को और घिसे-पिटे राजामार्गों को छोड़ कर लचकदार छोटे-से बाँस के पुल पर (जो आत्मचिंतन, स्वतंत्र मनन और अनियंत्रित भावबोध का प्रतीक है) निडर आगे बढ़ने का आह्वान है, अपने साधनों और लक्ष्यों की व्यंग्यात्मक असंगति और बाहर और भीतर की विवशताओं की अभिव्यक्ति है। सर्वेश्वर की कविताओं में 'रागात्मक ऐश्वर्य' कहाँ है ? उनमें तो आज के मानव की 'ट्रैजिक फ़ीलिंग' है, दुख-भोग को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलास मानने और उससे मज़ा लेने की कोई प्रवृत्ति यहाँ नहीं है। वे न 'साडिस्ट' हैं, न 'मोसोशिस्ट'। उनकी प्रतिक्रिया एक 'नॉर्मल' संवेदनशील, स्वस्थ, सुहृद और सजग मानव की प्रतिक्रिया है जो काव्याभिव्यक्ति बन गयी है। वास्तविकता को सही रूप में केवल व्यक्त करने का आरोप भी सही नहीं है। सर्वेश्वर ने स्थितियों का चित्रण मात्र नहीं किया, उसमें अपने मन की प्रतिक्रिया को भी व्यक्त किया है। परिवेश से संपृक्त सार्थक अनुभूति और अभिव्यक्ति की कमी भी उनमें नहीं है। यह और बात है कि ऐसी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में वे बयान के बजाय प्रतीकों, बिंबों और अप्रस्तुतों का प्रयोग करते हैं। यही अधिक सशक्त, सरस और कलात्मक ढंग है। परिवेश से संपृक्त अनुभूति और वास्तविकता के अतिरिक्त सार्थकता के बोध के लिए कवि, कविता और कविता की भाषा, शब्द-योजना, शिल्प रूप और शैली के अलावा संवेदनशील और दीक्षित पाठक का दायित्व भी बहुत बड़ा है। वर्मा जी रसनिष्पत्ति के प्राचीन सिद्धांतों को परंपरा और रूढ़ि कह कर न टाल सकेंगे। अगर सूर्योदय को सूर्योदय, गिरिशिखरों को गिरिशिखर, हवाओं को हवाएँ समझना ही पाठक के सामर्थ्य की चरम सीमा है तो परिवेश-संपृक्ति और शब्देतर-सार्थकता की बात अनुचित ही नहीं, फ़िज़ूल भी है।

एक बात यहाँ साफ़ होनी चाहिए कि आज सारे विश्व में कवि का भविष्यवेत्ता, संदेश-वाहक, सुधारक, पुराणकार या विधायक का रूप खत्म हो चुका है। महान और विराट के दर्शन-प्रदर्शन की बात आज कविता की परिधि से बाहर है। कवि का धर्म है स्थितियों, वास्तविकताओं, अनुभूतियों और अनुभवों के प्रति अपने मस्तिष्क और मन की समसामयिक प्रतिक्रियाओं को संवेदन, ईमानदारी और कवि-न्याय के साथ अभिव्यक्त करना।

वर्मा जी ने सर्वेश्वर पर एक ही आरोप दो जगह लगाया है। पृ० ८५ पर "**सर्वेश्वर के साथ कठिनाई यह है कि वे भोग के क्षणों में तटस्थ नहीं रह पाते**", और पृ० ८६ पर "**एक अच्छी बात और एक अच्छी कविता, एक अच्छी सूझ और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के बीच कई ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिन्हें यदि तटस्थ हो कर नहीं भोगा जाता तो अच्छी से अच्छी संभावना को वह किसी सीमा तक कुंठित कर देती है।**" वर्मा जी ने यह नहीं बताया कि सर्वेश्वर भोग के क्षणों में अतटस्थ हो कर भटक जाते हैं या तटस्थ हो कर स्थितियों को भोगने की कला नहीं जानते। वैसे तटस्थ हो कर स्थितियों को भोगने की बात काफ़ी दिलचस्प है। भोक्ता तटस्थ हो और स्थितियाँ प्रवाहित तो भोगने का तरीक़ा क्या होगा? तटस्थ हो कर नज़ारा किया जा सकता है, बाहर से, दूर से, देखा जा सकता है, लेकिन भोगना तो सक्रिय सहयोग और 'पार्टिसिपेशन' होता है। तटस्थ व्यक्ति प्रवाह और प्रवाहितों को कैसे भोग सकता है? तटस्थ व्यक्ति न तो 'पार्टिसिपेंट' होता है न 'पार्टिसन'।

संक्रमण काल में '**थिरायी हुई अनुभूति की व्यवस्था के मर्म**' की बात तर्क-असंगत और क़ब्ल-अज़-वक़्त है। शायद विधाओं, रूपों और तकनीक के क्षेत्रों में व्यवस्था और अनुशासन का तक़ाज़ा किसी हद तक ठीक हो लेकिन भावों, विचारों और विषयवस्तु के क्षेत्रों में ऐसी बात अभी अप्रासंगिक है। अनुभूति का थिराया हुआ रूप इस पलछिन बदलते हुए और परस्पर-विरोधी वास्तविकताओं के युग में किसे प्राप्त होता है? दस-पंद्रह वर्षों में हम वायुयानों से व्योमयानों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के युग में आ गये और खच्चर, ऊँट और बैल आज भी भारवाहन और यातायात के महत्वपूर्ण साधन हैं। ऐसी विचित्र और विलक्षण परिस्थिति में थिरायी हुई अनुभूति की बात आदर्शवादी आलोचक के लिए आसान हो तो हो, स्रष्टा कवि के लिए प्रायः असंभव-सी है। एक तरफ़ मानवता अणुयुग की दानवीय शक्ति पर क़ब्ज़ा कर चुकी है तो दूसरी तरफ़ रबर-प्लास्टिक युग की अस्थिरता उसकी क़िस्मत है। संतुलन और तटस्थता के धरातलों पर आज रची हुई कविताओं के दो-चार उदाहरण वर्मा जी दे देते तो हम ऐसे लोगों का भला हो जाता।

केवल शीर्षकों के आधार पर सर्वेश्वर को पंत जी के विषयों पर लिखने वाला अनुचर कहना भी दीदादिलेरी की अनूठी मिसाल है—'स्मृति', 'पूर्णिमा-प्यार', 'वसंतस्मृति', 'बाढ़', 'सूरज', 'हेमंत की संध्या', 'साँझ—एक चित्र', 'वसंत की शाम' आदि कविताएँ केवल प्रकृति-वर्णन या दृश्य-चित्रण नहीं हैं। इनमें जिन प्रतिक्रियाओं और अनुभूतियों को व्यक्त किया गया है और जो अर्थबोध कराये गये हैं वे रूमानी और छायावादी नहीं हैं। दरअसल उनमें वही सब है जिसे वर्मा जी ने सर्वेश्वर की विवशता के कारण ग़ैरहाज़िर क़रार दिया है। अनुभूति का नयापन और ताज़गी ही इन कविताओं को नयी कविताएँ बनाती हैं। इन शीर्षकों को कविता का विषय मानना भी सरसरी नज़र और दृष्टि-दोष का परिणाम है। फिर ये सब विषय नहीं हैं बल्कि विशिष्ट अनुभूतियों और मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। पुराने शब्दों और प्रतीकों को नये अर्थसंदर्भों और आधुनिकतम वास्तविक अनुभूतियों से नयी सार्थकता प्रदान करना भी नयी कविता का दायित्व है। दायित्व ही नहीं, एक प्रमुख लक्षण भी है। देखना यह है कि वसंत, हेमंत, सूरज, चाँद, सुबह, शाम आदि कालिदास के यहाँ किस रंग में हैं, रीतिकालीन कवियों के यहाँ उनका रूप क्या है, छायावादियों के यहाँ उनकी क्या दशा है और सर्वेश्वर ने उन्हें किस दृष्टि-कोण से और किस भावभूमि पर देखा और भोगा है। 'यहीं कहीं कच्ची सड़क थी' शीर्षक कविता पर वर्मा जी की आलोचना हठधर्मी से आगे नहीं बढ़ सकी है। तथाकथित नये ने पुराने की जिन ख़ूबियों और विशेषताओं को कच्चा निगल लिया है उस पर इतनी गहरी अनुभूति और प्रतिक्रिया को इतने सहज माध्यम से अभिव्यक्त करने की दाद न देना ज़्यादती है। केवल एक बात इस कविता में खटकती है। 'पुराने' के मातम से अतिरंजित हो कर 'नये' का तिरस्कार। कविता का अंत भावुकता के स्वर पर हुआ है और बौद्धिकता और विवेक के तार टूट गये हैं। वर्मा जी ने सर्वेश्वर की मशहूर, सफल और नव-रस से भरपूर कविता 'अपनी बिटिया के लिए' का ज़िक्र भी इस समीक्षा में नहीं किया। इसी तरह 'इन समझदार लोगों के बीच' शीर्षक कविता भी छोड़ दी गयी।

बिंब, प्रतीक और अप्रस्तुतों से आगे बढ़ने और इनके जंगलों से बाहर निकलने की दावत वर्मा जी ने बार-बार दी है। शायद वे इन्हें भी रूढ़ि-ग्रस्त मानते हैं। 'बिंबरहित विचार' प्रकट करने का सामर्थ्य क्या भाषा में पैदा हो गया है? क्या बिंबों और प्रतीकों के प्रयोग के बिना हमारी नयी कविता (जो उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि से पहले ही विमुख हो चुकी है) किसी अनुभव, विचार या अनुभूति को 'ग्रेविटी' और 'प्रिसीज़न' के साथ अभिव्यक्त करने की स्थिति में है? क्या ऐसी अभिव्यक्ति न्यायालय के फ़ैसलों, नेताओं, प्रशासकों और पत्रकारों के बयानों और सातवीं-आठवीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जमाअत के विद्यार्थियों द्वारा लिखे गये निबंधों की भाषा और शैली से भिन्न रह कर काव्याभिव्यक्ति बनी रह सकती है? यह ठीक है कि केवल बिंब-विधान, प्रतीक और अप्रस्तुत किसी पद्य को कविता या नयी कविता नहीं बनाते, लेकिन इनसे विमुक्त हो कर नयी व्यवस्था देने की आवश्यकता क्यों महसूस की जा रही है ? इन्हें छोड़ कर नयी व्यवस्था क्या होगी ? क्या हो सकती है ? बिंबों और प्रतीकों से इतनी जल्दी ऊब जाने का कोई कारण तो होगा ? या ऐसा तक़ाज़ा महज़ इसलिए किया जा रहा है कि 'ताज़ी कविता' का स्टंट चलाने के लिए ऐसा करना (मसलेहत के लिहाज़ से) बेहद ज़रूरी है ? मैं बिंब-प्रतीक-रहित कविता की संभावना से इनकार नहीं करता, लेकिन ऐसी कविता लिखने का तक़ाज़ा सर्वेश्वर की कविताएँ पढ़ने के बाद ही क्यों किया जा रहा है, यह समझना ज़रा मुश्किल जान पड़ता है और समीक्षा के संदर्भ में बेबात की बात भी।

यह सच है कि सर्वेश्वर ने कुछेक अनुभूतियों और भावों को इस संग्रह की कई कविताओं में बार-बार दोहराया है। अकेलापन, अजनबियत, भीड़ में खो जाने की प्रतीति, स्वाभाविक और प्राकृतिक से दूर जा पड़ने और कृत्रिमता में घुटते रहने की स्थिति आदि ऐसे 'विषय' हैं जिन पर वे बार-बार लौटते हैं। लेकिन इस पुनरावृत्ति के बावजूद प्रस्तुतीकरण, अलंकरण, भाषा, बिंब-योजना और कहने के ढंग की ताज़गी इन 'विषयों' को उबाने वाला नहीं बनाती। सर्वेश्वर के यहाँ ये सब स्थायी भाव बन गये हैं जिन्हें रूप-रंग और परिधान बदल-बदल कर वे बार-बार पेश करते हैं। या तो वे अपनी पिछली अभिव्यक्तियों से असंतुष्ट हैं या इन्हें युग-सत्यों के रूप में उन्होंने आत्मसात कर लिया है।

रह गयी नयी कविता के लक्षणों की बात। नयी कविता को यदि एक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तब तो शायद उसके संपूर्ण लक्षणों को निर्धारित करने की बात सोची जा सकती है, लेकिन जहाँ तक मेरा खयाल है, न तो नयी कविता कोई विधा है न अभी वह निर्माण-कालीन अवस्था से निकल सकी है। ख़ैर, मैं 'बाँस का पुल' या सर्वेश्वर पर लिखने का उद्देश्य ले कर नहीं चला था। मैं तो लक्ष्मीकांत वर्मा जी की समीक्षा पर ऊँची आवाज़ में सोच-विचार करना चाहता था। इस समीक्षा में 'बाँस का पुल' वर्मा जी की निजी मान्यताओं, कल्पनाओं और मत-विचारों के कुहरे में बुरी तरह छिप गया है और समीक्षा 'क्या है' के बजाय 'क्या होना चाहिए' की तरफ़ भटक गयी और इस तरफ़ भी प्रकाश काले कंबल पर पड़े हुए कुछ सफ़ेद धब्बों की तरह कहीं-कहीं बिखरा नज़र आता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं किसी समकालीन कवि की कृतियों पर एक संवेदनशील कवि की समीक्षा को न केवल पसंद करता हूँ, बल्कि पेशावर आलोचकों की समीक्षा पर तरजीह देता हूँ। लेकिन लक्ष्मीकांत वर्मा जी की समीक्षा क्योंकि बहुत से पूर्वग्रहों, ग्रंथियों और सरसरेपन से पीड़ित है और ख़्वामख़्वाह पटरियाँ बदलती जाती हैं, बड़े स्टेशनों पर रुके बिना आगे बढ़ जाती हैं और छोटे-छोटे स्टेशनों बल्कि जंगल में रुक जाती हैं, इसलिए जँची नहीं। कवि-समीक्षक को अपने आलोच्य के साथ न्याय करना चाहिए और उसकी समीक्षा से पाठकों में कविता की रस-ग्राह्यता और आस्वादनक्षमता का विकास होना चाहिए। प्रत्यालोच्य समीक्षा ऐसा कुछ नहीं करती। जिन लोगों ने 'बाँस का पुल' नहीं देखा, उनमें इस समीक्षा के पढ़ने से पुस्तक के प्रति उत्सुकता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिज्ञासा और आकर्षण या इसके विपरीत कोई भाव या प्रतिक्रिया पैदा नहीं होगी और जो पुस्तक पढ़ चुके हैं, उन्हें यह समीक्षा उनके भावबोध, अर्थबोध, सौंदर्यबोध आदि में कोई इज़ाफा नहीं करती। कम से कम मैं, हिंदी की सहवर्ती और समवर्ती भाषा उर्दू की नयी कविता के एक कवि और हिंदी की नयी कविता के एक सुहृद रसिक के नाते, ऐसा ही महसूस करता हूँ। इस समीक्षा को पढ़ने के बाद जो बिंब मेरे मन में उभरता है वह यह है कि कोई बाँस के पुल की सैर करने निकला, संतुलन बिगड़ने के कारण नीचे नदी में गिर पड़ा और अब आवारा लहरें उससे खेल रही हैं और बाँस का पुल लहरों की इस 'ताज़ी' खिलवाड़ को तटस्थ हो कर 'भोग' रहा है।

अमीक़ हनफ़ी,
१४० गांधी पार्क कालोनी, इंदौर।

●●

अपील

स्व० मुक्तिबोध जी के संबंध में पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न प्रकार की सामग्री प्रकाशित हो रही है। इधर उनकी संपूर्ण कृतियों के सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाशन की योजना को अंतिम रूप दिया जा चुका है। उनकी दो पुस्तकें पिछले दो महीनों में प्रकाशित हो चुकी हैं। पिछले बीस वर्षों से वे अनवरत साहित्य-साधना में संलग्न रहे थे। उनकी रचनाओं के साथ ही अपने समकालीन साहित्यकारों को लिखे उनके पत्रों का भी कई दृष्टियों से महत्व है। कई साहित्यकारों ने यह सुझाव दिया है कि इन पत्रों को एक स्थान पर एकत्रित कर के सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाशित करने की योजना बनायी जाए। अतएव मैं स्व० मुक्तिबोध जी के मित्रों से निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि उनके पास ऐसे कोई पत्र हों, जिनका साहित्य की दृष्टि से महत्व हो तो वे मेरे पते पर भेजने का कष्ट करें। यदि वे चाहेंगे तो मैं उन पत्रों की प्रतिलिपि तैयार कर मूल पत्र उन्हें वापस कर दूंगा। यह महज व्यवस्थित प्रकाशन की सुविधा की दृष्टि से किया जा रहा है। आशा है कि इसमें भी मुझे स्व० मुक्तिबोध जी के मित्रों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

रमेश मुक्तिबोध
१ सी, क्रास स्ट्रीट ४, सेक्टर ५,
भिलाईनगर।
(दक्षिण-पूर्व रेलवे)

दिनांक १० नवंबर १९६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठकों के पत्र

—'माध्यम' के सितंबर अंक में श्री हरिकृष्ण देवसरे का लेख 'बाल-साहित्य के नये प्रतिमान' देखा। 'बच्चों के साहित्य के लेखन व प्रकाशन की सामन्यतः जो दुर्दशा भारत में देखने में आती है उसका मूल कारण, मेरी दृष्टि से, इस ओर गंभीरता से ध्यान न दिया जाना ही है। हमारे पुराने प्रतिमान कितने ढीले और बेजान हो गये हैं यह अनुभव किये बिना ही हमारे लेखक अंधाधुंध लिखे जा रहे हैं और प्रकाशक सस्ते से सस्ते रेट दे कर उन्हें छाप रहे हैं। सरकार उसी अंधाधुंधी से उन्हें ख़रीद कर विकास-खंडों आदि के पुस्तकालयों में भर देती है और यह अच्छे-खासे प्रकाशन-व्यापार का सुलभ साधन हो गया है। किसी को इस बात की चिंता नहीं कि नये भारत के लिए प्रौढ़ साहित्य के प्रतिमान बदलने के साथ-साथ बाल-साहित्य के प्रतिमान बदलना भी उतना ही आवश्यक है।

श्री देवसरे ने चर्चित लेख में इन बदलते हुए प्रतिमानों की ओर सूझबूझ के साथ ध्यान आकर्षित किया है। केवल अंतिम तीन पैरों से मेरा मतभेद है। प्रत्येक साहित्य पर देश-काल का पूर्वगृहीत प्रभाव सदा से रहा है। राजनीतिक प्रभाव जितना त्याज्य समझा जाता है, उतना धार्मिक भी समझा जाना चाहिए, या अन्य कोई वैचारिक प्रभाव भी—जैसे देशभक्ति आदि—क्योंकि देश की सीमाएँ भी विश्व-रूपों में टूट रही हैं और आज के प्रबुद्ध पाठकों के लिए देशभक्ति का विशुद्ध अर्थ नहीं रह गया है, वह उनके लिए विश्व-मानवता की दृष्टि से सापेक्ष है।

वास्तव में इन पूर्वगृहीत प्रभावों से मुक्त बाल-साहित्य की कल्पना न कर के यदि उन बदलते हुए प्रतिमानों पर ही दृष्टि रखी जाय, जिनकी श्री देवसरे ने अपने लेख में चर्चा की है, तो अच्छे और अधिक उपयोगी बाल-साहित्य की रचना को एक ठोस दिशा-दृष्टि मिल सकती है। निःसंदेह इन प्रतिमानों का उपयोग राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक निहित स्वार्थों के द्वारा भी होगा, लेकिन यह एक व्यापक समस्या है—प्रतिमानों को बदलने से इसका कोई संबंध नहीं। **—आनंदप्रकाश जैन,**
संपादक, पराग, बंबई।

—'माध्यम' बहुत सुंदर निकल रहा है। ठोस सामग्री है, रोचकता और गूढ़ता का समन्वय है, वैविध्य भी। 'माध्यम' जैसी पत्रिकाएँ ही हिंदी को प्रांतीय भाषा के स्तर से राष्ट्रीय भाषा के धरातल पर लाने में समर्थ हैं।
—ए० रमेश चौधरी 'आरिगपूडि', मद्रास।

—'माध्यम' का छठा अंक मिला। मुक्तिबोध पर आपकी संपादकीय श्रद्धांजलि पढ़ कर मुझे 'माध्यम' के प्रति विशेष प्रेम और आदर लगा। वैसे पत्रिका उत्तरोत्तर हिंदी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका बनती जा रही है, इसमें संदेह नहीं। **—प्रभाकर माचवे, नयी दिल्ली।**

—'माध्यम' का अक्तूबर अंक मिला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सचमुच पिछले दो-तीन अंकों से यह पूरे निखार पर है। इस बार का मुख्यावरण बड़ा प्यारा है, पारदर्शी भी। केदारनाथ अग्रवाल, दुष्यंतकुमार, लक्ष्मीकांत वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' आदि की सुप्रिय रचनाएँ प्रकाशित की गयी हैं। शलभ का दूसरा गीत क्या नवगीत की परिधि में आ सकता है? भाई हेरम्ब मिश्र ने जम कर लेख लिखा है। और आपने गजानन माधव मुक्तिबोध पर जो ज़बर्दस्त टिप्पणी दी है—शायद अब तक दी गयी अनेक टिप्पणियों में सर्वसशक्त और सर्वग्राह्य है। पुस्तकों की समीक्षा का स्तर भी बड़ा संतुलित लग रहा है।

—देवप्रकाश गुप्त, नयी दिल्ली।

—हमें यह लिखते हुए बहुत हर्ष हो रहा है कि आपकी मासिक पत्रिका 'माध्यम' की बिक्री असाधारण रूप से बढ़ रही है। पिछले महीने में दस प्रतियाँ क़रीब एक सप्ताह में ही बिक गयी थीं और इस माह में सिर्फ़ तीन ही दिनों में बिक गयी हैं। इसलिए हम आपसे अनुरोध कर रहे हैं कि कृपया नवंबर माह से हमें ३० प्रतियाँ भेज दिया करें।

—एम० एल० आहूजा,
लेटेस्ट बुक्स डीलर, रायपुर।

—चौथा अंक सामने है। शानी की कहानी का नितांत घरेलू वातावरण विश्वसनीय है। नरेश जी की कथा का एक वाक्य—'दिवाकर क्या हम कभी सच नहीं बोल सकते? क्या कनफ़ेशन के समय भी...?'—उसकी मार्मिकता का परिचायक है। 'युद्ध और कविता' निबंध अपने लक्ष्य में भटक गया है।...नेमिचंद्र जी ने पुस्तक-समीक्षा का दायित्व निबाहा है। **—प्रेमशंकर, सागर।**

—अगर आप अतिशयोक्ति न समझें तो कहूँ कि 'माध्यम' ने अपने पाँच ही अंकों में हिंदी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'माध्यम' बहुत स्वस्थ है—साथ ही मनोहारी भी। सितंबर अंक के सभी लेख उच्च स्तरीय हैं। फ़ायड के मनोदर्शन का जो दिग्दर्शन कराया है श्री रणजीत ने, बहुत ही साहित्यिक और स्वस्थ है। कमल जोशी की कहानी बड़ी सशक्त है।

—विनोद कुमार, हीनू, राँची।

—'प्रतिपत्तिका' के अंतर्गत प्रकाशित 'हिंदीतर भाषाभाषी हिंदी विद्यार्थी की कठिनाइयाँ' में विजय राघव रेड्डी ने कई बातें बड़े पते की कही हैं। कई सुझाव बहुत अच्छे हैं। 'उच्चारण की समस्या' शीर्षक के अंतर्गत एक वाक्य—'सटेशन से...कीजिए'—के हिंदीभाषियों के उच्चारण के संबंध में उनका कथन भ्रामक है। श्री रेड्डी ने शायद पंजाबी भाषाभाषियों से उक्त उच्चारण सुना हो सकता है। हिंदी प्रांतों में अशुद्ध उच्चारण पाया जाना कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है; हिंदीभाषियों में पाया जाय, यह महत्वपूर्ण है। और ऐसा नहीं होता। 'वर्तनी संबंधी अराजकता' में भी वे कुछ स्थानों पर ग़लत हैं। जैसे, 'जोऊँगा', 'जाऊँगा', जहाँ तक मेरा अल्प ज्ञान है, कोई हिंदीभाषी नहीं बोलता। हाँ, बच्चे अवश्य अपनी तोतली भाषा में यह उच्चारण करते हैं। खैर। कुल मिला कर श्री रेड्डी ने अपने लेख में महत्वपूर्ण प्रश्न ही उपस्थित किये हैं। हिंदी विद्वानों को इन प्रश्नों और समस्याओं पर गंभीरता से सोचना चाहिए।

—यशवंत, बरेली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—'माध्यम' के संपादन की कला में अभिनव प्रयोगशीलता का उन्मेष मिलता है और स्तर में उदात्तीकरण। अक्तूबर अंक के हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख 'देवदारु' तथा लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा प्रस्तुत 'आधुनिक कहानी के संदर्भ में : श्लीलता-अश्लीलता : एक विवेचन' अधिक आकर्षक रहे। 'अज्ञेय' की कृति 'अपने अपने अजनबी' पर भी ब्योरेवार पढ़ने में मज़ा आया।

—नन्दकुमार राय,
बागर, शाहाबाद।

—विविध और विचारोत्तेजनात्मक लेखन को प्रस्तुत करने के प्रयास से मुझे यही लगता है कि 'माध्यम' एक स्वस्थ और निर्दलीय आंदोलन का नेतृत्व कर रहा है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह का पत्रात्मक लेख और नरेश मेहता की कहानी 'एक इतिश्री' 'माध्यम' में प्रकाशित उन सुंदर रचनाओं में से है जो मुझे अत्यंत प्रिय लगीं।

—भिक्खु,
आकाशवाणी गोआ,
पंजिम, गोआ।

—'माध्यम' का विवेचना-पक्ष सबसे सबल होता है। यदि कविताओं-कहानियों की ओर थोड़ा ध्यान आप और दे सकें तो अच्छा रहेगा। 'माध्यम' ने कितनी बड़ी कमी पूरी की है, इसका ठीक अनुमान इतिहास ही लगा सकता है।

—दुष्यंत कुमार, भोपाल।

—हिंदी की एक शायद सबसे पुरानी संस्था ने—जिसने हिंदी-जगत का काफ़ी कुशल नेतृत्व किया है और जो बाद में ज़रूरत के समय अंग्रेज़ी के प्रश्न पर ठंडी पड़ गयी थी—एक अच्छा क़दम उठाया है। सर्जनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग 'माध्यम' में देख कर बुरा लगता है। मैं समझता हूँ, इसमें लेखन की लापरवाही के साथ ही साथ संपादन की लापरवाही भी परिलक्षित होती है। फिर, आप तो यह मानते हैं कि **"सर्जनात्मक लेखन में अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग देख कर यह शंका होने लगती है कि अंग्रेज़ी के प्रति लेखक का यह अतिशय राग किसी प्रकार की हीनग्रंथि का ही प्रमाण है" (—कल्पना, १५२)।** मुझे आशा है, इस ओर आप ध्यान देंगे और भविष्य में 'माध्यम' में 'अनमोल बोल' दुर्लभ होंगे।

'हिंदी जगत' के अंतर्गत 'ये अनुवाद, ये शीर्षक' बहुत उपयोगी है। इसको जारी रखना आवश्यक प्रतीत होता है। भाषा की दृष्टि से हिंदी के दैनिक पत्र बड़ी दुरवस्था में हैं। अफ़सोस की बात तो यह है कि इस दुरवस्था को सुधारने का प्रयास भी नहीं हो रहा है। हिंदी की एक बहुत ही भोंडी शैली पनप रही है। हिंदी दैनिकों के संपादक या प्रकाशक कह सकते हैं कि हिंदी में दूरमुद्रक यंत्र नहीं होने के कारण यह दुरवस्था है। हिंदुस्तान की 'राष्ट्रभाषा' में, आज़ादी के १७ बरस बाद तक, दूरमुद्रक न होना शर्म की बात तो है ही, परंतु इसी को एकमात्र कारण मान लेना बहानेबाज़ी के बराबर है। असल में, बात कुछ और है और वह यह कि हिंदी दैनिक के संपादक-प्रकाशक लापरवाह हैं।

'सहवर्ती साहित्य' आवश्यक और उपयोगी है और उसके पीछे जो दृष्टि है वह श्लाघनीय है। किंतु, जो सामग्री दी जाती है उसमें काफ़ी सुधार की गुंजाइश है।

—बदरीविशाल,
'कल्पना', हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी-प्रेमियों के लिए नया आकर्षण

हिंदी-भाषा-आंदोलन

साहित्यवाचस्पति डॉ० सेठ गोविंददास

संकलनकर्ता

श्री लक्ष्मीचंद

- इस ग्रंथ में हिंदी-भाषा-आंदोलन के यशस्वी कर्णधार सेठ गोविंददास जी के भाषणों का प्रामाणिक संकलन है।
- इस ग्रंथ में हिंदी भाषा और साहित्य के विषय में सेठ जी के विचारों तथा दृष्टिकोणों का उल्लेखनीय समावेश है।
- इस ग्रंथ में राष्ट्रभाषा और राजभाषा जैसी जटिल समस्याओं के रचनात्मक सुझाव तथा समाधान सुगम शैली में प्रस्तुत किये गये हैं।

मूल्य : ९ रुपया

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

बहु प्रतीक्षित 'आधार' के सचेतन कहानी अंक में

आनंद प्रकाश जैन, कमल जोशी, कुलभूषण, जगदीश चतुर्वेदी, धर्मेंद्र गुप्त, बलराज पंडित, मधुकर सिंह, मनहर चौहान, ममता अग्रवाल, महीपसिंह, योगेश गुप्त, रामकुमार भ्रमर, वेद राही, श्याम परमार, शक्तिपाल केवल, शकुंतला शुक्ल, सुखबीर, सुदर्शन चोपड़ा, सुरेंद्र कुमार मलहोत्रा, हृदयेश और हिमांशु जोशी

की कहानियाँ

उपेंद्रनाथ अश्क, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० प्रभाकर माचवे, राजीव सक्सेना, वीरेंद्र गप्त और डॉ० महीपसिंह

के आलोचनात्मक लेख

डा० श्याम परमार द्वारा लिया हुआ जैनेंद्र कुमार

का इंटरव्यू

श्री जगदीश चतुर्वेदी द्वारा संयोजित

सचेतन कहानी—एक परिचर्चा

डॉ० महीपसिंह द्वारा इस विशिष्ट अंक

का संपादन

नवंबर '६४ में प्रकाश्य, पृष्ठ २५०, मूल्य रु० २.५०

प्राप्ति स्थान

हिंदी भवन, ३७० रानी मंडी, इलाहाबाद-३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी नवलेखन की सशक्त मासिकी

ल ह र

जुलाई १९५७ से नियमित
हिंदी पाठकों के समक्ष
कहानियों, कविताओं के अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर
विचारयुक्त सामग्री प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ५० पैसे। वार्षिक : छह रु०।

सम्पादक : प्रकाश जैन

महात्मा गांधी मार्ग, पो० बॉ० ८२, अजमेर।

वातायन

मासिक प्रकाशन

सृजनात्मक प्रवृत्तियों की
अभिव्यक्ति का सबल माध्यम !
नयी पीढ़ी के
सहयोग का मर्त रूप !
साहित्य की सभी
विधाओं का संगम !

७० पैसे : एक प्रति
८ रुपये : वार्षिक

●

सम्पर्क सूत्र
५, डागा बिल्डिंग, बीकानेर

महिलोपयोगी उत्कृष्ट मासिक

शृङ्गार

●

प्रबंध सम्पादक : देवेंद्र अग्रवाल
संपादिका : लावण्य प्रभा

महिलाओं के इंटरव्यू, उत्कृष्ट कहानियाँ, विचारपूर्ण लेख, नयी कविताएँ, सुंदर गीत, स्त्रीपयोगी सामग्री, पुस्तक-समीक्षा तथा अनेक स्थायी स्तम्भ

●●

१३।३७, शक्तिनगर,
दिल्ली-६
फोन : २२७३००

मूल्य :
वार्षिक : ५ रु०
मासिक : ५० पै०

●●

३१ दिसंबर १९६४ तक ग्राहक बनने पर १२ के बजाय १५ अंक भेंट किये जायेंगे।

साहित्य-सन्देश

●●

साहित्य सन्देश हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक प्रधान मासिक पत्र है, जो २५ वर्षों से बराबर प्रकाशित हो रहा है। इसका वार्षिक शुल्क ५) रुपये मात्र है। इसकी विगत १३ वर्षों की कुछ सजिल्द फ़ाइलें उपलब्ध हैं जिनकी क़ीमत ६) प्रति फ़ाइल है। हिन्दी का ठोस ज्ञान प्राप्त करने के लिए ५) मनी-आर्डर भेज कर वार्षिक ग्राहक बनें।

●●

साहित्य सन्देश कार्यालय, आगरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे चार नवीनतम प्रकाशन

हिंदू देव परिवार का विकास

लेखक : डॉ० संपूर्णानंद

भारतीय साहित्य में यह ग्रंथ अपने ढंग का सर्वथा अनूठा और अद्वितीय है। किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में ऐसा ग्रंथ अब तक नहीं लिखा गया।

मूल्य : ६.५०

नील दर्पण

रचयिता : दीनबन्धु मित्र

अनुवादक : डॉ० महादेव साहा

'नील दर्पण' नाट्य-परंपरा के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस युगांतकारी नाटक का अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान डॉ० महादेव साहा ने किया है।

मूल्य : ४.५०

हिंदी काव्य प्रवाह

संकलन : श्रीमती पुष्पा स्वरूप

प्रस्तुत संकलन में सिद्ध सरहपा से गिरिधरदास तक प्रत्येक युग की प्रत्येक धारा के प्रतिनिधि कवियों की उत्कृष्टतम रचनाओं के उदाहरण मिलेंगे।

मूल्य : २०.००

अग्नि परीक्षा

लेखिका : श्रीमती आशापूर्णा देवी

अनुवादक : श्री रामनारायण शुक्ल

इस नवीनतम उपन्यास में मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्राचीन तथा आधुनिक मान्यताओं तथा मूल्यों के संघर्ष का बड़ा सजीव एवं सुंदर चित्रण किया गया है।

मूल्य : ३.५०

प्रकाशक : मित्र प्रकाशन (प्राइवेट) लिमिटेड (पुस्तक विभाग), इलाहाबाद-३।

हिन्दी पत्रकारिता का नवीन प्रकाश-पुंज

केन्द्र

साहित्य-समाज और संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक

संपादक : योगेंद्रकुमार लल्ला

प्रत्येक अंक में प्रस्तुत करता है :—

● श्रेष्ठ कहानियाँ ● हृदयस्पर्शी कविताएँ ● ज्ञानवर्धक तथा मनोरंजक लेख और प्रणय-प्रसंग ● मीठे करेले ● दुनिया न माने ● चिंतन-कक्ष ● इस दशक की विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि जैसे स्थायी स्तंभ।

मूल्य एक प्रति : ७५ पैसे; एक वर्ष : आठ रुपये।
नमूने की प्रति के लिए ७५ पैसे के डाक-टिकट भेजें।

केन्द्र

५७ दरियागंज, दिल्ली–६

111063

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

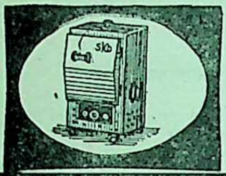

नाइट्रो जेल्डाल
डिस्टलेशन
आपरेटर
हाट एयर
ओवन

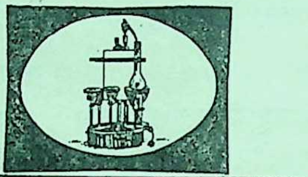

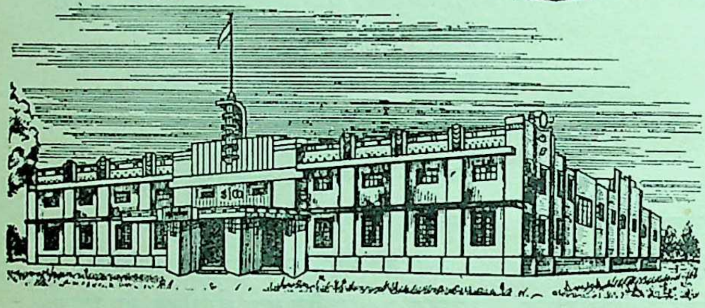

अपने देश के वैज्ञानिक उपकरण उद्योग के साथ साथ प्रगति करते हुए हम अपने द्वारा निर्मित अनेक यंत्र प्रस्तुत कर रहे हैं, जिन्हें उत्तमता और प्रयोग की दृष्टि से दीर्घकालीन ख्याति प्राप्त है।

दी साइंटिफिक इंस्ट्रुमेंट कं० लि०, इलाहाबाद, बंबई, कलकत्ता, मद्रास, नयी दिल्ली

सफ़ेद दाग़

सतत प्रयत्न एवम अत्यधिक परिश्रम के बाद तैयार की गई हमारी परीक्षित दवा से हज़ारों रोगियों ने रोगमुक्त हो कर प्रशंसा-पत्र भेजे हैं। यदि इस रोग से पीड़ित हों तो आज ही दवा मँगाने के लिए लिखें। प्रचारार्थ १०,००० रोगियों को दवा मुफ्त देने का प्रबंध किया गया है।

•

आयुर्वेद सेवाश्रम (एच)
पोस्ट—कतरी सराय (गया)

फील (हाथी) पाँव

हमारी आयुर्वेदिक दवा के सेवन से बिना चीर-फाड़ तथा बिना इंजेक्शन के यह रोग अच्छा हो जाता है। यदि रोग से पीड़ित हों तो आज ही दवा मँगा लें। प्रचारार्थ १००० रोगियों को आधी कीमत पर ही दवा दी जायेगी। विवरण पत्रिका मुफ्त मँगायें।

•

बनर्जी फार्मेसी (एच)
पोस्ट—कतरी सराय (गया)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगप्रभात

सचित्र हिंदी पाक्षिक

अहिंदीभाषी केरल राज्य से प्रकाशित होने वाले युगप्रभात में हिंदी-अहिंदी-भाषी लेखकों द्वारा हिंदी में लिखित-अनूदित श्रेष्ठ कहानियाँ, एकांकी, धारावाहिक उपन्यास, निबंध, समालोचनाएँ आदि प्रकाशित किये जा रहे हैं। दक्षिण के विकासमान प्रगतिशील साहित्यों के परिचायक के रूप में युगप्रभात जनप्रिय होता जा रहा है।

वार्षिक चंदा – छह रुपया

मैनेजर 'युगप्रभात'
कालिकट, केरल

एक ही जगह फोकस डाल सकने वाले बड़े मुँह की टार्च प्राप्त करने का एकमात्र केन्द्र--

जीप फ्लैशलाइट इण्डस्ट्रीज लि०

सर्वश्रेष्ठ फ्लैशलाइट जिसमें एक ही जगह फोकस डालने की व्यवस्था भी है। १५ वर्ष के लम्बे अनुभव और खोज के बाद ८०० फुट का रेंज दिया जा सका है। काले, नीले, हरे, सफेद और क्रीम रंगों के सर्वोत्तम अलमुनियम के बने केस।

माडल ८०३— काले, नीले, हरे, सफेद और क्रीम रंगों में प्राप्य।

एक बार खरीदिए....
जीवन भर बरतिए।

माडल ८०२—लहरदार सतहवाले केस।

STERLING-GF-1458

जीप फ्लैशलाइट इण्डस्ट्रीज लि० २८, साउथ रोड, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों की प्रकाशन-योजना के अंतर्गत प्रकाशित तीन ग्रंथ

कुतुबन कृत मृगावती

संपादक : डॉ० शिवगोपाल मिश्र

● इस ग्रंथ की पाँच दुर्लभ हस्तलिखित पांडुलिपियों की खोज कर संपादक ने पाठानुशीलन, संपादन, विवेचन, विश्लेषण किया है।

● षट्भाषा अर्थात मिश्रित भाषा में लिखित मृगावती का संपादन अत्यंत प्रामाणिक और अधिकारपूर्ण है।

मूल्य : ६.००

रसखान रत्नावली

संपादक : डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक

● कई वर्षों की छानबीन और प्रयास से रसखान की लुप्तप्राय कविताओं का यह संग्रह तैयार किया गया है।

● जिस स्थान से जो छंद प्राप्त हुआ है उस स्थान का नाम भी अंकित कर छंद की प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है।

● अप्रकाशित सामग्री का संचयन कर तथा उपलब्ध इतिवृत्तों से लोकप्रिय कवि रसखान के जीवन और कृतित्व से सम्बद्ध तथ्यों का उद्घाटन अधिकारपूर्वक किया गया है।

मूल्य : ५.००

प्रागन कृत भँवरगीत

संपादक : हरिमोहन मालवीय

● वैज्ञानिक पाठ संपादन-पद्धति पर छह प्राचीन पांडुलिपियों के सहारे इसका पाठ निर्धारित किया गया है।

● प्रागन कवि के संबंध में प्रथम बार आलोचनात्मक परिचय इस पुस्तक के माध्यम से मिलता है।

● प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों की प्रकाशन-परंपरा की इस नवीन कड़ी के संपादन पर भाषा-शास्त्रविदों तक ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

मूल्य : १.५०

●●

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

To	Earning	Dead	Relief	Dept.	Total	No. of Str Trip	M. Oil	D. Oil	Petrol	Average	Upper	Lower	Luggage Kgs.	Lug [illegible] R[illegible]

Signature of Station Incharge —

6-15-2 82-500 Books.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

...ngers	By Luggage		By Passengers		Earning		Kilometer on Earning K. average		Remarks
P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	

Date of submission- - - - - - - - -

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

110063

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar